श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

अनुप्रेक्षा प्रवचन

प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भाग

प्रवक्ता :—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

सम्पादक :—
महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक :—
खेमचन्द जैन, सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
(उत्तर प्रदेश)

प्रथम संस्करण
१०००

सन् १९६९

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स,

संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ।

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी,

धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

(३) वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय, कानपुर।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली:—

१	श्रीमान्	लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ,	सहारनपुर
२	,,	सेठ भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी	मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	जगाधरी
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	ज्वालापुर
१३	,,	सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर	मेरठ
१७	,,	मंत्री जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सर
१९	,,	विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसादजी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन, संघी,	जयपुर

२२	श्रीमान्	मंत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, जैन	गिरिडीह
२५	,,	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	गिरिडीह
२६	,,	सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,,	सुखवीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बड़ौत
२८	,,	गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा,	लालगोला
२९	,,	दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर,	कानपुर
३०	,,	मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,	आगरा
३१	,,	संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी,	आगरा
३२	,,	नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस,	रुड़की
३३	,,	झब्बनलाल शिवप्रसादजी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,,	मोल्हड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,,	बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,,	सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	,, ❀	गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
३९	,, ❀	बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा,	झूमरीतिलैया
४०	,, ❀	इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४१	,, ❀	सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या,	जयपुर
४२	,, ❀	बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ.	सदर मेरठ
४३	,, ❀	ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४४	,, ×	जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
४५	,, ×	जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोटः—जिन नामों के पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिस नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यता का रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥ १ ॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥ २ ॥

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥ ३ ॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥ ४ ॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥ ५ ॥

❀ जैन धर्म की जय ❀

अनुप्रेक्षा प्रवचन प्रथम भाग

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥
तिहुवण-तिलयं देवं वंदित्ता तिहुवणिंदपरिपुज्जं।
वोच्छं अणुपेहाओ भविय—जणाणंद—जणणीओ॥१॥

देववन्दनपूर्वक अनुप्रेक्षावोके वर्णनका सकल्प--तीन भुवनके तिलक परमात्मतत्त्वको नमस्कार करके भव्य पुरुषोको आनन्द देने वाली भावनाओं को कहूंगा। भावना कहते हैं बारबार हितरूप तत्त्वका विचार करने को। जिससे जीवोंका हित हो उसके अनुसार बारबार ईक्षण करना, प्रकर्ष रूपसे निहारना इसे कहते हैं अनुप्रेक्षण। इस प्रसगमे नमस्कार किया जा रहा है भगवान जिनेन्द्रको। इसका कारण यह है कि अनुप्रेक्षाका फल जिन्होंने पाया है उनकी ओर दृष्टि देने से अनुप्रेक्षाओंके विचारमे हमारा उत्साह जगता है। वे अनुप्रेक्षाये १२ हैं, जिनका विस्तार रूपसे इस ग्रन्थमे वर्णन है, जिनके नाम स्वयं अगले श्लोकमें आयेंगे, पर इस प्रकरणमें थोड़ा जानने के लिए कहा जा रहा है जैसे अनित्य भावना—जगत्मे जितने भी समागम हैं वे विनाशीक हैं। इस सम्पर्कके अन्दर उन ही चीजोंमे जो उनका द्रव्य है, मूल तत्त्व है, अविनाशी है वह तो नित्य हैं लेकिन वह मुझसे निराला है। मुझमे जो मनुष्य, पशु, पक्षी आदिक बनने, इच्छायें, कषायें जगने व भिन्न-भिन्न जानकारिया करने आदिक की बाते हैं वे सब अनित्य हैं, विनाशीक हैं। इन सबके अन्दर जो एक ज्ञानस्वभाव है, चैतन्यस्वरूप है वह नित्य है। अनित्यको अपनाये नहीं और निज नित्य पर दृष्टि दे यह फल है अनित्य भावना भानेका। अशरण भावना—जगतमे जितने भी सम्बन्ध हैं—स्त्री, पुत्र, मित्रादिक वे सब मेरे लिए अशरण हैं, मेरेको सहाय नही हैं। लोकमे थोड़ा बहुत जो कुछ सहाय नजर आता है सो मेरा ही भाव भला है, मेरा ही पूर्वकृत पुण्य है जिसके फलमे कुछ सहाय नजर आ रहे हैं, किन्तु उन वस्तुओंकी ओरसे ऐसा कुछ भी नहीं है कि वे मुझे सहाय हो सकें। अब इस बीच मेरे लिए सहाय कुछ हैं तो मेरा ही भाव, मेरा धर्म, मेरा विश्वास, मेरा ज्ञान, मेरा आचरण, ये मेरे लिए शरण हैं। ऐसी ही अनेक भावनाये जिनका कि वर्णन होगा वे भावनायें हमारे हितके कारण हैं और इन भावनाओंको करके जिन महान् संतोंने फल पाया है, कर्मोंका नाश किया है, परमात्मपद पाया है उनका यहां स्मरण किया जा रहा है।

त्रिभुवनतिलक देवको वन्दन--ये भगवान जिनेन्द्र तीन लोकके तिलक हैं अर्थात् तीनों लोकमे जितने आत्मा हैं उन सबमे श्रेष्ठ हैं। जिस मनुष्यमें दोष न हों, सबके लिए भला हो, गुणोंका आधार हो, लोग उसी को तो श्रेष्ठ कहेंगे, किन्तु यह व्याख्या मनुष्योंकी सीमाके अन्दर है। मनुष्यसे जो दोष हो सकते है वे दोष न हों और जो गुण सम्भव हो सकते है वे गुण हों उस मनुष्यको श्रेष्ठ कहेंगे। तो इन सब जीवोंमें श्रेष्ठ, महान्, उत्कृष्ट आत्मा कौन है? सो ऐसे उत्कृष्ट आत्मा हैं भगवान वीतराग सर्वज्ञदेव, जिनके रागद्वेष रंच न रहा, विकार कर्म भी जिनके दूर हो गए, तथा ज्ञान दर्शन आदि गुण पूर्ण विकसित हैं, अरहत अवस्थामे शरीर रहता है, पर वह है परमौदारिक दिव्य देह और आयुके अन्तमे उस देहका भी अभाव हो जाता है तब देहरहित भगवान होते है। देह सहित भगवानका नाम है अरहत और देह रहित भगवान का नाम है सिद्ध। भगवान दोनों है, केवल बाहरी सम्पर्कका अन्तर है। अरहंत और सिद्ध

में। अरहंतके साथ अभी शरीरका सम्बन्ध है और सिद्धके साथ शरीरका सम्बन्ध नहीं रहा। यहां अरहतमे अभी अघातिया कर्म साथ है और सिद्धके साथ अघातिया कर्म भी नही रहे। तो ये दोनों प्रभु हैं अरहंत और सिद्ध, वीतराग सर्वज्ञ, यह सब क्या है? यह है उन अनुप्रेक्षाओंका फल। जैसे मां पुत्रको पैदा करती है इसी तरह अनुप्रेक्षायें शुद्ध आनन्दको पैदा करती हैं। शुद्ध स्वाधीन सहज निर्दोष आनन्द मिलता है इन बारह भावनाओं के चिन्तनसे। तो वे तीन लोकके तिलक है क्योंकि दोष कुछ मिलता नहीं गुण समस्त पूर्ण हो गए। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा, जन्ममरण करना आदिक दोष रहे नहीं वही तो देव है, वही प्रभु है। गुण क्या होता है जीवमें? ज्ञान, दर्शन, आनन्द, चारित्र, श्रद्धा, अपने आपमे मग्न रहना, शुद्ध आनन्दका निरन्तर अनुभव करना, जैसा आत्माका सहज शुद्ध स्वरूप है वैसा ही स्वरूप प्रकट हुआ यही तो गुण है, सो ऐसा गुण जहा प्रकट हुआ है और दोष जहा एक नहीं है वह तो तीन लोकके सब जीवोंमें तिलक है, सर्वोत्कृष्ट है।

त्रिलोकपूज्यजिनेन्द्रदेवका वन्दन--जिनेन्द्रदेव तीन लोकके इन्द्रोंके द्वारा परिपूज्य हैं। अधो, मध्य और ऊर्ध्व इन तीनों लोकोंके इन्द्र जिनकी पूजा करते हैं ऊर्ध्व लोकके इन्द्र १६ स्वर्गोंके इन्द्र हैं, मध्यलोकके इन्द्र, चक्रवर्ती तो मनुष्योंमे हैं और सिंह तिर्यञ्चोंका इन्द्र है। अब अधोलोकका इन्द्र कौन है? पाताल लोकके नीचे रहने वाले प्राणियोंका इन्द्र कौन है? तो इस पृथ्वीके नीचे पृथ्वीके बीचमे तीन रचनाये हैं, तीन भाग हैं। शुरूके दो भागोंमें भवनवासी और व्यन्तर देवोंके स्थान हैं और नीचेके भागमें नारकियोंका निवास है। फिर उससे नीचे ६ नरकपृथ्वी और है। तो नरकोंके इन्द्रोंकी बात नहीं कह रहे हैं, नारकियोंके इन्द्र ही नहीं होते। भवनवासी और व्यन्तर इनके इन्द्र होते है, वे भी भगवान जिनेन्द्रके चरणकमलकी वदना करते हुए उन्नतमे होते है। वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र तीन लोकके इन्द्रोंके द्वारा परिपूजित है, सो ऐसे भगवान जिनेन्द्रकी वंदना करके भव्य जीवोंको आनन्द उत्पन्न करने वाली अनुप्रेक्षाओं को कहेंगे। इस ग्रन्थके रचने वाले स्वामी कार्तिकेय ऋषि हैं। प्रथम छदमे अनुप्रेक्षाओंके वर्णनका संकल्प करते हैं। ये अनुप्रेक्षायें भव्य जीवोंको आनन्द उत्पन्न करती है। भव्य किसे कहते है? जिनकी सिद्धि निकट कालमें होने वाली हो उनको कहते हैं भव्य। उन भव्योंमें आनन्द हर्ष, अनन्तसुख उत्पन्न करने वाली ये अनुप्रेक्षायें माता की तरह है। उन अनुप्रेक्षाओंको कहूगा।

देववन्दन--इस मंगलाचरणमे देवको नमस्कार किया है। देव मायने क्या? तो देव शब्दमें कितने ही अर्थ भरे हुए हैं, जो दीव्यन्ति अर्थात् क्रीडन्ति जो क्रीड़ा करते है, रमण करते है परम आनन्दमे, आत्मीय शुद्ध आनन्दमें जो खेलते रहते है उन्हें कहते है देव। कौन हैं ऐसे देव, जो उत्कृष्ट आनन्दमें क्रीड़ा करते रहते है। ये ही हैं अरहंत और सिद्ध। देव कहते हैं उन्हें जो कर्मोंको जीतना चाहते है और जो कर्मोंको जीत लेते हैं। मायने पंचपरमेष्ठी। अथवा देवका अर्थ है जो सूर्यसे भी अधिक तेजके साथ प्रकाशमान हों उन्हे देव कहते है। ऐसा कौन है? ऐसे है ये भगवान जिनेन्द्र अरहतदेव। जिनके बाह्य में भी प्रभा है, पर अन्तरङ्ग प्रभा तो देखिये कि सूर्यका काम है अधकार दूर करना, लेकिन अज्ञान अधकारको दूर करने की सामर्थ्य सूर्यकी किरणोंमे भी नही है और उस अज्ञान अधकारको जो नष्ट कर सके, ऐसा जो प्रकाश स्वरूप हो उसे कोटि सूर्योंसे भी अधिक तेजस्वी कहेंगे। अथवा देवका अर्थ है जो धर्म की परिपाटी चलाये उसे देव कहते हैं। ऐसा कौन है जिससे कि धर्मकी परिपाटी चलती है? वे है अरहत जिनेन्द्रदेव। जो लोक और अलोक समस्त विश्वको जानता है उसे देव कहते है। ऐसा कौन है? वे है वीतराग सर्वज्ञ अर्हन्त। अथवा जो अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपका स्तवन करे, उपासना करे उसे कहते है देव। ऐसा कौन है? ऐसे है आचार्य, उपाध्याय और साधु स्वरूप प्रभु। अपने चैतन्यस्वरूपका स्तवन करते है, भक्ति करते है, गुणगान करते है, वे हुए देव। ऐसे तीन लोकके तिलक जगतमे श्रेष्ठ सर्व इन्द्र

धरणेन्द्रों द्वारा पूज्य प्रभुको वंदन करके अनुप्रेक्षाओं को कहूंगा। अब १२ अनुप्रेक्षाओंका नाममात्र निर्देश दो गाथाओं से करते हैं।

अद्धुव असरण भणिया संसारामेगमण्णमसुइत्तं।
आसव-संवर-णामा णिज्जर—लोयाणुपेहाओ ॥२॥
इय जाणिऊण भावह दुल्लह—धम्माणुभावणा णिच्चं।
मण-वयण-काय-सुद्धी एदा दस दो य भणिया हु ॥३॥

अनुप्रेक्षाओके नामनिर्देश व प्रथम अध्रुवानुप्रेक्षा--अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मभावना, इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओंको जानें और मन, वचन, कायको शुद्ध करके इन अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करे। इन सब भावनाओंका विस्तार रूपसे वर्णन एक-एक प्रकरणमे आयेगा फिर भी प्रकरणके कारण इन बारह अनुप्रेक्षाओंका थोड़ा भाव अभी जान लीजिये। अध्रुव अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं? अध्रुव अर्थात् जो ध्रुव नहीं, नित्य नही, ये सब कुछ अध्रुव हैं। जो हमारे सम्पर्कमें व्यवहारसे ये सब समागम हैं वे अध्रुव हैं। इस प्रकारका चिन्तन होना सो अध्रुव अनुप्रेक्षा है।

अशरण भावना नामक द्वितीय अनुप्रेक्षा-- अशरण अनुप्रेक्षा—कुछ शरण नहीं है। किसी भी जीवको इस लोकमे अन्य कुछ भी शरण नहीं है? इस प्रकारकी निगाह बनाना, इस प्रकारका चिन्तन बनाना सो अशरण अनुप्रेक्षा है। हम आपको सदा अपने भावोंकी संभाल रखना चाहिए। जरा जरा सी बातोमे हम अपने स्वरूपसे चलित हो जाये, क्रोध, मान, माया, लोभादिकके वशीभूत हो जायें, इच्छाओंके आधीन हो जायें, यह खुदके अनर्थके लिए बात है। यहां कोई किसीका रक्षक नहीं है। लोगोंका यह घमंड करना बेकार है कि हमारी ऐसी अच्छी स्थिति है, हमारे पास इतनी सेना है, इतने मित्रजन हैं, इतना वैभव है, हम पूर्ण रक्षित हैं? अरे ऐसा घमड करने की गुञ्जाइश कहां है? जब खुदका भाग्य प्रतिकूल होता है तो सबके सब एक साथ किनारा कर जाते हैं। जब बडे-बडे तीर्थंकर जैसे महापुरुष भी कर्मविपाकसे छूटे नहीं, भले ही उन्होंने ज्ञानके बलसे समता धारण की, उस कर्मविपाकसे उनके आत्माका बिगाड़ न हो सका। लेकिन देखो तो सही कि जिस आदिनाथ भगवानके कर्मभूमिके आदिमें प्रजाको शरण दिया, भूलीभटकी प्रजा जो बड़ी विपत्तिमे पड़ी हुई थी उसको शरण दिया। असि, मसि, कृषि आदिक सब धधोंका उपदेश दिया, प्रजा किस तरह सुखसे रह सके, ये सब विधान बनाये अर्थात् जो प्रजाके एक हस्तावलम्बन थे वे आदिनाथ मुनि होने पर ६ माह तक की तो उपवासकी प्रतिज्ञा ही थी, उस विषयमे तो कुछ कहना ही नहीं, लेकिन ६ माहके उपवासके बाद आहारको निकले तो ६ माह तक अन्तराय हुआ। इतने बडे महापुरुष कि जिनकी प्रसन्नताका साधन इन्द्र बनाया करता था, देव जिनकी सेवामें रहा करते थे वे आदि जिनन्द्र मुनि अवस्थामे आहारको निकले, ६ महीने तक आहारके लिए निकले, पर अन्तराय होता रहा, तो यह कर्मविपाक नहीं है क्या? है कर्मविपाक। उन्होंने समतासे सहा। सहा क्या समता रखी? कुछ बिगाड़ न हो सका पर कर्मविपाक तो हुआ। तीर्थंकर पर उपसर्ग नहीं होता, लेकिन पार्श्वनाथ जैसे अनेक महापुरुषो पर मुनि अवस्थामें उपसर्ग हुए। तीर्थंकर होनेपर तो उपसर्ग हो ही नहीं सकता। पर मुनि अवस्थामे तो उपसर्ग हुए। तो जब ऐसे ऐसे महापुरुषो पर भी उपसर्ग आये तो फिर हम आप जैसे साधारणजन किस बात पर अभिमान लाये कि हम हर तरहसे उत्कृष्ट है, हमने अपना प्रोग्राम बहुत बढ़िया बना रखा है, अब हमको कोई तकलीफ नहीं मिल सकती। यह सब सोचना बिल्कुल व्यर्थ है। प ा नहीं कब क्या हो जाय? तो भला इसीमे है कि निरन्तर अपने परिणामोकी सभाल रखने की कोशिश करे, क्षमाकी प्रकृति बनायें। किसी से कोई अपराध बने, क्षम्य समझकर उसे क्षमा करे। ५भी

किसी प्रसंगमे कितनी भी वृद्धि हो तब भी अपने को अभिमान न आये। जगतमे कोई वस्तु सारभूत नहीं है। किसके लिए छल कपट करना ? जो बात सही है उस सही बातको निभाना है। छल कपटका क्या काम ? लोभ किसका करना ? खूब कमाते जावो, जोड़ते जावो, एक समयमे साराका सारा छोडकर जाना होगा। उसमे से कुछ भी वस्तु साथ जा सकेगी क्या ? यह आत्मा अमूर्त ज्ञानपुञ्ज देहसे निकल गया, बस सब यहींका यहीं धरा रह जायेगा। किसका लोभ करे, यह सब जानकर यही निर्णय करें कि हमारा परिणाम नीतिपूर्ण होगा तो वह मेरे लिए शरण है, अन्य कुछ मेरेको शरण नही है, इस प्रकारका चिन्तन करना अशरण अनुप्रेक्षा है।

ससारानुप्रेक्षानामक तृतीय अनुप्रेक्षा--ससार नाम है संसरणका, परिभ्रमणका। परिभ्रमणको संसार कहते है, वह ५ प्रकारका है—द्रव्यससार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार। प्रकरण पाकर इस सम्बन्धमें कहा जायेगा, पर मोटे रूपसे विचार करना कि इस संसारमें यह जीव अनादिकाल से भ्रमण करता चला आया है। यहां कुछ भी वस्तु सुखदायी नहीं है। जितना सम्पर्क मिला यह सब दु:खका हेतु है। जब तक कर्मोका बन्धन है तब तक काहे की कुशलता ? थोड़ेसे जीवको सुखसाधन प्राप्त हो गए तो इसमे क्या कुशलता मानना ? कर्मबन्ध न रहे, कर्मरहित हो जाय, निष्कर्म केवल ज्ञानपुञ्ज, ऐसा ही हो जाय तो उसमें इस जीवको लाभ मिला समझिये, कर्मबन्धनके कालमें कोई राजा महाराजा इन्द्र, वैभववान भी हो जाय तो उसमे कुशलता क्या है ? संसार सारा दु:खमय है ऐसा चिन्तन करना सो संसार अनुप्रेक्षा है।

एकत्वानुप्रेक्षा व अन्यत्वानुप्रेक्षा नामकी चतुर्थ व पञ्चम अनुप्रेक्षा— एकत्व अनुप्रेक्षा--एकके निजका जो भाव है उसे एकत्व कहते हैं। यह मैं निज एक ज्ञानस्वरूप सबसे निराला अपने स्वरूपमात्र हूं, अकेला हूं, केवल चैतन्यमात्र हूं, इस तरहका चिन्तन होना एकत्वानुप्रेक्षा है। अन्यत्वानुप्रेक्षा अन्य पदार्थोंके भाव को अन्यत्व कहते हैं। शरीरादिक अन्य पदार्थोंका जो स्वरूप है वह अन्यत्व है। उसका चिंतन करना अन्यत्व अनुप्रेक्षा है। देह भी निराला है, परिजन, कुटुम्ब, वैभव, सम्पदा आदिक सब मुझसे अलग हैं, ऐसा विचार करनेको अन्यत्व अनुप्रेक्षा कहते है।

अशुचित्वानुप्रेक्षा नामकी छठवीं अनुप्रेक्षा -- अशुचित्वानुप्रेक्षा—जो शुचि नही है उसे अशुचि कहते हैं। कौनसी वस्तु ऐसी है जो अपवित्र है ? इस पर विचार करो। लोग सोचेंगे कि नाली का पानी है अशुचि। उसकी छींट पड़ जाय तो लोग नहाते है। अरे, वह नालीका पानी क्यो अशुचि है ? वह पानी भरे हुए कीड़ोंका समुदाय है। तो आखिर क्या रहा अपवित्र ? देह रहा अपवित्र। तो इस देहको अपवित्रताका चिन्तन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है। अभी जिस देहको हम आप लादे बैठे हैं उस देहकी ही अपवित्रता मी चए। इसमें क्या भरा है ? हाड़, मास, मज्जा, खून आदिक महा अपवित्र चीजे भरी है। और प्रकट भी दिखता है। इस शरीरमें ९ द्वार है, जिनसे मल, मूत्र, नाक, थूक आदिक बहते रहते हैं। इस शरीरके अन्दर कोई पवित्र चीज नहीं दिखती, लेकिन ये मोही प्राणी इस अपवित्रता पर निगाह ही नहीं डाल पाते, और उन्हें यह शरीर बड़ा भला प्रतीत होता है। इस शरीरकी अपवित्रता का चिन्तन करना सो अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ व धर्म भावना नामकी अन्तिम ६ भावना-- आस्रवानुप्रेक्षा-- कर्म झड़ते रहें, आते रहें। आत्मा ही में विश्रसोपचयरूप बँधी हुई कार्माणवर्गणाये कर्मरूप होती रहें, सो यह सब अनर्थ है ऐसा चिन्तन करना व वे क्यों होती है उनके कारण पर चिन्तन करना सो आश्रवानुप्रेक्षा है। सवरानुप्रेक्षाकर्मोंके आगमनको रोक देना, नवीन कर्मोका प्रवेश न करने देना उसे सवर भाव कहते है। उस संवरकी शरणरूपता आदिकका चिन्तन करना सो सवरानुप्रेक्षा है। निर्जरानुप्रेक्षा—कर्मों

का एकरूप झरना, दूर होना इसे निर्जरा कहते हैं। यह भला है, इसमें मुक्तिका मार्ग है, आदिक विचार करना निर्जरानुप्रेक्षा है। लोकानुप्रेक्षा—जहां जीव आदिक पदार्थ देखे जाये उसे लोक कहते है। इस लोक में अज्ञानवश यह जीव समस्त प्रदेशोपर अनन्त बार पैदा हुआ और मरा। यहां कोई जगह सारभूत नही है। लोककी रचना आदिकका विचार करना लोकानुप्रेक्षा है। बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—बोधि सम्यग्ज्ञान, चारित्र, धर्म ये कठिनतासे प्राप्त होते हैं, ऐसा चिन्तन करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है और अन्तिम अनुप्रेक्षा है धर्मानुप्रेक्षा। जो उत्तम पद धारण करादे उसका नाम धर्म है। उस धर्मका अनुभवन करना, धर्मभावका वारवार चिन्तन करना, धर्मके फलका विचार करना, धर्मके चिन्तन करते हुएमे अपेक्षित होना, इन सब भावोंको धर्मानुप्रेक्षा कहते हे। इस प्रकार ये १२ अनुप्रेक्षाओंका नाम हैं जिनका वर्णन अब क्रमशः किया जायेगा।

ज किंचि वि उप्पणं तस्स विणासो हवेइ णियमेण।
परिणाम-सरूपेण वि ण य किंचि वि सासयं अत्थि ॥४॥

अध्रुव भावनाका वर्णन—अब अनित्य भावनाका वर्णन करते हैं। लोकमें जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है उसका नियमसे विनाश होता है। पर्यायदृष्टि की अपेक्षासे तीन लोकमे कुछ भी शाश्वत नहीं है। वस्तु का स्वरूप है यह कि वह नवीन पर्यायोंसे उत्पन्न हो और पुरानी पर्यायें उसमें विलीन हों और उसका सत्त्व सदा वही रहे। तो यहां वस्तुमे जो उत्पाद-व्यय है उसका तो सम्बन्ध पर्यायसे है और जो सदा शाश्वत रहनेका भाव है, अभेददृष्टिसे वह द्रव्यपना है और भेददृष्टिसे उसमे ऐसे अनेक गुण हैं, वस्तुमें द्रव्य और पर्याये ये दो तो माननी ही पड़ती है। अब उस द्रव्यको भेद दृष्टिसे देखे तो गुणकी कल्पना हुई और पर्यायको भेदकी दृष्टिसे देखे तो एक समयमे अनेक पर्यायोकी कल्पना हुई। तो द्रव्यत्व और गुणत्वकी दृष्टिसे पदार्थ नित्य है और पर्यायदृष्टिसे पदार्थ अनित्य है। इस भावनामे यह बात मुख्यतया बतायी है कि जीवोंको इन अनित्य पदार्थोंमे राग और मोह उत्पन्न होता है। सो जिनमें यह जीव राग मोह करता है वे सब पदार्थ विनाशीक हैं।

मोहीका विपरीत अध्यवसाय—इस मोही जीवको ऐसा भान है कि ये सब पदार्थ मेरे ही तो हैं। मेरे से अलग कहा जायेंगे? अथवा ऐसा दृढ अध्यवसाय है इस मोही जीवका कि वह समझ नहीं पाता कि यह मुझसे निराला है। इन परपदार्थोंको वह ऐकमेक कर डालता है। जगतमे लड़ाई और किस बातकी है? बस इस मोह रागका ही तो कलह है। एक वस्तु है वह तो जो है सो है, है तहां है। मेरा तो किसी अन्यसे सम्बन्ध नहीं। अब सम्बन्ध मानने वाले लोग उस एक वस्तुमे चाहते हैं स्वामित्व व स्थायित्व और उसके अभिलाषी है अधिक एवं वह चीज होती है वियुक्त, सो वहां तो झगड़ा होगा ही। इस मोही जीवको बाह्यपदार्थोंमें जो मोह और मिथ्यात्व जगा है सो उसमें उसकी सीमा भी नहीं है। प्रत्येक मोही जीव यह चाहते है कि तीनो लोकोंका समस्त वैभव मेरे ही पास आये, और वह वैभव तो गिनाचुना है, जो है सो है, जैसा सामने है। प्रत्येक जीव सभी वैभवोंको चाहते हैं। तो यह व्यवस्था कैसे बने? मनचाहा हो नहीं पाता, अतएव मोही जीव दुःखी हैं। कोई पुरुष सन्तोषी भी हो, जो पाया उससे अधिक कुछ भी नहीं चाहता, फिर भी जिसमें संतोष कर रहा है, वह वस्तु है तो बाह्य, भिन्न, विनाशीक। उससे भी उसका क्या लाभ? दुःख यही है कि विनाशीक चीजोंमे हम अनुराग करते करते है कि यह मेरी ही है, मेरी ही रहेगी, मेरी ही थी, किन्तु इस पर किसीका क्या अधिकार? वस्तुत्व से विपरीत जो परवस्तुके सम्बन्धमे मिथ्याभाव है, यही दुःखी करने वाला है।

वस्तुका अन्तःबाह्य स्वरूप—जरा इन वस्तुओंमे अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग स्वरूपको तो देखो—जो बाह्यमें वस्तुवे हैं, उनका जो बाहरी रूप है, जैसा उनका आकार प्रकार है, वे सब परिणमन विनाशीक है, किन्तु

उनमे जो परमाणु है वे द्रव्य हैं अविनाशी। परन्तु परमाणुवोंसे मोह कौन करता है ? जो भी मोह करता है इन दृश्यमान स्कंधोंमे करता है। यदि इन दृश्यमान पदार्थोंमे अन्तः रहने वाला स्थायी जो परमाणु है, सबसे छोटा अंश है, जो आँखों नहीं दिख सकता है उससे किसी को मोह नहीं जगता। वह नित्य है और अपने आपमें जो यह शरीर है, आकार मुद्रा है, पशु हो, पक्षी हो, मनुष्य हो, ये सब पर्यायें विनाशीक है। इनमें अन्तः जो ज्ञानस्वरूप तत्त्व है, आत्मा है वह द्रव्य है। उससे मोह कौन करता है ? घरमे रहने वाले लोग एक दूसरेसे मोह करते है। वे कोई भी किसीके आत्मासे मोह नहीं करते। उस जीवका जो पर्याय है, शरीर है अथवा कल्पनामें आया हुआ उसका कोई अत. रूप है, विभावपुञ्ज है उससे मोह करता है। ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वसे कोई मोह नहीं करता। तो जो नित्यतत्त्व है अपने में या बाह्य परपदार्थोंमें, उस तत्त्वसे कोई मोह नहीं करता। जो मोह करता है वह पर्यायोंसे मोह करता है। पदार्थ का स्वरूप यथार्थ समझने पर मोह नहीं ठहरता। वह इसी कारण तो नहीं ठहरता। जो जीव मोह कर रहे है उन्हें पदार्थके सत्यस्वरूपका भान ही नहीं है। जीव कभी पैदा नहीं होता, और कभी मरता भी नहीं। इस तत्त्वका जिन्हें भान हो वे जीव उस सम्बन्धमें व्यामोह तो न कर सकेंगे। जो मोह किये जा रहे है वे शरीर तो जड़ है, उनसे मै लुटूँगा क्या ? जो ज्ञानभाव है उसमे मोह करने की किसी को कल्पना ही नहीं होती। तो यथार्थस्वरूपका परिचय हो जाय तो वह पुरुष फिर मोह नहीं कर सकता। लोग सब मोहसे ही परेशान हैं और मोहसे मिलता कुछ नहीं। जो भी बाह्यमें दृश्यमान है वह पर्याय है। द्रव्य भी साथ है, गुण भी साथ है मगर मोही जीवको द्रव्य और गुणका परिचय नहीं है। जो कुछ भी समझता है, पहिचानता है वह पर्यायको ही सर्वस्व जानता हुआ पहिचानता है।

व्यामोहविपदाविनाशका उपाय वस्तुस्वरूपका यथार्थ परिचय--द्रव्यगुण पर्याय उत्पाद व्यय ध्रौव्यका यदि स्वरूप कोई समझ जाय तो वहाँ अज्ञान अंधकार, व्यामोह, आकुलता आदि ये कुछ भी नहीं ठहर सकते। जैसे (स्वर्ण) सोनेमें गुण भी है और पर्याय भी है, सोना चौकोर है या आभूषणोंरूप है, वह पर्याय है और सोनेका रूप समझलो पीलापन, एक दृष्टान्तमे ही कह रहे है, तो गुण सदा वही रहता है, पर्यायें बदलती है। तो सोना सदा पीला रहेगा और पर्यायें, उसकी मुद्रा, आकार, आभूषण ये सब बदलते रहेंगे। गुण पीलापन सोने से अलग चीज नहीं है, ऐसे ही आत्मामे देखो तो आत्मा एक द्रव्य है, अपने-अपने आत्माको देखो—उसमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक अनेक गुण है और उसमें जो पर्यायें बन रही हैं पशुपक्षी नरक निगोद, मनुष्य देव आदिककी और जो इच्छायें, कषायादिक भाव जग रहे है वे सब पर्यायें हैं। पर्यायें नष्ट होती हैं, द्रव्य नष्ट नहीं होता। यहाँ किसी ने कुछ गाली दे दी या अनबन जैसी बात कह दी तो विवेक करना चाहिए कि प्रथम तो यह जो आत्मा है वह तो सहज ज्ञानस्वरूप है, उसमे तो अपराध नहीं है। अब उपाधिवश कर्मोदयवश इसके विपरीत परिणमन होता है, उसमे यह भूला है, इस बेचारेका क्या अपराध है ? यह तो एक पर्यायकी बात हो रही है। जैसे कोई शराब पिये हुए हो और वह गाली देवे तो भले लोग यह जानकर कि इस बेचारेका क्या अपराध है ? शराब पिये हुए है सो इसकी बुद्धि बिगड़ी है और उस बिगड़ी बुद्धिमे बक रहा है, उस शराबी पर कोई गुस्सा तो नहीं करता। जैसे—कोई पागल हो और वह दसो गालियां बकता है और सुनने वाले जानते हों कि यह पागल है तो सुनने वाले कोई उस पर गुस्सा तो नहीं करते। वे जानते है कि यह पुरुष नहीं सब कुछ बक रहा, इसका यह पागलपन बक रहा है, तो यों ही जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी समझदार पुरुष है वे दूसरेकी विपरीत परिणति देखकर, प्रवृत्ति निरखकर समझते है कि यह तो बेचारा निरपराध है, इसमे उपाधिवश यह व्यामोह आया है और उस व्यामोहसे यह अपनी इस प्रकारकी प्रवृत्ति कर रहा है, यह जो स्वयं द्रव्य है इसमे कोई अपराध नहीं। ज्ञानी जीव इसीलिए क्रोधमे नहीं आते। फिर अपने आपके बारेमें भी

विचारें कि इस दूसरे पुरुषने जिसको गाली दी है वह मै नहीं। इसने तो इस शरीरको ही देखकर गाली दी है। शरीर मै नहीं हूं। मुझ तक गाली नहीं पहुंची। तो जैसे कोई दूसरे को कुछ कहे तो मै तो आकुलित नहीं होता, इसी तरह ये लोग भी इस दूसरेको कह रहे हैं, इस शरीरको कह रहे हैं, उसमे मुझे आकुलित क्यों होना चाहिए ? ये सब दृश्यमान विनाशीक है, मै अविनाशी तत्त्व हूं।

अध्रुवतत्त्वके व्यामोहसे छुटकर ध्रुवतत्त्वके परिचयके लिये अध्रुवभावना--इस लोकमे दृश्यमान् यह सारा समागम विनाशीक है। इस विनाशीक समागममें अनुराग करने मे कर्मबन्ध है, मिथ्यात्वकी बढ़वारी है, अपनी बरवादी है, ऐसा जानकर ज्ञानीपुरुष अनित्यताका मोह छोडकर अपने नित्य ज्ञानमात्र स्वरूपकी उपासना करते हैं। तो अनित्य भावनामे यह विचार चल रहा है कि यह सब कुछ अनित्य हैं। इस विचारके साथ, अनित्य जाननेके साथ यह भी प्रतीति करना चाहिए और भाव रखना चाहिए कि इन सबमें जो द्रव्य है वह नित्य है। उस द्रव्यके लक्ष्यसे कोई व्यवहार करता ही नहीं है। मैं जो आत्मद्रव्य हूं नित्य हूं, यह मै आत्मद्रव्य नित्य किसी से व्यवहार नहीं करता तथा कोई इस मुझ नित्य आत्मद्रव्यसे व्यवहार नहीं किया करता। जो कुछ पहिचान हो रही है, जो कुछ लड़ाई हो रही है, जो कुछ झमेला चल रहा है, वह सब इन दृश्यमान पुद्गल स्कंधोके साथ और झमेला कर रहा है यह भूलाभटका व्यामोही संसारी जीव। अपने को दुःखसे छूटना है, शान्तिमे आना है तो उसके लिए एकमात्र यही उपाय है कि हम अध्रुव परतत्त्वोंसे दूर हो और ध्रुव ज्ञानमात्र अतःतत्त्वमे प्रतीति बनाये।

जम्मं मरणेण समं संपज्जइ जोव्वणं जरा-सहियं।
लच्छी विणास-सहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥५॥

जन्मकी मरणसहितता--जन्म तो मरणके साथ बँधा हुआ है। यौवन जरासहित है, लक्ष्मी विनाश सहित है, इस कारण हे भव्य ! तुम इन सबको भगुर अनित्य ही जानो। ऐसा कोई जन्म नहीं है जिसके बाद मरण न हो। मरण तो ऐसा मिल सकता है कि जिसके बाद जन्म न हो, जैसे कि तीर्थंकरोका, मुनीश्वरोंका निर्वाण। निर्वाण भी मरण है, जिसे पंडितपंडितमरण कहते हैं। आयुक्षय तो है ही। जिस आयुक्षयके बाद फिर उसका जन्म नहीं होता, नया शरीर नहीं मिलता उसे निर्वाण कहते हैं। तो मरण तो ऐसा हो सकता है कि जिसके बाद जन्म न हो, पर ऐसा जन्म कोई नहीं है कि जिसके बाद मरण न हो। जन्म और मरण ये दो एक प्रकारके ओर छोरकी अग्नि हैं। जैसे एक बाँसके पोलमें कोई अन्दर कोड़ा पड़ा है और ओर छोर आग लग जाय तो जैसे उस ओर छोरकी आगके बीच पड़ा हुआ कीड़ा तड़फता है इसी प्रकार यह संसारी जीव जन्ममरणके ओर छोरके बीच रहकर दुःखी रहता है।

जवानीकी जरासहितता--जैसे जन्म मरणसहित है ऐसे ही जवानी बुढापा सहित है। हम आप लोगों को कोई अभी तक मिला क्या ऐसा कि जो जवान ही जवान रहा आया हो और वृद्धावस्थाके उन्मुख न हुआ हो। ऐसा तो हो ही नहीं सकता। जवानी बुढ़ापा सहित है। जो आज जवान लोग हैं उनके मनमें बुढ़ापेकी कुछ बात मनमें नहीं आती है। परन्तु जब समय पहुँचता है, बुढ़ापा आ धमकता है तब तो लोग अनुभव करते ही हैं। ऐसा कोई यौवन नहीं है जो बुढ़ापासे सहित न हो। बुढ़ापे में कमर झुक जाती है, सर भी कुछ नीचा हो जाता है, तो उस घटनाको लक्ष्यमें लेकर कवि लोग अलंकारमे कहते हैं कि ये पुरुष और स्त्री अपनी गुमी हुई जवानी को ढूँढनेके लिए नीचे मुख किए हुए हैं कि हाय ! मेरी जवानी कहां गई ? तो यह यौवन जरा सहित है। बुढ़ापेमें अनेक क्लेश हैं। एक दृष्टिसे इस जीवनमें प्रकृत्या उत्तरोत्तर क्लेशवाली आयुर्विधि मालूम होती है कि यह मनुष्य जब उत्पन्न होता है तो पहिले बालक रहता है। तो बालक को तो सब आनन्द ही आनन्द है। दुःखका कोई काम नहीं, माता पिता उस बालक के पीछे चिन्तित रहते हैं, उसका भरण पोषण करते हैं। उस बालकको कुछ भी तो फिक्र नहीं

रहती। जब वह बालक कुछ और बड़ा होता है तब भी वह बडा मौज मानता हैं। मगर उस बालकपनके मौजसे कम। बादमे जब बुढापा आता है तो उसे बहुत दुःख भोगना होता है। तो इस जीवनमे क्या आशा की जाय ? ज्यों ज्यों क्षण गुजरते हैं त्यों त्यों दुःखकी अवस्थामें आते हैं। बुढापेके बाद मरण हो जाता है। तो यो इस जीवनमे सार कुछ नही है। प्रारम्भसे लेकर अन्त तक कष्ट ही कष्ट उठाना पड़ रहा है, किन्तु जो ज्ञानी पुरुष हैं वे इन अवस्थाओमे नही रमते और अपने अन्तः सहज चैतन्यस्वरूप मात्र अपनी प्रतीति अनुभूति करते हैं, इस कारण वे सुखी हैं। लोकमे सम्यग्दृष्टि ही सुखी है। मोही मिथ्यात्वी तो प्रत्येक स्थितिमे दुःखी है। धनिक हो गए, राजा महाराजा हो गए तो वहां भी दुःखी हैं क्योकि वस्तु स्वरूप उसके ज्ञानमे नही है। यौवन बुढ़ापा सहित है। बुढापा आता है, अज्ञानी उसमे विह्वल होता है, मिथ्यात्वका बंध करता है, ज्ञानी उसका ज्ञाता रहता है और कर्मोंका प्रति समय निर्जरण करता है।

लक्ष्मीकी भंगुरता—यहा यह भावना भायी जा रही है कि जो कुछ समागम हैं वे सब अनित्य हैं, मिट जाने वाले हैं, उनमें प्रीति करना व्यर्थ है। जन्म भी मिटेगा, जवानी भी मिटेगी और यह वैभव लक्ष्मी जिसका कुछ समागम हुआ है वह भी विनाशसहित है। इसका भी फल आखिर मिटना ही है। किसी भी तरह मिटे। धनिकोंको देखकर ज्ञानी पुरुषको आश्चर्य नही होता, न वाञ्छा होती किन्तु ज्ञाता रहते हैं और कुछ कल्पना चलाता है तो उस धनी पर दयामयी कल्पना चलाता, उसे सम्यग्दृष्टि बड़ा नहीं समझता, किन्तु दयनीय समझता है। इस बेचारेको कब सुबुद्धि पैदा हो कि यह अपने स्वरूपको निरखकर अपनेमे तृप्त रहा करे, सत्य मार्गपर लगे। तो ये ही बाते अज्ञानीको दुःखके कारण हैं, किन्तु ज्ञानी इनको निरखकर अपने धर्मभावमे ठहरता है। जन्म और जवानी दोनों ही विनाशीक हैं, लक्ष्मी भी विनाश सहित है। लक्ष्मीका अर्थ धन पैसा वैभवसे है। अभी है, भविष्यका कुछ पता नही।

जन्म, जवानी, लक्ष्मीका सासारिक सुखोकी विपत्तिरूपता—जन्म, जवानी, लक्ष्मी ये सब भंगुर हैं, साथ ही ये विपत्तिसे युक्त हैं, इनमे विपत्ति लगी है। जवानी है उसके साथ भी विपत्ति लगी है, लक्ष्मी है तो उसके साथ भी विपत्ति लगी है। कोई प्रसन्न हो जाय मुझ पर और प्रसन्न हो करके कहे कि जो तुम चाहते हो सो माँग लो। तो यह माँगना चाहिए कि मुझे ऐसा जन्म मिले कि जिसके बाद मरण न हो। दे सकता है क्या कोई ? कोई नहीं दे सकता। प्रभु भी अपने कल्याणमय स्वरूपमे मग्न हैं। वह भी कुछ देते नहीं है। कोई प्रसन्न होकर मुझसे कहे कि मागो कुछ, तो मै माँगूँगा कि ऐसी जवानी मिले कि जिसके बाद बुढापा न आये। क्या कोई इस बातका ठेका ले सकता है ? इसी प्रकार यह कहा जाय कि मुझे लक्ष्मी मिले और उसका कभी भी वियोग न हो, तो ऐसा कभी हो नहीं सकता। ये सब विपत्तियोके साथ लगी हुई हैं। इन सबको भंगुर मानो, विपत्तिमय मानो, विनाशीक मानो इसी तरह सुखकी भी बात है। संसारका सुख दुःखके साथ अनुबद्ध है। कोई प्रसन्न होकर कहे कि माँग लो, जो माँगोगे सो देंगे। माँगकर तो देखो—मुझे ऐसा ससारी सुख चाहिए कि जिसके बाद दुःख न हो। ये ससारके सुख दुःखचक्र की तरह परिवर्तित होते रहते हैं। ये सब विनाशीक तत्त्व हैं। इसमें प्रीति करनेमें लाभ नहीं है। इनका यथार्थ स्वरूप जानकर इनसे उपेक्षा रखकर केवल ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें लेते हुए आनन्दरस विभोर रहना, इतना ही मात्र सार है। बाकी इन बाह्य पदार्थोंमे पड़कर इस आत्माका अकल्याण ही करना है।

अथिरं परियण-सयण पुत्त-कलत्त-सुमित्त लावण्ण।
गिह-गोहणाइ सव्व णव-घण-विंदेण सारिच्छं ॥६॥

ये सब समागम अस्थिर हैं। जैसे कि जब नये मेघ आते हैं तो वे मेघ कितनी देर ठहरते हैं ? बिखर जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, इसी तरहसे यहाँ का सारा समागम थोडी देरको आता है और फिर

बिछुड जाता है। परिवार लोग और सुजन, सुजन तो कहलाये कुटुम्बी लोग अथवा अपने मित्रजन और परिवार लोगोमें सब आ गया। कुटुम्बी लोग हैं उनके अतिरिक्त जो कुछ घरमे गाय, भैंस, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली आदिक जो जो कुछ भी स्नेहके सम्पर्कमे थे वे परिवारके लोग और स्वजन ये सबके सब अस्थिर हैं। जैसे मरने पर कुटुम्बके लोग दुःख मानते हैं वैसे ही गाय, भैंस, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली आदि भी दुःख मनाते हैं और उन्हें भी यह ज्ञान हो जाता कि मेरा मालिक मर गया। इससे परिवार लोगोमें केवल मनुष्य ही नही आते, जिन जिन चेतनोंसे स्नेह था और जो चेतन बड़ा स्नेह भी दिखाते थे वे सारे चेतन परिवारमे शामिल हो जाते हैं। जब घरका बड़ा घर आता है तो कुत्ता बिल्ली भी उछल करके पूँछ हिला कर कैसा पासमे बैठ जाते हैं? जैसे कि उससे उनके पुत्रादिजन प्यार करते हैं ऐसे ही ये पशु पक्षी भी उस गृहपतिसे प्यार रखते हैं। तो ये सब परिवारमें शामिल हैं। ये अस्थिर हैं, कुछ देरको मिलते और फिर बिछुड़ जाते हैं।

पुत्र, कलत्र व स्वजनकी अस्थिरता—पुत्र और स्त्री ये सब भी अस्थिर हैं। यद्यपि परिवारमें सब आ गए फिर भी परिवारमे सबसे अधिक प्रीतिके विषय होते हैं ये पुत्र और स्त्री। जिस पुरुषके स्त्री नहीं है, पुत्र नहीं हैं, वह घरमे रह रहा है जहां और सब भाई वगैरह मौजूद हैं और रहते हैं तो भी लोग यह ही कहते हैं कि देखो कुछ न कुछ और व्यर्थके मोहमे पड़ा है। लोग स्त्री पुत्रके सिवाय अन्यको भाई भतीजे आदिको उसका कुछ मानते ही नही। तो इससे सिद्ध है कि परिग्रह जो है वह पुत्र और स्त्रीसे होता है। घर बसना, घरका आधार, जालका आधार, फंसावका आधार पुत्र और स्त्री हैं और मित्रजन ये भी अस्थिर हैं। जितने हस्तावलम्बन परिजनोंके होते है उससे भी अधिक हस्तावलम्बन मित्रोंका होता है। अनेक मित्र ऐसे निष्कपट होते है कि चाहे अपना भाई कपट रखले पर मित्रके कपट नहीं होता। और धर्ममार्गमें तो जितने भी सम्यग्दृष्टिजन हैं उनका परस्पर एक दूसरेमें तो कपट होता ही नहीं है। यदि कपट है तो वहाँ सम्यक्त्व नहीं। कपटका मतलब जो व्यवहारमे आपत्तिका कारण बन सके, ऐसी माया उसे तो शल्य बताया है। माया, मिथ्या, निदान—ये तीन ऐसी शल्य है कि इनके रहते हुए सम्यक्त्व नहीं होता। तत्त्वार्थसूत्रमें जो यह कहा है कि व्रतीके माया, मिथ्या, निदान ये तीन शल्य नहीं होते। उसका अर्थ यह नहीं है कि व्रतीसे नीचे अविरत सम्यग्दृष्टिके माया मिथ्या निदान हो जायें। उसका भाव यह है कि सम्यक्त्वके बिना व्रती नही होता। सम्यक्त्वसे निःशल्यवृत्ति होती है, निःशल्य होना है। सम्यक्त्व को बात, सम्यक्त्वका चिन्ह है निःशल्यता। तो अनेक मित्र ऐसे होते हैं कि जिनके कुछ भी कपट नही है। परस्परमें एक दूसरेके गुणोसे आकृष्ट है और इसी बलपर उनकी मित्रता है।

लावण्य गृह गोधन आदिकी अस्थिरता—लावण्य अर्थात शरीरकी सुन्दरता जवानी ये सब भी अस्थिर हैं। जो वृद्ध हैं या वृद्ध होने के सन्मुख हैं वे सब अनुभव करते होगे कि वह समय कैसे गया जिसका कुछ पता ही नहीं। गए हुए समयको लोग यों सोचते है कि कैसे बीत गया? उसका कुछ पता ही नहीं हो रहा। आजका दिन अब आधा रह गया है, बीतेगा, यह बहुत बड़ा दिख रहा है, इसमे तो अभी ६ घंटा बाकी है और गया हुआ समय जो जीवनके ५०-६० वर्ष गुजर गए उन्हे लगता है कि कैसे निकल गए, जैसे मानो रात दिन ही न होते हो और एक चुटकीमे चले गए हो, इस तरह लगता है। तो यह सुन्दरता यह जवानी ये सब अस्थिर हैं, नष्ट हो जाने वाली चीजे है। घर और गोधन ये सब अस्थिर है। रहने के घर दुकान आदिक और गोधन पशु वगैरह गाय भैंस आदिक ये सबके सब अस्थिर है। जैसे कि नये मेघ आये तो वे अस्थिर है और बिखर गए। एक कथानक है कि एक राजा छतपर बैठा हुआ था, उसने आकाशकी ओर देखा तो बादलोंका एक बहुत बढिया मंदिर बना हुआ दीखा। वह राजा चित्र बनानेमें कुशल भी था। उसने सोचा कि इस बादलोसे बने हुए मदिर का चित्र ले ले और इसी तरहका एक मंदिर

बनवायेंगे। ज्यों ही वह नीचे से कागज पेन्सिल लेकर ऊपर छतपर गया त्यों ही वे सारे बादल यत्रतत्र बिखर गए थे। मंदिरकी प्रतिकृतिका वहां नाम न था। इस दृश्यको देखकर उसके चित्तमें विरक्ति उत्पन्न हुई और उसी समय वह विरक्त होकर दीक्षित हो गया।

भिन्न व अध्रुव पदार्थोंके व्यामोहमें आत्माकी बरबादी--भैया ! यह बात यथार्थ है कि ये सब समागम कभी न कभी विघटेंगे। जो लोभ किया जा रहा, जो ममता की जा रही वह सब बिल्कुल व्यर्थ है। बिल्कुल एक व्यर्थकी बात है कि अन्य जीवोंके लिए इन असार जड़ पदार्थोंका लोभ कषायके साथ हम संचय करते हैं। हमको उससे क्या मिलता है और व्यर्थ हम श्रम करते हैं, विकल्प करते है, पाप कमाते है। तो यह तो दयनीय अवस्था है। जैसे लोग ऐसे चतुर पुरुषोंको देखकर सोचते हैं कि ये बडे चतुर हो रहे है। सब कुछ कमा रहे है, जोड़ रहे हैं, ये बडे चतुर हैं। अरे वे चतुर नहीं है, वे दयनीय है। उनकी बुद्धि इस ओर लगी है कि खूब परिग्रह कमा लें। तो ठीक है, खूब कमालो पर यह अन्तमें कुछ काम न देगा। यह जीवन पाया है रत्नत्रयकी साधनाके लिए। बारबार दृष्टि ज्ञानमात्र निज स्वरूप पर जाय, उसकी चर्चा सुनने मे आये, उसका ख्याल आये, स्मरण हो और सज्जन पुरुषोंकी सेवा हो, सत्सग हो, ज्ञान बढे जिससे कि हमारा धर्म पालन हो, इसके लिए यह मनुष्य जीवन है। धन कमा कमाकर जोड़कर रख जाना यह सब बेकार है। तो ये सब समागम एक नवीन मेघके सदृश असार है।

सुरधणु-तडिव्व चवला इंदिय-विसया सुभिच्च-वग्गाय।
दिट्ठ-पणट्ठा सव्वे तुरय-गया रहवराई य ॥७॥

समागमोंकी इन्द्रधनुषवत् चपलता--ये सब इन्द्रियविषय नौकर समूह, हाथी, घोड़ा, रथ आदिक ये इन्द्रधनुषकी तरह चचल है और देखते देखते विलीन हो जाते है और यह बात प्रत्यक्ष अनेक बार देखी गई। कोई पुरुष मर रहा तो देखते देखते ही चला गया, वहाँ किसी का जोर नहीं पड़ता कि इसे कुछ देर और जिन्दा रखले। कोई कितनी ही ताकत लगाये, (हाथ पैर की ताकत तो वहाँ काम नहीं देती) केवल भाव भर बनाये जाते है। लेकिन कोई ताकत वहाँ काम नहीं देती। यह जीव इस देहको छोडकर चला जाता है। लोग कहते है कि यह अब नष्ट हो गया, पर नष्ट होने लायक तो यहा कोई चीज नहीं है। जैसे बिजली चमकी तो चमकने के बाद लोग कहते कि अब बिजली नष्ट हो गयी पर वह नष्ट कहा हुई ? जो स्कध अभी प्रकाशके रूपमे आये थे वे स्कध तो रहे, केवल उसका प्रकाशरूप मिट गया। यहा कोई चीज नष्ट नहीं होती, केवल एक पर्याय ही बदलती है। तो पर्यायों से ही लोगोंका व्यवहार है, पर्यायोसे ही रागद्वेष मोह है। परमार्थ चीजसे कौन मोह करता है ?

स्पर्शनेन्द्रियविषयकी भंगुरता--इन्द्रियके विषय भी चंचल याने भगुर है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत इनका विषय क्या है ? स्पर्शनका विषय है ठडा, गरम, रूखा, चिकना आदिक। जाड़े के दिनोमे गर्म स्पर्श तथा गर्मीके दिनोंमें ठडा स्पर्श चाहिए। सोने के लिए गद्दा तकिया आदि कोमल स्पर्श चाहिए। तो ये स्पर्श कभी कोई इष्ट होते हैं कभी कोई अनिष्ट होते है। ये सभी स्पर्शके विषय इन्द्रधनुष की तरह चचल है। इन्द्रधनुष लोकरूढिमें कहते हैं। वस्तुतः यह इन्द्रधनुष कोई इन्द्रका धनुष नहीं है। जैसा कि देहाती लोग मानते है। यह तो बादलोंमें सूर्यकी किरणे इस ढगसे पडती है कि उसका रग बिरगा चित्रण सा अर्द्धवृत्ताकार बादलोंमें हो जाता है। उसे लोग इन्द्रका धनुष कहते है। तो जैसे वह इन्द्रधनुष चचल है, वह उस ही शकलमे बना रहे, यह बात नहीं है। जरा सी देरमें उसका आकार भग हो जाता है। इसी तरह यह स्पर्शनका विषय भी भंग हो जाता है, मिट जाता है, बिछुड़ जाता है और प्रकार परिणम जाता है।

रसनेन्द्रियविषयकी भगुरता--रसना इन्द्रियका विषय है खट्टा मीठा आदिक रसोंका स्वाद लेना।

कहते हैं ना कि घाटी नीचे माटी। जितनी देर मुखमें है खानेकी चीज, जब तक जीभकी नोक उस चीज में लग रही है उतनी देरका स्वाद है। यह सारी जीभ स्वाद नहीं लेती, केवल जीभकी नोकका सम्बन्ध होनेसे स्वाद मालूम होता है। तो वह स्वाद कितनी देरका है जिसके पीछे लोग कुछ भी आगे पीछेकी बात नहीं सोचते। खानेके लोभी खाते जाते हैं और बडे प्रमादी बनते हैं, बीमार हो जाते हैं और दु:खी होते हैं। रसासक्तिमें बडा दुःख तो यह है कि रसके लोभमे जो उपयोग बना उस उपयोगके कारण अपने स्वरूपकी सुध भी नहीं रही और सुध रखनेकी पात्रता भी नही रही। तो रसनेन्द्रियका विषय इन्द्रधनुप की तरह चंचल है। थोड़ी देरमे यह नष्ट हो जाता है।

घ्राण, चक्षु व कर्ण इन्द्रियके विषयकी भगुरता—घ्राण इन्द्रियका विषय है गंध। हवा अनुकूल है तो गंध आ गई और हवा प्रतिकूल हो गयी तो गध भी हवाके साथ उड गयी। अथवा अपनी इन्द्रिय ही बेकार हो गई तो वह विषय मिट गया। पदार्थ तो मिटने वाले है ही, मगर इन्द्रियके द्वारा उन पदार्थोंका उपभोग करना यह क्रिया भी अस्थिर है। चक्षुइन्द्रियका विषय है रूप। लोग इष्टरूपको देखकर उसमे प्रीति करते है, मगर वह रूप चीज है क्या ? वह कोई हाथसे उठाकर उपयोगमे लाने वाली चीज है क्या ? कोई खाने पीने मे आने वाली चीज है क्या ? दूर ही इन्द्रिय है, दूर ही रूप है, मगर यह व्यामोही जीव दूरसे ही देखता हुआ, जहॉ कि मिलता भी कुछ नही है, अपने परिणामोको मलिन बनाता है और पाप बंध करता है। तो रूप विषय भी इन्द्रधनुषकी तरह चचल है। रूपका उपभोग चंचल है, रूप भी चंचल है। जैसे कि सनतकुमार चक्रवर्ती की कथा बहुत प्रसिद्ध है। अखाडेसे आकर जब नहानेको बैठे थे, धूल भरा शरीर था तब तो देवोंने बड़ा आश्चर्य किया उनके रूपको देखकर, वे कामदेव थे सनतकुमार चक्रवर्ती और जब किन्हीं ने कहा कि तुम अभी क्या रूप देखते हो। जब दो बजे दिनमे खूब सज धजकर सिंहासन पर राजदरबारमे बैठे हो उस समय इनका रूप देखिये। वे देव उस समय भी गए तो देखकर माथा धुनते हैं और कहते है ओह ! अब वह रूप नहीं रहा जो प्रातःकाल देखा था। तो रूप भी इन्द्रधनुष की तरह चंचल हैं। कर्णइन्द्रियका विषय है शब्द। सुहावने शब्द, राग रागनी भरे शब्द अथवा अपनी इच्छाके अनुकूल शब्द, इच्छाकी उत्तेजना करने वाले शब्द, ये शब्द सुहाते है मगर वे शब्द भी चंचल हैं, और उन शब्दोका उपभोग करना भी चंचल हैं।

सेवकादि सभी समागमोंकी भगुरता जानकर अध्रुवकी उपेक्षा करके निज ध्रुवतत्त्वमे उपयुक्त होनेका अनुरोध—उत्तम सेवक हों, जो स्वामीकी निष्कपट प्रीति भावसे सेवा करते हों और हितचिन्तक भी हों, ऐसे भृत्यसमूह भी नष्ट हो जाने वाले है और जो कुछ ये हाथी घोडे रथ आदिक दिखते है ये सब दिखते दिखते नष्ट हो जाने वाले है। यह तो बहुत दूरकी सोचनेकी बात है। जीवनमे तो रोज घटनाये होती है, इन्द्रियविषय कितनी बार चाहते है ? कितनी ही बार उन विषयोंका उपभोग करते हैं, वे उपभोग भी अस्थिर रह जाते है, विषय भी बिगड़ जाते है और आपसमे मेलजोल वाले मिलते हैं, बिछुड़ते हैं। तथा यह भी देखने मे आता कि आज जो निष्कपट सेवक है वह कहो थोड़ी ही देर बाद विपरीत बन जाय। तो अपना भृत्य तो नष्ट हो गया ना ? नौकर चाहे वही रहे पर उस मालिकके लिए तो वह सेवक नष्ट हो गया। मित्र जो आज अनुकूल है वे भी प्रतिकूल हो जाते है। तो मित्र तो नष्ट हो गए, पुरुष भले ही वही हैं लेकिन मित्रपना तो न रहा। तो ये सबकी सब बाते इन्द्रधनुषकी तरह चचल हैं, ऐसा जानकर इनमें अनुराग और व्यामोह न करें। इनको ही देखे तो इनका जो परमार्थस्वरूप है, जो शाश्वत है उस पर दृष्टि दें कि परमार्थ सत् तो वह है, ये सब तो पर्याय मात्र है, आये हैं मिटेंगे। अपने बारेमें भी यही दृष्टि दें कि यह ऊपरका ढाचा, व्यवहार यह सब पर्यायमात्र है। इसमे मै जो एक शुद्ध ज्ञानभाव रूप तत्त्व हू, जिसका कि यह सब फैलाव बना है वह मैं ज्ञानतत्त्व हू। परमार्थ सत पर दृष्टि दे, ध्रुव

की प्रीति छोड़ें, यही अध्रुव भावना भानेका प्रयोजन है।

पथे पहियजणाणं जह संजोओ हवेइ खणमित्त।
बंधुजणाण च तहा संजोओ अद्धुओ होई ॥८॥

मार्गमे पथिकजनोकी तरह बन्धुजनोके समागमकी क्षणिकता--जैसे मार्गमे पथिकजनोंका संयोग क्षण मात्र को है। चले जा रहे हैं, सामनेके मार्गसे कोई आ रहा है। रास्तेमे वे मिल गए तो वह कितनी देरका समागम है? इसे भी अपना काम करना है उसे भी अपना काम लगा है, सो क्षणमात्र बात करके या तम्बाकू बिड़ी आदि खाने पीने वाले हुए तो खा पीकर अथवा धार्मिक पुरुष हुए तो रामराम कहकर चल देते है। रास्तेमे जो पुरुष प्राप्त हैं उनका सम्बन्ध कितने समयका है? अत्यन्त अल्प समयका है। तो ऐसे ही यह संसार एक चौपथ ही है। यहां कोई नरकगतिसे आया, कोई तिर्यञ्च, मनुष्य अथवा देवगति से आया। मिल रहे हैं, तो यह मिलना कितनी देरका है? अत्यन्त अल्पकालका है। कोई ५०-६०-७० वर्ष भी साथ रहें तो वह अतिस्वल्पकाल है। जब कि काल अनादि अनन्त है। समयकी कोई आदि नहीं कि कबसे शुरू हुआ है? अगर शुरू हुआ है तो इसका अर्थ है कि उसके पहिले समय न था। क्या ऐसी कोई कल्पना कर सकता है कि जिसके पहिले कोई समय ही न हो। न तो काल अनादिसे है और न अनन्त काल तक है। क्या आगे भी कोई ऐसा समय आ सकता है कि जिसके बाद समय न रहे? तो अब अनादि अनन्तकाल कितना महान् है जिसका अन्त ही नहीं। उसके समक्ष यह १००—५० वर्षका तो जीवन क्या, करोड़ों सागर पर्यन्तका भी समय न कुछ चीज है। तो यह जो कुछ वर्षोंका सयोग मिला है यह सयोग अत्यन्त स्वल्प कालका है और फिर काम सबको लगे है अर्थात अपना जन्म मरण करना यही सबका काम है। सो अपने-अपने भाग्यवश जैसा जिसका परिणाम है, जिसने जैसा बन्ध किया, आगामी आयु बाधी उसके अनुसार वह चल देता है और यहा जो रह गए वे तो दु'खी होते है। देखो, जो मर गया वह अगली गतिमें गया, वह तो अपना आनन्द करता है, नया शरीर ले लिया। नया संग मिल गया, नई ऋद्धि मिल गई। यदि परिणाम अच्छा रहा और इसने देव आयुका बंध किया तो यहासे चलकर वह देव बन गया और तुरन्त ही बड़ी-बड़ी ऋद्धियां वैभव सब कुछ मिल गए। तो वह तो वहां आनन्द करता है और जहाँसे वह जीव गया वहाँ जिन्दा रहने वाले जीव हाय तोबा मचाते है। वे हाय तोबा मचाते हैं तो अपना ही हाय तोबा मचाते हैं दूसरेका नहीं मचाते।

प्रेमदर्शकोकी भगुरता--भैया! ये जितने भी सयोग है वे सब क्षणमात्रको है, इसी तरह समझिये कि बन्धुजनोंका यह संयोग अध्रुव ही है, स्वल्पकालमें नष्ट हो जाने वाला है। "सोचलो जिनका मुझपर प्यार बना था। भारी आशागार बना था।। दुनियाकी लीला दिखलाकर। वे गए किस ओर सर सर ॥" स्वर्गीय जो आपके बाबा थे? वे आपको गोदमें लेकर खिलाते थे। कितनी आशा भरी थी, कितनी प्रीति थी, आपके प्यारके कारण आपके बाबा आपके पिताको भी डांट देते थे, आपके पितासे लड़ बैठते थे, क्योंकि पिताका पुत्र पर प्यार होने पर भी व्यवहारमें उतनी प्रीति नही दिखा पाता पिता जितनी कि दादा बाबा दिखाते हैं। कुछ वजह है उसकी कि पुत्रके प्रति पिता कठोर बन जाता है, पुत्रको डाट भी देता है और बाबा नहीं यह सहन कर सकता। तो जो बाबा आपके प्यारके कारण आपके चाचा पिता आदिकसे भी लड़ बैठते थे वे अब कहां हैं? थोड़ी देरको उन्होंने अपनी लीला दिखायी और कहीं के कही चले गए। और भी सोच लो जो जो रिश्ते प्रीतिके अधिक कारण होते है, मा मौसी आदिक जो जो अधिक प्रीति किया करते हैं वे सबके सब अब कहां हैं और जिनके हैं उनका भरोसा क्या? तो यह साराका सारा सम्बन्ध स्वल्प कालके लिए है। इस सम्बन्धमें अपने आपको मोहमे न लगाना चाहिए।

अइलालिओ विदेहो ण्हाणसुयंधेहिं विविहभक्खेहिं।
खणमित्तेण वि विहडइ जलभरिओ आमघडओव्व ॥६॥

प्रतिलालित देहका भी क्षणमात्रमें विघटन—जैसे कि कच्चा घड़ा पानीसे भरा हुआ हो तो वह विघट जाता है, फूट जाता है, टूट जाता है, गल जाता है, इसी तरहसे बहुत-बहुत प्रीतिसे इस देहका लालन पालन करें, बहुत सुगंधित द्रव्योंसे स्नान करे, नानाप्रकारके पदार्थोंको खाकर इस शरीरको पुष्ट करें तो भी यह क्षणमात्रमें ही विघटित हो जाता है। जब तक रह रहा है, रह रहा है। जिन्दा रहनेमें आश्चर्य है मरनेमें आश्चर्य नहीं। जैसे जब बरषात होती है तो खपरैल वाली छतसे नीचे पानी गिरता है तो नीचे बड़े-बड़े पानीके बबूले बन जाते हैं। बच्चे लोग खड़े-खड़े परस्परमें उन बबूलोंको देखकर कहते हैं कि यह बबूला हमारा है, यह तुम्हारा है और जिस बच्चेका बबूला अधिक देर तक टिक गया वह खुश होता है और अपने को जीत गया मानता है। तो उन बबूलोंके फूटनेमें आश्चर्य नहीं, किन्तु उनके अधिक देर तक बने रहनेमें आश्चर्य है। हम आप जैसे कि जो जीव गर्भमें ही खिर जाते हैं क्या उस तरह खिर नहीं सकते थे, खिरे भी होंगे। अनेक बार जैसे अनेक बालक उत्पन्न होते ही मर जाते हैं, गर्भसे निकलते ही मर जाते हैं, उस तरहसे क्या हम आप नहीं मर सकते थे? उस समय भी मर सकते थे और इतने जीवनमें कई बार जलमें डूबने अथवा बीमारीमें मरने आदिके अनेक मौके आये तो क्या उस समय मर नहीं सकते थे? उस समय भी मर सकते थे। लेकिन आज भी हम आप जो बचे हुए हैं, जिन्दा बैठे हैं, इसमें आश्चर्य है। मरने का कुछ आश्चर्य नहीं, कभी भी मर सकते थे। अब तो यह संकल्प करना चाहिए कि हम यदि बचे हैं, जीवित हैं तो अब मुफ्त जीवित हैं, अर्थात् कायदे से तो उन अनेक घटनाओंमें ही मरने में कुछ कसर न रही थी। यदि उन घटनाओंमें ही मर गए होते तो यहां का कुछ भी मेरे लिए क्या था? परन्तु नहीं मरे अभी तक और सब कुछ है तो कुछ ऐसा भाव बनाना चाहिए कि जिसमें सन्तोष हो और पाप परिणाम न हो। आत्मदर्शन, आत्मध्यानके लिए उत्साह रहे।

वर्तमान दुर्लभ अवसर न खो देनेके लिये चिन्तन—भैया! अब तो ऐसा भाव बने कि हममें धारणा होनी चाहिए कि जिससे हम इस ज्ञायकस्वरूप शाश्वत सहजस्वरूपको निरख निरखकर सन्तुष्ट हों, पवित्रता बढ़ायें और कलुषताओंका ध्वंस कर दें। यह काम इस जीवने अनादिकालसे अब तक नहीं कर पाया। मौके भी अनेक मिले होंगे लेकिन वे सारे मौके चूक गए। आज एक मौका और मिला हुआ है। इस मौके को हम चुकाते हैं अथवा नहीं, यही एक समस्या है। यदि हम अपने सम्यक्त्वभावका आदर करते हैं, रत्नत्रयमें हमारी प्रीति है, रत्नत्रयके विरुद्ध अधर्मभावमें हमारा व्यामोह नहीं है तब तो समझिये कि हम इस दुर्लभ मौकेको नहीं चुका रहे हैं, इसका हम खास लाभ ले रहे हैं और यदि इस तरफ हमारी दृष्टि नहीं चलती, केवल आरामदेहका साधन और विषयोंकी दृष्टि अथवा लोगोंमें इज्जत यशका ख्याल ये सब दुष्परिणाम रहते हैं तो समझिये कि हम अपना यह मौका चुका रहे हैं। जिस शरीरमें आत्मबुद्धि करके ये सारे व्यसन लाद रहे हैं, यह शरीर जलभरे कच्चे घड़ेकी तरह क्षणमात्रमें नष्ट हो जायेगा। नहाना, सुगंधित इत्र आदिक लगाना, खूब अच्छा अच्छा खिलाना पिलाना, बहुत बहुत लालन पालन करना ये सब व्यर्थके कार्य हैं क्योंकि यह शरीर शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा। इस प्रकारकी अध्रुव भावना भाकर अध्रुवसे प्रीति छोड़े और ध्रुव ज्ञायकस्वभावमें अपना आदर करे।

जा सासया ण लच्छी चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं।
सा किं बंधेइ रइं इयर—जणाणं अपुण्णाणं ॥१०॥

लक्ष्मीमें किसीके पास बने रहनेकी असमर्थता—चक्रवर्ती जैसे पुण्यवतोंके भी जो लक्ष्मी शाश्वत न रही तो फिर पुण्यहीन अन्यजनोंसे वह क्या प्रीति बाँधेगी? चक्रवर्तियोंके वैभवकी भी बात देखो,—या

तो चक्रवर्तियोंको वैराग्य हो गया तो सारा वैभव उनसे विलग हुआ था वे चक्रवर्ती मर गए तो वैभव उनसे विलग हुआ। और किसी किसी चक्रवर्तियोंका मरण तो दयनीय दशामें भी हुआ तो जब पुण्यवान चक्रवर्तियोंके भी यह लक्ष्मी सदा न रही तो अन्य जनोंकी तो कथा ही क्या है? मुख्य बात तो यहां भी दिखती है कि लक्ष्मी, यह अड़ वैभव पौद्गलिक ढेर तो वस्तुत्व दृष्टिसे भिन्न हैं। यद्यपि एक इस मलिन अवस्थामें जब कि भूख प्यास लग रही, उसे बरदाश्त नहीं कर सकते या मोहादिक लग रहे हैं उस घटना में ऐसा लगता है कि वैभव बिना जीवन क्या? लेकिन वास्तविक दृष्टिसे देखो तो वैभव है तो क्या, नहीं है तो क्या, यदि जीवका ज्ञान विह्वल है, उसमें तंद्रा आती है, बेहोशी है तो उसका जीवन बेकार है। क्या है? कुछ दिनका यह जीवन है। कुछ मायामय पुरुषोंने हमें बड़ा न समझ पाया तो इसमें कुछ हानि है क्या? और बड़ा समझ लिया तो इसमें हमारा कुछ उत्कर्ष है क्या? आत्माका तो कोई साथी है ही नहीं। यह जीव जैसे परिणाम करता है उसके अनुसार कर्मबन्ध करता है और फल भोगता है, जन्म मरण करता है। परिणामोंके अनुसार ही इसकी गति और मुक्ति होती है। तो इसका कोई सहारा नहीं है। ये जितने भी समागम हैं ये अध्रुव है, इनकी तो यह करतूत है कि इनमें मोह करनेके कारण, ये मोह के विषयभूत बननेके कारण मुझे ठीक हालतमें नहीं रहने देते और भविष्यमें दुर्दशाके बीज बनते हैं।

कत्थ वि ण रमइ लच्छी कुलीण धीरे वि पंडिए सूरे।
पुज्जे धम्मिट्ठे वि य सुरूव-सुयणे महासत्ते ॥८॥

लक्ष्मीके वियोगकी अवश्यम्भाविता—यह लक्ष्मी कहीं भी स्थिरतासे रमकर नहीं रहती। जो बहुत पुण्यवान लोग हैं, जिनको उस समय लोकमें बड़ा माना जाता है उनके पास भी यह विभूति सदा नहीं रहती। जब बड़े-बड़े पुरुषोंके चरित्रको सुनते हैं, हुआ क्या? पांडव और कौरव हुए, झगड़ा चला, किसी को राज्य मिला, किसीको कुछ हुआ, आखिर सब बरबाद हुए और जो बच रहे उन्होंने क्या राज्य किया ही किया? वे भी थोड़ा समय बाद विरक्त होकर चल दिए। राम लक्ष्मण की कथामें आइये। बहुत प्रतापी पुरुष, सारे जीवन भर विपदा विपदाका ही समागम। थोड़े समयको लौकिक वैभव मिल भी गया तो उस समय भी चैन नहीं। एक न एक अपवाद, चिन्ता, शल्य कुछ न कुछ चलते ही रहे। अन्तमें हुआ यही कि सबको बिछुड़ना पड़ा। किसी महलमें आये, इकट्ठे हुए, परिणाम यह निकला कि कोई किसी तरह गया, कोई किसी तरह गया, कोई विरक्त हो गया, आखिर वियोग हुआ, वैभव भी बिघटा। तो अपने अपने बारेमें भी यह सोचना चाहिए कि यह कितना सा वैभव है? बड़े बड़े पुण्यवान चक्री राजा महाराजाओंके वैभवके समक्ष हमारा क्या वैभव? यह न कुछ जैसा वैभव अभिमानके योग्य या रम्य है क्या? इसमें न भूलें और अपने आपके निर्विकल्प ज्ञानस्वभावकी दृष्टि बनाये कि मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र हूं, इस मुझका अन्य कोई बाहरी वैभव नहीं है।

कुलीन व धीरमें भी लक्ष्मीके रमनेका निषेध—कोई ऐसा सोचे कि मैं कुलीन हूं, मुझे छोड़कर यह लक्ष्मी कहा जायेगी? लक्ष्मी तो मेरे साथ रहेगी ही, तो उसका ऐसा सोचना व्यर्थ है। बड़े बड़े कुलीन पुरुषोंके साथ भी यह लक्ष्मी न रही। कोई सोचे कि मैं धीर हूं, गम्भीर हूं, बड़ा विचारक हूं, हर एक काम को मैं खूब विचारकर करता हूं, मुझे कभी नुक्सान नहीं होने पाता, मेरे पाससे लक्ष्मी चली जाय, ऐसी गुञ्जाइश कहां है? तो ऐसा सोचना व्यर्थ है। कोई बड़ा धीर भी हो, पुण्यवान भी हो उसका भी यह सोचना व्यर्थ है कि लक्ष्मी मुझे छोड़ कर जा नहीं सकती। कैसा भी धीर हो, गुणी हो, गंभीर हो तो भी यह लक्ष्मी उसके साथ सदा न रहेगी। लक्ष्मी एक जगह जमकर नहीं रहती।

लक्ष्मीका एक जगह न रमनेका उदाहरण—एक कथानक है कि एक सेठ था, योगवश वह दरिद्र हो

गया। अब अपनी आजीविका वह कैसे चलाये ? तो उस समय राजदरबारमे वह अर्जीनवीसी का काम करने लगा। कुछ अर्जियां लिख दे और बदलेमे दो चार आने पैसे जो मिल जाते उनसे वह अपना गुजारा करता था। एक दिन वह अपने मकानकी छतसे सीढ़ियो द्वारा नीचे उतर रहा था तो जीनेमे एक आवाज आयी क्या मै आऊँ ? सेठने आकर सेठानीसे कहा। तो सेठानी थी समझदार। उसने समझ लिया कि लक्ष्मी बोलती है। तो सेठानी ने कहा कि तुम कह देना कि मत आवो। जब दुबारा आवाज आयी तो सेठने कहा मत आओ। यो ही जब कई दिन आवाज आयी तो सेठानी ने कहा कि अच्छा इस बार कह देना कि आवो तो सही पर आकर जावो नहीं तो आना। तो आवाज आयी कि ऐसा तो नहीं हो सकता। जाऊँगी तो सही पर तुम्हें इतनी सहूलियत देती हूं कि जाऊँगी तो बताकर जाऊँगी। जब फिर वही आवाज आयी तो सेठानीने सेठ से कह दिया कि अच्छा कह दो कि आ जावो। जब दूसरे दिन सेठसे लक्ष्मीने कहा कि "क्या मै आऊँ ?" इन शब्दोंके प्रत्युत्तरमे सेठने कहा 'अच्छा आ जाओ।' अब देखिये दूसरे दिनसे लक्ष्मी किस प्रकार आती है। दूसरे दिन रानीको एक पत्र लिखवाना था अपने (पति) राजाके लिए तो उस अर्जीनवीस (सेठ) से लिखवाया और बदलेमें एक अशर्फी दी। उस सेठ (अर्जीनवीस) ने उस पत्रको इस ढगसे लिखा कि राजाको न विषाद हो, न आकुलता हो और राजाका घर आना भी हो। राजाने उस निबधको पढ़कर यह अनुभव किया कि इसके लिखने वाला बड़ा बुद्धिमान् पुरुष है, सो घर आने पर उस अर्जीनवीस (सेठ) को अपना मंत्री बना लिया। अब क्या था ? लक्ष्मी आने के हजारों रास्ते थे। थोडे ही दिनोमे वह मालामाल हो गया। अब वह सेठ सोचता है कि मैं धनिक तो हो गया पर लक्ष्मीने यह कहा था कि मै जाऊँगी तो सही, पर बताकर जाऊँगी, सो मै देखूँगा कि वह लक्ष्मी अब किस तरह मेरे पाससे जाती है। उसने उस लक्ष्मीको न जाने देनेके लिए क्या किया कि अपने घरके हीरा जवाहरात सोना चांदी रत्न आदि कीमती चीजोंको एक हडेमे भरकर अच्छी तरहसे तथा ढॉककर उसे रंजवा दिया और बीच ऑगनमे गड़वा दिया। लेकिन देखिये वह लक्ष्मी जाती है तो किस तरह जाती है ? एक दिन राजा मत्रीको अर्थात् उसी सेठको साथमे लेकर विनोदार्थ जंगल गया। चलते-चलते थक जानेके कारण राजा एक पेड़के नीचे आराम करने लगा। मंत्री ने राजाका शिर अपनी जंघापर रख लिया। राजाको निद्रा आ गई। इसी बीच वह लक्ष्मी आयी और बोली कि अब मैं जाती हूं, तो मत्री (सेठ) बोला—मैंने तुझे हडोंमें भरकर जमीनमें गाड़ दिया है, देखे अब तू कैसे जाती है ? तो फिर लक्ष्मी बोली—मैं तो जाऊँगी। तो वह मंत्री (सेठ) फिर बोला—तू नही जा सकती। "" मैं तो जाऊँगी। इतनेमें मंत्रीको क्रोध आया और राजाकी तलवार उस लक्ष्मीको मारनेके लिए खींच लिया, उसी झिटकेमें राजाके नेत्र खुल गए। देखा कि ओह ! मेरे मारने के लिए मंत्रीने तलवार खींची। सो उस समय तो राजाने कुछ न कहा। मंत्री राजासे ज्यादा तन्दुरुस्त भी था। अब दोनों चुपचाप चलते जा रहे थे। मत्रीसे भी यह न कहा जाता था कि मैने लक्ष्मीको मारनेके लिए तलवार खींची था, क्योकि वह जानता था कि मेरी इस बातपर विश्वास ही कौन करेगा ? आखिर वे दोनों जब राजदरबारमें पहुचे तो राजाने अपने सिपाहियोंको यह हुक्म दिया कि इस मंत्रीको व इसके पूरे परिवार को शीघ्र ही इस राज्यसे बाहर निकलवा दिया जाय। सिपाहियोने उस मत्रीको तथा उसके परिवारको राज्यसे बाहर निकाल दिया। तो देखिये—इस कथानकका तात्पर्य यह है कि यह लक्ष्मी जाती है तो इस तरह चली जाती है। कोई यह सोचे कि मै पुण्यवान् हू, कुलीन हू, धीर हू, मुझे लक्ष्मी छोड़कर कैसे जायेगी ? यह सोचना व्यर्थ है।

पण्डित, शूर, धर्मिष्ठ आदि पुरुषोंको भी लक्ष्मीमे रमनेका निषेध—अथवा कोई यह सोचे कि मै बड़ा चतुर हू, विद्वान हूं, अनेक कलाओंका जानकार हू, मुझे लक्ष्मी छोड़कर कैसे जायगी अथवा कोई यह

सोचे कि मैं बड़ा बलवान हू, युद्धमें अनेक राजाओं पर विजय प्राप्त कर लेता हूं, मुझे लक्ष्मी छोड़कर कैसे जायेगी ? तो यह सब सोचना बिलकुल व्यर्थ है। लक्ष्मी कहीं रमकर रहती ही नहीं है। कोई यह सोचे कि मैं तो पूज्य हू, धर्मात्मा हू, आखिर लक्ष्मीको पूज्यके, धर्मात्माओंके पास रहना ही चाहिए तो यह भी उनका सोचना व्यर्थ है, क्योंकि यह लक्ष्मी किसी भी जगह रमकर नहीं रहती। कोई सोचे कि मैं बड़ा सुन्दर हू, कामदेवके सदृश रूपवान हू, आखिर सुन्दरता पर तो लक्ष्मीको मोहित ही रहना चाहिए मुझे छोड़कर लक्ष्मी कहा जायेगी ? तो यह सोचना बिलकुल व्यर्थ है। कोई कैसा ही स्वरूपवान हो, कैसा ही बलवान हो, कैसा ही महान पराक्रम वाला हो पर यह लक्ष्मी किसी भी जगह रमकर नहीं रहती। तो जो चीज सदा अपने पास रहनेकी नहीं, उसके प्रति हमारा आदर हो, लोभ हो, मोह हो, तृष्णा हो तो यह कोई भली बात नहीं है। जिस उपयोगमें, जिस शल्यमें, जिस विडम्बनामें अपने आपकी दृष्टिसे भी वंचित रहें और केवल शरीर विषय खानपान आदिककी धुनमें ही रहे और सांसारिक सुविधाओंका ही उद्देश्य रहे तो यह कैसे हितकी चीज हो सकती है ? इस लक्ष्मीसे, इस परिग्रहसे, वैभवसे तो मुख मोड़ना होगा, यथार्थ ज्ञान करना ही होगा और अपने को ऐसा अनुभवना होगा कि मैं देहसे भी निराला (वैभव की तो बात क्या) ज्ञानमात्र एक आत्मतत्त्व हू।

ता भुंजिज्जउ लच्छी दिज्जउ दाणे दया पहाणेण।
जा जल-तरंग-चवला दो तिण्णि दिणाइ चिट्ठेइ ॥१२॥

विनाशीक लक्ष्मीका उपभोग व दान करनेका सदुपयोग कर लेनेका सदेश—हे हित चाहने वाले पुरुषों! इस लक्ष्मीका तब तक उपभोग कर लो, दया प्रधान होकर दान करलो जितने दिन, दो चार दिन जब तक कि यह चपल लक्ष्मी जलके तरंगकी तरह ठहर रही है। जैसे पानीकी लहरें आती हैं और जाती हैं इसी प्रकार यह लक्ष्मी, यह वैभव सम्पदा भी आती और जाती है। लक्ष्मीसे मतलब किसी देवी देवताका रूप नहीं, किन्तु यह वैभव सम्पदा जहाँ साक्षात् एक हितकी दृष्टि करके मोहीजन व्यासक्त रहा करते। इन समस्त वैभव समागमोंका सदुपयोग करले क्योंकि ये दो चार दिन ही ठहरने वाले हैं। सो जब तक जितने क्षण ये ठहर रहे हैं उतने क्षण इनका उपयोग कर लेना चाहिए। इन्हें भोगें, अच्छे कामोंमें दान दें, क्योंकि लक्ष्मीकी, सम्पदाकी तीन ही दशायें हैं—दान, उपभोग और विनाश। मरकर जाने वाले पुरुषोंको देख लो कि आखिर अकेले ही जाना पड़ता है, और कोई यह सोचे कि हम भले ही अकेले मरकर जायेंगे, और कुछ साथ न ले जायेंगे, लेकिन धन जोड़ लेंगे तो यहां बच्चों को तो धनिक बना देंगे। वे तो मौज करेंगे। तो इस अभिप्रायमें मिथ्यात्व भी बसा हुआ है। संसारके इन अनन्त जीवोंमें से दो चार जीवोंके प्रति इतनी अधिक आस्था, इतनी अधिक रुचि कि स्वयं उसका कुछ भोग न करेंगे, स्वयं कुछ दान न कर सकेंगे, स्वयं हैरान होंगे, अथवा जिस किसी भी प्रकार जीवन बितायेंगे। मगर भाव यह है कि लड़के बच्चे तो धनी बन जायेंगे, ये तो खुश रहेंगे, सो प्रथम तो यह बात है कि लड़के बच्चे इस तुम्हारे आत्माके तो कुछ लगते हैं नहीं, कल्पनासे तुमने उन्हें अपना मान रखा है और फिर मरणके बाद तो आप न जाने कहाँ किस गतिमें पहुचेंगे ? दूसरी गतिमें पहुंचने पर फिर वहाँ जो बच्चे होंगे उनको अपना मानेंगे, इस मनुष्यगतिमें जिन्हें अपने बच्चे समझते थे वे तो फिर आपके लिए कुछ न रहेंगे। तो विवेकी जन कहते है कि यहां की प्राप्त लक्ष्मीका उपभोग कर लो या दान करलो अन्यथा इसका विनाश होना तो निश्चित ही है।

जो पुण लच्छिं संचदि ण य भुंजदि णेय देदि पत्तेसु।
सो अप्पाणं वंचदि मणुयत्तं णिप्फलं तस्स ॥१३॥

वैभवका उपभोग व दान न कर सकने वालोंके मानव जीवनकी निष्फलता—जो पुरुष इस लक्ष्मीका संचय

करते हैं, न खुद उसका उपभोग करते हैं, न पात्रोंको दान करते हैं सो वे तो अपने आत्माको ठग रहे हैं। उनका मनुष्यत्व अर्थात् यह मानव जीवन निष्फल है। जो मनुष्य केवल वैभवका संचय करते हैं, न खुद खायें, न दूसरोंको दान दें, वे समझते हैं ऐसा कि मैं दूसरोंको खूब उल्लू बना रहा हूं, मैं बड़ा चतुर हूं, लेकिन वस्तुतः वे अपने आत्माको ठग रहे हैं। उन्हें इस मनुष्यपर्यायके जीवनसे लाभ क्या? खुदका किसी तरह पेट भरना, यह तो सब जगह होता है। पशु पक्षी आदिक सभी जीव जब जन्म लेते हैं तो उनकी उदरपूर्ति भी होगी, लेकिन परवस्तुओंमे जो अपने आपको एक लोकव्यवस्था प्राप्त हुई है उनमे इतना लोभ रखना, न भोग कर सकना, न दान कर सकना, ऐसी प्रवृत्तिसे मनुष्यजीवन व्यर्थ है। मनुष्यपर्याय केवल धनसंचयके लिए नहीं है। धन जोड़ते जावो, किसी भी प्रकार जुड़े, उसमें से न भोग हो, न दान हो, इस प्रकारकी वृत्ति रखना मानवजीवन पाकर योग्य नहीं है। कोई मनुष्य इस मानव पर्यायको पाकर केवल धनसंचयमे ही समय लगा है, उसमें ही उपयोग बसाता है, न खुद भोग सकता, न दानकर सकता, वह अपने आपको ठग रहा है, क्योंकि उसने अपने आपपर दया नहीं की और धन संचयको ही कल्याणकारी समझा। उसका पूरा हितरूप पुरुषार्थ केवल धनसंचय करना है, ऐसी उसके चित्तमें बात बसी है।

धनसंचयासक्त पुरुषकी विपत्तियां व आत्मवञ्चना—धनसंचयका आसक्त पुरुष सोचता है कि जिसे संचय कर रखा है वह सदा मेरे साथ रहेगा। यह बिछुड़ेगा इतनी भी बात चित्तमें नहीं आती। अगर यह बात चित्तमें आ जाय कि ये सब बिछुड़ेंगे तो भी अवश्य उसका सदुपयोग करे। संचयकी बुद्धि फिर न रखेगा। मोहीजन सोचते अवश्य हैं ऐसा कि यह सम्पदा मेरे साथ सदा रहेगी लेकिन जीवन भर भी जिस किसी भी प्रकार धनसंचय कर लो, आखिर जब मरणकाल आता है तो चूँकि दिख रहा है ना कि मैंने बड़ी कृपणता करके स्वयं उपभोगमें न लाकर, किसीके उपकारमें न लगाकर जो धन जोड़ा है वह सब यहीं पड़ा रह जा रहा है। छोड़कर जाना पड़ रहा है। यों कितना कठिन क्लेश होता होगा उसे? यदि उसकी प्रकृतिमे धनके उपभोग और दानकी बात होती तो उसमें उदारता भी जगती, मरते समय उस धनके छूटनेका क्लेश वह न मानता और उन पवित्र भावोंके कारण जो धन संचय किया, जो अपने कर्तव्यका पालन किया उसका सन्तोष भी रहता, लेकिन व्यामोहमें, धनसंचयमे ही सारा जीवन लगाया, उसका न खुद भोग किया, न दान दिया तो ऐसे पुरुषने धनको ही सब कुछ समझा और उसमे ही अपना जीवन गँवा दिया तो उसका मनुष्य जीवन पाना व्यर्थ ही रहा। उस जीवनसे उस आत्माने कुछ भी लाभ नहीं पाया।

> जो संचिऊण लच्छिं धरणियले संठवेदि अइदूरे।
> सो पुरिसो तं लच्छिं पाहाण-समाणियं कुणदि ॥१४॥

धन गाड़कर रखने वाले कृपणकी करतूत—जो पुरुष लक्ष्मीका संचय करके जमीनमें नीचे बहुत गहरे गाड़ देता है सो उस पुरुषने क्या किया? उस वैभवको, उस लक्ष्मीको पत्थरके समान बना दिया। जैसे जमीनके नीचे पत्थर गड़े हैं तो उन पत्थरोंसे क्या लाभ? वे न भोगमें आ सकते, न दानसे आ सकते। जैसे किसी धनिक कंजूस ने धनसंचय करके उसे जमीनमें गाड़ दिया। उसमें से वह न खा पी सकता है, न किसीके उपकारमें लगा सकता है सो क्या किया उसने? उसको पत्थरके समान कर दिया। जैसे जमीन के अन्दर गड़े हुए पत्थरसे कोई काम नहीं चलता इसी प्रकार कंजूस के गड़े हुए धनसे भी कोई काम नहीं चलता और ऐसे धनिक कंजूसके मुकाबलेमें कोई गरीब बहुतसे पत्थर अपने घरसे जमीनके नीचे ... दे और यह मान ले कि जैसे धनिक ने लाखोंका वैभव गाड़ रखा है ऐसे ही यह मेरा वैभव भी गड़ा ... है। धनिकका लाखोंका धन और गरीबके ढेरों पत्थर जमीनमे गड़े हुए होने से दोनों एक समान हो गए।

न धनिकके धनसे ही कुछ काम निकल सकता है और न गरीबके उन पत्थरोंसे। तो जो पुरुष लक्ष्मीका संचय करते हैं, पृथ्वीमें गहरे गाड़ देते हैं वे तो लक्ष्मीको पत्थरके समान कर देते हैं। लोग गाड़ते हैं रक्षाके विचारसे कि जमीनमें गाड़ देंगे तो कोई चुरा न सकेगा, छुड़ा न सकेगा, लूट न सकेगा। परन्तु ऐसा करके मनुष्य कृपण होनेके कारण उसे निकालना न चाहे, उसका उपभोग न करना चाहे तो वह तो उस लक्ष्मीको पत्थरकी तरह बना देता है। जैसे जमीनके नीचे ईंट पत्थर वगैरह गड़े रहते हैं, गाड़े जाते हैं इसी तरहसे उसने भी वैभवको जमीनमें गाड़ दिया तो क्या किया जा सकेगा उस वैभवका ?

अणवरयं जो संचदि लच्छिं ण य देदि णेय भुंजेदि।
अप्पणिया वि य लच्छी पर-लच्छि-समाणिया तस्स ॥१५॥

उपभोगदानहीन धनसंचयासक्त पुरुषकी लक्ष्मीकी व्यर्थता—जिसने निरन्तर लक्ष्मीका संचय किया, न किसीको दिया, न अपने उपभोगमें लिया, तो उसने अपनी लक्ष्मी को दूसरेकी लक्ष्मीके समान कर दिया। अगर उस लक्ष्मीका न स्वयं उपभोग किया, न पात्रोंको दान किया, उसे रखे ही रहा तो आखिर उसे छोड़ कर तो जाना ही होगा। मरण तो अवश्य होगा। उस रखे हुए धनको यदि पुत्रोंने भी लिया तो क्या है ? वे भी परजीव हैं, जैसे और जीव हैं वैसे ही वे भी हैं। जो मरकर चला गया उसके लिए यहाके लड़के अब क्या रहे ? उसने तो अपने वैभवको दूसरेके वैभवके समान बना दिया। दूसरेका ही बना दिया। अपना वहाँ रहा ही क्या ? जैसे पराये धनको हम न किसी दूसरेको दे सकते, न भोग सकते, इस लोकमें ऐसी व्यवस्था है ही, दूसरे के धनका हम कुछ कर ही नहीं सकते, कुछ अधिकार ही नहीं, तो ऐसे ही अपने भी धनको अगर खुद नहीं भोग सकते, किसीके उपकारमें नहीं लगा सकते तो वह खुदका धन भी पराये धनके समान हो गया। वह तो केवल उस वैभवका रक्षक (पहरेदार) बन रहा। कहीं यह धन बिगड़ न जाय, यह सुरक्षित बना रहे, यों केवल उस वैभवकी रखवाली कर दी। सो ठीक है। जब घर वालोंके पुण्यका उदय है, जिनके उपभोगमें वह धन जायेगा, जब उनके पुण्यका उदय है तो उसमें किसीको तो निमित्त होना ही चाहिए। कोई भी सेवक बने, उनके पुण्योदयका कोई तो फल पाने के लिए नौकर बने। सो यों समझिये कि दूसरोंको सुखी रखनेके लिए, पुण्यवालोंकी चाकरी करने के लिए केवल एक नौकरी ही की जा रही है, लाभ कुछ नहीं है, पहरेदार है, दूसरे लोग भोगें, खायें, उनके लिए ही यह सब वैभव है, ऐसा यह एक बड़ा ईमानदार रखवाला बना है। यह रखवाला बड़ा ईमानदार है कि उसमें से अपने लिए कुछ न ले और उस वैभवको दूसरोंका जानकर अपने को रखवाला ही समझकर सच्ची रखवाली करे। ऐसे ईमानदार रखवाले अब भी कहीं कहीं मिलते हैं लेकिन यह कंजूस धनिक तो साक्षात् ईमानदार रखवाला है। उस वैभवका जो अपने लिए कुछ न करे, न खाये, न दान आदि करे और दूसरोंके उपभोगके लिए उस वैभवको पूर्ण रक्षित रखे वही तो अच्छा रखवाला है। जब तक कोई विवेकभरी दृष्टि न रखेगा और पाये हुए समागमोंमें उपेक्षाबुद्धि न होगी तब तक न पाये हुए समागमोंका यह सदुपयोग कर सकेगा और न वह अपना आध्यात्मिक विवेक ही बना सकेगा। जहाँ परद्रव्योंमें इतनी ममता है कि न उनका खुद उपभोग करें, न दान दें, केवल उनकी रखवाली ही करते रहें तो ऐसे मुग्ध पुरुष अपने अध्यात्म प्रगतिमें उत्थान ही क्या कर सकते हैं ? ऐसी बात जानकर इस मिले हुए वैभवका सदुपयोग करना चाहिए और संचयकी आसक्ति छोड़कर आत्मानुभवके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

लच्छी संसत्तमणो जो अप्पाणं धरेदि कट्ठेण।
सो राइ-दाइयाणं कज्जं साहेदि मूढप्पा ॥१६॥

द्रव्य पर्यायकी यथार्थ श्रद्धा बिना निराकुल पदके लाभका अनवसर—लोकमें जितने समागम हैं वे सब अध्रुव हैं। अध्रुव होनेका कारण यह है कि प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है, यह वस्तुका स्वरूप

है। यदि कोई उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाला नहीं है तो वह है ही नहीं। ऐसा कुछ भी लोकमें नहीं जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे रहित हो। चाहे किन्हीं घटनाओं में यह बात स्पष्ट समझमें आये अथवा न आये, लेकिन उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय प्रत्येक पदार्थ होता है। समागममें जो चीजें आयी हैं वे एकदम मूर्तरूप हैं, उनका तो उत्पाद-व्यय स्पष्ट समझमें आता है। अपने से भिन्न पदार्थ हैं और वे अध्रुव हैं, इस कारण अपने से बाहर किसी भी पदार्थमें उपयोग रमानेमें हित नहीं है। जिनकी श्रद्धा यथार्थ है वे न भी चल सकें उस पर, पर श्रद्धा यथार्थ होनेसे वे कभी अवश्य तिर जायेंगे, और जिन्होंने अपना कुछ उद्देश्य ही नहीं बनाया, जिनकी श्रद्धा ही सही नहीं है वे चाहे कितना ही धर्मके नामपर श्रम करें पर तिरनेकी लैन उन्हें नहीं मिलती। जैसे किसी जगह कोई हवेली बननेका काम हो रहा हो और कोई मजदूर हिसाब रखने वाले रजिस्टरमें नाम लिखाये बिना ही श्रम करने लगे तो खूब श्रम करने पर भी जब मजदूरी मिलनेका मौका आता है तो वह पुरुष मजदूरी पानेसे वंचित रह जाता है। इसी प्रकार जो श्रद्धाविहीन है वह बड़ा श्रम करने पर भी उसका लाभ नहीं प्राप्त कर सकता। जिसकी श्रद्धा दृढ है उसने समझ लीजिए मोक्ष महलके निर्माणमें अपना नाम लिखा लिया और यदि श्रद्धा ही नहीं है तो धर्मके नाम पर कितने ही श्रम किए जायें, पर तिरने की गैल उसे नहीं मिल पाती।

कल्याणार्थीकी स्वके प्रति आस्था—प्रत्येक कल्याणार्थीको यह दृढ़तम श्रद्धा होनी चाहिए कि मेरा मेरे सिवाय और कुछ ध्रुव नहीं है। मेरे साथ मैं ही रहने वाला हूं और मेरे लिए मैं ही हितरूप हूं। मुझको अन्य कुछ भी हित नहीं है। ये समस्त पदार्थ अध्रुव हैं। परिवार, स्वजन, वैभव, यश कीर्ति आदिक सभी के सभी अध्रुव हैं और उनमें इस मनुष्य को सबसे अधिक प्रीति लक्ष्मीमें है, वैभवमें है। वह वैभव अध्रुव है, जो मिट जाने वाली चीज है। उसका यदि उपभोग अथवा दान न किया जाय तो वह तो मिटेगी ही। जो इस वैभवका उपभोग नहीं करता, अपने उपभोगमें ढंगसे खाये पिये रहे, कुछ दूसरोंके उपकार में लगायें, धर्मसाधनका अपना ढंग बनायें, सब प्रकारकी सामर्थ्य पाकर, आजीविकाका साधन पाकर, लक्ष्मीका संचय पाकर यदि उसका सदुपयोग न कर सके तो यह समझना चाहिए कि हम दूसरोंके लिए इस लक्ष्मीके रखवाल बन रहे हैं। जो पुरुष ऐसी विनश्वर लक्ष्मीमें आसक्त चित्त रहता है उसे बड़े कष्टों का सामना करना पड़ता है। वह मूर्ख आत्मा करता क्या है? इसका सारा श्रम राजाके लिए या अन्य लोगोंके लिए है। धनकी गति छोड़कर जानेमें यही तो होगी। या तो दूसरे लोग उसे संभालेंगे या राजा उसकी संभाल करेगा। और इस धनका विकल्प कर करके जो अपने को आत्मानुभवका अपात्र बना लिया, बाह्यदृष्टि होने के कारण जो अपने में एक खिन्नता बना ली वह उसकी गाँठमें रही। वह चीज गाँठमें न रही जिसके पीछे लोग लड़ते हैं, विकल्प करते हैं, रागद्वेष करते हैं पर जो रागद्वेषादिक किए वे कुछ काल तक कष्ट देने के लिए इस जीवके साथ रहेंगे।

धनसंचयका विकल्प व व्यर्थ संचय करनेका श्रम—यह मनुष्य धन संचयके लिए बड़े-बड़े कष्ट उठाता है। परदेशमें जाय, समुद्रोंमें यात्रा करे, बड़ी कठिन धूपमें श्रम करे, बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ इत्यादि करे, यों अनेक प्रकारके कष्ट सहकर भी जो धन कमाता है उसका जो अपने लिए खर्च नहीं करते, परोपकार आदिमें नहीं लगाते, केवल इस धनका संचय करते रहनेकी ही जिनकी बुद्धि रहती है उन्होंने किया क्या? उनके मरनेके बाद इस धनको या तो राजा लेगा या अन्य लोग और उन्होंने उस धनके पीछे जो विकल्प बनाया, जो रागद्वेषादि किए उनका फल वे स्वयं भोगेंगे। वस्तुस्वरूपपर दृष्टि देकर विचार करो कि जो ये विकल्प किए जा रहे हैं कि हम जो धन इकट्ठा कर रहे हैं इससे हमारे लड़के खुश रहेंगे, उनको कोई तकलीफ न होगी, सो प्रथम तो यह बात मानते ही हैं कि लड़के लोग प्रायः अनुकूल नहीं चलते हैं, वे जानते हैं कि ये इसपर हमारा अधिकार है सो दिल जरा खुला हुआ है अतएव जरा-जरासी

बातमें प्रतिकूल हो जाते हैं और अनुकूल भी रहें कोई तो उनके प्रति वह पिता अनेक प्रकारके विकल्प बनाकर उनके पीछे हैरान ही रहेगा। उनके सुखी रखनेके लिए ही निरन्तर प्रयत्नशील रहेगा। मरते समय कोई सोचे कि हमने इतना धन जोड़ा और यह साराका सारा हमसे छूटा जा रहा है, तो हमारे लड़के लोग तो इसका उपभोग करेंगे, वे तो सुखसे रहेंगे, तो ये लड़के लोग भी क्या हैं ? जैसे जगतके अन्य सब जीव हैं वैसे ही वे भी हैं। मरनेके बाद तो रंचमात्र भी किसीसे सम्बन्ध नहीं रहता, कुछ परिचय ही नहीं रहता। पता नहीं मरकर वह किस देहमें, किस गतिमें गया, पता नहीं उसपर क्या बीतेगी ? कोई अगर समझ भी जाय कि यह जो गाय, भैंस अथवा मेढक बना है यह मेरे पिताका जीव है तो भी उससे वह प्रीति तो नहीं कर सकता। जो प्रीति स्वार्थ साधनेके समयमें होती है वह प्रीति वहीं तक है। कोई ऐसा विकल्प तो नहीं करता कि चलो, यह मेरे पिता अथवा पत्निका ही तो जीव है, मेढक बन गया तो क्या हुआ, इससे कुछ प्रीति करलें। मरनेके बाद किसका कौन और जीवित अवस्थामें भी किसका कौन ?

हितकारी लक्ष्य और हितार्थ चिन्तन—वास्तवमें मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि हे प्रभो, मेरेको मेरे सहजस्वभावकी दृष्टि जगे और उसमें ही मेरा उपयोग अधिक काल तक रहे, यही एकमात्र सार है इस दुःखमय संसारमें। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ सार नहीं है। जैसे बच्चे लोग बड़े हर्षसे अपने माता पिता को अपना शरण मानकर उनके पास बैठते हैं, उनकी गोदमें खेलते हैं इसी प्रकार अनन्तचतुष्टयके धनी, जिनका स्वभाव विकसित हो गया है ऐसे वीतराग सर्वज्ञ अरहत देव, जिनको हम एक समवशरणकी घटनामें सोच सकते हैं, तुरन्त ही अपनी दृष्टि आकाशमें रचित समवशरणमें ले जायें, वहां चतुर्मुख भगवान विराजे हैं उनकी वीतरागता, सर्वज्ञता, निर्दोषता और स्वभाव पूर्ण विकसित है। अनन्त आनन्द के स्वामी हैं। वे ही मेरे लिए शरण हैं, उनके लिए ही मेरा सर्वस्व समर्पण है। तो शरण मानकर क्या करें ? उनके निकट रहें, हाथ पैरसे नहीं किन्तु उपयोग द्वारा, ज्ञान द्वारा। जब दुनियामें सर्वत्र क्लेश ही क्लेश हैं तो फिर निर्दोष प्रभुके दर्शन करनेसे, उसके निकट रहने में अपना सारा लाभ ही लाभ है। तो शरण गहें तो हम उस निर्दोष आत्मविकासकी शरण गहें। उस शरणके गहनेसे हमें अपने आपके स्वभाव का भी स्पर्श होगा, दर्शन होगा। बस इतना ही मात्र तो सार है, बाकी सब तो एक आपत्ति है। जब बाहरी दृष्टि करते हैं, लोगोंका समागम मिलता है बाजारमें या अन्यत्र कहीं तो सब मोहियोंका समागम मिलता है तो उससे एक प्रेरणा सी यह मिल जाती है कि हम भी धनी बनें, बड़े बनें। धन बिना क्या है जीवनमें ? इस प्रकारसे एक धनी यशस्वी आदिक महान् नेता या सरकारी पदाधिकारी कुछ न कुछ बननेके लिए भाव उमड़ने सा लगता है। यही भाव विपत्ति है। जहाँ परभावोंमें अपनी अभिरुचि जगी वहीं इसके विपदा शुरू हो गयी, लेकिन ऐसे लोग हैं बहुत और केवल आत्मदर्शन करो, आत्माके निकट रहो, ऐसी बात कहने वाले अथवा ऐसी चर्चा प्रसंग करने, इस धुनमें रहने वाले हैं अति कम लोग, तो जहाँ अपनी शरण छोड़कर, अपनी दृष्टि छोड़कर बाहरमें कुछ देखा तो बस विपदायें शुरू हो जाती हैं। फिर जो पुरुष इस वैभव लक्ष्मीमें आसक्त हैं और अपने आपको बड़े कष्टमें रखते हैं उस वैभवके संचयके लिए ही जिनकी धुन है वे तो समझिये कि सरकारके या कुटुम्बियोंके या अन्य लोगोंके प्रयोजनको साधा और अपना काम कोई नहीं साधा।

जो वड्ढारदि लच्छिं बहु-विह-बुद्धीहिं णेय तिप्पेदि।
सव्वारंभं कुव्वदि रत्ति-दिणं तं पि चिंतेई ॥१७॥
ण य भुंजदि वेलाए चिंतावत्थो ण सुवदि रयणीए।
सो दासत्तं कुव्वदि विमोहिदो लच्छि-तरुणीए ॥१८॥

लक्ष्मीवर्द्धनके विकल्पकी व्यर्थता—जो पुरुष नाना तरहकी चतुराइयोंसे लक्ष्मीकी वृद्धि करते हैं, धन बढ़ाते हैं और तृप्त नहीं होते वे पुरुष लक्ष्मीरूपी कामिनीमे आसक्त होकर उसकी नौकरी करते हैं। भैया ! लक्ष्मी आये, बढ़े, यह दोषके लिए नहीं है, पुण्योदयसे लक्ष्मी आती ही है। चक्रवर्तियोंकी बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ और रत्न वगैरह सिद्ध होते है। तो ऋद्धि वैभव, लक्ष्मी, सम्पदा आनेमें दो नहीं, वह तो पुण्य का फल है लेकिन उस लक्ष्मीमे आसक्त रहना, उसके विकल्प कर करके तृप्त न होना, यह दोषकी बात है। कितना ही धन पासमे हो लेकिन यह विचार ही नहीं आ पाता कि जो कुछ धन हमें मिला है वह जरूरतसे कितने ही गुना ज्यादा है और ऐसी बात है प्रायः करके। इसका प्रमाण यह है कि कल्पना करो कि जैसे अन्य गरीब जन हैं ऐसा ही यदि मैं होता तो क्या उस स्थितिमे ही मैं गुजारा न करता ? उस मुकाबलेमें तो कितने ही गुना धन है। और अपनी वर्तमान परिस्थितिमे भी तो जरूरतसे ज्यादा है। अथवा इसका भी क्या विचार करना, उदयानुसार जो आता है सो ठीक है। कर्तव्य तो यह बताया गया कि उसका ही विभाग करके कि इतना उपभोगमें, इतना धर्ममें, इतना कुटुम्बपोषणमें भाग करना है। ६ भाग, ८ भाग, १० भाग करके उस तरह जैसे आप लोग संस्थाओंका बजट बना लेते हैं उस तरहसे ही आप अपनी आयका भी बजट बनाकर अपना काम चलाइये व उसीमे तृप्त रहिए। घरके जैसे लोग हैं, उनका जैसा उदय है वैसी ही बात बीतती है, वैसी ही आय है, वैसा ही हिस्सा है। अतृप्त होनेका तो कोई काम ही नहीं।

बरबादीके काममे मौज न माननेका विवेक—भैया ! अतृप्ति तो उस काममे होनी चाहिए जिसमें हम अपनी बरबादी समझते हैं। बरबादी है अपनी विषय कषायोंमे। बढ़ने में पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें हमारे विकल्प रहें, बढ़े वह हमारी बरबादी है। विषयोंमे तृप्ति नहीं होती, उनसे हटना चाहिए। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों कषायें मेरे गुणोंको जला देती हैं, ये कषायें अग्निवत हैं। जब क्रोध आता है तो कहाँ तो मैं सहज ज्ञानानन्द स्वभावमात्र और कहाँ ऐसी प्रवृत्ति कि उस क्रोधमें बाह्यवस्तु ही नजर आती है और इस ढंगसे कि मै इसको नष्ट कर दू। तो कहाँ तो मेरा एक शान्तस्वभाव, आनन्द मग्न रहनेका स्वभाव और कहां इस तरहका एक विकल्प विपदा ? तो यह क्रोध अग्नि है, जो मेरे शान्तिगुणको जला देती है, मेरे गुण विकासको खत्म कर देती है। मान कषाय भी इसी प्रकार है। बाह्यपदार्थोंमें, पर्यायों में करनेका अहकार, सबमें अपने को बड़ा माननेका अहंकार, जब ये अहंकारके परिणाम होते हैं तो अपने आपकी क्या सुध रहती है ? तो मान करना यह विपदा है जिसमें मेरे गुण भुने जा रहे, मैं बरबाद हो रहा हूँ। मायाचारमें भी तृप्ति नहीं होती। मायाचारी पुरुष अज्ञानी हैं। जो मायाचार करके समझते कि मैंने कैसा दूसरेको ठग लिया, कैसा इसे बेवकूफ बनाया, अपना काम साधायों अपना, करतूत पर तृप्ति करते हैं, पर वह तृप्तिके लायक बात है क्या ? उन्होंने तो अपने आपको ही ठगा। मेरा कहां तो अतुल विकासका स्वभाव, ऐसा वैभव कि ज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोक को जान जायें, इस गुणके आगे इस वैभवके आगे लोकमें कोई वैभव है क्या इसकी तुलनाके लिए ? सब कुछ तुच्छ है। तो मै मायाचार करके अपने उस केवलज्ञान गुणका घात कर रहा हूं। मैं उस केवलज्ञानगुणका घात कर रहा हूं तो यह मैं अपने आपको कितना ठग रहा हूं ? माया कषायसे भी आत्माके गुण बरबाद हो जाते हैं। लोभकषाय लोभमें एकदम परकी ओर दृष्टि रहती है। परके सचयसे, परको अपनानेका जो भाव रहता है उस भावमें अपने आपकी क्या सुध रहती है ? तो ये विषय कषाय इस जीवको बरबाद करने वाले हैं, इनसे तो हटनेकी ही कोशिश करें, इनमें तृप्त न हो और ऐसा अतृप्त न हों कि इन कषायोंको और बढ़ा लें। ये तृप्ति और अतृप्तिके विषय नहीं हैं।

अतृप्तिके कारणभूत आशाके परित्यागका शिक्षण—जो लोग इस लक्ष्मीका संचय करके तृप्ति अथवा

अतृप्ति मानते हैं वे मूढ़ हैं, किन्तु इस परिस्थितिमें बस मुझे कुछ न चाहिए। मैंने तो अपने आत्महितके साधनका एक उपाय बना लिया है बस उसीमे तृप्त रहूंगा। इस प्रकारकी जिसकी भावनायें रहती हों उसे कहेंगे विवेकी। जो पुरुष नाना प्रकारकी चतुराइयोंसे लक्ष्मीकी वृद्धि करते हैं और उससे तृप्त नहीं होते, उसकी बढोतरीके ही विकल्प बनाये रहते हैं वे पुरुष इस लक्ष्मीरूपी तरुणीके दास बन रहे हैं। जो सर्व प्रकारके आरम्भ करनेमे न्याय अन्याय कुछ नहीं गिनते, योग्य अयोग्य कुछ नहीं गिनते, जो महापापके साधन हैं उनको भी करने लगते हैं, जहाँ जीवहिंसा विशेष है आदिक दोष हैं, उन समस्त आरम्भोंको करते हैं और इतना ही नहीं, रातदिन उनका ही विचार करते रहते हैं और उनसे तृप्त न होकर वे रातदिन चिन्तित रहा करते हैं। यद्यपि आजकल सरकारने व्यापारियोंका समय नियत कर दिया है, वे ८—९ घंटे ही अपनी दुकान खोल सकेंगे और सर्विस करने वालोंका भी ७—८ घंटेका नियत समय है, फिर भी फर्क देखिये कि दुकानदार तो दुकान निश्चित समयके अतिरिक्त न खोल सकने पर भी तत्सम्बन्धी विकल्प रात दिन बनाये रहते हैं, उनका समय कहाँ नियत बना? और सर्विस करने वालोंको तो जहाँ निश्चित समय खत्म, बस काम खत्म और तत्सम्बन्धी विकल्प खत्म। दुकानदारको तो धनवृद्धिकी कुछ आशा रहती है और सर्विस वालोंको धनवृद्धिकी क्या आशा? उनको तो जो वेतन नियत है सो ही है। तो अन्तर यह आया कि जो व्यापार करते हुए भी पायी हुई लक्ष्मीमें यह समझते हैं कि इतना धन बहुत है, उससे तृप्त रहते हैं, जो आये वही ठीक है, उसका रात दिन विचार नहीं चल सकता, लेकिन जो लोग संचय करके तृप्त ही नहीं होते वे तो रात दिन चिन्तित ही रहेंगे और इतना ही नहीं, वे समय पर खा पी भी नहीं सकते। चिन्तागत होकर रातको सो भी नहीं सकते। लक्ष्मीके संचयके पीछे जो रात दिन चिन्तित रहते हैं और धर्मकी ओर लगना भी नहीं चाहते, समझिये कि वे लक्ष्मीरूपी तरुणीकी दासता कर रहे हैं। इस अध्रुव भावनामें यह बताया जा रहा है कि जो समागम मिले हैं वे विनाशीक हैं, उनमें प्रीति रखनेसे अपना हित नहीं है। अपने आपके स्वरूपको जानें और श्रद्धा करें कि आनन्दमय तो यही स्थान है। निर्दोष निष्कलंक स्वयं ही स्वय यह ही मैं अपनेंमे सर्वस्व हूं और यह कभी मिटेगा नहीं। ऐसे ही रहता है। यह ज्योंका त्यों रह जाय, यही मेरा कल्याण है, यही मेरा आनन्द है, साधन है, ऐसी श्रद्धा करके अपने आपकी ओर जो झुके उसका पुरुषार्थ सार है, बाहरी बातोंमें जो पुरुषार्थ किये जाते हैं वे अपने काम न आयेंगे।

जो वड्ढमाण—लच्छिं अणवरयं देदि धम्म-कज्जेसु।
सो पंडिएहिं थुव्वदि तस्स वि सहला हवे लच्छी ॥१९॥

धनका सदुपयोग करानेमें उत्साह देने वाले दो निर्णय—जो पुरुष अपनी बढ़ती हुई लक्ष्मीको सदा धर्मके कामोंमें देते रहते हैं उनकी लक्ष्मी सफल है और विवेकीजन, समझदार लोग भी उसकी प्रशंसा करते हैं। जहाँ मान लिया कि यह वैभव एक तो पुण्यानुसार आता है, दूसरे यह सदा नहीं रहता, ये दो बुद्धियाँ इसके व्यवहारको सुन्दर बना देती हैं। बातें दोनों यथार्थ हैं, वैभव पुण्यानुसार आता है, उसके अनेक दृष्टान्त हैं। कभी ऐसा भी नजर आता कि जिन लोगोंकी वर्तमान करतूत खोटी है और लक्ष्मी उनके भी आ रही, तो भी वहां यह समझना चाहिए कि पूर्व समयमें जो शुभभाव किये, जो पुण्यबंध किया उसका यह फल प्राप्त हो रहा है। जो इस समय भी भाव ठीक रख रहा है तो उसका पूर्व पुण्य भी है, वर्तमान भी है जो भविष्यमें भी फल देनेको है। एक तो बात यह है कि लक्ष्मीके संचयके बारेमें अधिक विकल्प यों न करना कि सब कुछ बाह्यसमागम भाग्यके अनुसार आता है। उसके विपरीत कुछ नहीं होता। दूसरी बात—जो आता है सो नष्ट होता है। यदि धनको कोई यों ही रखे रहे, उसका उपभोग न करे, दान न करे तो जितना है उतना ही बना रहेगा और अगर उसका उपभोग करे, उसका दान करे तो

उसकी फिर नई पूर्ति होगी। जैसे कुवेमे जल भरा रहे, उससे जल निकाला न जाय तो जितना जल है उतना ही बना रहेगा और अगर उस कुवेसे जल निकलता रहे तो उसकी पूर्ति भी होती रहेगी। भले ही तुरन्त ऐसा लगे कि जल कम हो गया लेकिन उस जलकी पूर्ति शीघ्र ही हो जाती है। ऐसे ही यह बात निश्चित है कि यह वैभव पुण्योदयके अनुसार आता है। उसका जितना उपभोग किया जायेगा, जितना परोपकार आदिके कार्योंमें लगाया जायेगा उतना ही पुण्यरस बढ़ेगा और उस निकले हुए धनकी पूर्ति स्वतः ही पुण्योदयसे होती रहेगी। तो पहिली बात यह है कि धन उदयानुसार आता है। दूसरी बात यह है कि धनका स्वभाव मिटनेका है, एक जगह जमकर रहनेका स्वभाव नहीं है। यहां वहां चलता ही रहेगा। जब यह बात है तो फिर इस पाये हुए धन वैभवका उपभोग करना चाहिए और परोपकार आदि धार्मिक कार्योंमें खर्च करना चाहिए।

विनाशीक वस्तुका त्याग करके अविनाशी वैभव पानेमें सच्ची बुद्धिमत्ता—जो पुरुष पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा आहारदान आदिक चार प्रकारके से दानोमे लगाते है उनका वैभव पाना सफल है और विवेकी जन ऐसे पुरुषोंको बड़ी प्रशसाकी दृष्टिसे निरखते हैं। जो चीज मिट जाने वाली है उसका उपयोग करके एक बड़ा काम साध लेवे तो उसने तो चतुराई की, थोड़ा खर्च करके बहुत काम निकाला। विनाशीक चीजको खर्च करके एक अविनाशी लाभ लूटे, एक पवित्र भाव बनाया तो समझिये कि उसने तो एक बहुत बड़ा काम ही किया है। तो ऐसा जानकर कि जब ये समागम उदयानुसार प्राप्त होते हैं और विनाशीक है तो इनका सदुपयोग करना चाहिए और उससे ही अपने आपमें पात्रता जगेगी। जिसके पास वैभव है उसका यदि वह उपयोग नहीं करता तो वह आत्महित साधनेका पात्र नही बन पाता, क्योंकि विकल्प वहां हैं, लोभ वहां है, उपयोग इनमें रमा है, उन्हें विनाशीक मान नही पाता तो वह आत्महितका पात्र नहीं बन पाता। इससे यहां आचार्य संतजन यह उपदेश करते हैं कि वैभव पास है तो उसका उपभोग करें और दान करे अन्यथा तीसरी गति जो नाश है वह तो होगी ही, और यह जीव व्यर्थ ही विकल्प करके कष्ट भोगेगा।

एव जो जाणित्ता विहलिय-लोयाण धम्म-जुत्ताणं।
णिरवेक्खो तं देदि हु तस्स हवे जीवियं सहलं ॥२०॥

धन समागमकी विनाशीकता जानकर अत्यन्तमन्द धार्मिक जनोंको यथासमय देते रहनेमे जीवनकी सफलता—इस लोकका सारा समागम विनाशीक है। जिसका जन्म हुआ उसका मरण अवश्य होगा। जो यौवन मिला है उसका फल बुढ़ापा है। लक्ष्मी वैभव मिला है तो उसका फल वियोग होना है। चेतन अचेतन समस्त पदार्थ (परिग्रह) अध्रुव हैं। यहांका संयोग सब क्षणमात्रका है। जैसे रास्तेमे चलते हुए सामने से बगलसे, किसी रास्तेसे आते हुए मुसाफिर मिल जायें तो वह कितनी देरका समागम है? सबको अपना अपना प्रयोजन है। अपने कार्यके लिए थोड़ा ही मिलाप करके चले जाते हैं, यों ही ये स्वजन, मित्रजन, कुटुम्बजन सब थोड़ी देरको मिले हैं और अपने अपने कर्मानुसार यहाँसे चले जायेंगे। जिस वैभवमें लोग आसक्त हो रहे हैं वह वैभव जब बड़े-बड़े पुण्यवान चक्रवर्तियोंके पास भी न रहा तब फिर पुण्यहीन लोगोंके पास अमकर तो रहेगा ही क्या? इस लक्ष्मीका कोई भरोसा नहीं कि किसके पास रहे? कहां जो कुलीन पुरुष हैं उनके पास न रहे और जो पाप कर्म करते है उनके पास रह जाय। कोई बलवान हो निर्धन हो, पूज्य हो, अपूज्य हो, किसी भी समय यह लक्ष्मी बँधकर नहीं रहती। इस कारण यह निर्णय रखना चाहिए कि जब तक यह विनाशीक लक्ष्मी ठहर रही है तब तक इसका उपयोग करलें अन्यथा नष्ट हो जायेगी, विकल्प मचाना होगा, दुःखी होना पड़ेगा। इस लक्ष्मीको जो धर्म कार्योंमें प्रदान करता है उसकी लक्ष्मी सफल है ऐसा विद्वज्जन कहते हैं। इस प्रकार इन समागमोंकी रहस्यकी सारी बात जान

कर जो पुरुष निरपेक्ष होकर निर्धन साधर्मी जनों को दान करता है उसका जीवन सफल है।

वात्सल्य और स्थितिकरण नामक सम्यक्त्वाङ्गकी प्रासंगिक झांकी— सम्यग्दर्शनके वात्सल्य अंगमें बताया है कि जो पुरुष किसी भी कारण धनहीन होनेसे, आजीविकाहीन होने से, रुग्ण होनेसे या किसी कषाय आवेशके कारण धर्मसे च्युत होता हो तो उसे उपाय लगाकर धर्ममें स्थित करदें, यह सम्यक्त्वका स्थितिकरण अंग है और साधर्मीजनोंसे निष्कपट प्रीति रखना साधर्मीजनोंसे जिनकी रत्नत्रयसे प्रीति है, संसार शरीर भोगोंसे जो विरक्त हैं, जो आत्महितका चिन्तन करते हैं, ऐसे पुरुष भी आजीविकाहीन हो सकते हैं, सम्यक्त्व भी जगे और असाताका उदय भी ऐसा चल सकता है कि आजीविका भी ढगसे न रह सके। तो ऐसे साधर्मी जनों को कुछ द्रव्य दान करके, इनमें उपयोग करके उन्हें स्थिर करना, उनसे प्रीति रखना यह कर्तव्य है साधर्मीका। सर्वप्रथम यह बात है कि जिसने यह निर्णय कर लिया हो कि वैभव पुण्यानुसार आता है और यह है विनाशीक, वह सब कुछ करने को तैयार हो सकता है। जिसकी इन दो बातोंमें श्रद्धा नहीं, निर्णय नहीं, वह वैभवका उपयोग अच्छे कार्यमें नहीं कर सकता। विनाशीक वैभव मिला है तो उसका ऐसा उपयोग बनाया जाता है कि साधर्मी जन भी अपने धर्ममें स्थिर रह सकें और धर्मकार्य भी एक प्रभावनाके साथ चल सके। ऐसा विवेकपूर्ण प्रयोग करने वाला पुरुष इसमें बड़ी प्रसन्नता मानता है। जब कि कृपण लोग अपना कुछ भी खर्च होनेमें विषाद मानते हैं। इतना ही नहीं, दूसरा कोई किसी को दान देता हो तो उसमें भी वे कृपण लोग विषाद मानते हैं।

कृपण अज्ञानी जनोंकी दानियों और त्यागियोंपर सविस्मय दृष्टि—कृपण लोगोंको तो दान देनेकी घटना एक अटपटी सी लगती है कि कहीं इसका दिमाग तो नहीं फिर गया। यह अपना वैभव इस तरहसे लुटा रहा है। जैसे एक कथानक प्रसिद्ध है कि कोई कंजूस शहरमें से किसी बड़े मार्गसे जा रहा था, वहाँ देखा कि एक सेठ गरीब लोगोंको खूब वस्त्र, अन्न, रुपया पैसा आदि बाँट रहा था। उस दृश्यको देखकर उसके सिरदर्द शुरू हो गया। घर पहुँचा तो स्त्री पूछती है 'नारी पूछे सूमसे काहे बदन मलीन। क्या तेरो कुछ गिर गयो, या काहूको दीन ॥' अर्थात् हे पतिदेव, आज आप क्यों मलिन हैं? आज आपका कुछ गिर गया है या किसीको कुछ दे डाला है? तो वह सेठ जवाब देता है कि 'ना मेरा कुछ गिर गयो, ना काहूको दीन। देतन देखा और को तासो बदन मलीन ॥' अर्थात् हे प्रिये! मेरा न कहीं कुछ गिर गया है और न मैंने किसी को कुछ दे डाला है, बल्कि मैंने दूसरे को मनमाना धन दौलत खूब गरीबोंको लुटाते हुए देख लिया है इसलिए आज मेरा बदन मलीन है। जैसे अज्ञानी लोग जब ये चर्चायें सुनते हैं कि सुकुमाल मुनि गृहस्थावस्थामें इस तरहकी सुकुमालतामें पले पुसे थे। नई शादी, प्रथम गर्भ, और विरक्त होकर चल दिये। लोगोंने बहुत समझाया कि पहिले अपनी संतानको राज तिलक कर देना तब विरक्त होना। लेकिन जब ज्ञान और वैराग्य भेदरूपमें दृढ़तम बन जाता है तब परकी ओर दृष्टि लगाना नहीं सुहाता। तो अज्ञानी जन इन कथाओंको सुनकर अचरज कर सकते हैं कि कैसा उनका दिमाग बन गया। आज कल भी तो माता पिता यदि किसी लड़के को ऐसे देखें कि यह तो त्यागियोंके पास अधिक बैठता उठता है, उनकी सेवा शुश्रूषामें अधिक रहता है तो विभ्रम हो जाता है कि कहीं इसका दिमाग तो नहीं फिर गया है। वे डाक्टरोंसे राय लेते हैं और उसे ऐसा उपदेश देते हैं कि उसकी बुद्धि ठिकाने आ जाय और वह अपने घरको घर समझने लगे। तो जिसका जैसा परिणाम रहता है उसके प्रतिकूल कुछ बात दिखे तो उसे अटपटा मालूम होता है। इन कृपणोंको तो दानियोंका दान करना भी अटपटा जैसा काम लगता है। लेकिन जो पुण्यवान हैं, धर्मात्मा हैं, सम्पन्न हैं, जिनको अपने आपके स्वरूपका निर्णय है, जिन्होंने वस्तुस्वरूपका मर्म जाना है वे जब तक घर गृहस्थीमें रहते हैं तब तक अनेक प्रकारसे उस प्राप्त धनका सदुपयोग करते हैं।

दानियोंकी वास्तविक सम्पन्नता--अब जरा शोभाकी दृष्टिसे देखो तो यदि कोई सम्पन्न पुरुष धर्मात्मा अपने पड़ौसमे रहने वाले साधर्मीजनोकी सेवामे कुछ धन व्यय करता है तो उस मोहल्लेमें उस नगरमे उस पुरुषकी बहुत बड़ी शोभा होती है। लोग समझते हैं कि धन सचय करने के कारण हमारी शोभा है, हमारा बड़प्पन है। जो लोग धनकी वृद्धिमे अपना अभिप्राय लगाते हैं, श्रम करते हैं उनका प्रयोजन क्या है ? यह प्रयोजन तो है नही कि हमको रोटी कपडा नही मिलता। इस प्रयोजनका साधन तो साधारणसा ही हो सकता है, किन्तु दुनियामे मैं विशिष्ट कहलाऊँ, मेरा बड़प्पन रहे, मैं खासा धनी माना जाऊँ इसीलिए ना धनका संचय करते है ? कोई धन संचय करे और कृपण हो, न स्वयंके उपभोग मे खर्च कर सके, न दान आदिकमे तो भला बतलाओ कि लोकमे उसका बडप्पन रहेगा क्या ? या कोई साधारण भी धनी है और वह परोपकारमे अथवा उपभोगमे, मित्रजनोके योगमे कुछ खर्च करता है, दान करता है उसका बडप्पन लोकमे है। लोकयश त्याग बिना नही बनता। धनी हो तो धनका त्याग करे और उपयोगमे लाये तो यश बनता है। विद्वद्जन हों तो विद्यासे अन्य लोगोको लाभान्वित करे तो यश है। कोई शूर वीर है तो वह छोटे लोगोंकी रक्षा करे। जो लोग आतंक मचाते है, अन्याय करते हैं उनका डटकर मुकाबला करे तो उन शूर वीरोका यश है। मतलब यह है कि यशका सम्बन्ध त्यागसे है, दानसे है। संचयसे यशका सम्बन्ध नही है, ऐसा जानकर जो पुरुष निर्धन साधर्मी जनोको द्रव्यदान करे, उसके बदलेमे वे उनसे कुछ चाहें नही, उन साधर्मी जनोकी बाधाओंको जो द्रव्यदान करके दूर करे उन पुरुषों का जीवन सफल है।

जल-बुब्बुय-सारिच्छं धण-जोव्वण-जीवियं पि पेच्छंता।
मण्णंति तो वि णिच्चं अइ-बलिओ मोह-माहप्पो ॥२१॥

व्यामोही पुरुषोका प्रतिबलिष्ट मोहमाहात्म्य--धन, यौवन, जीवन, जल बुदबुदकी तरह अनित्य हैं। ऐसा देख रहे है लोग तो भी मोहका अति बलिष्ट माहात्म्य तो देखिये कि ये लोग उन्हें नित्य मानते हैं। दूसरे लोग कोई मर गए, उनकी अर्थीमे भी साथ जा रहे और समझ रहे कि जीवन अनित्य है। जो जीता है सो मरता है। चर्चा भी ऐसी करेंगे, पर अपने आपपर भीतर घटित करते हुए कुछ चर्चा या भाव बन रहा हो सो बात नही है और इतनी ऊपरी चर्चा भी यह तब तक है जब तक कि श्मशानमे उसके जलानेके प्रसगमे अछूत कहलाते है। जहाँ उस कार्यसे निवृत्त होकर नदी तालाब अथवा कुवेमें नहाया तो उसके साथ ही साथ उस चर्चाका भी नहान कर देते है। फिर उतनी भी चर्चा नही रहती। जैसो कि एक बाहरी चर्चा चल रही थी। तो हम देखते है बाहरमे कि जवानी ढलती है, हर एक कोई बूढा बनता है। अगर उम्र रही आये तो यह मनुष्य ज्वान ही तो न रहेगा, वृद्ध बनेगा। मगर बच्चोंके व ताजे जवानोंके मनमे यह बात कभी भीतर समाती है क्या कि हम भी बूढे बनेगे। मोहका माहात्म्य देखिये कि बाहर बाहर चर्चा भी कर लेगे पर अपने आप पर उसको घटित कर सके, ऐसा अन्तरङ्ग भाव नहीं बनता। यह क्या है ? मोहका माहात्म्य।

अज्ञानियोका ईक्षण—लोग देखते भी है कि देखो कोई कल तक धनिक था, रात भरमे ही उसका सब कुछ लुट गया, गरीब हो गया। जब देशका बँटवारा हुआ तब लोगों पर कितनी कठिन स्थितियाँ आयी ? रात्रि व्यतीत हुई, खाने को रोटियोका भी ठिकाना नहीं, दूसरोने दया करके उन्हें रोटियां खिलायी। ऐसी स्थितियोंमे वे अत्यन्त गरीब लोग जो लाखोंका वैभव छोड़कर भारत देशमे पाकिस्तानसे आये। उन सबका भाग्य उनके साथ था। अब अनेक उदाहरण ऐसे मिलेगे कि एक दो वर्षोके अन्दर ही वे फिर वैसेके ही वैसे धनिक बन गए। तो बात क्या थी ? उनका पुण्योदय उनके साथ था। कुवेसे जल निकाल लिया जाय तो झरनोसे उतना ही जल फिर भर जायेगा। इसका स्पष्ट उदाहरण देख ही रहे हैं। खैर, यहा प्रकरण

यह चल रहा है कि हम देखते हैं कि दूसरोंका धन यों लुटा, यों नष्ट हो गया, राजाने वसूल कर लिया अथवा वे मरकर धन छोडकर चले गए, किसी भी तरह धनका वियोग हुआ, पर अपने आपके पाये हुए धनके प्रति यह तर्क ही नहीं लाते कि हमारा यह धन भी वियुक्त होगा, नष्ट होगा। यह सब एक अज्ञान का माहात्म्य है। जैसे कोई किसी जगलमे खड़ा था, अचानक वहा आग लगी तो एक दो ओर आग बढ़ गयी। वह आगसे बचने के लिए एक पेड पर चढ़ गया। पेडके बहुत ऊपर तक चढ़ गया। अब वहाँसे देख रहा है कि चारो तरफ आग फैल गयी। देखो यह हिरण मरा, देखो वह खरगोश मरा, वे देखो अनेक पशु पक्षी मर रहे, यों दृश्य देख देखकर वह विनोद कर रहा है, पर उसके चित्तमे यह बात नही आती कि यह अग्नि बढती बढती यहा तक भी आयेगी, यह पेड भी भस्म होगा और हम भी भस्म होंगे। तो ऐसे ही अज्ञानीकी तरह इन मोहीजनोंकी प्रवृत्ति है। दूसरोका धन नष्ट होते देख रहे हैं, उसे सनीमा नाटक जैसा समझ रहे हैं। यहां भी देख रहे कि जीवन गुजरा, यौवन गुजरा, धन गुजरा यों देखते हुए भी मोहका माहात्म्य तो देखिये कि अपने बारेमे अपना धन, यौवन, जीवन आदि नित्य ही मान रहे हैं। ऐसी व्यवस्था बनाते कि मानो यहां सदा ही ये सब चीजें रहनी हों।

अध्रुव समागममे अपना कर्तव्य—अपना कर्तव्य यह होना चाहिए कि इन अध्रुव समागमोका विकल्प तोड़कर या उन्हें अध्रुव ही जानकर उनकी उपेक्षा रखकर ध्रुव जो निज आत्मा है, उसका जो ध्रुव है, हित है उसकी ओर कुछ दृष्टि होनी चाहिए। सब कुछ देखा, सब कुछ किया, सबमे रहे, सबसे गुजरे, सार कहीं न मिला। सार है तो केवल अपने आपका आत्मतत्त्व, जैसा है, जो है, वैसा निरखते जाओ, सार वहा मिलेगा। और उस स्वरूपकी निरखनसे हटकर जहां किसी बाह्यमे उपयोग फसाया, बस अज्ञान बना, प्रकाश मिटा, विकल्प हुये। अपना उपयोग अपने ज्ञानसमुद्रसे हटकर बाहरकी ओर चला, वहाँ उपयोगकी चोच की, सो वहाँ आकुलता ही आकुलता है, पापबध है, जन्ममरणकी परम्परा है। किसके लिए हम इस ससारमे जन्म मरणकी परम्परा बढ़ाये ? कुछ तो चिन्तन करना चाहिये। क्या इन मोही पुरुषों में अच्छा कहलवाने के लिए, या ये लोग कुछ कह दे कि यह बहुत बडे हैं, इतनी मात्र बात कहलाने के लिए मै ससारमे जन्म मरणकी परम्परा बढ़ाऊँ, नरक, निगोद, एकेन्द्रिय, विकलत्रय आदिकमे जन्ममरण की परम्परा बढाऊँ, इतनी बड़ी अनर्थ व अनर्थहेतुभूत विपत्तिया न कुछ जैसी तुच्छ मायारूप बातोंमें पड़ कर सहन करूँ क्या ? कुछ विवेकसे काम लेना चाहिए। ये सब बाते उपेक्षा किये जाने योग्य हैं। अपने आपका स्वरूप जैसा कि लघु सूक्ष्म भाररहित सबसे निराला ज्ञानमात्र, भावमात्र जो अपने आपका स्वरूप है उस स्वरूपके दर्शनमे अपना उपयोग लगे, प्रयत्न रहे, यह बात बन सके तो वे हैं सारके क्षण और इससे हटकर जितना हम विकल्पोंमे रहे उतने है हमारे सारहीन क्षण।

चइऊण महामोहं विसए मुणिऊण भगुरे सव्वे।
णिव्विसयं कुणइ मणं जेण सुह उत्तम लहइ ॥२२॥

सर्वसमागमको भगुर जानकर व्यामोहको त्यागनेका कर्तव्य—अध्रुव अनुप्रेक्षाके इस प्रकरणमे इस अतिम छदमें आचार्य सबोधन करते है कि हे भव्य जीवो ! अब तो समस्त समागमोको भंगुर विनाशीक मानकर इन विषयोंके महामोह को तज दो। इन विषयोंमे प्रीति, इन विषयोंका उपभोग कितना बड़ा धोखा है ? विषयोंके उपभोगके समय ये विषय बडे सुहावने लगते है। इनमे बड़ा सुख विदित होता है, लेकिन यह जो अन्य पदार्थोमे उपयोग रमा और उनमें राजी रहे, इसका कितना कठिन फल होगा है ? वह असह्य होगा। एक नौकर प्रतिदिन राजाकी शय्या बिछाया करता था बड़ा कोमल सुगधित। एक दिन उसके मनमे आया कि मैं इस पर दो मिनट लेटकर तो देख लूँ कि राजा कितना आराम किया करता है ? दो मिनट लेटनेको पड़ा कि उसे निद्रा आ गयी, अब वह सो रहा। इतने में राजा आया तो

उसने नौकर को अपनी शय्यापर सोते हुए देखा, उसे बड़ा गुस्सा आया कि देखो मेरा नौकर कितना बेहूदा है, मेरे लिए शय्या सजाता और आप आराम करता है। तो राजाने नौकरको जगाया और खूब बेतोंसे पीटा। नौकर खूब हँसता रहा। उसको हँसते हुए देखकर राजा बड़ा हैरान हुआ कि देखो हम तो इसे पीट रहे और यह खूब हँस रहा है। राजाने उस नौकरसे हँसनेका कारण पूछा तो नौकरने जवाब दिया कि महाराज, हमने तो सारे जीवनमें थोडेसे समयको ऐसी शय्या पर कुछ समझनेके लिए लेटा तो मैं तो इतना पिटा और आप जीवन भर इस शय्यापर सोते रहेंगे तो न जाने आपको कितना पिटना पडेगा, इस बातको सोचकर हमें हँसी आ रही है। तो इन विषयोंमें रमना, इन लौकिक सुखोंको ही सर्वत्र समझना, यह तो जीवनके उत्कर्षकी बात नहीं है। इन विषयोंसे सुख मोडें और अपने मनको निर्विषय बनायें।

अनित्यभावनाके अनुप्रेक्षणका लाभ लेनेका अनुरोध—अनित्यानुपेक्षाकी जो भावना की और कुछ अन्तः अनुपेक्षण किया तो इसका फल यह है कि यथार्थ जानकर, निजको निज परको पर जानकर इन सब परपदार्थोंसे अन्तःप्रीति छूटे और अपने मनको निर्विषय बनावे, ऐसा ध्यान करके, ऐसा उपयोग जोडकर ज्ञानस्वरूप निजतत्त्वमें इस ज्ञानको लगाकर इस मनको ऐसा बनावे कि यह किसी भी विषयको न भोगे। एक कविने लिखा है कि यह मन तो नपुंसक है। इन्द्रियाँ भोगती हैं सारे विषयोंको और यह मन सिर्फ उन्हें देखकर खुश हो रहा है। यह उन विषयोंको भोग नहीं सकता (नपुंसक विषय भोग तो नहीं सकता) तो भाई यथार्थस्वरूप जानकर इस मनको विषयोंसे दूर हटायें। जब तक मनमें विषय लालसा बनी हुई है तब तक यह जाल, यह भ्रमण, यह आत्मानुभवका सत्य आनन्द, यह नहीं मिल सकता, यह जाल नहीं छूट सकता। यदि सच्चा सुख प्राप्त करना चाहते हो तो इस अनित्यानुप्रेक्षाका भाव बनाना चाहिए। अब कुछ बात अपने आपपर घटित करके एक ही बार एक झटकेसे समस्त परपदार्थोंको हटाकर इस मन को निर्विषय बनावें। इससे ही हम उत्तम सुख प्राप्त करेंगे।

तत्थ भवे किं सरणं जत्थ सुरिंदाण दीसते विलओ।
हरि-हर-बंभादीया कालेण य कवलिया जत्थ ॥२३॥

भवमें परकी शरण्यताका अभाव—उस संसारमें क्या शरण है जहां कि देवेन्द्रोंका भी विलय देखा जाता है और हरिहर ब्रह्मा आदिक भी जहां पर कालके द्वारा कवलित हुए हैं। उस संसारमें फिर शरण ही क्या है? देवगतिमें सभी देवोंका और देवोंमें इन्द्रका वैक्रियक शरीर होता है और सागरों पर्यन्त उनकी आयु होती है। अनेक पखवारोंमें श्वास लेनेका उन्हें श्रम करना होता है। जब कि यहां मनुष्योंको एक मिनटमें ३—४ श्वास तो लेने ही पड़ते हैं वहां अनेक पखवारोंमें श्वास ली जाती है और वर्षोंमें कभी क्षुधाकी कुछ वेदना होती है तो उनके कंठसे ही अमृत झड़ जाता है, बाहरसे किसी चीजको खानेका कष्ट नहीं करना पड़ता। उनके शरीरमें मलमूत्र पसीना आदिक कोई अपवित्रता नहीं है। तो ऐसे हैं देवेन्द्र, वे सागरों पर्यन्त वहां स्वर्गके सुख भोगते हैं, सागरोंकी आयु असंख्याते वर्षोंकी होती है। एक सागर कितने समयका होता है इसके लिए उपमा प्रमाण ही समर्थ है। गिनती समर्थ नहीं है। कल्पनामें एक बात लाओ कि कोई दो हजार कोशका लम्बा चौड़ा गहरा गड्ढा है, जिसमें बालके छोटे छोटे हिस्से जिनका कैंचीसे भी विभाग न बनाया जा सके और वे भी रोम किसके? उत्तम भोगभूमिके पशुके रोम समझिये क्योंकि वे बहुत पतले होते हैं, कर्मभूमिया मनुष्योंके बाल मोटे होते हैं, उससे ८ वां हिस्सा पतले जघन्य भोगभूमियाके मनुष्योंके रोम होते हैं। वहांसे भी ८ वें हिस्से पतले मध्यम भोगभूमिके और उससे भी ८ वें हिस्से पतले उत्तम भोगभूमिके मनुष्योंके बाल होते हैं और इतने छोटे टुकड़े रोमके इस गड्ढेमें भरे जाये और मानो उस पर हाथी फिरे, वे बाल खूब दब जायें ताकि अधिक रोम उस गड्ढेमें समा सकें

और फिर १०० वर्षमें एक रोमका टुकड़ा निकाला जाय। जितने वर्षोंमे वे समस्त रोम निकल सके उतने समयका नाम है व्यवहारपल्य, उससे असंख्यात गुना है उद्धार पल्य, उससे असंख्यातगुना है अद्धापल्या, ऐसे एक करोड़ अद्धापल्यमे एक करोड़ अद्धापल्यका गुणा किया जाय उतने समयका नाम है एक सागर। अब उतने अनगिनते वर्षों तक कोई दो सागर कोई १०, १५, २० सागर ऐसी बड़ी स्थिति वाले देवेन्द्र भी जहाँ विलयको प्राप्त होते हुए देखे गए हैं उन्हें भी मरण करना पड़ता है। तो ऐसे भवमे फिर और क्या शरण है ?

दुर्लभ तरणसाधन पाकर उससे लाभ न उठानेका भयकर अज्ञान--यदि अपने आपके सम्बन्धमे ऐसे अशरणत्वका विचार किया जाय तो अन्य सर्व आकांक्षायें हट सकती हैं। इस अनादि अनन्त कालके सामने हम आपका यह १००-५० वर्षका जीवन क्या गिनती रखता है ? सागरोंकी आयु भी गिनती नहीं रखती। एक स्वयभूरमण समुद्रके अथाह जलके सामने एक बूँद जितनी गिनती रख सकता है उतनी भी गिनती सागरोंकी आयुमे नहीं आ पाती। कारण यह है कि काल तो अनन्त है, तो अनन्त कालके प्रवाह में कुछ समयको जो कि किसी भागमें नहीं आ सकता, कालका अनन्तवा भाग ही कह सकते हैं। ऐसा तो क्षणिक जीवन है, किन्तु एक श्रेष्ठ मनका भव मिला है। जब ससारी जीवोंकी ओर दृष्टि देते हैं तो इस भवका मूल्य विदित होता है। ये स्थावर, जो बोल नहीं सकते, ये विकलत्रय जिनकी भाषा नहीं है और पशुपक्षी जो भले ही चिल्लायें, किन्तु जिनके कोई भाषारूप वचन नहीं है उनके मुकाबले मे यह जो मनुष्य जीवन है, जो अपने भाव दूसरे को बता सकते हैं, दूसरेके भाव खुद समझ सकते हैं और मन भी इतना श्रेष्ठ मिला है मनुष्योंको कि बहुत ऊँचे तत्त्वज्ञानकी बात समतासमाधिके परिणाम ये सब सिद्ध किये जा सकते हैं। इतना विशिष्ट क्षयोपशम मिला, ऐसी ज्ञानकी योग्यता मिली और उसका हम सदुपयोग न करनी चाहें, आराममे, विषय प्रीतिमे, देह साधनामे और लोकयशमे समय गँवाया जाय तो समझिये कि हम कितने अमूल्य अवसरको यों ही खो रहे हैं। जैसे अनेक दृष्टान्त दिये जाते हैं कि कोई पुरुष रत्न पाकर पैरोंका मल छुटानेमे उसका उपयोग करे अथवा बड़े चन्दनके वृक्षको काटकर उसे जलाकर राख बनाकर उस राखका प्रयोग बर्तन मलनेमे करे तो जैसे लोकमे उन्हें मूढ माना जाता है, तो उनसे भी अधिक मूढ़ता इस जीवकी है, जो ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान वाला भव पाकर, श्रेष्ठ मन पाकर इसको तत्त्वज्ञानमे लगाये नहीं ज्ञानस्वरूप निज तत्त्वकी आराधनामें लगाये नहीं और व्यर्थ इन रूस र बढ़ाने वाले विषयोंमे लगाये तो यह उसकी महामूढता है।

इस भवमे हरि हरकी भी कालकवलितता--इस लोकमे किसका कौन शरण है ? ये सभी जीव अपनी आयुके उदयमे जन्म लेते है, आयुके क्षयसे मरण करते हैं। मुक्तिसे पहिले कोई जीव ऐसा नहीं कि जिसको मरण न करना पडे और की तो बात जाने दीजिए—जिनके विषयमे इस लोकमे बड़ी प्रसिद्धि है, हरि (नारायण) हर (महादेव) ब्रह्मा आदिक वे भी कालसे कवलित हो गये। हरि नाम नारायणका है। भरत ऐरावतमे प्रत्येक चतुर्थकालमे ९ नारायण होते रहते हैं। इनको अर्द्धचक्री भी कहते हैं। वे भी अन्त मे कालसे कवलित हुए, जैसे अन्तिम नारायण श्रीकृष्ण, उनसे पहिले हुए लक्ष्मण, उनसे पहिले ७ और हुए, तो ये सब हरि भी कालसे कवलित हुए। इनकी भी मृत्यु हुई। जो बात सर्व शासन वाले मानते हैं कि हा वे भी मरणको प्राप्त हुए। हर नाम है महादेवका, रुद्रका। इस चतुर्थकालमे ११ रुद्र हुए, जिनमें अन्तिम रुद्र सात्यकी जो महादेव नामसे प्रसिद्ध हुए। वे दिगम्बर थे, उनका स्तवन जो उनके भक्त लोग करते हैं वे भी दिगम्बरके रूपमे मानते हैं। ये दिगम्बर साधु थे, इनकी बड़ी कठोर साधना थी। ११ अग ९ पूर्वके ये ज्ञानी थे। उस साधनामें उनको दशम विद्यानुवाद सिद्ध होनेको हुआ तो कुछ विद्या सिद्ध हुई, कुछ विद्यायें सिद्ध होनेको आयीं और उन विद्याओंने जब अपनी सेवा अर्पितकी, निवेदन किया,

आप जो चाहें सो हम करें, हम आपके दास हैं। उस समय उनका भाव मोहित हुआ, वे इच्छामें लगे और मोक्षमार्गकी साधनासे हटकर ये विषय साधनामें लगे। फिर चमत्कार तो इनका था ही ये बहुत प्रसिद्ध थे। लोकमें ये बड़े रूपसे माने ही जाते थे। साधनासे हटने पर भी कुछ बल पौरुष चमत्कार भी शेष रहा और उस बलपर इनकी प्रसिद्धि हुई, ये महान् माने गए। ये भी कालके द्वारा कवलित हुए।

ब्रह्मादिककी कालकवलितता—ब्रह्माके सम्बन्धमे लोककल्पना यह है कि विष्णुकी नाभिसे कमल निकला और उससे ये उत्पन्न हुए और ये चारमुख वाले थे, इन्होंने इस लोकको रचा। इस कल्पनामें यह परख करें कि किस चारित्रके एवजमें लोकमें यह कल्पना जगी? यह कर्मभूमि है, इसके प्रारम्भमे जबकि भोगभूमि नष्ट हो चुकी थी। प्रजामें बड़ी खलबली मची। कैसे रहें, कैसे जीवन गुजारें, सिंहादिक जानवर क्रूर होने लगे, सर्वत्र भयका आतंक छा गया, उस समय आदिनाथ भगवान ऋषभदेवने गृहस्थावस्थामें इन प्रजाजनोंको सुरक्षित रखा, सम्बोधा। उनके अवधिज्ञान तो था ही प्रजाजन जिससे सुरक्षित रहें, और उनका निर्वाह हो सके वे सब विधियां बतायी। यह एक लोक सृष्टि समझिये। कितना विशिष्ट परिवर्तन हुआ? जहां लोग अपने सामने आने वाली समस्यावोंका हल न कर सके वहां वैसी योजनायें बनायी जायें तो यह एक रचना ही समझिये। तो समझिये कि ये ऋषभदेव इस रचनाके करने वाले थे किस रूपमें? एक प्रजाको संभालनेके लिए। असतको सत् नहीं बनाया और वे चतुर्मुख थे। यद्यपि गृहस्थावस्थामें वे चतुर्मुख न थे। केवली भगवान होनेपर समवशरणमे चारों ओर मुख दिखनेका अतिशय हो जाता है। हुआ तो उन्हींका ना। तो चतुर्मुखरूपसे प्रसिद्ध हुए। नाभिकमलसे उत्पन्न हुए। तो उनके पिताका नाम नाभिराजा था। नाभिसे उत्पन्न हुए। तो ये कुछ सदृशतायें हैं जिनसे उनके सम्बन्धमें यह इस प्रकारका आख्यान बना। तो इस लोकमें ब्रह्माको जिस किसी भी रूपमें परखते हैं, लोग आखिर वे भी न रहे, तो जिस संसारमें बड़े-बड़े सुरेन्द्रोंका भी, बड़े-बड़े महान् पुरुषोंको भी विलय देखा जाता है उस भवमें फिर क्या शरण है?

अशरण मानवका भ्रान्तिमे व्यर्थ श्रम—यहाँ हम आप लोग बड़ी-बड़ी व्यवस्थायें बनाते हैं। बड़े सामान जोड़ते हैं, जैसे कि मानो सदा ही यहा रहना हो। और यह पता नहीं कि कल क्या होगा? जो भी पुरुष मरे हैं उनके सम्बन्धमें किसे पता था कि कल क्या होगा? वे अचानक ही मरण कर गए। तो इस आयुका क्षय यों ही अचानक होगा। जब तक आयु है तब तक व्यवहार चल रहा है। तब यहाँ सार क्या रखा है? जनताके बीच कुछ बड़प्पन बनानेका व्यवहार, कुछ अपने विषय साधन आरामका व्यवहार, इन सबमें सार क्या है? सब परेशानियां हैं, पराधीनतायें हैं। परेशानी नाम उसका है जहां पर ईशान हो, दूसरा मालिक हो। जब भावोंमें यह आ जाय कि इसका मैं मालिक, मेरा यह मालिक, बस परेशानी शुरू हो जाती है। इस लोकमें जब कि किसी का कोई शरण नहीं है। वहां किसीको शरण मान करके अपने आपको भ्रममें बनाये रहना और सत्य शरणभूत जो एक आत्मस्वभाव है, सहजपरमात्मतत्त्व है, केवल ज्ञानमात्र है, ज्ञानस्वरूप है, उसकी आराधनामें अपने इस पाये हुए ज्ञानका उपयोग न करें तो समझिये कि हम वैसे भी अशरण हैं और अन्तः भी अशरण हो गए।

मीहस्स कमे पडिदं सारंगं जह ण रक्खदे को वि।
तह मिच्चुणा य गहिदं जीवं पि ण रक्खदे को वि ॥२४॥

मृत्युगृहीत प्राणीकी रक्षाकी अनुपायता—जैसे सिंहके पञ्जेमें पड़े हुए हिरणको कोई नहीं बचा सकता इसी प्रकार मृत्युके द्वारा गृहीत जीवको कोई नहीं बचा सकता। दृष्टान्त दिया है कि जब मृग सिंहके पंजेमें आ जाता है तो सिंह जैसा पराक्रमी जीव और उसके एकदम पूर्ण वशमें आ गया मृग हो। उस क्रूर जानवरसे रक्षा कराने में कौन समर्थ है? सिंहकी तो बात जाने दो, यहा ही जब कोई चिड़िया

किसी पखीको चोंचमे दबा लेती है तो अपन लोग देखते रह जाते हैं, उस पखीको बचा नहीं सकते। पक्षी झट लेकर उड जायेगा। अथवा जब कभी बिल्ली चूहेको पकड लेती है, बेचारा चूहा छटपटाता रहता है, पर हम आप उसे देखते ही रह जाते है, बचा नही सकते। जीव जब मृत्युके द्वारा गृहीत है तो उसको बचाने मे कौन समर्थ है ? अपने ही परिवारमे जब कभी किसीका मरण होता है तो सभी लोग उसे देखते रह जाते हैं। कोई उसे बचा नहीं पाता। यद्यपि उस मरने वालेके प्रति परिवारके लोग बडा बड़ा खर्चा भी कर देते है पर काल आ जाने पर उसे कोई बचा नही सकता। तो वे सभी कालके द्वारा कवलित हुए।

ज्ञानकी जागृतिमे ही यथार्थ जीवनता—एक बुढिया थी, उसके कई बच्चे मर चुके थे केवल एक छोटा बच्चा बचा था। उस बच्चेके प्रति उस बुढियाको बड़ा स्नेह था। अचानक ही वह बच्चा भी मर गया तो उस बुढियाको बड़ा क्लेश हुआ। वह बहुत विह्वल हो गयी, अपने उस मरे हुए बच्चे को वह इधर उधर लिए लिए फिरे। उसे एक निर्ग्रन्थ साधु महाराज दीखे। साधुकी वंदना की और निवेदन किया कि महाराज मेरा यह मरा हुआ बच्चा अगर जीवित हो जाय तो हमारे प्राण रह सकते है। तो उसकी विह्वलता देखकर मुनिराज बोले, माँ तेरा बेटा जिन्दा तो हो सकता है पर यदि एक काम कर सके तो। हाँ महाराज बताओ। तू सरसोंके दाने ला, पर अपने घरसे मत ला, दूसरेके घरसे माँगकर ला, और उस घरसे माँग कर ला जिस घरमे कभी कोई मरा न हो। तो बुढ़िया खुश हो गई और बोली कि यह काम तो अभी करके आ जाऊँगी। वह पहुची एक घर और उस घर वालोसे कहा कि मुझे १ पाव सरसों दे दीजिए ताकि मेरा मरा हुआ पुत्र जिन्दा हो जाय। तो घर वालो ने कहा अरे एक ही पाव क्यों, मनों सरसों ले जावो। मगर यह तो बताओ कि तुम्हारे घरमे कभी कोई मरा तो नहीं ? अरे मरे तो बहुतसे लोग हैं। हमारे ही सामने दादा, बाबा, भाई आदि मर गए। तो हमे नहीं चाहिए सरसों। यो वह बुढिया दूसरे, तीसरे आदि कई घरोंमें गई, पर कोई घर ऐसा न मिला जिसमे कोई मरा न हो। इसी घटनाके बीच उस बुढियाको ज्ञान मिल गया ? ओह ! यहा तो सभी मरते है, और यह जीव तो निराला है, दूसरा है, पहिले से भी यह मेरा न था, अब भी मेरा नहीं है। यहा तो अटपट ही जीव मिलते रहते हैं। यहा किसीका किसीसे कोई रिश्ता नहीं है। यहा तो अटपट कोई भी जीव आ गए, पर इस मोही जीवमे मोह करने की ऐसी आदत पड़ी है कि अत्यन्त भिन्न परजीवोको यह अपना मानता है। यहा किसी का किसीसे रच भी तो सम्बन्ध नहीं है। ये सब बाते जब उस बुढियाके ज्ञानमे आ गई तो वह बडी खुश होकर मुनि महाराजके पास गई। मुनिराज ने उसे प्रसन्न देखकर पूछा—माँ, तेरा बेटा जीवित हो गया क्या ? तो वह बुढिया बोली—हा महाराज ! मेरा बेटा जीवित हो गया। मेरा ज्ञान जिन्दा हो गया, यही मेरा बेटा है।

जीवका अपने-अपने विभावमे राग—सो परखो भैया ! बाहरके लिए कौन रोता है ? बाह्य पदार्थों से कोई मोह नहीं करता। मोह होता है इस जीवको तो इसकी खुदकी ही कल्पनाओसे होता है। इसको आप्त मीमांसामे बताया है कि तीन तत्त्व माने गए है—शब्दतत्त्व, अर्थतत्त्व और ज्ञानतत्त्व। जैसे पुस्तक कहा तो उसमें जो ४—६ वर्ण हैं वे तो हुए शब्द पुस्तक और ये कागज जिनमें लिखा हुआ है ये है अर्थ पुस्तक और इस पुस्तकका जो प्रतिभास है, मेरेमें जो पुस्तकाकार ज्ञान हो रहा है, एक प्रतिभास हो रहा है वह है ज्ञानपुस्तक। यो ही सभी बातोमे लगाइये—'शब्दपुत्र' पु और त्र इन वर्णोंका नाम है शब्दपुत्र। अर्थपुत्र—दो हाथ पेर वाला जो आपके घरमे खेलता हो, दुकान आदि करता हो वह है अर्थपुत्र। और उसके सम्बन्धमें जो भाव बना, जो विकल्प बने वह है ज्ञानपुत्र। अब आप यह बतलाओ कि राग आप किस पुत्रसे करते है ? शब्दपुत्रसे तो राग करेगा ही कौन ? वे तो पु और त्र, ऐसे अक्षर

लिखे हैं। उन अक्षरोंको भी कोई अपने पुत्रकी भांति गले लगाता है क्या ? उससे तो कोई राग करता नहीं और जो जीव है, जो असमान जाति पर्यायमें आया है, आपके घर जितने शरीर धारण किया है उस अर्थपुत्रसे भी आप राग नहीं करते। वह आपके रागका विषयभूत बन रहा है। एक द्रव्य अन्य द्रव्यमें कुछ परिणति नहीं करता, अन्यसे कुछ सम्बन्ध नहीं बन पाता, आप जिस भी पर्यायमें हैं, पात्रता में हैं, कषायोंकी योग्यतामें हैं उसके अनुसार उदयानुसार आपमें रागकी परिणति होती है और तब नोकर्म भी अर्थपुत्र बन रहा है। आप किसमें एकमेक हो रहे, कौन है आपका अधिकरण ? आपका अधिकरण है आप। आपके विभावमें आपका अधिकार है उस रागसे राग हो रहा, उस विकल्पमें राग चल रहा, पर उस अर्थपुत्रसे राग किया ही नहीं जा सकता। रज्यमान परिणति राग बन रही परिणमन, उसका आधार तो यह रागी जीव है, अर्थपुत्र नहीं है। तो आपके रागका अधिकरण पुत्र तो नहीं बन सकता। आपके विभावका अधिकरण बाह्य अर्थ तो नहीं बन सकता। आप ही अधिकरण हैं और अधिकरण का ही चिन्ह हैं ये। तो आप किससे राग करते हैं ? आप आपसे राग करते है, जैसी भी पर्याय हो रही, परिणमन हो रहा, उसमें रज्यमान मनुष्य है। अर्थपुत्रसे भी राग नहीं, किन्तु अर्थपुत्रको विषयभूत बनाकर जो यह विकल्प चल रहा है, उस विकल्पमें राग है।

ज्ञानकी जागृतिमें ही स्वयकी स्वयमें शरणरूपता--हाँ भैया ! फिर अब उस बुढियाके निकट देखें उस बुढिया मां का वह ज्ञानपुत्र मुर्दा हो रहा था, उन विकल्पोंमें वह कायर हो रही थी। जब ही उसका ज्ञान संभला वह प्रसन्न हो गयी और कहने लगी कि महाराज मेरा जो ज्ञानपुत्र मुर्दा हो गया था वह अब जिन्दा हो गया और मोहजननी मर गयी। मोह तो मरे और ज्ञान जागृत हो तभी तो प्रसाद गुण आ सकता है। यों ही एक कविका अलंकार है कि एक संन्यासी बहुत पवित्र हृदयके थे, जिनको निरन्तर उस सहज ज्ञान स्वभाव ही स्मरण रहे, उस ओर ही जिनकी दृष्टि रहे, तो ऐसे पुरुष बाह्य नित्य नैमित्तिक क्रियाकाण्डोंमें बिल्कुल समयानुसार सावधान रहें, यह जरा कठिन होता है क्योंकि जिन्हें निजस्वरूप रुच गया अन्तस्तत्त्वमें अधिक दृष्टि रहती है तो बाहरी बातोंमें उतनी सावधानी बाह्य ढंगसे नहीं की जा सकती। जैसे कि बाह्य क्रियाकाण्डमें बुद्धि लगाने वाले पुरुष करते हैं। तो कभी सध्या छूट जाय, कभी सध्या करलें। कभी मन ज्यादा हो तो ज्यादा भी करले। तो किसी एक व्यक्तिने कहा--महाराज, तुम तो संध्या ही ढगसे नहीं करते। तो उस सन्यासीका उत्तर था कि—

मृता मोहमयी माता ज्ञानपुत्रो ह्यजीजनत्। सूतकद्वयसपाते कथं सन्ध्यामुपास्महे॥

मेरी मोहरूपी माता तो मर गयी और ज्ञानरूपी बेटा पैदा हो गया, यों हमको दो दो सूतक लग रहे हैं। अब जिसके डबल सूतक लगे हुए हो वह संध्यामें कैसे सावधान रहे ? तो कहनेका प्रयोजन इतना ही है कि यदि अपना ज्ञान सही रूपमें जागृत रहता है तो उसके लिए वह स्वयं शरण है, और ज्ञान अगर मुर्दा बना, कायर बना, अपने स्वरूपसे हटकर बाह्य पदार्थोंमें रति करता है तो वह तो सीधा अशरण ही है और यहां लोकदृष्टिमें एकस्थूलरूपसे कहा जा रहा है कि जीव जन्म लेता है, मरता है। तो जब वह मरण करता है तो उस कालमें उस जीवको बचानेके लिए कोई भी समर्थ नहीं है।

जइ देवो वि य रक्खदि मंतो तंतो य खेत्तपालो य।
मियमाणं पि मणुस्सं तो मणुया अक्खया होंति॥२५॥

मनुष्योंका व्यर्थ अनर्थ शरणभ्रम--यह जीव अपनी रक्षाके लिए, मृत्युसे बचनेके लिए मन्त्र, तंत्र, देव क्षेत्रपाल आदिक अनेककी शरण ग्रहण किया करता है। वह यह नहीं सोच पाता है कि ये स्वयं अरक्षित हैं मेरी क्या रक्षा कर सकेंगे ? यदि मरते हुए मनुष्यको मंत्र, तंत्र, क्षेत्रपाल आदिक कोई भी देवी देवता रक्षा कर सकते होते तो मनुष्य समूह अक्षय हो जाता। आजके समयमें जैसे कि पैदा होने वालोंकी

संख्या बहुत बढ रही है। कल्पना करो कि केवल १०० वर्षका ही ऐसा मौका दिया जाय कि जहाँ एक भी मनुष्य न मरे तो यहाँ मनुष्य समा नही सकते। यह तो एक १०० वर्षकी बात है और यदि रक्षा करता होता कोई देवी देवता तो ऐसी चाह वाले तो अनादिसे ही है ना और ऐसा प्रयत्न कर रहे है तो मनुष्य तो अविनाशी हो जाता, पर आज कोई १०० वर्ष की उम्रका भी देखने को नहीं मिलता। लोगोंने तो यहा तक बाह्य शरणको शरण समझा है कि अपने धर्मशास्त्रमे मंत्रोंमे, वाक्योंमे, आगमोंमें इन इन्द्रों की, देवोंकी पूजा उपासना नमस्कार आदि ये सब भर दिये हैं। कोई लोग नाना प्रकारके देवोंके नाम धर कर वैसे है या नही, एक कल्पनाभर बनाकर जगह जगह चबूतरोंपर रास्तेमें कुछ पत्थर रख दिया, देवी देवता हो गए और उन पर मनौती करते हैं कि मेरा बच्चा अच्छा हो जाय, जिन्दा हो जाय, पर कर्म सबके साथ है, उनके अनुसार ससारमें प्रवर्तन होता है, उनके मेटनेमें कोई भी देवी देवता माता पिता आदि समर्थ नहीं हैं, मिथ्यात्वका बध छूटा और धर लिया जाता है।

जिनको आत्मा पर, कर्म पर, उनके सही स्वरूप पर, उनके रंग ढग परिणमन पर यथार्थरूपसे विश्वास नहीं है उनका जीवन तो फुटबालकी तरह यत्र तत्र डोलते रहने मे व्यतीत होता है। कोई एक श्रद्धान ही नहीं है। और ऐसे श्रद्धाविहीन भावोंसे कुल परम्पराके कारण वीतरागदेवकी मूर्तिको भी मानते, वीतरागका नाम भी बोलें, जो परमात्मा हुए है उनका नाम ले ले कर भी नमस्कार करें, लेकिन उनकी दृष्टिमें तो वह सब इस प्रकार है जैसे अन्य देवी देवता कुछ स्वरूप ही नहीं पा सकते। जैसे अनेक लोग यह श्रद्धा किए हैं कि इस देवी देवताकी उपासनासे सुखी रहेंगे, वैकुण्ठ मिलेगा, इसी तरह सत्य शासनके कुलमें जन्म लेकर भी लोग प्रायः ऐसा विश्वास करके अपने कुल देवताओंको मानते है कि इस देवी देवताकी उपासनासे परिवार सुखी रहेगा, मुक्ति मिलेगी, पर उनकी दृष्टिमे मुक्तिका कुछ अर्थ नहीं। यदि ये कोई देवी देवता कह दे कि तुम रोज आकर मंदिरमे मुक्तिकी प्रार्थना करते कि मुझे मुक्ति मिले तो लो हम तुम्हे मुक्ति दिलाते हैं। मुक्तिके मायने है छूटना। चलो तुम घर छोडो, परिवार छोड़ो, धन दौलत छोड़ो, हम तुमको मुक्ति दिलावेंगे। मुक्तिका अकेलापन रहना यही तो स्वरूप है। तो जोरसे प्रार्थना करने वाला ससारसुखार्थी मानव तो यही कहेगा कि हमें नहीं चाहिए ऐसी मुक्ति। तो सत्य शासनके कुलमें जन्म ले लिया लेकिन श्रद्धा यथार्थ नही है तो उसका यथार्थ लाभ तो नहीं लिया जा सकता। मेरे आत्माको, मेरे आत्माके सहजस्वरूपका दर्शन, अनुभवन ही मात्र शरण है, इसके अतिरिक्त बाह्यमे कुछ भी शरण नहीं है, इस पर विश्वास नहीं है। सो यह मनुष्य अपनी रक्षाके लिए देवोंका शरण ढूँढते और जो मनुष्योंमें बहुत बड़े हुए—राजा, महाराजा, चक्री, नारायण आदि उनकी शरण ढूँढते हैं। वहा भी यह विश्वास बनाते है कि यही भगवानका स्वरूप है, ये भगवानके भेजे हुए है। अनेक मजहब वालोंने ऐसा ही तो माना कि ये भगवानके लड़के है भगवानके भेजे हुए है, पैगम्बर है, यह हमारी रक्षा करेंगे और अनेक जगह तो कुछ देशोंमें अब भी प्रथा है कि अपने पोपसे प्रार्थना करो, उनको सन्तुष्ट करो तो वे लिख देंगे कि तुमको स्वर्ग मिलेगा और वे राजी हो जाते हैं कि मुझे तो भगवानके बेटे ने कह दिया कि तुझे स्वर्ग मिलेगा, तो यह सब बहुत बड़ा व्यामोहका अधकार है। इस लोकमे मेरे लिए केवल यह अमूर्त ज्ञानभावमात्र अपने आपका दर्शन ही शरण है, अन्य कोई शरण हो ही नहीं सकता।

सुरक्षाके लिये मृत्युञ्जय और तन्त्रका अन्वेषण—लोग अपनी रक्षाके लिए मृत्युञ्जय आदिक मन्त्रजाप करते हैं, मृत्युको जीत लेवे ऐसा मंत्रजाप कराते हैं, पर मृत्युञ्जय जाप जिनसे कराते है उन्होंने भी मृत्यु को जीत लिया कि नही ? अरे मृत्युञ्जयका जाप तो आत्मस्वरूपका दर्शन अनुभवन जहां समझमे आया कि यह मैं आत्मा तो शाश्वत हू, अमर हू, इसका किसीसे कुछ नाता ही नहीं है। जहा मोह मिटा, अपने

शाश्वत स्वरूपकी खबर हुई कि लो हमने मृत्युको जीत लिया। मृत्यु है मेरी ऐसा मानने वाला ही तो मृत्युसे घबड़ायेगा और इस बातका सम्बन्ध है मोहसे, अपने परिग्रहसे। परिजन, मित्रजन, यशकीर्ति आदिकमें मोह हो तो उसे ये सब बातें सतायेंगी। जहां यह भाव बना कि मैं तो समस्त परपदार्थोंसे विविक्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं। इस ही के दर्शनसे, इसही के निकट रहने से इस मुझ आत्माका कल्याण है, अन्य कोई शरण ही नहीं है, वह यहां कुछ न चाहेगा और न वह अपनी मृत्यु समझेगा। जिसे मृत्यु पर विजय पाना है उसे तो अपने ज्ञानानन्दस्वरूप अंतस्तत्त्वका मनन चाहिए। अन्तस्तत्त्व मृत्युञ्जय है और मननका नाम मंत्र है। यही है मृत्युञ्जय मंत्र, पर लोग इस सुगम स्वाधीन निरपेक्ष उपायको न करके मोहवश अज्ञानवश बाह्य पदार्थोंमें आत्मीयताकी बुद्धि लगाये हैं और मेरी मृत्यु न हो इस भावसे वे अनेक उपाय किया करते हैं। कई मनुष्य यंत्र, तंत्र औषधि आदिककी खोज करते हैं अपनी रक्षाके लिए। तो वह तंत्र कौनसा है जिससे अपनी रक्षा हो जाय? वह तंत्र है रत्नत्रय, यही एक सत्य उपाय है कि जिससे हम आप शान्त सुखी रह सकेंगे, हममें पवित्रता एवं निर्मलता उत्पन्न हो सकेगी। जैसा हमारा यथार्थस्वरूप है वैसे ही रह जायेंगे। कोई इस मंत्रको तो करे नहीं और बाहर ही बाहर अपनी रक्षाके लिए मंत्र, तंत्र, औषधि आदिककी खोजमें रहे तो इसमें क्या रक्षा हो जायेगी?

मृत्युसे बचाव करने के लिये देवी देवताओंकी व्यर्थ और भ्रान्त मान्यता--लोग मृत्युसे बचने के लिए यक्ष क्षेत्रपाल भैरव आदिक अनेक नाम रख रख कर और कल्पनामें उनका भयंकर रूप बनाकर उनकी अटपट मुद्रा बनाकर अपने दिल पर स्वयं अपनी कल्पनासे प्रभाव डालकर इस ही व्यामोहवश अपनी रक्षाके लिए उनसे प्रार्थना करते हैं, उनको नमस्कार करते हैं, सर्वस्व समर्पणका भाव रखते हैं पर उनकी रक्षा नहीं हो पाती। यदि मरते हुए मनुष्योंकी ये देवी देवतादि रक्षा कर सकते होते तो यह मनुष्य मरणातीत हो जाता, कभी विनाश ही न होता। पर ऐसा कभी हुआ भी है क्या? तो यह सब देखकर भी अपने बारेमें ऐसी प्रतीति नहीं लाते कि मैं सर्व परपदार्थोंसे भिन्न हूं। यह देह भी मुझसे निराला है, कषायें भी मुझसे निराली हैं। मैं तो एक सहज ज्ञानानन्दमात्र हूं। मेरा स्वरूप शाश्वत है, मुझे किसी प्रकारका क्लेश नहीं है। ऐसा छानें आपमें अपने अंतस्तत्त्वका दर्शन करते हुए सदा ही प्रतीति करना, उपयोगको रमाना, अर्थात् इस ढंगका उपयोग बनाना यह है वास्तविक तंत्र, संकटोंसे दूर होनेका। यही किया जाना चाहिए और कोई मंत्र तंत्र नहीं जो जीवको मरने से बचा सके।

अइ-बलिओ वि रउद्दो मरण-विहीणो ण दीसते को वि।
रक्खिज्जंतो वि सया रक्ख-पयारेहि विविहेहि ॥२६॥

मनुष्योंको कोई सता न सके और देखो देवताओं को ऊपर बसा दिया इसलिए कि इनकी छत्रछाया मनुष्यों पर रहे ताकि ये सुरक्षित रहें। एक कविकी कल्पनाकी यह बात कही जा रही है कि प्रकृतिने इन मनुष्योकी रक्षाके लिए कितने साधन जुटाये, फिर भी ये मनुष्य रक्षित न रह सके। यह काल याने आयुक्षय जिस चाहे पर जब चाहे आ धमकता है और इस मनुष्यको मरण करना पड़ता है। कोई मनुष्य तो गर्भमे ही खिर जाते हैं, कोई गर्भसे निकलते ही मर जाते हैं, कोई बचपनमें, कोई जवानी में, तथा कोई वृद्धावस्थामे मरणको प्राप्त हो जाते है। यो ये मनुष्य जब चाहे अचानक ही मरण कर जाते हैं। तो मृत्युका कुछ आश्चर्य नहीं, आश्चर्य है जीवित रहनेमें। मृत्युका तो यह संसार ही है। यहां तो अतिबलिष्ट पुरुष भी जिन्होंने अपने को अनेक दृर्गोसे सुरक्षित बनाया है। उनका भी मरण देखा जाता है। बड़ा फौज फाट दलबल सेना और प्रत्येक मनुष्य अपने प्रयत्नभर पूरा रक्षाका साधन बनाये रखनेका यत्न करता है लेकिन नाना उपायोसे रक्षा किए जाने पर भी बडे बडे बलिष्ट राजा महाराजा भी मरन से बच नहीं सके।

एव पेच्छंतो वि हु गह-भूय-पिसाय-जोइणी-जक्ख।
सरणं मण्णइ मूढो सुगाढ-मिच्छत्तभावादो ॥२७॥

गाढ मिथ्यात्वमे अज्ञानियोकी ग्रहभूतादिमे शरण्यत्वकी मान्यता--यह जीव इस तरहसे अशरण दीख रहा है। किसीको कोई शरण नही हो पाता। ऐसा देखते हुए भी मुग्ध मानव ग्रह आदिकको शरण मानते हैं। ग्रह— रवि, चन्द्र, मंगल, केतु, बुध आदिक जो बताये हैं ज्योतिषशास्त्रमे तो ज्योतिषी लोग बताया करते हैं कि तुम पर ये ग्रह लगे हैं, यह अनिष्ट है, इसकी मान्यता करो, पूजा पाठ कराओ तब शान्ति मिलेगी इतने वर्षका शनिचर लग गया। यों अनेक बातें बताते हैं। देखने मे तो कुछ नहीं लगता। शरीर पर कुछ लगा नहीं, आत्मामें कोई चीज आयी नहीं, एक भय मान लिया कि ये ग्रह मेरा विनाश कर रहे हैं। यद्यपि निमित्त ज्ञान हैं, पर उसका तो इतना ही अर्थ है कि उससे कुछ अंदाजकी सूचना होती है इष्ट अनिष्टकी जिससे कुछ अदाज किया निमित्तज्ञान आदिकसे, किसी हिसाबसे, तो इसमें कर्तृत्वकी बात तो न आयी। वे कुछ मेरा अनिष्ट करदे या मेरा भला कर दे, यह बात तो उनमें नही बसी है, मानें तो क्या, न मानें तो क्या, एक समान हैं। बलिक उस विषयको तुम मानो ही मत, जानना ही न चाहो, क्या है, कौन ग्रह लगा है, कैसा हो रहा है, उसकी जानकारीमें ही मत पडो, क्योंकि जैसी निमित्त उपादानकी विधि है उसके अनुसार होता है। सांसारिक स्थितियोंमे निमित्त तो कर्मोदय है मगर निमित्त टालकर अपनी वास्तविक रक्षा करना चाहते हो तो ऐसा उपाय करो, ऐसा उपाय बनाओ कि ये कर्म अपने आप खिर जाये। ऐसा न जानकर न ऐसा उपाय समझकर व्यर्थमे ग्रह आदिकको मान रखा है वे मेरा इष्ट करेंगे अथवा अनिष्ट करेंगे, यह सब तो संसारमे रुलनेका, जन्म मरण करते रहने का श्रम है। एक अपने सम्यक्त्व रतनको निर्मल रखे तो संसारके संकटोसे तिर सकेंगे, अन्यथा यह संसारका जन्ममरण छूट नही सकता। १०-५ वर्षकी बढिया व्यवस्था बना लेने में इस जीवका क्या पूरा पडेगा? यो तो अनेक भवोंमे बडे बडे आराम भोगे होंगे, सांसारिक विषय सुख पाये होंगे। उनसे तो कोई उद्धारकी बात होने की नहीं है।

प्रभुको विकसित सहजस्वभावके रूपमे ही निरखनेसे श्रेयोलाभ--कुछ समझदारोंने इतना सोचकर कि इन ग्रहोकी मुख्यताके नाम पर एकदम कुदेव पूजामें न लग जायें इसलिए यह उपाय निकाला है कि सूर्यग्रह यदि कुपित हो तो अमुक तीर्थंकरकी पूजा करो, चन्द्रग्रह यदि कुपित हो तो अमुक तीर्थंकरकी पूजा करो। ६ ग्रहोंको शान्त करनेके लिए इस तरहका विधान करो। ऐसा कोई भाव रखे वह भी कमजोर है। अरे एक शुद्धस्वरूप ज्ञानानन्दमय परमात्मतत्त्वकी उपासनासे ये संसारके जन्ममरणके

विभावोंके सब संकट दूर हुआ करते हैं। एतदर्थ उस शुद्ध तत्त्वकी उपासना करना है। वस्तुत: यह भाव ही संकटोंसे दूर करेगा। ये बीचके ये सब भाव किसी सीमामे शुभ भी हुए, लेकिन एक सत्य श्रद्धा न मिली, शुद्ध उद्देश्य न बन पाया तो संसारसे तिरनेकी लाइन पर अपनी गाड़ी नही आ सकती। कुदेवोंसे हटकर वीतराग प्रभुमूर्तिकी ओर किसी भी आशयसे लगाव होना अपेक्षाकृत भला है कि चलो यह अनिष्ट निवारणके लिए इस तीर्थंकरका नाम लेकर पूजा करो, लेकिन वास्तविकता देखे— अन्त: स्वरूपका प्रत्यय उद्देश्य बनाये बिना सारा संकट दूर हो नही सकता। अपने आत्माके उस ज्ञानानन्द स्वरूपकी श्रद्धा करो उससे कोई बाधा देने वाला है ही नही। किसकी शान्तिके लिए मनौती करना? आत्मामे जो विभाव हो रहे हैं, यह स्वयं जो अपने पर कुपित हो रहा है उसको शान्त करनेका यत्न होना चाहिए। अनेक लोग रक्षाके लिए भूत व्यन्तरोकी उपासना करते है, लेकिन ऐसी उपासना करने वाले भी कोई बचे क्या? एक देहातमे भैंसोपर शीतला माताकी बीमारी छा गयी। वहां एक किसानके घरमे करीब ७०—८० भैंसे थीं, सो उस बीमारीमे दो चार भैंसें उस किसानकी मर गईं। उन भैंसोंकी रक्षाके लिए वह शीतला माताकी प्रतिदिन पूजा करने लगा और शीतलादेवी पर चढाये गए जलको वह अपनी सभी भैंसो पर छिड़कने लगा था। इतना करने पर भी बराबर उसकी भैंसें मरती गईं। जब सिर्फ ५ भैंसें जीवित बची तब उस किसानको शीतला माता पर क्रोध आया और शीतला माताके चबूतरे पर रखी हुई बटरियोंको फोड़फाड़कर तालाबमे फेक दिया। समयकी बात कि उसके बाद वे ५ भैंसें बची रहीं। तो ये सब भ्रमकी बाते हैं कि इन देवी देवताओंकी मनौतीसे, इनके पूजनसे हमको शरण मिलेगी। मोही अज्ञानी जीव व्यर्थ ही पिशाच योगिनी देविया, काली, चन्द्रिका, दुर्गा आदिक अनेकोंकी उपासना मे लोग लगते है।

परोपयोगकी वासना हटाकर अन्त स्वरूपमे रमनेमे ही वास्तविक शरणलाभ—कुछ समझदार लोग भी दुर्गा, काली आदिकी उपासना उसी मान्यताके रूपमे करते है, पर उसका अर्थ बदल देते हैं, जिससे स्पष्ट अटपटापन न आये। दुर्गा एक शक्ति है, उस शक्तिकी उपासना करना चाहिए, इतना तक भी अर्थ बनाकर मान्यता वही रखते है। कोई शक्ति है हमको सुरक्षित रखनेकी तो वह है एक आत्मानुभूति, उसीको दुर्गा माने तो इसमे कोई विरोधकी बात नहीं है। शब्दके अर्थसे भी जाहिर होता है कि जो दु खेन गम्यते, अर्थात् जो बडे कष्टसे जाना जाय पाया जाय, उसे दुर्गा कहते हैं। आत्मानुभूतिका पाना बड़ा दुर्लभ है। तो वह शक्ति मुझमें है, उसको उपासना करे। तो लोग व्यामोहवश कुछ समझदार होने के कारण शब्द बदल देते है पर उपासना उसी रूपमे करते हे, श्रद्धा उसी रूपकी रखते हैं। कोई मुझसे भिन्न शक्ति है जो मुझे बरबाद करने पर भी तुल सकती है, उसे प्रसन्न करे, यह भाव फिर भी उनका नहीं मिटता। यक्ष मणिभद्र आदिक अनेक नाम लेकर उन यक्षोंकी उपासना करते है पर सुरक्षित कोई नहीं रह पाता। यह सब मिथ्यात्वका ही तो माहात्म्य है कि कुछ समझदार होकर भी बुद्धि विपरीत हो गई। यह गहन मिथ्यात्वका ही परिणाम है जो अपनी रक्षाके लिए इन बाहरी देवी देवता, मंत्र, तंत्र, ग्रह आदिककी मनौतीमें रहते है, इनका जाप जपते हैं, इनको अपना सर्वस्व समर्पित करनेका भाव रखते हैं यह सब एक बडे व्यामोहका काम है। जान रहे हैं ये जीव कि यहां मेरा कोई शरण नहीं है, सब अशरण है, तिसपर भी शरण माननेकी भीतरसे वासना नही गयी। जिस चाहे किसीको शरण मान कर उसकी उपासना करके अपने आपको मृत्युसे बचनेकी प्रार्थना करते है, लेकिन मृत्यु है ही कहाँ जीवको। स्वरूपका निरखें, और मृत्यु पर विजय प्राप्त करे फिर इस जीव पर कोई संकट नहीं है।

आऊक्खएण मरणं आउ दाउ ण सक्कदे को वि।
तम्हा देविंदो वि य मरणाउ ण रक्खदे को वि ॥२८॥

युक्षयसे मरण और अन्यके द्वारा अन्यको आयु देनेकी अशक्यता—प्राणियोंका मरण आयुके क्षयसे होता है और आयुको कोई भी देनेमे समर्थ नही है, इस कारण देवेन्द्र भी हो, कोई मरणसे बचाने समर्थ नहीं है। आयुकर्म तो अपने उपभोगसे ही नष्ट होता है और उस आयुको देनेमे कोई दूसरा समर्थ नही है। जो आयु बँधी हुई है कर्मबंधके समयमे, उसका उदय होने पर स्थिति चाहे कम हो जाय पर उसकी वृद्धि नही होती। जैसे हम आप मनुष्य है तो हम आप लोगोकी आयु त्रिभागमे बंधती है। मानो किसी की आयु ९९ वर्षकी है तो उसके दो बटा तीन ६६ वर्ष तक अगले भवकी आयु न बंधेगी। जब उसकी आयुके एक बटा तीन ३३ वर्ष शेष रहेंगे तब आयु बंधेगी। अब जो ३३ वर्ष शेष रहेंगे और उनमे भी यदि आयु नही बँधती तो उसके भी त्रिभागमें याने जब करीब ११ वर्ष शेष रहेंगे तब आयु बँधेगी। तब भी बंध न हो तो उस ११ वर्षके भी तीन भाग करिये। उसके दो भाग गुजरने पर आयुका बंध होगा। इस तरह जीवनके ८ बार त्रिभागका अवसर है। तब भी आयु न बँधे तो अन्तमे तो बँधेगी ही। तो जो आयु बाँध ली है नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदिक तो आयु बँधनेके समय ही चार बाते निश्चित हो जाती हैं। पहिली बात तो बता ही दी गई, प्रकृति आयु, यह नरकभवमें रहेगा, तिर्यञ्चभवमें रहेगा, किस भवमे रहेगा आगे कहाँ जन्म होगा, उसकी प्रकृति तो बँध गई। उसके साथ कितने दिन तब रहेगा, यह स्थिति भी बँध जाती है और उस आयुमें कितनी दृढता है वह अनुभाग भी बँध जाता है और उस प्रकृति मे कितने परमाणु बँधे है यह भी निश्चित हो जाता है। हा कुछ भव ही ऐसे हैं कि जो बध किया जब उसका उदय आयेगा तबसे लेकर वह उतने वर्ष तक जीवित रहेगा ही, बीचमें मरण नहीं कर सकता। ऐसे निश्चित भव है देवगतिके नरकगतिके, तथा मनुष्यगतिमे भोगभूमिया जीवोंके और चरमशरीरी जीवोंके। मनुष्योंमे चरम शरीरी जीवोंको बताया है कि उनका बीचमें मरण नहीं होता, ये कर्मभूमिमे ही होते हैं, शेष जीव आयुके पहिले भी मरण कर जाते हैं, अर्थात् उदीरणा मरण होता है तो शेष समयके निषेक उसी समय खिर जाते है ? वह उसका अकाल मरण होगा।

अकालमरणके सम्बन्धमे कुछ ज्ञातव्य--अकालमरणका बधना किसी कर्ममे शामिल नहीं है। कोई प्रकृति ऐसी नहीं है जहा यह पता हो कि यह अकालमें मरेगा। बंध हो गया—मान लीजिए कि ५० वर्ष की आयुका बंध है, उसका उदय आयेगा। उस ५० वर्षके मायने यह है कि ५० वर्षमे जितने समय है उन समयोमे प्रत्येक समयमे आयुके निषेक खिरते रहेंगे। इतने निषेक हुए, आयुके कि एक एक निषेक एक एक समयमे खिरे तो ५० वर्ष लग जायेंगे, यह है उस आयुकी स्थिति की पद्धति। अब जैसे किसी पर ३० वर्षकी ही आयुमें कोई विषभक्षण, शस्त्रघात, एक्सीडेन्ट आदिक कुछ आपत्तियां आये और वहाँ ही वह मरण कर गया तो शेष आयुके निषेक सब उस अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमे खिर जायेंगे। यह अकाल मौत भी ज्ञानियोके ज्ञानमे आयी है। जैसे कि अनेक भविष्यके परिणमन भी ज्ञात हुए, सो इस दृष्टिसे कहा जाता है कि अकालमौत निश्चित है—जब होना है तब हो, लेकिन जिस पर बात गुजर रही है उस ही की दृष्टिसे देखा जाय तो वहाँ कोई निर्णय नही पडा है। जैसे किसी मनुष्यको निरखकर हम उसके रूपको, लम्बाई चौड़ाईको जान जाते है पर यह तो नहीं जान सकते कि इस मनुष्यका यह नाम है, यह अमुकका पिता है आदि यह तो पहिलेसे सुन रखा है, परिचय कर रखा व जानते है। कोई अपरिचित मनुष्य कहीं बाहरसे विदेशसे आ जाय तो उसके बारेमे तो वह कुछ नही बता सकता। तो यों ही अकाल मौत तो एक परिचय करनेकी बात है। उस आत्माको निरखकर अकाल मौत नहीं विदित की जाती है। वहाँ तो जैसे अजीव पदार्थोंमे निमित्त उपादानका सम्बन्ध है इसी तरह अकालमौतके साधन मिलनेपर उस तरहके निमित्त उपादानका सम्बन्ध है।

आयुवृद्धिकी अशक्यता--उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि भोगी जाने वाली आयु चाहे कम हो जाय

पर वढ नहीं सकती। जैसे लोग औषधि सेवन करते हैं इस भावसे कि हमारी आयु वढ जायेगी, पर यह कभी सम्भव नहीं है कि बहुत उत्तम औषधि मिलने पर उनकी आयु वढ जाय। भोगी जाने वाली आयु घट जाय यह तो सम्भव है, पर आयुकी वृद्धि हो जाय यह सम्भव नहीं। जिसका मरण होगा उसकी आयु के क्षयसे मरण होगा। उसकी आयु देनेके लिए कोई समर्थ नहीं हैं। चाहे वे देवेन्द्र हों, पर कोई रक्षा नहीं कर सकता। मा को अपना बच्चा कितना प्यारा होता है? यदि बच्चा बीमार हो जाय तो वह मां उस बच्चेको अपनी गोदसे नीचे नहीं रख । चाहती, उसे देखती ही रहती है। उसका हृदय कहता है कि कि चाहे मेरे प्राण तक न्यौछावर हो जाये पर मेरा बच्चा जीवित रह जाय, इतना तक व्यामोह होता है उस मां को, लेकिन वह माँ जो सर्वस्व लुटाने के लिए तैयार है बच्चेके जीवनके लिये वह भी अपने मरण करने वाले बच्चे को बचा नही पाती, बस देखती ही रह जाती है। उस बच्चे को जीवित रखने मे उस मां का कोई वश नही चलता। कितना भी कोई प्रेमी हो पर किसी को मरनेसे बचा नही सकता। एक बात और यहाँ जाननेकी है कि जिस मनुष्यने अगले भवकी आयु बाँधी तो उस आयुकी घट वढ हो जाय, अगले भवकी आयु जो वध चुकी है उसमें भी कमीवेसी हो जाय, यह वाँधे जाने वाले भवमें ही सम्भव है। आयु वढ भी सकती है लेकिन जन्म लेनेके बाद नहीं बढ़ सकती। जैसे यहां देव आयुका बंध किया, अच्छे परिणामो मे रहकर अच्छी आयुकी स्थिति वाँधी। वाँधनेके वाद परिणाम बिगड़ जाये तो वह आयु घट भी सकती हैं। मानो १ सागरकी आयु बधी, परिणाम बिगड़ गए तो १० सागरसे कम भी हो सकती है, और अगर परिणाम सुधर गए तो १० सागरसे ज्यादा भी आयु हो सकती है, पर अगले भवमे जन्म ले लेनेके बाद आय वढ नही सकती। देवगतिमे तो अकाल मरण भी नही होता।

मरणसे सुरक्षा पानेके लिये अन्यके शरणग्रहणका मिथ्यापन—भैया! आयुको देने में कोई समर्थ नहीं है ऐसा जानकर किसी परसे शरणका भाव रखना यह केवल आकुलता ही पैदा करता है। यहाँ बाहरमें कोई मेरा शरण नहीं है। मेरा परिणाम निर्मल रहे वह तो मेरेको शरण है, अन्य कोई मेरा शरण नहीं। यहा लोग सोचते है कि किसी को धोखा दे दिया, किसी पर अन्याय किया तो यहाँ लाभ तो हो रहा है। तत्कालके परिकल्पित मिथ्या लाभको लाभ समझकर लोग व्यर्थ ही अपने परिणाम बिगाड़ते है, वे यह नही जानते कि इस समय जो हमारे खोटे परिणाम हो रहे हैं वे हमे आगे बहुत दुर्गतिमे ले जायेंगे। और यदि न्याय पथ पर रहकर अपने धर्मभावसे चलकर कुछ नुकसान भी हो रहा है, तो भी वह कुछ नुकसान नही है। देख तेरे परिणामों मे निर्मलता रहेगी तो यह तेरा निर्मल परिणाम तेरेको बहुत उन्नतिके मार्गमें ले जायेगा। प्रथम तो विशिष्ट पुण्योदय होगा और विशुद्ध जो धर्मस्वरूप है उसकी दृष्टि वनेगी, पात्रता बनेगी। तेरा तो इसमे उत्थान ही उत्थान है। वर्तमानमे धन वैभवकी होने वाली हानिको हानि मत गिन। परिणामोमे जो मलिनता हो उसको हानि समझ। परिणामोकी पवित्रता ही तेरी रक्षा कर सकनेमे समर्थ है, अन्य कोई दूसरा तेरा रक्षक नही है। उत्तम बात तो यह है कि अपने अकिञ्चन शाश्वत ज्ञानमात्र सहजस्वभावको निरखकर अपने को मृत्युरहित देख तो तू सुरक्षित ही है।

नित्यं खादति हस्ति शूकर पल सिंहो बलि तद्रति. वर्षेणैकदिने शिलाकण चरौपारावते सा सदा।
न ब्रह्मचर्य नाशमेतिमथवा स्यान्नैव भुक्तेर्गुणाः तद्रक्षा कुरुते स एव पुरुषः साधोर्मन. संयमः॥

अप्पाणं णि चवत जइ सक्कदि रक्खिदुं सुरिंदो वि।
तो किं छडदि सग्ग सव्वुत्तम-भोय-संजुत्तं॥२९॥

मोही मानवो द्वारा सुरक्षाके लिये प्रार्थित देवेन्द्रोकी अपने मरणसे अपने आपको भी बचानेकी अशक्यता—जिन देवोसे हम अपनी शरण माग रहे है, जिनसे हम अपनेको मृत्युसे बचानेकी प्रार्थना करते हैं इन देवेन्द्रोके बारेमे भी जरा निर्णय कीजिए कि जब उनका आयुक्षय होता है तो वे अपने आपकी रक्षा

कर सकते है क्या ? नहीं कर सकते । बहुतसे लोग वैकुण्ठ मानते हैं, तो यह वैकुण्ठ क्या है ? वैकुण्ठ। वैकुण्ठ ऐसे इसमें दो शब्द है। वै मायने निश्चयसे और कण्ठ मायने गला याने कण्ठस्थान। लोकरचनामें जब पुरुषाकार तीनों लोककी रचना बताथी जाती है तो उसमें देखिये, उस पुरुषाकारमें कंठ की जगह क्या बना हुआ है ? नव ग्रैवेयक। नवग्रैवेयक भी नाम वैकुण्ठ का है। पुरुषाकार लोकरचना में ग्रीवाकी जगहका जो स्थान हो सो ग्रैवेयक और वैकुण्ठका भी यही अर्थ है। तो यह जीव वैकुण्ठ अर्थात नवग्रैवेयक तक हो आया जिसे लोग मुक्तिका स्थान मानते हैं। मुक्तिका स्थान तो परम आनन्दमय है, पर कुछ लोग वैकुण्ठको भी मुक्ति स्थान मानते हैं। कोई लोग मानते है कि कल्पकाल बीत जानेके बाद उनको ईश्वर यहाँसे याने वैकुण्ठसे ढकेलता है और उन जीवोंको फिर इस संसारमें जन्म लेना पड़ता है। ऐसा जो कथन है उन्हींका, वहाँ तक यह आया कि नवग्रैवेयक तक भी उत्पन्न हो गया यह जीव फिर भी संसारसे निकलनेका उपाय यह न पा सका, ऐसा भी हो जाता है, इसे यहा जन्म लेना पड़ता है। इसकी चर्चा कही जा रही है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि इन्द्रको भी मरण करके जन्म लेना होता है, पर वैकुण्ठकी बात यह रहे, तो वहा हुआ क्या ? मुक्ति नहीं हुई, राग नहीं मिटा, किन्तु राग मंद हुआ। तो ऐसा वैकुण्ठ माननेवाले लोग भी कहते हैं कि जीवका राग कभी मिट ही नहीं सकता। राग अत्यन्त कम हो जायेगा, न की तरह हो जायेगा, वैकुण्ठ हो जायेगा, फिर कुछ कल्पकालमें संसारमें आना होगा, याने उनका भी मरण होता है। ऐसे ये देवेन्द्र भी सागरों पर्यन्त स्वर्गके उत्तम सुख भोगते हैं, फिर भी जब उनकी आयु क्षयका समय होता है तो उन्हें कोई भी बचानेमें समर्थ नहीं है।

देवेन्द्रवदेव देवियोंके शरीरकी सातिशयता—यदि देवेन्द्र अपने आपको बचा सकते होते, तो स्वर्ग क्यों छोड़ते ? देवोंका, देवेन्द्रोंका सुख सासारिक सुखमें उत्तम सुख है। वैक्रियक शरीर है। उनकी देवांगनाओंके भी वैक्रियक शरीर हैं, जिनकी तुलना तो स्तवनमें एक जगह तीर्थंकरके परमौदारिक शरीर से की गई है। जब मानो भगवानने कहा कि हे समन्तभद्र, तुम आप्तकी खोज कहा करते फिर रहे हो ? आप्त तो हम हैं, देखो—देवता लोग हमारे पास आये आकाशमें हम चलें, चमर छत्र हम पर ढुलें, आप्त तो हम हैं। यह एक अलकार रूपमें कहा गया है। कहीं भगवान इस तरहसे किसीसे बातचीत नहीं किया करते। भगवान तो ऐसे उत्कृष्ट आत्माको कहते हैं जिससे कोई बातचीत भी नहीं कर सकता। यों तो कोई किसी भी जीव अथवा अजीव पदार्थसे बातें करने लगे। प्रभुकी ओरसे कोई प्रकार का जवाब न मिलेगा। जहा किसीसे रच भी राग द्वेष न रहा, जो वीतराग हैं, अनन्त आनन्दमें लीन हैं वे किसीसे बातचीत करते फिरे यह सम्भव नहीं। उनके तो समय पर अथवा तीर्थंकर प्रकृतिके उदयसे अथवा वचनयोगसे भव्यजीवोंके भाग्यसे समय पर दिव्यध्वनि खिरती है। उनके पास बातचीत करनेका समय नहीं है कि उनके मातापिता पुत्र बन्धु मित्रजन उनसे इधर मिले कुशलता पूछें तो वे उत्तर देते फिरें। कोई बातचीतका वहा प्रसग नहीं है। तो एक अलंकाररूपमें कहा गया है कि भगवानने यों पूछा तो समतभद्रने परीक्षाप्रधान होनेसे निःशक होकर उत्तर दिया कि हे प्रभो! आप इसलिए बड़े नहीं हो कि आपके पास देवता आते हैं, आप आकाशमें चलते हैं। इसे क्यों नहीं ? यों नहीं कि ये बातें मायावी पुरुषोंमें भी सम्भव हो सकती हैं। अच्छा फिर समतभद्र, देखो ना कि मेरे शरीरका अध्यात्म मायने आन्तरिक चमत्कार कितना ऊँचा है कि जहा रक्तरुधिर मलमूत्र पसीना आदिक कोई धातुवें न रही, स्फटिक मणिकी तरह निर्मल शरीर है, मायावी पुरुष ऐसा नहीं बना सकते। भले ही मायासे देवसिद्धि करके लोगोंको कुछ इस प्रकारके चमत्कार करके दिखला दे लेकिन शरीर उससे निर्मल तो नहीं बन गया। इस कारण हम ही आप्त हैं, तुम आप्तको कहा खोजते फिरते हो ? तब वहा समंतभद्राचार्य निःशक होकर कहते हैं कि शरीरका ऐसा चमत्कार मल, मूत्र, स्वेद आदिका न होना, ये बातें तो देवोंमें

भी पायी जाती हैं। तो आप इस नातेसे महान् नही हैं। जिन देवोंके शरीरकी तुलना समंतभद्रने अरहंत देवके शरीरसे भी कर दी, समता बता दी, अब तो अब आप समझ लीजिये कि उन देवेन्द्रोका कैसा मनोहारी वातावरण रहता है ? देवियां भी ऐसे ही शरीरकी हैं।

देवेन्द्र व देव देवियोकी विभूति कलाकी भी सातिशयता--देवेन्द्र व उनकी देवियोकी कलावोंका उनकी विभूतियोका तो कहना ही क्या है ? यहाँ ही जब कभी बहुत बढिया गाना बजाना हम आप देखते सुनते हैं तो उनकी कलापर मुग्ध हो जाते हैं। जब बहुत सुरीले और बहुत ढगके रागमे कोई अग्रेजी बाजे बजते हुए देखते है, या कहीं बहनमे संगीतज्ञ अपनी संगीत कलाका प्रदर्शन कर रहे हों तो ऐसा लगता है कि धन्य है इनको, कहासे इन्होने ऐसी कला सीखी ? ये तो बहुत ऊँची कलाये हैं, लेकिन इन कलावो से भी बहुत ऊँची कलाये देव देवियोमे प्रकृत्या पायी जाती है। जब यहाँकी कलाओ पर ही मुग्ध होकर धार्मिक अवसरमे, प्रभुदर्शनमे, प्रभुवंदनमे हमारा भाव बहुत लगता है तो भला सोचिये कि उस साक्षात् समवशरणमें चारो ओरसे देव देविया आते है और गानतान नृत्य आदिक अपनी समस्त कलाओंका उपयोग करते हैं, वह कितनी ऊंची कला है ? वे जानते हैं कि यही एक मौका है इसलिए अपनी पूरी शक्तिभर कलाओका उपयोग करे और कही तो मौका मिलता नहीं है अपना सर्वस्व न्यौछावर करने लायक। तो यहाँके कलावान पुरुष एव महिलावो की कलासे आप अदाज कर लीजिए कि उन देवी देवताओं मे इनसे कितने ही गुनी अधिक कलाये होती होगी ? देवोंको मनमाने भोगोपभोग प्राप्त हैं। वे जहां चाहें, जब चाहें विहार कर जाते हैं। उन्हें खाने पीने आदिकी कोई चिन्ता नही, उन्हें कोई रोजगार करनेकी जरूरत नही। वहा सर्वप्रकारके उत्तम भोग साधन हैं।

उत्तमभोगसयुक्त देवेन्द्रोका भी अवश्यभावी मरण जानकर अन्त शरण्यस्वरूपको निहारनेकी शिक्षा--उत्तम भोग वाले स्वर्गको इन्द्र देवेन्द्र क्या शौकसे छोडते हैं ? अरे उन्हें छोड़ना पड़ता है। और अनेक देवों को तो उस समय मरणसे ६ महीने पहिलेसे इतना संक्लेश होता है कि वहो कुछ देव तो मरकर वहांसे एकेन्द्रियमे जन्म ले। देवता लोग जिनकी असंगिनते वर्षोकी आयु होती है उन्हें उस आयुके त्रिभाग वे आयुका बध नहीं है। सारी आयु भर उनके बध नहीं, केवल ६ महीने जब शेष रहते है तब उसमे आठ त्रिभाग होते है। अर्थात् जब दो महीने आयु शेष रह जाय देवोंको तब जाकर उनका आयुबध होता है। तब भी आयुबंध न हो तो दो महीनेके भी त्रिभाग करिये यो ८ त्रिभागमे कभी बँध जाती है, तब भी न बँधे अन्तिम अन्तर्मुहुर्तमें तो बंध ही जाता। उस समय जिन देवोको यह विदित है कि यह स्वर्ग छोड़कर जाना है, ऐसा सुख छोड़ करके जाना है और जाना होगा नीचे, ऐसे ऐसे मलिन शरीरोंमे, ये भोग सब छूट जायेंगे, उस समयका उनका सक्लेश इतना कठिन हो सकता है कि बताया गया है कि ऐसे देव मिथ्यादृष्टि कई तो मरकर एकेन्द्रियमे उत्पन्न हो जाते हैं। यहा प्रसग यह चल रहा है कि ये देवेन्द्र भी अपने आपको च्युत होनेसे बचा नही सकते। जब आयुक्षय होता है, तो अपना मरण भी नहीं बचा सकते। अगर अपना मरण बचा सकते होते तो सर्व उत्तम भोगोसे संयुक्त स्वर्गको क्यों छोड़ते ? और दूसरोको मृत्युसे बचानेकी बात तो दूर रही, वे देवेन्द्र खुदको भी मौतसे नहीं बचा सकते। ऐसा जानकर एक निर्णय बनाना है कि मरणका भी क्या डर करना ? मरणका डर होता है मोहमे, इस व्यामोहमे कि यह छूटा, वह छूटा। जब मै पूरा जितना हू उतना ही यहां से जाऊँगा, अपने आपमे ही मेरी सृष्टि है, अपने आपमें ही मेरा निर्णय है, आनन्द पाव, दुःख पावें, सुख पावे, सब यहाके ही करतबका काम कर रहे है, तब मेरा बाहरमे क्या रहा ? किसका क्लेश ? जब यो अपने आपको जो संभालता है उसको मरणका भय नहीं होता। आत्मदर्शन करे, अपने आपमे रमनेके कारण, तृप्त रहने की आदत बनावें यही मात्र मेरा शरण है, बाहरमें अन्य कुछ भी वस्तु मेरे लिए शरण नहीं है।

दसणणाण चरित्तं सरणं सेवेह परमसद्धाए।
अण्णं किंपि ण सरणं संसारे संसरंताणं ॥३०॥

परमश्रद्धासे सम्यक्त्व शरण ग्रहण करनेका उपदेश—हे भव्य जीवो, बड़ी उत्कृष्ट श्रद्धाके साथ दर्शन ज्ञान, चारित्र रूप शरणकी सेवा करो। आत्माका हित शान्तिमें है। शान्ति निराकुल अवस्थामें ही है। निराकुल अवस्था कब मिलती है? कहाँ मिलती है? मोक्षमे। कर्मोंसे, विभावोंसे, शरीरसे मुक्त होनेमे परमशान्तिका अभ्युदय रहता है। तब उसही मुक्तिको प्राप्त करनेका उद्देश्य होना चाहिए। जो रहे है, घरमे हैं अथवा साधु हैं, किसी भी अवस्थामे है, इस मनुष्यजीवनसे जीनेका उद्देश्य क्या है? मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय करना, दूसरा और उद्देश्य नहीं है। अन्य कोई काम इस आत्माको हितमे नहीं पहुचाता। यह बात खुदकी है, अपनी है, निरपेक्ष है। इस आत्महितके कार्यमें किसीसे प्रार्थना करनेकी जरूरत नहीं कि घर वाले सन्तुष्ट हो, हमारे पिता, पुत्र आदि हम पर प्रसन्न हों तो इसमे आत्महितका उपाय बनेगा। किसीसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं है। केवल अपने आत्माकी दृष्टिसे अपने आप वह उपाय बनता है। वह उपाय क्या है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। निश्चयसे सम्यग्दर्शन यही है कि परद्रव्योंमें से भिन्न सहज जो अपना आत्मस्वरूप है, अन्तस्तत्त्व है उस शुद्ध सहज शाश्वत ज्ञानस्वभाव रूप अपने आपकी प्रतीति हो। अब यह सम्यग्दर्शन जिन उपायों से होता है उन भावरूप उपायोंको सम्यग्दर्शन व्यवहारसे कहते है। निश्चय सम्यग्दर्शनके लक्ष्यमे सप्ततत्त्वका श्रद्धान, देव, शास्त्र, गुरुका यथार्थ श्रद्धान होना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

व्यवहार रत्नत्रयका मूल आधार व उद्देश्य परमार्थ रत्नत्रय—जो-जो व्यवहारके कार्य रत्नत्रयकी पूर्ति करानेमे साधक हो वे व्यवहार रत्नत्रय होंगे और व्यवहार धर्म होंगे। यदि हमारे किन्हीं कामोंमे रत्नत्रयके मार्गकी बात नहीं निकलती तो वह व्यवहार धर्म ही नहीं है। जैसे गृहस्थोंके ६ आवश्यक कार्य हैं—देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, सयम तप और दान। वीतराग सर्वज्ञदेवकी भक्ति करना यह देवपूजा है। देवमूर्तिके समक्ष देवत्वका भाव, भक्ति होना, भक्ति करना देव पूजा है। गुरुवोंकी, जो कि मंद कषाय हैं वीतरागताकी ओर चलने वाले है जो एक रत्नत्रयके मार्गमे लगे हुए है उन गुरुवोंके सगमे रहना, उनकी वैयावृत्ति करना, विनयरूपसे रहना यह गुरूपासना है। स्वाध्याय किसी धार्मिक ग्रन्थका वाचन करना, सुनना, पढना उसके अर्थका अवधारण करते हुए और उसको अपने आप पर घटाते हुए जो पढते हैं वह स्वाध्याय कहलाता है। सयम—इन्द्रिय विषयोंको रोकना, किसी भी प्राणीकी हिंसा न होना, इसका यत्न करना यह सब सयम है। अपनी इच्छाओंको रोकना तप है। यह तो ससार है, इष्टवस्तु सदा पास रहती नहीं, न मिले उसका खेद नहीं करना और कभी किसी इष्टके पानेकी वाञ्छा हो तो उस वाञ्छाको दूर करनेका यत्न करना यह सब तपश्चरण है और छठवा आवश्यक है दान। पात्रोंको, अतिथियोंको आहार, औषधि, शास्त्र, अभय आदिक दान करना जिससे उनका उपकार अपना उपकार और अनेक जीवोंका उपकार है। जो एक तीर्थकी प्रवृत्ति चलाते रहें उससे अनेक जीव भी लाभ पायेंगे। तो दान भी एक आवश्यक है। अब इनमे देखो कि इन ६ कामोंको करते हुए रत्नत्रयकी साधनामें सहयोग होता है या नहीं? देवपूजामे श्रद्धानकी पुष्टि है। जिसके श्रद्धान हो वही तो देववन्दन करने आयेगा। देववन्दन करते हुएमे श्रद्धाका पोषण है। गुरुवोंका सत्सग, जिनको कुछ त्यागसे प्रेम है, चारित्रसे प्रीति है, मुक्तिसे प्रीति है वे ही पुरुष मुक्तिके मार्गमे लगे हुए गुरुवोंके सगमें आयेगे, उनकी वैयावृत्ति करेंगे। उससे चारित्रको मदद मिले। स्वाध्यायसे, सम्यग्ज्ञानको सहयोग हुआ। तपसे, चारित्रको तथा दानमे श्रद्धाको, साधनाको विशेष सहयोग मिला। तो इन आवश्यकों से रत्नत्रयमे सहयोग हो सकता है, अतएव ये व्यवहार धर्म है।

परमश्रद्धासे परमशरण्य रत्नत्रयकी सेवाका उपदेश--देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। ७ तत्त्वोका श्रद्धान करना सम्यक्त्व हैं और निश्चयतः समस्त परभावोसे भिन्न अनादि अनन्त अहेतुक शाश्वत एक सहज ज्ञानस्वभावमे अहंरूपसे अनुभव करना, प्रतीति करना, रुचि करना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्ज्ञान निश्चयतः ज्ञानस्वभावरूप निज अंतस्तत्वका ज्ञान बनाना सो सम्यग्ज्ञान है और इस निश्चय सम्यग्ज्ञानके लिए जो इतना वाचन होता है, चर्चा होती है उसका ज्ञान बनाना, पढ़ना लिखना आदि से जो ज्ञान सम्पादन करना है वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। सम्यक्चारित्र—समस्त परभावोसे हटकर स्वभावमे लीन होनेको निश्चयतः चारित्र कहते हैं, और ऐसे चारित्रके पानेका उद्देश्य बनाने वाला पुरुष जिन उपायोमे रहता है वे उपाय व्यवहारतः चारित्र हैं। तप, व्रत, संयम आदिक अनेकानेक यत्न हैं, ये सब चारित्र हैं। तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र इनको शरणरूप मानते हुए भव्य जीव इनकी सेवा करें, अन्यको शरण मत माने। अपने सहज अतस्तत्त्वका दर्शन, अनुभवन उसही मे ज्ञानको डुवा देना, मग्न कर देना, ज्ञानोपयोगमें अन्य कुछ न बसाना, ऐसा अपने आपमे अन्तर्ध्यान होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं। यही एक शरण है, इसकी सेवा करे।

आत्महितके परम उपायके उद्देश्यकी भूलमे विपदा विडम्बना--उद्देश्यमे रंच भी भूल न करे। हम जितना कर सके सो ठीक है, न कर सके तो उसका भी ज्ञान करे, पर उद्देश्यमें तो जरा भी पीछे न होना चाहिए। इस ससारमे भ्रमण करते हुए जीवोको अन्य कुछ भी शरण नहीं है। सम्यक्बोधके बिना क्रिया आचरण श्रम करने से संसारसे तिरनेकी लैन नहीं मिल सकती। भले ही उस कालमें मंदकषाय होने से पुण्यबध हो सकता है और साथ ही मिथ्यात्वका अभिनिवेश होने से अपने को लोकसमुदायमें ठीक-ठीक प्रमाणीक कर देना आदिक ऐसी ही दुनियाकी अभिलाषायें रहें तो पुण्यके एवजमे पाप भी हो सकता है। किन्तु सम्यक्बोध यदि है तो उसके अभिप्राय गंदे न होंगे और जितना भी वह कर सकेगा उससे वह सच्ची लैनमे ही लगा रहता है। बोध हुए बिना क्रियासे फायदा नहीं उठाया जा सकता। कुछ मुसाफिर लोग किसी शहरसे कपडा खरीदकर अपने गाँवको जा रहे थे। रास्तेमें शाम हो गई। जाड़े के दिन थे, सो वे एक वृक्षके नीचे ठहर गए। जाड़ा अधिक लगा तो उन्होने एक उपाय किया। आस पास की बाड़, पतली लकड़ियां बीनकर इकट्ठा की और चकमकसे आग लगाकर फूँका और खूब रातभर अच्छी तरहसे तापकर रात बिता दी और प्रातःकाल अपने गाँव चले गए। अब दूसरी रात आयी तो उस पेड़पर रहने वाले बदरोने सोचा कि हम लोग ठंडमें यों ही ठिठुर रहे हैं देखो वे लोग भी तो हमारी ही तरहके हाथ पैर वाले थे, जिन्होंने पिछली रातको अपनी ठढ मिटायी थी। अपन लोग भी वैसा ही करे। सो सभी बंदर आस-पासकी बाड़की छोटी पतली लकड़ियां बीन लाये और उन्हें एक जगह इकट्ठा करके तापने बैठ गए। फिर भी ठढ न मिटी तो उनमे से एक बन्दर बोला कि अभी इसमें लाल लाल चीज तो डाली ही नहीं गई, ठंड कैसे मिटे? अब क्या था, आसपास उड़ रहे पटबीजना जो कि लाल लाल रंगके थे सभी बदरोने उन्हें पकड़-पकड़ कर खूब उन लकड़ियोंमे झोका, अब लकड़ियोंके चारों तरफ सभी बन्दर तापने बैठ गये। तब भी जाड़ा न मिटा तो एक बंदर बोला कि अभी जाड़ा कैसे मिटे? उन लोगोने तो मुखसे फूँका था, अभी अपन लोगोने मुखसे इसे फूँका तो है ही नहीं। सो उन्होंने मुखसे खूब फूँका, फिर भी जाड़ा न मिटा। तो फिर उनमे से एक बदर बोला कि उन लोगोंने तो कुकुरू बैठकर हाथ फैलाकर अपनी ठंड मिटाई थी, उस तरहसे हाथ फैलाकर तो अभी अपन लोग बैठे नहीं, ठंड कैसे मिटे? सो वे उस तरहसे हाथ फैलाकर बैठ गए पर ठड न मिटा सके। यों उन बंदरोने प्रयत्न तो सारे कर लिए, पर ठड न मेट सके। उसका कारण क्या था? उसका कारण यही था कि ठढ मिटानेका जो मूल निमित्त अग्नि थी उसका उन्हें ज्ञान न था। तो इसी प्रकारसे समझ लो कि सम्यक्त्वका बोध हुए

विना कितने ही श्रम कर लिए जाये पर उनसे वास्तविक लाभ नहीं लूटा जा सकता। जिसको यथार्थ बोध होता है वह थोडेसे संक्षेपमे ही उसका सारा मर्म जान जाता है, और जिसमे प्रतिभा नहीं, उस प्रकारकी जिसमे पात्रता नही वह उससे वचित रहता है। तो सम्यग्ज्ञानके बिना क्रियाये कितनी ही कर ली जायें पर उनसे वास्तविक लाभ न मिल पायेगा।

ज्ञान और आचरणके निर्भ्रान्त योगसे कल्याण—और भी निरखिये—सम्यग्ज्ञान होनेसे श्रद्धान ज्ञान ठीक मिले पर चारित्र न हो तो उससे भी लाभ नहीं लूटा जा सकता। इसके लिए दृष्टान्त दिया है कि एक अधा और एक लगडा जगलमे थे। उस जगलमे लग गई आग। तो देखो अधेमे चलनेकी तेज सामर्थ्य थी पर उसे यह पता न था कि किस दिशामे जाने से हमारी रक्षा हो सकती है और लगड़ा यह जानता था कि इस दिशामे जानेसे हमारी रक्षा हो सकती है, पर उसमें चलनेकी सामर्थ्य न थी। यदि वे दोनों मित्र बने, परस्पर उनका सहयोग हो तो लगडा अधे के कधे पर बैठ जावे लगडा दिशा बतलाता जावे, अधा तेजीसे चलता जावे तो वे दोनो रक्षित हो सकते है। तो ऐसे ही समझिये कि ज्ञान और आचरण ये दोनो अगर अलग-अलग है तो उसमें मोक्षका मार्ग नहीं चला जाता और दोनो हिलमिल चल रहे हैं साथ तो उसकी मोक्षमार्गमे गति हो जाती है। लेकिन एक बात और इसके अन्दर देखिये, उस घटनामें लंगड़ा और अधा ये दोनों चल रहे है, लेकिन कोई यह समझे कि अधा बड़ा तेज चलता है, लगडेकी दृष्टि उस अधेमे जोड दे तो समझिये कि उसको अभी मर्म ठीक नहीं विदित हुआ। इसी तरह हम आत्मा जानते देखते है। यह शरीर चलता है, पर आत्माकी दृष्टिको हम शरीरमें जोड दे, देखो ये देख रहे, देखो ये जान रहे, शरीर पिण्डको निरखकर देखने जाननेकी बात जोडना, यह इसकी तरह उपक्रम है कि जैसे कोई लंगडेकी दृष्टि अधेमे समझता है? मै क्या हू? इसके सच्चे निर्णयमे सब कुछ मार्ग मिलता है। यहाँ भी हम सुखी रहेगे और आगे भी सुखी रहेंगे। यह करने योग्य एक बहुत बडा काम है कि अपने आपको यथार्थ समझ जाऊँ कि मै क्या हू?

सहजशुद्ध अन्तस्तत्त्वकी दृष्टिका कर्तव्य—इस अन्तस्तत्त्वका समझना सुगम भी है और कठिन भी है। कठिन तो तब है जब हमारा लक्ष्य ही न बने, हम चाहते ही नही, हममे रुचि ही नही। विषयोमे रुचि है। तो जहाँ बाह्यपदार्थोमे रुचि है वहाँ अन्तस्तत्त्वकी बात क्या समझ सकेंगे? सुगम यों है कि खुद ज्ञानमय है, खुदका ज्ञान है, खुदको ही समझना है। इसमे कौनसा विघ्न है? तो अपने जीवनमे एक यह निर्णय बनावे कि मै जीवित हू तो रत्नत्रयकी साधनाके लिए। मेरे जीवनका और कोई दूसरा अर्थ नही है। अपने जीवनका उद्देश्य ही यदि कुछ और है तो जैसे सब संसारी जीव जन्ममरण करते है उसी रूढिमे, उसी क्लासमे हम आप भी आगए। तो अपना उद्देश्य जब तक अपने आपको जानने का, तृप्त रहनेका नहीं बनता तब तक हम आकुलतासे दूर नही हो सकते। इस कारण हम आपको चाहिए कि परम सन्तोषके साथ दर्शन ज्ञान चारित्रकी आराधना करें। संसारमे परिभ्रमण करते हुए जीवोको अन्य कुछ भी शरण नही है।

अप्पाणं पि य सरणं खमादि भावेहिं परिणदो होदि।
तिव्वकसायाविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण ॥३१॥

दशलक्षणधर्मपरिणतिमे शरण्यरूपताके कथनमे क्षमा व मार्दवके शरण ग्रहणका उपदेश—आत्माको अपने आपको यही शरण है कि हम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन परिणामोसे परिणत न हो। वह अपने आपको खुद शरण है और अपने को धर्मरूप परिणत करता है। जब निज और परका यथार्थ ज्ञान करके परसे उपेक्षाभाव रखकर निजमे ही हितरूपताकी प्रतीति करता है तो उस मनुष्यमे क्षमा आदिक धर्मोंका आना सुगम है। कोई विपरीत चल रहा है, विपरीत

वातावरण है उस वातावरणसे घबड़ाना और अनिष्ट समझकर हटना और जो अपने को इष्ट लगे उससे प्रीति करना, यह उत्कर्षकी पात्रता नहीं है। प्रतिकूल भी वातावरण हो, कोई अपशब्द भी कह रहा हो, कोई अपमानित भी कर रहा हो, तो भी उसपर द्वेष न रखना, उसे कुछ ग्लानिकी दृष्टिसे न देखना, अपने आपके परिणामोंको शान्तस्वरूपमें बनाये रहना यह क्षमाभाव है। इस रूपसे जो जीव परिणत होते हैं वे खुद अपने आपको शरण हैं। नम्रता— इस लोकमें अपने आपके प्रति बड़प्पनका भाव न होना जैसे सब तैसा मैं, अन्तर है तो कुछ परिणमनोंका ही तो अन्तर है। स्वरूपतः हम और सब जीव एक समान हैं। फिर वस्तुतः हम किससे बड़े हैं, मुझसे अन्य छोटे हैं इस प्रकारका कहाँ अवसर है? सर्व जीवोंको स्वभावतः समान जानकर उनके प्रति समताका व्यवहार करना सो नम्रता है। बाहरी रूपसे इस शरीरको ही निरखकर कोई सोचे कि मैं तो इनसे बड़ा हूँ, इस प्रकारका जो पर्यायमें लगाव रखना है उस ही को तो अहंकार कहते हैं। यह अहंकार न रहे, अपने आपके ज्ञानस्वभावकी प्रतीति रहे, यही नम्रता है। नम्रताका अर्थ है झुकना। अपने आपकी ओर जो झुकना है वह है निश्चयतः नम्रता। यही है वास्तविक कोमलता। इस धर्ममें जो जीव परिणत हैं वे स्वयं अपने आपको शरण समझते हैं।

उत्तम आर्जव और उत्तम शौचधर्मके शरणके ग्रहणका उपदेश—सरलताका अर्थ है माया, छल, कपट न होना, संसारमें ऐसा कौनसा प्रयोजन है जिसके लिए मैं मनमें कुछ और वचनमें कुछ कहूँ और कुछ भी परिणति करूँ। यह मेरे लिए घातक प्रवृत्ति है। मामला स्पष्ट है। मैं ज्ञानस्वभावमात्र हूँ। मुझे अपने आपमें ही विश्राम करना है। अन्य बातोंसे कुछ प्रयोजन ही नहीं। फिर मन, वचन, कायकी विपर्ययकी कसरत करना किसलिए? जो प्रत्येक ऐसे सरल उपायोंसे परिणत होते हैं वे अपने आपको आपही शरण हैं। जहाँ लोभ कषाय नहीं, ज्ञानातिरिक्त समस्त परद्रव्योंको, परभावोंको जिसने हेय जाना भिन्न जाना शरणरूप नहीं समझा वे पुरुष पवित्र हैं। क्योंकि अन्त वे कैवल्यसे अपना लगाव रख रहे हैं। जहाँ कैवल्य है वहीं तो पवित्रता है। जैसे चौकी पर बीट पड़ी है तो वह अपवित्र है और अगर उस बीटको

मेरे आत्मामे इतना भी सम्बद्ध नहीं कि क्षेत्रकी अपेक्षा भी सम्बद्ध हो याने एकक्षेत्रावगाह भी नहीं। जो मानते हैं कि मेरेको शरण मेरे लड़के हैं तो प्रथम तो लोकव्यवहारके नाते भी लड़के सुख पहुचाने वाले नहीं हैं, यह खुद ही विकल्प करके मानता है ऐसा और मान लो कदाचित् पहुँचाया भी सुख तो सुख नहीं पहुचाया किन्तु उन्होंने अपनी ही इज्जत रखनेके लिए या बापसे कुछ मिलनेकी आशासे अपनी किसी कारणसे चेष्टा की। इन कारणोंसे वे लड़के कुछ अनुकूल व्यवहार करते हैं। बाहरमें कोई शरण नहीं है।

उत्तमक्षमादिगुणपरिणत अपने आपकी अपने आपको शरण्यता—आत्माका शरण केवल अपने आपका आत्मा है जो दसलक्षणरूप धर्ममें परिणत हो रहा है। क्षमाभावमें हम स्वय रहें तो हम अपने आपकी रक्षा कर रहे हैं। क्रोध करके कौनसा वैभव लूट लेंगे? शान्तिसे रहें, न्याय नीतिसे रहें, किसी पर अन्याय करने का भाव ही न रखें और अपनी प्रकृति ऐसी बनायें कि कोई अगर कुछ अपराध भी कर डालता है तो हम यथाशक्ति उस पर क्षमाभाव ही रखें। इससे तत्काल भी शान्ति है और भविष्य भी अच्छा रहेगा और क्रोधके फलमें तत्काल भी अशान्ति है और भविष्य भी बहुत बुरा निकलता है। हम मार्दव परिणामसे रहें। कोमल, निरहङ्कार भावसे रहें। इस लोकमें मिला क्या है जो अहकारके लायक हो? इससे करोड़ो गुने वैभव पूर्वभवमें मिल चुके होंगे या इससे करोड़ों गुना वैभव वालोंका नारायण चक्री आदिका वैभव भी वैभव न रह सका, यहा कौन सा वैभव अहंकार किये जाने योग्य है और कौन सी कला अहंकारके योग्य है? जो कुछ थोड़ासा व्यावहारिक ज्ञान पाया वह ज्ञान भी क्या अहकारके लायक है? ज्ञान तो मुझमें अनादि अनन्त समस्त पदार्थोंके जाननेका है। केवल ज्ञानस्वभाव है? आज जो थोड़ासा ज्ञान पाया है या कुछ लौकिक कलायें सीख ली हैं वह अहकार किए जाने लायक नहीं है। सब जीवोंको अपने ही समान ज्ञानानन्द वाला देखें और नम्रतासे रहें, तो यह नम्र परिणाम अपने आपके भगवानकी ओर झुका देगा और प्रसन्न रखेगा। छल कपट न करना, इस सरलतामें मनुष्य कितना प्रसन्न रहते हैं? मायावी पुरुष सदा आकुलित रहते हैं और वे एक मायाको छुपानेके लिये अनेक मायाचार करते हैं। ज्यों ज्यों मायाके भाव बढते जाते हैं त्यों त्यों उसके छुपानेके लिए माया करनेका भी काम बढ़ता जाता है, चैन नहीं मिलती। लोकमें कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसको पानेके लिए छल कपट करना चाहिए। सरलभावमें रहे तो इसे कितना आनन्द रहेगा।

लोभपरिहार करके उत्तम शौचधर्म परिणत हुए अपने आपकी आपको शरणरूपता—लोभ परिणाममें इस जीवकी बडी दुर्दशा हो रही है। जो प्रकट पर है, अपने से न्यारा है, जिसका सम्बन्ध ही कुछ नहीं है। मै आत्मा चेतन, अमूर्त भावमात्र हू, जिसको कोई छू भी नहीं सकता, ऐसा मैं आत्मा इन मूर्तिक विनाशीक स्कधोंको मानना कि ये मेरे हैं, यह तो बड़ी विडम्बना है जीवपर और लोभके परिणाममें इस भवमें भी सुख नहीं मिलता। लोभीकी तो यह स्थिति समझिये कि वह एक ईमानदार रखवाला है कि जो धन पाया है उसमे से अपने लिए भी न खर्च करे, दूसरेके उपकारमे भी न दे और सारा का सारा मालिक को दे जाय। यहाँ मालिकके मायने है लड़के बच्चे आदि। उनको सब सौंप जाए, खुदके उपयोगमे रच भी न ले तो यह तो रखवाली करनेकी ही बात है। उसे कभी शान्ति नहीं मिलती और लोभका त्याग हो, योग्य कार्य आये, उसमें व्यय करे, अपने लिये भी उपभोगमें लाये और जाने कि यह सम्पदा तो विनाशीक है, इसको यदि खर्च करेगे तो पुण्यके अनुसार अवश्य उतना भर जायेगा। जैसे कुवेसे पानी निकलता है तो उसमे झिरोंसे उतना पानी अवश्य आकर भर जायेगा, ऐसे ही इस धनका जितना भी खर्च किया जायेगा उतना धन अवश्य ही पुण्यानुसार आ जायेगा। इस धनको हाथ पैर नहीं कमाते, धन तो पुण्यके अनुसार आता है। तो जो लोग लक्ष्मीका परित्याग करते है वे शौच धर्मका पालन करते है। देहमे भी लोभ न करें। देहको सजानेका, शृङ्गार करनेका, उसको देखकर खुश होने का जो भाव है

वह है देहका लोभ। इससे भी इस जीवको कुछ लाभ नहीं मिलता, लेकिन इतना व्यामोह है इस जीवको कि जिससे इसकी बरबादी हो रही है। तो जहाँ सर्व प्रकारके लोभोंका त्याग हो वहाँ उत्तम शौच धर्म प्रकट होता है। यश कीर्ति चाहना यह भी लोभ है, उसका भी लोभ न करे और यह दृष्टि रखे कि इतनी बड़ी दुनिया ३४३ घनराजू प्रमाण लोक यह कितनासा क्षेत्र है जिस क्षेत्रमे हम यशकी चाह करते हैं ? न कुछ चीज और जितने से क्षेत्रमे यश मिला वह न कुछ सा क्षेत्र है। यह लोक दो चार हजार पुरुष जिसमें यश चाहते हैं, ये अनन्त जीवोंके समक्ष कितनेसे जीव हैं, जिनसे हम यश चाहकर अज्ञान बढा कर जन्ममरण बढ़ा रहे हैं और मरने पर इतने भी जीव नही हैं इसके परिचित। अनादि अनन्तकाल के सामने यह १००-५० वर्षका जीवन क्या गिनती रखता है ? इतने से जीवनमे न कुछ जैसे यशकी चाह करना यह अज्ञान है और इसमें कल्याण नही है, तो समस्त परका, परभावोका त्याग करना यह उत्तम शौच है।

उत्तम सत्यपरिणत अपने आपकी आपको शरणरूपता—जब क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषायें दूर हो जाती हैं, शान्त हो जाती हैं तो आत्मामे सच्चाई प्रकट होती है, अन्तरङ्ग जैसा है तैसा सत्य प्रकट होता है। ऐसा पुरुष जो कषायोंके आवेशमे नहीं घिरा है वही सत्य वचन बोल सकता है। क्रोधसे घिरा पुरुष अनेक बार असत्य बोल सकता है। कोई समझदार भी हो और वह क्रोधमे बोलेगा तो वह कोई न कोई असत्य तक भी बोल सकता है। अहंकारी पुरुष तो अनेक बार असत्य ही बोलता है और असत्यपर ही उसका अहकार टिका हुआ है। मायाचार करने वाला पुरुष सत्यवादी तो हो ही नही सकता। कोई छली कपटी जो दूसरेके मारनेका फंसानेका षड्यन्त्र रच रहा हो वह क्या सही बता सकता है ? बल्कि वह तो ऐसा झूठ बोलेगा कि लोगों को सच मालूम हो, लोगोको विश्वास उत्पन्न हो। लोभमे जो ग्रस्त पुरुष है वे सत्य बोलनेमें असमर्थ है। तो जहां चारो कषायें शान्त हो जाती हे वहां सत्यवादिता प्रकट होती है और आत्मा सत्य बन जाता है। तो जब उत्तम सत्य धर्म प्रकट हुआ हो तो वह आत्मा अपने आपको शरण है।

उत्तम सयम व तपरूप भावोसे परिणत अपने आपकी आपको शरणरूपता—जो जीव कषायें शान्त कर लेते हैं, जिनमें सच्चाई प्रकट होती है वे इन्द्रियसयम और प्राणसंयम दोनों का पालन कर पाते है। अपनी इन्द्रियोंको वशमे करना, स्पर्शनइन्द्रिय स्पर्श चाहती है। इस स्पर्शनइन्द्रियसे ही कामसेवन जैसा पाप होता है। उन सब बातोको वशमें करना, विषयनिरोध करना, यह बात उन्हें ही प्राप्त होती हैं जिन्होंने अपने आपको सबसे निराला जाना और इन बाह्य बातोमे अपना अकल्याण समझा, ऐसे ही पुरुष इन सब अवगुणोसे हटकर इन्द्रियसयममे आते है। ऐसे ही रसना, घ्राण, चक्षु, तथा कर्ण आदिके विषय हैं। इन्हें भी वशमे कौन करता है ? जो ज्ञानी हे। जिन्हे आत्महितकी विशिष्ट इच्छा जगी है वही इन इन्द्रियोको वशमें कर सकते है। मनका विषय तो असीम है, अनियत है। अभी कुछ चाहा जा रहा, फिर मन किसी बात पर होगा और जिसमें सन्तोष पानेकी कोई सीमा ही नही है, यश फैलाना चाहा तो अभी तो गाव भरमे अपना यश फैलानेकी सोचते। इतने पर भी संतोष नही होता तो जिलेमे यश फैलाने की सोचते। इतने पर भी संतोष नही होता तो देशमें, विदेशमे, दुनियामें यश फैलानेकी सोचते। पर दुनियामें सर्वत्र यश फैल जाय यह बात असम्भव है। तो मनके विषयसे इस जीवका हनन ही हो रहा है। इनसे दूर रहनेकी पात्रता उन्ही पुरुषोंमे आती है जो कषायोको दूर करे और अपने आपके स्वरूप का श्रद्धान करे। सम्यग्दर्शन सहित क्षमा, मार्दव, आर्जव सत्यधर्म जिससे प्रकट हो ऐसे ही पुरुष तो सयम की भली प्रकार साधना करते हैं और ऐसे ही पुरुष उत्तम तपका सही पालन कर पाते हैं। इच्छा निरोध को तप कहते हैं। इच्छाओंको दूर करना, इच्छायें आये तो उन्हें मारना जैसे अनेक गृहस्थ ऐसे भी पाये

जाते है कि यदि उन्हें इच्छा हुई कि हमे खीर खाना है तो उसी समय वे खीरका त्याग कर देते है। क्यों ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई। तो इस प्रकारसे इच्छावोंका दमन करना, यह एक तप है। तो ऐसा विशिष्ट तप भी ज्ञानी पुरुषों द्वारा साध्य है।

उत्तमत्यागपरिणत आत्माकी स्वयं शरण्यता—आत्माका शरण्य है उत्तम त्याग। ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूपके ग्रहणके सिवाय बाकी समस्त परभावोका त्याग कर देना उत्तम त्याग है। जो जिस लायक है, जो जितने मे फसा है, जिसका जितने मे समागम है, जो जिस पदमें है वह वहाँ उस समागममे त्याग बुद्धि रखना और त्याग करना, विकल्प हटाना यह उनका उत्तम त्याग है। त्याग बिना कोई शान्ति नही प्राप्त कर सकता लोकमें भी, परलोकमे भी जो लोग धन कमाते है और समयपर खर्च करते है, चाहे उन्होंने किया खुदगर्जीसे अपने आपके मोहसे लेकिन उतना त्याग तो करना ही पडा तब वे लोकमें सुखी बन सके और फिर जिनकी दृष्टि जगतके सब जीवोंपर करुणामय रहती है, जिनके स्वरूप ज्ञानका प्रकाश हुआ है वे तो भलीभाँति त्याग निभाते हैं, परके उपकारके लिए आया है, ऐसा जानकर उसे खर्च करते हैं और बडे बडे साधु संत जन ज्ञानाभावातिरिक्त समस्त परभावोका त्याग करते हैं। तो उत्तम त्याग भी ऐसे पुरुष निभा पाते हैं जिनके सम्यक्त्व हुआ है और जिनकी कषायें शान्त हो गई हैं।

उत्तम आकिञ्चन्य व ब्रह्मचर्यसे परिणत आत्माकी शरण्यरूपता—उत्तम आकिञ्चन्य—यह तो एक अमृत तत्त्व है। जीवको अशान्तिसे हटाकर शान्तिमें ला सकने योग्य यह आकिञ्चन्य धर्म है। मेरा कहीं कुछ नहीं है। मै केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हू कुछ भी मेरा नहीं है, समस्त परपदार्थोंसे भिन्न ज्ञानमात्र अपने आपका भाव करना यह उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है। यह कितना शान्तिप्रद भाव है? इस लोकमें भी जब कोई विपत्तिसे घिर जाता है, कोई सकट आ पड़ते हैं, इष्ट वियोग हो जाता है, धन हानि हो जाती है, या कोई भी अनिष्ट बात आ गयी तो उसे समझानेका तरीका क्या है? चाहे किन्हीं शब्दोंमें कोई समझाये, उसमे आकिञ्चन्य भावकी पुट अवश्य होगी। जैसे किसीको इष्ट वियोग हो गया तो लोग समझाते हैं—अरे भाई जगतमें कोई किसीका नहीं है, अपने आपके स्वरूपको देखो—सबसे निराले अपने आत्मस्वरूपको देखो। यो आकिञ्चन्यकी बात जब अपने हृदयमें रखता है तब वह वियोगी पुरुष शान्त हो जाता है और जो उत्कृष्ट रूपसे इस आकिञ्चन्य धर्मको निभाये उसे मोक्ष मिलता है। उत्तम ब्रह्मचर्य—इसीके लिये समस्त धर्मरूप पुरुषार्थ है और यह स्वय धर्मरूप चरमफल है। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मामे मग्न हो जाना यही है उत्तम ब्रह्मचर्य। इस ब्रह्मचर्य धर्मके प्रसादसे यह जीव शान्त आनन्दमग्न रहता है। जिन प्रभुकी हम उपासना पूजा करते है, जिनकी मूर्तिको भी हम आदरसे पूजते हैं उस ही नाते ना कि जो परमात्मा हुए है उस स्वरूपकी भक्तिके नाते। तो वे प्रभु है क्या? ब्रह्मचर्यकी साक्षात् मूर्ति। अपने ज्ञानानन्दस्वरूपमे निमग्न है। उनका उपयोग अब वहासे हटता नही। ऐसे परम पवित्र है वे प्रभु। उस ही उत्तम ब्रह्मचर्यके नाते हम परमात्माकी पूजा करते है। फल उन्हें पूर्ण मिल गया है।

अपने आपके हननका साधन और हननसे बचाकर शरण्य बननेके उपायकी कर्तव्यता—यो जीव जब इन दसलक्षण धर्मसे परिणत होता है तब तो वह अपने लिए खुद शरण है, किन्तु जब क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक तीव्र कषायोसे आविष्ट हो जाता है, कषायोसे घिर जाता है तो वह अपने आपको अपने आपके द्वारा मारता है। खुद ही खुदका हत्यारा बन गया है। कषाये करके ज्ञानानन्द स्वरूप इस आत्मा की हत्या की जा रही है। तो इसका हनन करने वाला, नाश करने वाला लोकमे यही खुद है जो कषायोंसे घिर जाता है, बरबाद हो जाता है। कैसा श्रेष्ट जन्म पाया, कैसा श्रेष्ठ धर्म पाया कि जगतके जीवोंपर दृष्टि देकर निरखे तो असम्भव जैसा लगता है। इतना सुयोग पाया लेकिन इस सुयोगके अवसरमे भी पशुपक्षियो की भाँति ही आहार निद्रा, भय, मैथुन, परिग्रह आदिमें जुटे हुए है तो समझिये कि कितने

बड़े ऊंचे मौके को नष्ट किया जा रहा है और अपने सहजपरमात्मतत्त्वकी हत्या की जा रही है ? आत्मा का शरण्य आत्माका निर्मल परिणाम है और आत्माका हनन करने वाला आत्माका कषायभाव है। ऐसा जान करके इन कषायोंसे हटना और क्षमा आदिक निर्मल परिणामोमे रहना, यही विवेकी पुरुषोंका कर्तव्य है।

एक्क चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णव-णवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्ण गिण्हदि मु चेदि बहु-वार ॥३२॥
एव ज संसरण णाणा—देहेसु होदि जीवस्स।
सो संसारो भण्णदि मिच्छ-कसाएहिं जुत्तस्स ॥३३॥

मिथ्यात्वकषायसयुक्त जीवका ससारमें ससरण—यह संसारानुप्रेक्षा है, इसमे संसारके स्वरूपका कुछ चिन्तन किया गया है। यह जीव एक शरीरको तो छोडता है और अन्य नये-नये शरीरोंको ग्रहण करता है। संसारमे और हो ही क्या रहा है ? हम आप पर और विपदा है ही क्या ? यही तो संसार है कि मरना और जीना। इस जीवने मरने और जीनेके प्रवाहमें इस बीचमे कहीं थोड़े से समयको जीवन पाया जो कि इस कालके सामने न कुछ है, बस यहीं पर्यायबुद्धिमे अटक जाता है। आत्माकी बात तक नहीं सूझती। फल यह होता है कि संसारमें जैसे कीड़ा मकौड़ा पशुपक्षी आदिक अनेक प्रकारके जीव दिखते हैं वैसी पर्यायोमे इसे जन्म लेना पड़ता है आज हम आप मनुष्यपर्यायमे हैं तो इन कीड़ा मकौड़ों की पर्यायोमे न जाना पड़े तब तो अपना कुछ बड़प्पन समझिये अन्यथा यहांके इन मोही मलिन स्वार्थी लोगों द्वारा मिलने वाले कल्पित बड़प्पनसे कुछ भी लाभ न प्राप्त होगा। यह जीव एक शरीरको छोड़ता है और अन्य नये नये शरीरोको ग्रहण करता है। इस तरह नाना शरीरोमे इस जीवका परिभ्रमण चलता रहता है। इसीका नाम है संसार। तो ऐसा भ्रमण किसका होता है ? जो जीव मिथ्यात्व कषायों से सहित हैं, जिनका अभिप्राय सही नही है, जो विषय कषायोंसे मलिन है।

ससारकी दु खरूपता और चेतनकी विडम्बना—यह संसार प्रकट दुःखमय है। आत्मानुशासनमें आचार्य ने एक जगह बताया है कि इस भवके ओर और छोर दो हैं, जन्म और मरण। जैसे कि एक बांस के पोरके ओर और छोर दो हैं—एक तरफका और दूसरी तरफका अब उस बांसके ओर छोरमे लग जाय आग और उसके बीचमें पड़ा हो कोई कीड़ा, तो उसके दु खका क्या ठिकाना ? इसी तरह प्रत्येक भवके ओर छोरमें लगी है जन्म मरणकी आग और उसके बीचमे हम आप प्राणी पड़े हुए हैं। जो जीव विषय सुखोंमें सुख मान रहे, जो बाह्य वस्तुवोंको निरखकर खुश हो रहे हैं, उन बाह्य वस्तुवोंसे अपना प्रभाव मान रहे। दु'खी तो हैं ये जीव बहुत लेकिन इसको वे नहीं समझते। वे तो जानते हैं कि जो मिला है इस भवमे, जो हम बड़े हुए हैं सो हम ही हैं, पर अपनी सुध नहीं लेते, भविष्यकी सुध नहीं लेते। यही है ससार। तो जब तक जीवके मिथ्यात्व और कषायभाव लगे है तब तक इसको यही करना पड़ेगा। देखो यह खेदकी बात कि हम आप सबका स्वरूप है प्रभुका जैसा। प्रभु भी एक चेतन द्रव्य है, वह भी चेतनेका ही काम कर रहे हैं और निर्लेप होनेके कारण वे शुद्ध चेतना बनाते रहते हैं, वहाँ है केवल शुद्ध जानन देखन रच भी विकल्प नही है, रंच भी ख्याल नहीं, किसी भी परमें उपयोग नही, विशुद्ध ज्ञान दर्शन है, परम आनन्द रूप अवस्था है और चेतन ही हम हैं। हमारा स्वरूप प्रभु जैसा है कि शुद्ध चेतते रहें, कन यहाँ क्या गुजर रहा है, कैसे कैसे भवोंमे जन्म मरण करना पड़ रहा है, यह सब अपने ही अपराधकी बात है। मिथ्यात्व भाव लगा है, यह भी कुछ कुछ जानते है या शब्दोंमे जानते हैं कि निकट ही वह दिन है जब कि शरीरको छोड़कर जाना ही पड़ेगा। कोई बचा है क्या ? बड़े बलवान बड़े पडित, बड़े धनी, बड़े बड़े रक्षाके उपाय करने वाले कोई इस जगतमे बचा है क्या ? तो यह शरीर

छूटेगा, अकेले जाना होगा, इसका फिर क्या रह जाता है ? यहाँ विकल्प मचा रहे हैं, बाह्य वस्तुवोंको अपना रहे है, उस बाह्यके बीच लडाई झगड़े मचाते हैं, दूसरेको वैरी मान लेते है। रहेगा क्या इसका ? सब व्यर्थकी बाते है ना, ऐसा समझे और कुछ अपने हितको ओर आये तब तो इस मानव जीवनके पानेकी सफलता है अन्यथा जैसी सबकी हालत है तैसी ही अपनी हालत समझिये।

मिथ्यात्वके अध्यवसायमे कष्टकी बीजरूपता—मिथ्यात्व भाव क्या है ? जो मैं नहीं हू उसे मानना कि मै हू। जो मेरा नहीं है उसे मानना कि मेरा है बस यही मिथ्यात्व है। धन वैभव मैं नहीं हू। मेरा नहीं है, प्रकट भिन्न है, पर उसे अपना प्राण समझना और उसे समझना कि यह मेरा ही तो वैभव है, यही मिथ्यात्व है। यह देह मै नहीं हू। यह है खून, हाड, मास आदिकका घर, अचेतन, और यह मैं शुद्ध चेतन, ज्ञान दर्शन स्वरूप अमूर्त आत्मा हू। जब मैंने माना कि यह शरीर ही मैं हू तो जब कोई अपमान भरी बात कहता है तो वह बात सहन नहीं होती। ये चार लोग जो मेरे प्रति इतनी अपमानजनक बातें सुन रहे है तो ये लोग मुझे क्या कहेंगे ? इन्हीं विकल्पों के कारण इस जीवको बड़ा कष्ट सहन करना पड रहा है। धर्मपालनके मार्गमे अभ्यास करना है भेदविज्ञानका। प्रभु पूजाके प्रसगमें यही तो निरखना है कि हे प्रभो ! आपने भेदविज्ञान किया और समस्त परभावोंसे हटकर अपने ज्ञानस्वभावमें लगे, उसका फल यह है कि आपका आत्मा परमपवित्र शुद्ध हो गया है। यही बात मेरेको करने की है। मेरा भी स्वरूप ऐसा ही है। तो प्रभुके चरित्रको देखकर उस पथ पर चलने की प्रेरणा हमे लेनी चाहिए प्रभु पूजामें। देखो यह देह मै नहीं हू, लेकिन यह जीव मानता है कि यह देह ही मैं हू, बस इसी भूलके कारण इस जीवको अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। देखो भैया ! भूख, प्यास, ठंड, गर्मी, आदिकके दु:खोंको तो थोड़ा कह सकते है कि इनसे बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, पर होने पर भी देह पर इनका प्रभाव है, इस लिए न बरदाश्त काबिल है अभी, लेकिन कोई गाली देता है, कोई अपमान भरे शब्द बोलता है तो उसका क्यो बुरा माना जाता है ? मिथ्यात्व महाविषका पान किया है ना, तब जो भी विडम्बना हो वह सब अविस्मित है।

भेदविज्ञानामृतपानके विना मिथ्यात्वविषकी अपरिहार्यता—ऐसा भेदविज्ञान सुदृढ करे कि अपने आप का यह दृढ निर्णय बने कि यह शरीर मैं नहीं हू, मैं एक शुद्ध चेतन आत्मा हू। अभ्यास धर्मके लिए और करना क्या है ? यही। तो देखिये—यह देह मैं नहीं हू, पर मिथ्यादृष्टि मानता है कि यह देह ही मैं हू, इस ही कारण इस पर सारे सकट छाये है, शारीरिक, मानसिक, वाचनिक आदिक सभी विपय इस पर मडरा जाते है और अन्दर चलिये—ये विपय कषायोंके परिणाम मैं नही हूं, यह कैसे समझा जाय ? तो देखिये—दर्पणमे मेरे हाथ या मुखकी छाया पड़ गई तो छाया पड़ने पर भी वह छाया दर्पणकी नहीं है। छाया दर्पणकी होती तो दर्पणके साथ ही सदा रहती। हाथ सामने हो तो, न सामने हो तो सदा छाया रहनी चाहिए थी और दर्पणके सामने हाथ करके झट हाथ हटाकर झट हाथ सामने करके अनेक बार हाथको हटा हटाकर आप देखते जायें और निर्णय करते जाये कि छाया दर्पणकी नहीं है, ऐसी ही अपने आपके स्वरूपकी बात है। ये कर्म उदयमें आते हैं उनका निमित्त पाकर ये रागद्वेष विषय कषायके परिणाम होते है, उदय नही तो नहीं, जैसा उदय तैसा परिणाम। तो इस बातके समझने से यह विदित होता है कि ये विपय कषाय विकल्प तरंग मेरे स्वरूप नहीं हैं। यदि ये मेरे स्वरूप होते तो, कर्मोदय होते तो, न होते तो, ये तरग सदा रहने चाहिये थे और फिर क्या रहे, क्या न रहे, इसकी व्यवस्था भी नहीं बन सकती। इस कारण यह निर्णय है कि ये कषायभाव भी मैं नही हू। तब मै क्या हू ? एक शुद्ध ज्ञान-स्वरूप। उसकी जिन्हें प्रतीति नहीं है ऐसे मिथ्यात्वग्रस्त जीवोंको पर्यायबुद्धि होने के कारण इस ससार मे जन्म मरणके दु ख उठाने पड़ते है।

मिथ्यात्व और कषायभावमें दुःखोंका संयोजन— मिथ्यात्व महापाप । जहां अपने आपकी सुध ही नही है, उसका तो सारा बिगड़ गया, उसे तो कुछ प्राप्त नहीं हुआ । महापाप है मिथ्यात्व । उसके बाद अब कषायकी बात सुनो—क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषायें क्या हैं ? जीवके गुणोंको फूक देनेके लिए आग हैं । कषायके कारण ही तो इस सहज परमात्मतत्त्व भगवान आत्माकी यह गति हो रही है । जन्मते हैं, मरते हैं, घोर दु:ख सहते हैं । जो भी समागम जहाँ प्राप्त होते हैं उनसे कुछ लेन देन नही, कोई वास्ता नहीं, लेकिन ऐसी बुद्धि बन जाती है कि ये सब मेरे ही तो हैं । ये ही मेरे बाधक और साधक हैं । ये सारे विषय कषाय है, इनके फलमे संसारमे जन्म मरणके घोर दुःख सहन करने पडते हैं । तो मिथ्यात्व कषायोंसे युक्त जीवका नाना देहोमे ससरण होना रहता है, सो समझिये कि यह संसार कितना दु:खमय है ? यहाँ चार गतियाँ हैं--नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव । सो इन गतियोमें सिवाय क्लेशोंके और कुछ नही नजर आता । क्या करना है ? किस बातमे सन्तुष्ट होना है ? यहाँके किस लाभ अलाभ मे प्रसन्न रहना है ? कोई भी समागम हमारे हितका हेतु नही है । अपने आपको पहिचाने बिना, अपने आपमे रमण किए बिना आत्माको शान्ति कभी नहीं हो सकती । एक ही निर्णय है । इससे संसारके संकटोसे छुटकारा चाहने वाले पुरुषोंको साहस करके एक बार अन्त. यह शुद्ध ज्ञान बनाना ही होगा कि मेरा तो बस यही ज्ञानानन्दस्वभावमात्र मैं हू । जो ऐसा नहीं समझते हैं उनको चारों गतियोंमे जन्म मरण करना पड़ता है । उन चारो गतियोंमें व्यक्त घोर दु:खमयी नरकगतिमे महान क्लेश हैं इस बातका यहां वर्णन करते है ।

पाव-उदयेण णरए जायदि जीवो सहेदि बहु दुक्खं ।
पंचपयार विवह अणोवमं अण्ण-दुक्खेहिं ॥३४॥

पापोदयसे नरकगतिमे देहीका जन्म--पापकर्मके उदयसे यह जीव नरकोमें जन्म लेता है और वहाँ ५ प्रकारके अनेक दु:खोंको सहता है, जो दुःख बडे कठिन हैं और जिनकी अन्य गतिके दु:खोसे उपमा नहीं दी जा सकती । नरकगतिके समान दु ख अन्य गतिमे नहीं बताये जा सकते । पहिले तो यही देखिये— जो नरकगतिमे जन्म लेंगे वे प्राणी मरण समयमे अति विह्वल दु:खी होते हुए जन्म लेंगे, सो उनके जन्म होनेके स्थान भी कैसे खराब हैं सो देखिये--नरकोंमे रहने का स्थान पोलरूप है । ये सारी बातें जहां प्रकृतिसे ही दुःखमय हैं, वहांके दुःखोका कौन वर्णन कर सकता है ? नारकोके आगम जहां नारकी रहते हैं,वे पोलकी तरह हैं, यहां पर तो छोटे छोटे पोल होते, पर नरकोंमें अनगिनते कोशोंके लम्बे चौडे पोल होते हैं । जैसे किसी एक फिट लम्बे एक फिट चौडे और एक फिट मोटे काठमें भीतर ही भीतर छोटे बडे अनेक सूराख होते है, जिनका मुँह किसी ओर भी न हो । बाहरसे देखने वाले लोग यह कह ही नहीं सकते कि इसके अन्दर पोल है या छेद है, ऐसे काठके टुकड़ेमे जैसे भीतर ही भीतर छेद हैं इस माफिक एक पृथ्वीमे भीतर ही भीतर अनेक जगह ऐसे बडे बडे पोल हैं । वे पृथ्वियां एक रजू लम्बी चौड़ी हैं और मोटी भी काफी है । इतनी बड़ी पृथ्वीमे बीच बीच अनगिनते कोशोंके अनेक पोल हों तो इसमे आश्चर्य नहीं । वहां नारकियोंका निवास है और वे नारकी उत्पन्न होते हैं किस तरह कि इन पोलोंके ऊपरी भागमे जहाँ पृथ्वी है वहा पर खोटे-खोटे आकारके उपपाद जन्म बने हैं तिकोने, चौकोने, गोल, ऊंटके आकार नाना तरहके विद्रूप स्थान बने है, वहा नारकी जीवका जन्म होता है. नारकी वहासे नीचे औंधा मुँह किये हुए गिरता है और जमीन पर सैकड़ों बार उछलता रहता है । जब कभी वह जमीनपर टिक पाता कि टिकते ही चारो ओरसे अनेक नारकी जीव उस पर धावा बोलते है, फिर वहा किस किस प्रकारके दु:ख होते हैं, उसका वर्णन इस प्रसगमे चल रहा है ।

नरकगतिमे जन्म लेनेके बीजभूत पापोका सक्षिप्त निर्देशन--वहां कैसे जीव जन्म लेते हैं जो प्राणियोंकी

हिंसा करते है। हिरण, मुर्गे, सूकर मनुष्य आदिक किन्हीं भी जीवोंकी हिंसा करते हैं, अन्याय करते हैं, झूठ बोलते हैं, दूसरोंका धन चुराते हैं, परनारीको बुरी निगाहसे देखते हैं, उससे राग करनेका भाव रखते है, जो परिग्रहके बड़े लोभी है, जो परिग्रहको खूब दबाकर रखते हैं, उसे स्वपरके उपयोगमे लगाने का साहस नहीं रखते, जो बहुत क्रोधी हो, बड़ा घमंड करने वाले हों, छली कपटी दम्भी हो, लालची हों, मर्मभेदी कठोर वचन बोलते हों, दूसरोंकी चुगली निन्दा आदि करते हों, साधुजनोंकी निन्दा करते हो, जिनकी बुद्धि खोटी है, जो जरा जरा सी बातोंपर शोक और दुःख करनेकी आदत बनाये हुए हैं, जो रातदिन धनका सचय करने की ही फिकरमें लगे रहते हैं ऐसे पुरुष मरकर नरकगतिमें जन्म लेते हैं। अब सोचना चाहिए कि मरण तो अवश्य ही होगा, इसके बाद मेरी क्या गति बने, उसपर भी दृष्टिपात करना है। भावना भाइये कि मै देहसे भी निराला केवल ज्ञानमात्र हू। इस ज्ञानमात्र निज स्वरूपकी भावना अपने आपका उद्धार कर देगी। यही इसका मात्र शरण है। अन्य परिश्रम इस जीवके शरण नहीं हैं। ऐसे पापी जीव मरकर जब नरकमें जन्म लेते है तो उसे बहुत दुःख सहने पड़ते है, जिन दुःखों को ५ प्रकारकी जातियोंमें विभक्त करके अभी कहेंगे।

असुरोदीरिय—दुक्ख सारीरं माणसं तहा विविह।
खित्तुब्भवं च तिव्वं अण्णोण्ण-कय च पंचविहं ॥३५॥

नरकोमे असुरोदीरित दुःख—भवनवासी देवोंमें एक असुरकुमार जातिके भी देव होते हैं, वे बड़े कलहप्रिय होते हैं, उनको इसमें मजा आता है कि जो अधिकसे अधिक लड़ाये जा सकने योग्य हो, उनको परस्परमें भिड़ाकर लड़ाई करायी जाय और उसका मजा देखा जाय। जैसे यहा भी अनेक पुरुष ऐसे होते हैं जो यह देखना चाहते हैं कि ये दोनों कुत्ते लड़े और हम देखें कि ये दोनों किस तरहसे एक दूसरेको काट मार कर पछाड़ते हैं। उनको देखनेमें मजा आता है। बहुतसे मनुष्य ऐसे हैं कि जो मुर्गा मुर्गीकी लड़ाई कराते हैं और उसपर जुआ हैं खेलते हैं। दूसरे जीवकी चाहे जान चली जाय पर खुदको मौज मिलना चाहिए, ऐसी प्रकृतिके बहुतसे लोग होते हैं। सुना है कि लोग उन मुर्गा मुर्गीके पैरों मे छोटी छोटी छुरियाँ बाँध कर उन्हें लड़ाते है और यह देखकर खुश होते हैं कि किस मुर्गेने किस मुर्गे को खूब घायल करके लथपथ कर दिया। तो इसी तरह असुर जातिके देव भी नरकोंमे जाकर उन नारकियोंको परस्परमें भिड़ाते हैं। किसी नारकीमें थोड़ा क्रोध कम हुआ या थक कर थोड़ा विश्राम लेने लगा तो वे असुरकुमार जातिके देव उन नारकियोंको पूर्वभवकी अनेक बाते याद दिला-दिला कर उन्हें भिड़ा देते हैं। तो एक दुःख तो नरकोंमे यह है कि असुरकुमार जातिके देव दुःख उत्पन्न कराने जाते हैं। उनके द्वारा उदीरित दुःख नारकी भोगते हैं।

नरकोमे अन्य चार प्रकारके दुःख—दूसरा दुःख है शारीरिक। उनका शरीर महा दुर्गन्धित है, जिसमें भूख प्यास सदा रहती है, उनकी वह भूख प्यास कभी शान्त नहीं हो पाती, क्योंकि थोड़ा उपशम करने का भी साधन वहाँ नहीं है। यहाँ लोकमें पाया जाने वाला समस्त अनाज भी खा ले तो भी उनकी भूख नहीं मिट सकती, किन्तु मिलता एक दाना भी नहीं। शरीरके यो अनेक प्रकारके दुःख है, जो कि सक्षेप रूपसे सब आगे बताये जायेंगे। नरकोंमें तीसरा दुःख है मानसिक दुःख। मन निरन्तर चिन्तित रहता हैं, दूसरेको नष्ट करने के लिए, क्रोधमे जला भुना रहता है। चौथा दुःख है क्षेत्रसे उत्पन्न होने वाला। जहाँका क्षेत्र ही दुःखमय है, वहाँ की मिट्टीका कण यहाँ कदाचित् आ जाय एक कल्पना करो तो उस कणमें इतनी दुर्गन्ध है कि उस दुर्गन्धमें मारे कोशोंके जीव मर जायें। और वहाँ ऐसी सारी पृथ्वी ही है। यहां यदि भींतमें या जमीन पर फर्श पर बिजलीका जरा करेन्ट आ जाय तो उस भींतको छूने से झलझलाहट होती हैं, कष्ट होता है, और वह इस प्रकारका वेदन है जैसे कि बिच्छू ने काटा हो तो देखो

जब यहां करेन्ट वाली जमीनको छूनेसे उसकी वेदना होती है। बिजलीकी सामान्य करेन्ट लग जानेका यों अनुभव होता है तब सोचिये नरकोंमे तो ऐसी ही सारी जमीन है कि वहाँ के छूनेसे इतना दुःख होता कि जितना हजार बिछुओंके काटनेसे भी नही होता। वह क्षेत्रसे उत्पन्न हुआ दुःख भी तीव्र है। ५वॉ दुःख है— वे नारकी जीव परस्परमें लड़ते हैं, आहार करते हैं, उसका महान् दुःख है।

असुरोदीरित दुःखके सम्बन्धमें कुछ ज्ञातव्य—इन ५ प्रकारके दुःखोंमे से पहिले दुःखकी बात सुनो, ये असुर कुमार जातिके देव जिनको झगड़ा ही प्यारा है, उन्हें लड़ाने भिडानेमे ही आनन्द है। इसका दुःख तीसरे नरक तक है। ये तीसरे नरक तक जा सकते है। वहाँ जाकर नारकियोंको कष्ट देते हैं। लड़ने भिड़नेके लिए उकसाते हैं। तो समझिये कि प्रथम तो वे नारकी खुद ऐसे प्रचण्ड हैं कि स्वयं ही लड़ना भिड़ना पसन्द करते हैं, द्वेषसे भरे होते है और फिर उन्हें उकसाने वाले मिल जायें तो उनका क्रोध और अधिक उमड़ता है जिससे वे और भी कठिन दुःखी हो जाते हैं। नरकोंमे नारकी जीवको ही दुःख है। वहां ये देव पहुचते है, उनको यदि वहां की जमीन छूनेसे दुःख होता तो जाते ही क्यों? सबकी जुदी-जुदी बात है। मनुष्य बिजलीका तार छुवें तो मर जाते हैं लेकिन रबड़ पहिन कर या काठसे सम्बन्ध होने पर वे ही पुरुष नही मरते। तो यहां भी जैसे विशेषतायें देखी जातीं ऐसे ही उन असुर कुमारके देवोंके वैक्रियक शरीरकी ऐसी ही विशेषतायें है कि नरकोंमे नारकी जीव दुःखी होते, पर वे देव नहीं दुःखी होते। वे तो मजा लेनेके लिए ही जाते हैं और वे लड़ाते हैं। कुछ देव जो ज्ञानी हैं वे किसी नारकीको समझानेके लिए भी जाते हैं। वे अच्छे देव हैं। लेकिन ये असुर कुमार जातिके देव समझानेके लिए नही किन्तु भिड़ानेके लिए जाते हैं। अब यहां यह न समझिये कि तीसरे नरक तकके नारकियोंको दुःख ज्यादा है और नीचे नरकके नारकियोंको कुछ दुःख कम हो गए, असुर कुमार जातिके देव तीसरे नरकके बाद नही जा पाते तो उन नारकियोंको थोड़ा विश्राम मिल जायगा, तो ऐसी बात नही है ज्यों-ज्यों नीचे नरक है उनमें क्षेत्र सम्बन्धी दुःख प्रकृतिसे बढते रहते है। गर्मी तथा सर्दी नीचेके नरकोंमें अधिक होती है। तो यह क्षेत्र सम्बन्धी दुःख तो नीचे नीचेके नरकोमें प्रकृत्या बढते ही रहते हैं। इस तरह उन नरकोंमें प्रकृत्या महान् क्लेश हैं।

छिज्जइ तिलतिलमित्तं भिंदिज्जइ तिल-तिलंतरं सयलं।
वज्जग्गीए कढिज्जइ णिहप्पए पूय-कुंडम्हि ॥३६॥

दुःखका वेदन करने करानेमे उपयोगिनी अशुभ विक्रिया—लोकमें जितने भी जीव हैं वे सब अपने करतब से अपने करतबका फल पाते है। कोई किसीका यहां साथी नही हो सकता। पुण्योदय है तो सांसारिक सुखोंमे कुछ दूसरे लोग निमित्त हो जायेंगे और यदि पापका उदय है तो सब जगह दुःखके साधन बन जायेंगे। अपना सुख दुःख अपने ही भावोंपर अवलम्बित है। जिसने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहका तीव्र खोटा परिणाम किया, पापके कार्य किये उसके नरक आयु बंध जाती है और उसके उदयमे फिर नरकमें जन्म लेना पड़ता है। तो नरकमे क्या क्या दुःख हैं, उसकी बात चल रही है। नरकोंमे ५ प्रकारके दुःख होते हैं—एक तो असुर कुमार जातिके देव तीसरे नरक तक जाकर उन नारकियोंको परस्पर लड़ाते हैं। एक दूसरेको ऐसी बात कहते हैं कि जिससे उनको क्रोध हो जाय और और लड़ाई ठान ले। दूसरा दुःख उनका शारीरिक दुःख है। एक नारकी दूसरे नारकीको देखते ही क्रोध होता है और जितना जो कुछ बनता है मारनेका ही प्रयत्न करते हैं। उनका वैक्रियक शरीर होता है। जब सोचा कि इसको तलवारसे मारें तो उनके हाथ ही खुद तलवार बन जाते है, अगर उन्होंने सोचा कि इसको काटें, खायें तो उनका शरीर ही बिच्छू, सर्प, सिंह, व्याघ्र आदि बन जाता है, पर उनकी विक्रिया खोटी विक्रिया है तथा अपृथक् विक्रिया है। वे अपने शरीरका कुछ बनालें मगर दूसरा शरीर अलग नही बना सकते। उनका खुदका ही

शरीर जो चाहे तलवार, बर्छी आदि हथियार बना ले, ऐसी उनके शरीरकी विक्रिया है। वे एक दूसरेके शरीरके तिल तिल मात्र बराबर टुकडे कर डालते, तिल तिल करके देहके खण्ड, और फिर भी वे मरते नहीं है। मर जायें तो चलो नरकसे तो निकले, लेकिन उनके शरीरके टुकडे पारेकी भाँति फिर मिलकर पूरे बन जाते हैं, फिर दुःख सहते हैं, वे एक दूसरेके शरीरको भेद डालते हैं, विदीर्ण कर डालते हैं। जैसे कि सिंह अपने पञ्जोंसे किसीके पेटको विदीर्ण कर दे तो उस तरहसे वे नारकी एक दूसरेके देहको विदीर्ण कर देते हैं। वे किसीको कढाईमें पकाते हैं। अब उसका अंदाज समझिये तो मानो बहुत बड़ी कढ़ाईमें जिसमें खूब तेल गर्म होता रहे, उसमें यदि किसी पुरुषको डाल दिया जाय तो यह कितने कठिन दुःखकी बात है। ऐसे क्रूर परिणाम तो यहाँ मनुष्य भी कर डालते हैं। सुना है कि जब हिन्दुस्तान और पाकिस्तानका बँटवारा हुआ तो पाकिस्तानमें ऐसे तेलके कढ़ाहा गर्म करके उनमें हिन्दुओंके बच्चोंको पटक दिया तो यह कितने कष्टकी बात है। ऐसे ऐसे कष्ट तो नरकोंमें रोज-रोज ही नारकी जीवोंको प्राप्त होते रहते हैं।

नरकोमे दुःखके अन्य साधन—नरकोंके दुःसह कष्ट कौनसे जीव पाते है? जिन्होंने किसीका वध किया, झूठ बोला, दूसरेका धन चुराया, परस्त्री अथवा परपुरुषको बुरी दृष्टिसे देखा, जिन्होंने तृष्णा किया आदि, ऐसे जीव नरकोंमें जन्म लेते हैं। उनको नरकोंमे क्या-क्या कष्ट हैं सो थोड़ा यहा बताया जा रहा है पर उन कष्टोंको शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उन दुःखोंको तो वे ही जानें जिन पर दुःख बीतते है। वहाँके शाल्मली वृक्ष कठोर पत्ते वाले होते हैं, जैसे यहाँ पेड़ होते है तो उनके पत्ते नरम होते है लेकिन वहाँके वृक्षोंके पत्ते तलवारकी तरह पैनी धारके होते हैं। वे कड भी होते है। छाया के लोभसे कोई नारकी उन पेड़ोंके नीचे जाकर बैठता तो उन पेड़ोंके पत्ते उस नारकी पर गिरते तो उसका शरीर भिद जाता है। वहा एक नारकी दूसरे नारकीको जलती हुई अग्निमे झोंक देता हैं। कोई नारकी किसी नारकीका मित्र नहीं है। जैसे यहा कोई एक कुत्ता दूसरे कुत्तेको देखकर उस पर आक्रमण कर देता, उसे दूसरे कुत्तेका देखना नहीं सुहाता ऐसे ही एक नारकी दूसरे नारकीको देखकर राजी नहीं होता, वे झट एक दूसरेको मारनेके लिए कटिबद्ध होते हैं। वहा बडे दुर्गन्धित राधरुधिर मल जैसे कुण्ड रहते है उन कुण्डोंमें उनको फेंक दिया जाता है। उन नारकियों को कहीं कोई सहारा नहीं। कभी वे भागें भी किसी के डरसे तो भागनेमे आगे जो नारकी मिला उसीसे पिटा। किसी तरह वह बड़े श्रमसे कहीं वैतरणी नदी बहती हुई मिली, तो शीतल जलके स्पर्शकी आशासे उस जलमें प्रवेश करते ही उसकी महा दुर्गन्धसे तथा तीक्ष्ण धार विष जैसे उसके पानसे या उसके स्पर्शमात्रसे उनका शरीर छार छार हो जाता है। इतने कठिन दुःख नरकोंमें ये नारकी जीव पापके उदयसे सहते रहते हैं।

इच्चेव माइ दुक्खं जं णरए सहदि एय—समयम्हि।
तं सयलं वण्णेदु ण सक्कदे सहस-जीहोवि ॥३७॥

नरकगतिके दुःखोंका वर्णन करनेकी सहस्रजिह्वमे भी अक्षमता—जिस प्रकारके अनेक तरहके दुःख जीव एक समयमे नरकमें सहता है, उन समस्त दुःखोंका वर्णन करनेके लिए हजारों जिह्वायें भी समर्थ नहीं है। उस नरकमे छेदन भेदन आदिकको जो दुःख एक समयमें ही सहा जाता है जब उसका वर्णन हजारों जिह्वावो द्वारा भी नहीं किया जा सकता तो फिर सारे जीवन भरके दुःखोंकी तो कथा ही क्या है? पाप का तीव्रतम फल उन नरकोंमें होता है। नरक और निगोद—ये बडी कठिन दुर्गतियां बतायी गई है। निगोदमे भी बहुत ही कठिन क्लेश है। एक समयमें १८ बार जन्म मरण होता है, उन्हें जन्म मरणके क्लेशसे ही फुरसत नहीं मिलती। उन निगोदिया जीवोंके क्लेश और तरहके, नारकी जीवोंके क्लेश और तरहके। मार पीट छेदन भेदन, आगमें जला देना, खूब तप्त कडाहे मे झोंक देना, शूलीपर चढा

देना, जैसा चाहे अस्त्र शस्त्र मार देना, वहां किसी भी प्रकारकी दया नहीं है, ऐसे नाना प्रकारके दु:ख जो नरकोंमें एक समयमें हो रहे हैं उनका ही कोई वर्णन नहीं कर सकता तो फिर सारे जीवन भरके दु:खों की तो फिर कहानी ही कौन कहे ? और इस पर भी उन नारकियोंकी उम्र कितनी ? दस हजार वर्षकी उम्रसे कमका कोई नारकी नहीं होता। फिर अधिक अनगिनते वर्षोंकी, (३३ सागर तक की) आयु होती है। इतने वर्षों पर्यन्त उन नारकियों को अपनी भूलका दु:ख भोगना पड़ता है।

पर्यायानुसारिणी बुद्धि रखनेमें दुर्लभ मानवजीवनका यापन--अब यहां मनुष्य जन्म पाया, जिनधर्मका शरण पाया, श्रावक कुल पाया, जगतके और जीवों पर निगाह डालकर देखो तो हम आपने आज कितना श्रेष्ठ भव पाया ? कीड़े मकौड़ोंका, पशुपक्षियोंका भी जीवन क्या जीवन है ? एक मनुष्य जीवन ही ऐसा है कि जिसमें अपने मनकी बात दूसरोंसे कह सकते, दूसरोंके मनकी बात खुद समझ सकते। बड़े-बड़े ग्रन्थ जो आचार्योंने बनाये हैं, जिनकी बहुत ऊँची तपस्या थी, बड़े-बड़े साम्राज्य धन वैभवको छोड़कर जो ऋषि बने उन्होंने अपने जीवनके अनुभव जिन ग्रन्थोंमें लिखे उन ग्रन्थोंके पढ़नेका हम उत्साह नहीं बनाते, समय नहीं निकालते, आत्महितकी लगन नहीं होती, जो इस पर्यायकी बात है उसीमें ही मस्त रहा करते हैं, खाने पीने शृङ्गार आदिक करनेमें ही अपने जीवनके अमूल्य क्षण खोते। कहां तो इतना अपवित्र यह देह, हाड़, मास, मज्जा, खून, पीप, मल मूत्र आदिक अपवित्रताओंका घर, फिर भी इस शरीरको अनेक प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे सजाना, उसे देख देखकर खुश होते, यह कोई भली बात नहीं है। आज कलके जमानेमें तो बहुतसी महिलायें क्रीम पाऊडर, स्नो, लिपिस्टिक आदि लगाकर शहरकी गलियोंमें नगे शिर घूमने निकलती हैं, अपने शरीरको देख देखकर खुश होती हैं, न जानें उनका क्या हाल होगा ? वे इसीलिए तो अनेक प्रकारके शृङ्गार करती है कि दूसरे लोगोंकी निगाहमें हम अच्छी जंचे, तो उनका वह ख्याल कितना खोटा है ? उन्हें अपने आत्महित करनेका ख्याल कहां हो सकता है ? इस मानव जीवनको पाकर तो संसारके संकटोंसे सदाके लिए छूटनेका उपाय बनाया जा सकता है। अगर ऐसे मानवजीवनको पाकर विषयभोगोंमें, शानमें, पर्यायबुद्धिमें लग गए तो समझिये कि हम अपने जीवन को बिलकुल व्यर्थ ही खो रहे हैं। अपना कर्तव्य तो यह है कि इस बातको सोचें कि हमारा आत्महित कैसे हो, हम यथार्थ यथार्थ वस्तुका स्वरूप समझें और अपने जीवनको सफल करें। इन व्यर्थकी विनाशीक बातोंमें अपना उपयोग लगानेसे हाथ कुछ नहीं आता। ऐसे दुर्लभ मनुष्यभवका समागम भी व्यर्थ है जिसमें आत्महित करनेकी चर्चाकी बात मनमें नहीं आये।

संसारसंकटोंसे छूटनेके लिये अपने कर्तव्यका विचार—मुझे तो संसारके संकटोंसे छूटना है, एक अपने आत्मस्वरूपकी सुध हो, उसको दृष्टिमें लें, उसको निरखकर तृप्त रहा करें तो भव भवके संचित कर्म भी खिरेंगे और नवीन कर्म न बधेंगे, और कुछ ही समय बाद पूर्ण कर्मबन्ध मिट जायेंगे और संसारके सकटों से छुटकारा प्राप्त हो जायेगा। अपने आपके बारेमें यह सोचिये कि मेरा स्वरूप तो वैसा है जैसा भगवान का। भगवान भी चेतन हैं हम भी चेतन हैं, अन्तर यह हो गया कि भगवान तो वीतराग हो गए, निर्दोष हो गए, केवल हो गए, उनके समस्त झगड़े छूट गए और यहाँ हमारे अभी सारे झगड़े लगे हैं, कर्म साथ हैं, शरीर साथ है। विषय कषायोंमें हम चैन मानते हैं। मूलमें स्वरूप तो वैसा ही है जैसा कि प्रभुका। बारबार यह चिन्तन करें और ध्यानमें लाये कि मेरा कहीं कुछ नहीं है, यह शरीर भी किसी दिन जला दिया जायेगा। लोग इस शरीरको भी मरण होनेके बाद अपने घरमें नहीं रखने देते, उन्हें शीघ्र ही उस मुर्देको घरसे बाहर निकालनेकी पड़ती है। तो शरीर तो वही है जो पहिले था, जिससे लोगोंको बड़ा अनुराग था, अब क्यों उस शरीरसे वे घरके लोग प्रीति नहीं करते ? अरे कोई उस शरीरसे प्रीति नहीं करता था, न कोई उस शरीरमें रहने वाले आत्मासे ही प्रीति करता था। कोई ऐसा नहीं सोचता कि हम

आत्माका कल्याण हो, यह सुखी हो। सभी लोग अपने अपने स्वार्थमें निरत हैं, जिसको जिस तरहसे सुख मिल सकता है वह वैसी चेष्टा करता है। विरोध करे तो अपने सुखके लिए, किसीको राजी करे तो अपने सुखके लिए, जो सुख समझ रखा है कल्पनामें उसकी प्राप्तिके लिए यह जीव चेष्टा करता है। कोई किसीका प्रेमी नहीं है। संसारका ऐसा स्वरूप जानकर कर्तव्य यह है कि इन सबसे चित्त हटायें और ज्ञानस्वरूप अपने आत्माके ध्यानमें अधिकाधिक योग लगायें, यह है करनेका काम। समस्त परभावोंसे हटकर अपने परमात्मास्वरूपमें आना है। स्त्री, पुत्रादिक परिजनोंसे मोह बसाया जाता है वह तो एक बेकारकी बातें हैं। कोई बड़ा प्यारा पुत्र हो, बड़ा सुहावना लगता हो तो उससे किया जाने वाला मोह दुःखका ही कारण बनता है। ऐसा जानकर परसे हटे और अपनेमे दृष्टि लावें तो संसारके ये घोर दुःख न भोगने पड़ेंगे।

सव्वं पि होदि णरए खेत्त-सहावेण दुक्खदं असुहं।
कुविदा वि सव्व-कालं अण्णोण्णं होंति णेरइया ॥३८॥

नरकोंमे पापका तीव्र विपाक—नरकमें सभी वस्तुयें दुःखको देने वाली हैं और अशुभ होती हैं। नरक पापका तीव्र फल पानेका स्थान है। नरकका प्रत्येक स्थान दुःखका कारण है। पृथ्वी है वह भी दुःखका कारण है, जिसके छूनेसे इतना क्लेश है कि जितना हजार बिच्छुवोंके काटनेसे भी नहीं होता। जहाँ इतनी तीव्र ठंड व गर्मी है कि मेरूके बराबर लोह पिण्ड भी जमें अथवा पिघल जाय। वहाँ इतना प्रचण्ड क्रोध है कि एक नारकी दूसरे नारकीको सुहाता ही नहीं है। वहां द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये सभी खोटे है, किसी नारकीकी किसी दूसरे नारकीसे मित्रता नहीं है, वे नारकी सदा क्रुद्ध बने रहते हैं। जैसे यहा भी कुछ मनुष्य ऐसे पाये जाते हैं जिनके चेहरे पर सदा क्रोधकी झलक दिखती रहती है। ऐसे मनुष्योंको देखकर लोग कह भी देते है कि ये तो नारकी जीवोंकी तरह हैं। तो वे नारकी जीव सदा क्रुद्ध ही रहते हैं और परस्परमें एक दूसरेका घात करते रहते हैं। शरीरमें जितने रोग बताये गए हैं, उन सब रोगोकी संख्या करीब साढे ५ करोडकी है। नारकियोंका शरीर है वैक्रियक, पर समस्त रोगोंका घर है। यहां मनुष्योंको तो फोड़ा, फुंसी, खासी, बुखार आदिके १०, २०, ५० रोगोके ही नाम मालूम हैं पर सारे रोग करीब साढे ५ करोड़ हैं। तो वे समस्त रोग उन नारकी जीवोंके उस वैक्रियक शरीरमे बसे रहते हैं। कहनेको है उनका वैक्रियक शरीर पर उस वैक्रियक शरीरसे केवल ये उपयोग इतना ही उठा सकते हैं कि एक तो वे बीचमें मरते नहीं। तिलतिल बराबर देहके खण्ड हो जायें तो भी वे शरीरखण्ड फिर पारेकी तरह मिल जाते हैं और एक बन जाते हैं। एक तो नारकियोंके वैक्रियक शरीरका यह उपयोग है और दूसरा यह उपयोग है कि जैसे किसी दूसरे नारकीको मारना है, तो उनके हाथ ही अनेक प्रकारके शस्त्र रूप बन जाते हैं। उनको भाला, बरछी, तलवार आदि शस्त्र कहीं बाहरसे नहीं लाने पड़ते। उनका शरीर ही उस रूप परिणम जाता है। जैसे यहा मनुष्योमें ही देखो—किसीको मारना हुआ तो हाथ ही मुष्ठिक बन जाता, हाथ ही गदा, चाकू आदिकी तरह दूसरे मनुष्य पर प्रहार कर देता है। यह तो एक बिना विक्रिया वालोंकी बात है। एक हाथ बीसों तरहसे प्रहार करता है। इन हाथोंसे बाह्य उपकरण चाकू, बरछी, कांटा, गदा, कटोरी आदि बना लेते, पर नारकियोंके ये सभी चीजें उनके हाथ ही विक्रियासे बन जाते हैं। वे उनका ही शरीर दूसरे नारकियोंको जलानेके लिए आगरूप बन जाता है। तो उन नारकियोंका वह वैक्रियक शरीर इन दो उपयोगोंमें आता है तो देखो इन नारकियोंका शरीर भी और उन नरकोंकी भूमि दुःखरूप है। जैसे यहाँ कोई पुरुष दरिद्र है, इस पर भी उसे इष्टवियोग हो गया है, शरीर भी उसका नाना प्रकारके रोगोंसे घिरा है, आसपासके लोग भी उससे घृणा करते हैं, सिपाही लोग, राजा लोग भी जिसको पूछते नहीं, वे भी उसको यहां वहां भगाते हैं, तो

ऐसा पुरुष अपने को असहाय समझता है, हाय, मेरा कोई न हुआ। सभी लोग मुझपर प्रहार करनेके लिए उतारू हैं। इससे भी करोड़ों गुना दुःख उन नरकोंमें है। वे अपने आपको इतना असहाय समझते हैं कि जिससे निरन्तर दुःखी रहा करते हैं।

नारकीय क्लेशोंसे मुक्ति पानेके लिये उचित कर्तव्यका विचार—नरक सम्बन्धी घोर दुःख इस जीवको उठाने पड़ते हैं खोटे परिणामके कारण। तब यहाँ यह उचित है कि हम अपना परिणाम सभालें। जरा जरा सी बातों पर क्रोध मत लावें किसी कमजोर पुरुष पर, उसे मिटानेके लिए कमर न कसें। यदि कुछ बल पाया है तो दूसरोंकी रक्षामें उस बलका प्रयोग करें, दूसरेके विनाशमें उस बलका प्रयोग न करें। अब यह कितनी खोटे भवितव्यकी बात है कि जब कभी किसी पर क्रोध किया जाता है तो इतना तक सोच डालते हैं कि चाहे हमारे हजारों लाखों रुपये खर्च हो जायें, पर हम इसे कुछ मजा चखा ही दें। अब बतलावो—दूसरे का उससे कुछ बिगाड़ हो सके अथवा न भी हो सके, उसका कुछ पता नहीं, पर उसने स्वयंका परिणाम तो बिगाड़ ही लिया। तो अपना परिणाम खोटा बनाना यह कोई बुद्धिमानी नहीं है। अब तो भला कुछ ऐसा विचार करना चाहिए कि आजीविकाका साधन बनाना जरूरी है, सो साधन भी बनायें, कुछ धन भी बचावें, यह तो ठीक है, वह धन तो अपने भी और दूसरोंके भी काम आयेगा, पर क्रोध करना और अपना धन भी गंवाना, सरकारी लोगोंकी विनय भी करना, अनेक प्रकारके सङ्कट सहना, यह तो कोई विवेककी बात नहीं है। तो अपने को समझना चाहिए कि जरा जरा सी बातों पर कषाय न करें। घमंडका तो विकल्प ही न करें। क्या हूं मैं? जो मैं हूं उसे कोई जानता नहीं। जो मैं नहीं हूं उसे मैं हूं, इस प्रकार की लोग कल्पना करते हैं। तो यहां घमंड करने लायक कोई बात ही नहीं है। छल कपट आदि करना ये भी सब बिल्कुल जीवका अनर्थ करने वाली बातें हैं। लोभ करना, शरीर का लोभ, शरीरका शृङ्गार करना आदि ये सब मिथ्यात्वके पोषक हैं। तो इन मिथ्याभावोंको दूर करें और कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुवोंके प्रति श्रद्धा न करें, सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरुवोंके प्रति श्रद्धा रखें। अपने में सम्यक्त्व उत्पन्न करें, इस ही के प्रसादसे हमारे ज्ञानका प्रकाश होगा और हम संसारके घोर संकटोंसे छुटकारा पा सकेंगे। यह काम तो है ठीक और विषय कषायोंमें लगना, यह तो नरकगतिमें पटकनेका कारण है। तो उन खोटे परिणामोंसे बचें और अच्छे कामोंमें लगें, इसमें ही हम आपका हित है।

विरक्त हो गए थे, तो सुकौशलकी माँ ने यह हुक्म दिया कि कोई निर्ग्रन्थ मुनि हमारे नगरके आसपास न आ सके। उसे डर था कि यदि मेरा बेटा सुकौशल किसी मुनिके दर्शन कर लेगा तो वह भी विरक्त हो जायेगा। तो अपने बेटेको विरक्त न होने देनेके लिए घरमे ही रखनेके लिए इतना अन्याय किया। आखिर एक समय मुनिराज कीर्तिधर ही चर्याके अर्थ उसी राजमहलके निकट आये। रानीने देखा तो पहरेदारसे कहा कि इस घरखोऊको, निर्लज्जको, असगुनको यहाँसे बाहर निकाल दो। पहरेदार ने निकाल दिया। यह बात सुकौशल की धाय भी देख रही थी कि देखो अपने ही पतिको यह राजमाता कैसे दुर्वचन कह कर निकाल रही है। उस दृश्यको देखकर धायको आँसू आ गए। सुकौशलने पूछा, माँ ये आँसू क्यों आये? तो उसने बडे खेदके साथ बताया कि तुम्हारे ही पिता जो आत्मसाधनाके लिए मुनि हुए। जिनको संसारमे किसी चीज की अभिलाषा न रही, इतना बड़ा राजपाट छोड़ा और योगी बने, वही तुम्हारे सामने जो आये थे उनको तुम्हारी राजमाताने दुर्वचन कहकर निकाल दिया। दर्शन तो सुकौशलने कर ही लिया था, और जब यह समाचार जाना तो उसे ससारचरित्रसे तुरन्त घृणा हो गयी। यहाँ कौन किसका साथी? सुकौशल विरक्त हो गए, आत्मध्यानमें रत हो रहे और यहां सुकौशल की मां इष्टवियोगमें पागल हो गयी। उसे कुछ न सूझा। आखिर दुर्ध्यानमें मरी और मरकर सिंहनी हुई। जहा सुकौशल तप कर रहे थे उसही वनमें वह सिंहनी हुई। जब सुकौशलको देखती है तो उसे उल्टा स्मरण होता है। इस दुष्टके कारण मैं दुर्ध्यानमें मरी और सिंहनी बनी। सो उस सिंहनी ने सुकौशलके ऊपर प्रहार किया, जो कि पूर्वभवका बेटा था उसे पञ्जोंसे नोचा और दातोंसे चबाया। उस समय सुकौशल अपने ध्यानमें रत रहे, सावधान रहे, वे मोक्ष गए, उनका निर्वाण हुआ, पर जगतका चरित्र बतला रहे है कि देखो यहा कौन किसका साथी है?

अपनेको बाह्यसे अशरण जानकर व्यामोह परिहार करनेका अनुरोध--आज दुनियाके लोग भ्रममें आकर जगह-जगह डोल-डोलकर धनसंचय करनेमें जुटे हैं तो ठीक है वे जुटे रहें, पर जिन्हें अपना आत्मकल्याण करनेकी चाह है वे कुछ थोड़ा अपने आपकी ओर भी दृष्टि दें। धन जोड जोड़कर क्या कर लिया जायेगा? आत्माको तो जन्म मरणके चक्र लगे है। यहां पर थोडे से समागम पाकर विषयोंमें रत रहें, आत्महितका भाव न बनायें तो यह अपने आप पर कितना बड़ा भारी अन्याय है? तो अब तो कुछ मोहको ढीला करना चाहिए। अभी आपको कुटुम्ब छुड़ानेकी बात नहीं कह रहे, अगर छोड़ा जा सके तब तो भला ही है, नहीं तो सम्यग्ज्ञान बनाओ और वस्तुका सही स्वरूप अपने चित्तमे रखो। इस जीवका यहा कोई साथी नहीं है। यहां कुटुम्बमें कोई किसीकी सेवा करता है तो समझो कि उसे भी अपनी गरज है अथवा जिनका पुण्योदय है उनका चाकर बना हुआ है। यहां किसी जीवका किसी अन्य जीवसे कुछ रिश्ता नहीं है। जीव तो अमूर्त है, उसमे तो स्पर्शनका भी प्रसग नहीं। यह जीव इस देहसे भी निराला है, जब देह भी इस जीवका साथी नहीं है तो फिर कौन इसका साथी होगा? एकदम मोहमे उन्मत्त होना अनर्थ है। जैनशासनका शरण पाया तो साहस करके उन ग्रन्थोंका अवलोकन करें चिन्तन करें, मनन करें और उनमे बताये गए पथके अनुसार चलकर अपना जीवन सफल करें। न जाने कितना कितना श्रम करके ऋषियों ने, आचार्यों ने, संतोने अपने जीवनके अनुभव उन ग्रन्थोंमे लिखे। अब उनको देखनेका, पढनेका हम आप लक्ष्य न बनायें, समय न निकाले तो यह कितने खेदकी बात है। देखिये पापके फलमें यह जीव नरक गया और इसके ही पूर्वभवके परिजन मित्रजन इष्ट लोग भी नरक गए तो वहां एक दूसरेके मित्र न बनकर शत्रु बन जाते हैं और वे एक दूसरेका घात करनेका ही यत्न करते हैं। ऐसे तीव्र पापकर्मोंका उदय है नरकोंमें, जिनको यह नारकी जीव सहता है।

अपने भविष्यका स्वयपर उत्तरदायित्व--- हम अपना भविष्य खुद बनाया करते हैं। हम दुःखी हों,

सुखी हों, शान्त हों, अशान्त हों, हर प्रकारकी स्थितियां हम ही खुद बनाया करते हैं, कोई दूसरा नहीं बनाता, प्रभु तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्दसे सम्पन्न हैं, वहां कोई विकल्प नहीं उठता। ऐसे परम पवित्र परमात्मा हम आप लोगोंकी कोई दृष्टि नहीं बनाता कि हमको पुण्य कराये, पाप कराये, स्वर्ग, नरक भेजे, जन्म, मरण कराये। वह तो अपने ज्ञानानन्दस्वरूपमें लीन है, निर्दोष है, पूर्ण विकास है वहां। परमात्माके स्वरूपका ध्यान करके हम स्वरूपका परिचय पाते हैं और निर्विकल्प होकर हम अपनी अनुभूति कर लेते हैं, बस यही है उपकार प्रभुस्मरणका। प्रभु हम आप को कुछ नहीं करते और यहांके लोग चाहे कोई कितने ही मित्र हों, कैसे ही साथी हों, वे भी इसका कुछ नहीं करते है। सबका उदय अपने साथ लगा है। घरमें जिस बेटेके पापका उदय है उस बेटेके मददगार उसके मां, बाप तक भी नहीं बन सकते और जिसके पुण्यका उदय है, उसके चाहे कोई विरुद्ध भी व्यवहार करे, वह भी उसके अनुकूल पड़ता है। श्रीकृष्ण महाराजके पुत्र थे प्रद्युम्न, जो कालसम्बरके राजाके यहां पले थे। वहां प्रद्युम्नको मारनेके लिए कालसम्बरके और बेटोंने बड़ा प्रयत्न किया लेकिन उनके मारनेके प्रयत्नसे ही प्रद्युम्नको ऋद्धि मिली। तो यह सब अपने कमाये हुए पुण्य पापका फल है। कोई जीव हम आपको न सुख दुःख दे सकता और न परमात्मा सुख दुःख देता। हम जैसा भाव करते हैं वैसा ही कर्म उसी समय बंध जाता है। एक समयके मोहके परिणाममें ७० कोड़ाकोड़ी सागर तकके लिए मोहनीय कर्म बंध जाता है। सागर बहुत बड़ा होता है। अनगिनते वर्षोंका तो एक सागर होता है और फिर ऐसे एक करोड़ सागरमें एक करोड़ सागरका गुणा करने पर जो आये उसे एक कोड़ाकोड़ी कहते हैं। ऐसे ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक एक क्षण भी मोह करनेमें दुःख भोगना पड़ता है। तो जो चीज आज बड़ी सस्ती लग रही है— विषय भोगना, मोह करना, राग करना, कषाय करना आदि उसका फल भविष्यमें बहुत मंहगा होगा। इसके फलमें ऐसे नारकीय दुःख भोगने पडेंगे। तो खोटे परिणामके फलमें जो नरक आयुका बंध किया उसके परिणाममें यह जीव नरक जाता है और तीव्र दुःखोंको सहता है।

तत्तो णीसरिदूर्णं जायदि तिरिएसु बहु वियप्पेसु।
तत्थ वि पावदि दुःखं गब्भे वि य छेयणादीयं ॥४०॥

तिर्यग्गतिमें गर्भमें ही हो जाने वाले छेदनादिक दुःखोंका वर्णन— यह जीव नरक गतिसे निकलता है तो तिर्यञ्च हुआ। तिर्यञ्चमें भी अनेक प्रकारके भेद हैं, वहां पर भी महान् दुःख सहने पड़ते हैं। कितने ही तिर्यञ्चोंका तो गर्भमें ही छेदन आदिक हो जाता है। आजकल जो बडे कोमल चमड़े के सन्दूक, पेटी, झोला तथा जूते आदि तैयार किये जाते हैं वह कोमल चमड़ा किस प्रकारसे तैयार किया जाता है उस की बात यदि सुने तो जी कांप जाता है। बताते हैं लोग और होगा भी ऐसा कि लोग गर्भिणी गायको बहुत गर्म पानीके नलके नीचे खड़ा कर दिया तो गर्म पानीके पड़ते ही चमड़ी फूल जाती है और फिर उसे बेंतोंसे पीटते हैं, और उस ही कठिन दुःखमें वह गर्भिणी गाय बच्चेको गर्भसे बाहर निकाल देती है और उस बच्चेको तत्काल ही गर्म पानीके छींटे मारकर लोग उसका व गायका यंत्रसे चमड़ी निकाल लेते हैं। ऐसी चमड़ीसे तैयार किए हुए जूते, थैला, पेटी आदिका लोग बडे शौकसे प्रयोग करते हैं। यह कितना अनर्थ है, कितना बड़ा पापकार्य है? ऐसे चमडेके उपयोगमें कितने ही पशुओंका जान घात करने का उत्साह दिया है चमड़ा पहिनने वालोंने। इसी कारण इस बातका तो विवेक करना चाहिए कि चमड़े की बनी वस्तुओंका इस्तेमाल न करें और बल्कि मरे हुए जानवरोंके चमड़ेका भी उपयोग न करें, क्योंकि आप लोग यदि मृत पशुके चमड़ेका उपयोग न करेंगे तो वे सस्ते हो जायेंगे, जिससे लोग खुद मरे हुए जानवरोंके चमड़ेका ही प्रयोग कर लेंगे, बेचारे निरपराध पशुओंकी अहिंसा करनेमें कमी हो जायेगी। आप लोग रबड़के अथवा कपडेके बने हुए जूते, थैला, पेटी आदिका प्रयोग करें। चमडेकी बनी हुई

किसी भी चीजका उपयोग न करे। ऐसी-ऐसी बड़ी निर्दयतासे गर्भमें ही उन पशुओंके बच्चोंको मार डाला जाता है। तो ये हैं तिर्यञ्च गतिके दुःख।

चतुर्गति भ्रमणमे तिर्यंचगतिके दुःखोका वर्णन-- संसारी जीवोंकी चार गतियां होती हैं। यह जीव अनादि कालसे अब तक इन्हीं गतियोंमें भ्रमता फिरता चला आया है। तिर्यञ्चगतिका बहुत बडा विस्तार है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रीय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये तो तिर्यञ्च ही होते हैं, ये और नहीं होते। पञ्चेन्द्रिय ऐसे हैं कि चारों गतियोंमें होते हैं। पशु, पक्षी आदिक तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय है। नारकी मनुष्य और देव सभी पञ्चेन्द्रिय जीव होते हैं, तिर्यञ्च गतिमें सभीको अनेक दुःख हैं। एकेन्द्रिय जीव हैं, पेड़ खडे हैं, फुलवारी खड़ी है। जिस चाहेने फूल, फल, लकडियां आदि तोड लिया, कोई लोग तो धर्मके नामपर भगवान पर चढानेके लिये लोग फल, फूल तोड लेते हैं। तो वे एकेन्द्रिय जीव जो मुस्करा रहे थे, खूब हरे भरे बने हुए थे उनको लोग जब चाहे तोड़ लेते है, ये सब दुःख उन एकेन्द्रिय जीवोको सहने पड़ते है। पर क्या एकेन्द्रिय जीवोंकी क्या, यह तो हम आपकी कथा है। हम आप लोग भी कभी एकेन्द्रिय जीव थे। आज बहुतसा रास्ता पार करके मनुष्य बने हैं। यह मानव जीवन पाना अति दुर्लभ है। यहां जो विभिन्न प्रकारके जीव दिखते हैं वैसी ही दशा कभी हम आपकी भी थी और अगर अब भी न चेते तो ऐसी ही दशा हम आपकी रहेगी। एकेन्द्रिय जीवोमे सबसे निकृष्ट जीव निगोदिया है, जो कि एक श्वासमें १८ बार जन्म मरण करते है, ऐसे निगोदिया जीव आधारमे भी रहते और निराधार भी रहते। जैसे आलू, मूली आदिक अनन्तकायके पत्ते, फल, फूल वगैरामें रहते हैं। तो समझिये कि सूईकी नोकमे जितना कण आ जाए उतनेसे कणमें अनन्त निगोदिया जीव बसे हैं, आलू, मूली आदिक खानेसे ऐसे निगोदिया जीवोंकी हिंसा होती है। इन आलू, मूली आदिकके खानेमे जो पाप लगते है उससे कई गुणे पाप बाजारकी सड़ी गली चीजे दही, जलेबी आदिके खानेमे लगते हैं। गोभीका फूल भी अत्यन्त अभक्ष्य है। उसे अगर कोई फूलकी थालीमें झाड़कर देखे तो बहुतसे छोटे शरीर वाले जीव प्रत्यक्ष दिख जायेगे। तो ऐसी अभक्ष्य चीजोंके खानेसे बहुतसे निगोदिया जीवोंकी हिंसा होती है। जो लोग भक्ष्यका कुछ भी विवेक नहीं रखते, जो रात दिन जब चाहे खा रहे है, उनका न जानें क्या हाल होगा? यह संसार दुःखमय है, इसमें हम आपकी जन्ममरणकी परम्परा चल रही है। यहॉ यदि अन्याय, भक्ष्य अभक्ष्य आदिका विवेक करके न चलेंगे तो नरक, तिर्यञ्च आदिक गतियोंमें कैसे-कैसे क्लेश होते है उसकी बात चल रही है। निगोद जीवोंको एक श्वासमें १८ बार जन्म मरण होता है, श्वास भी कितना जितना कि नाड़ी एक बार उचकती है उतना समय। वह समय करीब १ सेकेण्डका होता है, उस करीब एक सेकेण्डके समयमें २३ बार जन्म मरण होता है। ऐसी ऐसी गतियोंसे निकल-निकल कर यह जीव दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रियमें भी नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—ये चार प्रकारके जीव हैं। जिनमें उत्कृष्ट मनुष्य हैं। जहा बड़ा श्रेष्ठ भव हैं ऐसा मनुष्यभव हम आपने पाया है। यहॉ भी न चेते तो फिर वही हाल होगा जैसे जगतके जीवोंकी यहॉ चर्चा चल रही है। इस जीवका आदि स्थान निगोद है, और अन्तिम स्थान जो पूर्ण आनन्दका है, जिसके बाद फिर जन्म नहीं, वह स्थान निर्वाणका है। उन निगोदोंमें कितने ही जीव तो ऐसे है जो अब तक अनादि कालसे निगोदसे नहीं निकले, वे कहलाते है, नित्य निगोद और जो निगोदसे निकल आये थे, अन्य गतिमें जिन्हों ने जन्म ले लिया और वे ही जीव फिर निगोद बने तो उनको कहते हैं इतर निगोद। ये भी तिर्यञ्चगति में हैं। तिर्यगगतिमें क्लेश बहुत कठिन हैं। उन सब गतियोंसे गुजर कर आज हम आप मनुष्य हुए हैं तो कुछ तो ख्याल करना है। मोहमें, भोगोपयोगमें, विषयकषायोंमें इनमें ही उपयोग नहीं लगाना है, नहीं तो इसके फलमें ऐसे नरक तिर्यञ्च आदिक गतियोंके घोर दुःख सहन करने पड़ेंगे।

तिरिएहिं खज्जमाणो दुट्ठ-मणुस्सेहिं हम्ममाणो वि।
सव्वत्थ वि संतट्ठो भय-दुक्खं विसहदे भीमं ॥४१॥

दुष्ट मनुष्यो द्वारा तिर्यंचोके हते जानेका दुःख—ये तिर्यञ्च कितने ही तो गर्भमे छेद दिये जाते है। मांसभक्षी लोग कोई कोई तो ऐसा भी कर लेते हैं कि गर्भसे जो बच्चा निकले उसका तुरंत घात कर डालते हैं। कितने ही तिर्यञ्च दूसरे तिर्यञ्चके गर्भसे ही बच्चेको निकालकर खा डालते हैं। तिर्यंचोंकी रक्षा करने वाला कौन है ? दुष्ट मनुष्योके द्वारा भी ये तिर्यंच मारे जाते है और खाये जाते हैं। तो बात ज्यादा क्या कहना ? आजके समयमें यह बहुत कुछ अंधेरकी बात चल रही है, जगह-जगह अनेक कसाई-खाने खोले जा रहे हैं, पशुपालन, मत्स्य पालन आदि जिनके नामपर भारतका कितना ही पैसा बरबाद किया जाता है। एक विदेशी पुरुषने एक सभामें भाषण करते हुए कहा था कि हम तो समझते थे कि भारत एक धर्मप्रिय देश है। इस भारतसे सभी विदेशोंने धर्मकी शिक्षा प्राप्त की थी लेकिन आज हम कितना अनर्थ देख रहे हैं कि कितनी ही हत्याये हो रही हैं। पशुपालन मत्स्यपालन, मुर्गीपालन आदि के कार्य केवल इसीलिए किए जाते हैं कि उनकी हिंसा की जाय। तो उस पुरुष ने आँकड़ा बताया था कि पशु पालन, मुर्गीपालन मत्स्यपालन आदिके नाम पर भारतकी जितनी जमीन घिरती है उतनी ही जमीन में अगर अनाज पैदा किया जाय तो उससे बहुत अधिक आय हो सकती है। अन्यकी तो बात ही क्या ? तो कितना अंधेर है, मासभक्षियोका जोर है और चलता नही है अन्न खाये बिना, लेकिन मांस का शौक बनाये हुए है। मनुष्यका भोजन अन्न है। कोई भी मनुष्य अन्न खाये बिना जीवित रहता हो तो बताओ। बिस्कुट आदिक अनेक ढंगोसे अन्न ही तो खाया करते हैं। तो तिर्यञ्चोके दुःखोंको कौन कहे ? कौन रक्षा करने वाला है ? बैल, भैंसा आदि जब तक खूब काम करते हैं तब तक घास भुस आदि खाने को दे दिया जाता है, गाय, भैंस आदि पशु जब तक दूध देते हैं तब तक घास भुस आदि पा जाते हैं, जब वे पशु किसी कामके न रहे, शरीर शिथिल हो गया तो बस लोगोंका एक ही निर्णय रहता है कि उन पशुओंको कसाईखानेमें बेच देते हैं। वे बेचारे पशु छुरियों द्वारा निर्दय होकर मारे जाते हैं। बहुतसे बैलोको अथवा झोटोंको गाड़ीमे जुते हुए देखा होगा। उनके कंधे भी सड़े हुए हैं, खून भी कंधोसे निकल रहा है, बोझा भी बहुत अधिक लादे हैं, इतने पर भी जब वे थक जाते हैं, चलनेमें कुछ गड़बड़ी करते हैं तो चाबुकों द्वारा मारे जाते हैं। और जब वे ही बैल, झोंटा आदि किसी कामके नहीं रह जाते तो उन्हें कसाइयोको दे देते हैं। कसाई लोग निर्मम होकर उनकी हत्या कर देते हैं। तो ये दुःख हैं तिर्यञ्चगतिके जीवोंके। जीवको जो ये सब दुःख सहने पड़ते हैं वह सब है विषय कषायोंका फल।

आत्मागमके उपायमे संकटोंका वियोजन—यहाँ देखो आत्माकी बात सुननेके लिए लोगो को रुचि नहीं है, समय नहीं है, सुविधा तथा साहस नहीं है और शरीरकी सेवामे अथवा व्यर्थके बाह्य परिग्रहके विकल्पों में सारा समय लोग लगा देते हैं। तो आप सोचिये कि इस तरहकी स्वच्छन्दतासे हम आपका क्या हाल होगा ? कुछ सोचिये धर्मदृष्टि कीजिए। धर्म कहीं बाहर नही है, वह हम आपका स्वरूप है। केवल एक दृष्टि फैरनेकी आवश्यकता है। अपने आपमे विश्वास करिये कि यह मैं स्वयं स्वतःसिद्ध एक चेतनपदार्थ हूं। मैं आकाशवत् निर्लेप ज्ञानानन्दसे भरा हूं। देहसे भी निराला स्वतंत्र परिपूर्ण सत् हूं। जो मेरा स्वरूप है वही परमात्माका स्वरूप है। जो परमात्माका स्वरूप है वही अपना स्वरूप है। पर परमात्मामे और हम आपमें कषायोंका बड़ा अन्तर हो रहा है। वे तो मुक्तिमे विराजमान हैं, ज्ञानानन्दके पूर्ण धनी हैं, दोष विकारका जिनके रंच मात्र भी नहीं है और यहां हम आपकी हालत ऐसी है कि जन्म मरण कर रहे हैं, मोह रागद्वेष करते हैं, सम्मान अपमान समझते हैं, शरीरके सम्बन्धसे भूख प्यास रोग आदिक अनेक संकट सहते हैं। यह इतना बड़ा भारी अन्तर हममे और प्रभुमें हुआ क्यों ? अनसे। देहको

माना कि यह मै हूं बस यह इतनी बड़ी भारी गलती है कि जिसके फलमें ये संसारके जन्ममरण करने पड़ते हैं। यदि धर्मपालन कहना है तो यथार्थ ढंगसे कीजिए। उसमे सर्वप्रथम यह प्रतीति करना होगा कि देह मै नहीं हूं, देह निराला है, मैं आत्मा निराला हू इसका खूब चिन्तन करिये। आखिर सुख ही तो चाहिए। आनन्दकी प्राप्तिके लिए लोग बडे-बडे संकट सहते हैं, पर आनन्द पानेके वे उपाय हैं ही नहीं। आनन्द पानेका सच्चा उपाय है सच्चा ज्ञान बनाना। जो सच्चा उपाय है उस उपायके लिए तो साहस न करे और जो अनर्थ हैं, दुःखके उपाय हैं, जन्म मरण बढानेके उपाय हैं, उनकी तरफ लगे रहें तो यह इस सहज परमात्मा भगवानके लिए कितनी लज्जाकी बात है? तो दृष्टि अब बाहरसे हटाकर कुछ अन्दर में दीजिए। मैं जीव हूं, देहसे निराला हूं, मैं स्वय अपने आप केवल ज्ञानस्वरूप हूं, पूर्ण आनन्दस्वभावी हूं, मुझमें कोई कमी नहीं है। मैं अपने आपकी श्रद्धा करू और एक पूर्ण प्रयत्नसे अपने आपमें मग्न होनेका यत्न रखूं तो मुझे कहीं संकट नहीं है।

अपने अपराधसे सकटोकी मेहमानी—सकट तो यह हमने अज्ञानसे पैदा किया है। जो मैं नहीं हूं उसे मानूँ कि मैं हू, तो संकट तो होगा ही। अब लोकमे भी यह बात देखी जाती कि जो घर आपका नहीं है उसे मान लीजिए कि यह मेरा घर है, उसपर आप अपना अधिकार जमाना चाहें तो संकट न आयेंगे क्या? अथवा जो स्त्री आपकी नहीं है उसे आप समझ बैठे कि यह मेरी है और उसके सग आप वैसा ही व्यवहार करे तो सकट न आयेगा क्या? जब लोकमें भी इस व्यवस्थाके अन्तर्गत जो चीज मेरी नहीं है उसे मेरी माने तो दुःख आता है तो फिर परमार्थसे जो चीज मेरी नहीं है उसे माने कि यह मेरी है तो वहां संकट तो आयेगा ही। कर्मबन्ध होगा, बुरी तरह जन्म मरण करना होगा। इससे इस यत्नमें रहें, इस ज्ञानमें रहें, इस दृष्टिमें रहें कि मेरा तो मात्र मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हू। इस ज्ञानानन्दस्वरूपके सिवाय मेरा जगतमे कहीं कुछ नहीं है। जिस जिसको मैं अपना मानता आया था वे सब पर हैं। ऐसी भूत को निकाले और अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि करें, अपने को पायें, अपने निकट रहें तो इससे स कट भी टलेंगे और तुरन्त भी बहुत बड़ा आनन्द होगा। इस आत्मानुभवकी प्रशसा करके हम उस आत्मानुभवका यत्न क्यो नहीं करते? आत्मानुभव होगा तो ये चतुर्गतिके दुःख टल जायेंगे, निर्वाणपद प्राप्त होगा। इसलिए आत्माके जाननेमें, आत्माके निकट बसनेमें अपना साहस बनावें और प्रयत्न करें।

अण्णोण्णखज्जंता णिरिया पावंति दारुणं दुक्खं।
माया वि जत्थ भक्खदि अण्णो को तत्थ रक्खेदि ॥४२॥

अपने सहज स्वरूप और वर्तमान दशाका चिन्तन—यह आत्मा जिसे कि हम आप सब अपने-अपने में मैं हू, मैं हू इस ज्ञान द्वारा अनुभव करते हैं उस आत्माकी बात कह रहे हैं, यह आत्मा स्वभावतः स्वरूपतः केवल ज्ञानमात्र है। ज्ञानभाव और आनन्दभाव इतना ही इस आत्माका स्वरूप है। जो इसका स्वरूप है उसमें कोई खेद नहीं, आकुलता नहीं, यह स्वय प्रभु है, किन्तु आज हम आपकी जो वर्तमान दशा है उसे जब देखते है तो बड़ा अन्तर मालूम होता है। हूं तो मैं कैसा और बन क्या रहा हू? जैसे यहां कोई बड़ा पुरुष जिसको कि अपनी सम्पदा पर, अपनी प्रतिष्ठापर बड़ा गर्व था, उसकी कदाचित् दुर्दशा होने लगे तो वह सोचता है कि हाय मेरी कैसी नोई पोजीशन थी और यह हो क्या रहा है? यह तो एक लौकिक बात है। वहां वास्तविक तथ्य नहीं है लेकिन यहां देखो—मैं हू तो अपने स्वरूपमें कैसा महान्, ज्ञानानन्दस्वरूप हू, आकुलताका काम नहीं, क्षोभका अवसर नहीं, किन्तु दशा क्या हो रही, विडम्बना क्या बन रही कि ये हम आप नाना देहोको धारण करते हुए नाना क्लेश भोग रहे हैं। इन सारी विडम्बनाओंका मूल केवल इतना ही है कि हम अपने स्वरूपको तजकर, अपने स्वरूपकी दृष्टि न रखकर बाह्य पर्यायमें यह मैं हू, ऐसा जो अनुभव किया, बस इस परानुभवके कारण इतनी बड़ी विडम्बना

हो रही है।

संसारमें सर्वत्र विडम्बना— भैया ! पहिले तो यहाँ खूब परख लें कि इस लोकमें सुख भी है अथवा विडम्बना ही विडम्बना है। खूब परख लो इस संसारमें सुख रंचमात्र भी नहीं है, सर्वत्र विडम्बना ही विडम्बना है। कदाचित् मान लो बहुत बढ़िया सुखसाताके साधन मिले, आजीविका अच्छी चल रही, सब कुछ ठीक मिलकर भी उसमें कितनी विडम्बनायें बन रही है। कोई भी धनिक, कोई भी बड़ा पुरुष क्या रात दिनमें एक घंटा भी आरामसे रह पाता है? कभी किसी पर नाराज हो रहा, कभी नौकरको डाट रहा, कभी किसी हानिका खेद कर रहा। यों कितनी ही विडम्बनायें उसके साथ लगी हैं, सुख उसे कहाँ? हाँ, एक मानने भरका सुख है। इन सांसारिक सुखोंमें वास्तविकता कुछ नहीं है। ये सांसारिक सुख भी स्वप्नवत् हैं और इन्हें सुख मानने वाले भी स्वप्नकी तरह हैं। तथ्य यहां कुछ नहीं है, दुःख यहां सही हो रहे हैं, ये विडम्बनाएँ बराबर ठीक बन रही हैं। जैसे कि सुख एक कल्पनासे मान रहे हैं इस तरह ये जन्म मरण, ये कल्पनायें नहीं हैं। ये बारबार हो रहे हैं। हां यह कह सकते हैं कि हम जरा-जरासी बातों में थोड़ीसी प्रतिकूलतासे दुःखका अनुभव करते हैं तो वह तो है कल्पनासे किया गया दुःख। जैसे कि विषयोंके लोभमे हम कल्पनासे सुख मानते हैं इसी तरह कल्पनासे ही दुःख भी मानते हैं। इस सुख दुःख को तो कल्पना बतायी जा सकती है लेकिन जो जन्म हो रहा, मरण हो रहा, देह मिल रहे हैं यह तो मात्र कल्पनाकी चीज नहीं है। यह बात तो इस जीव पर बीत ही रही है। हां इसका मूल कल्पना है। यह जीव पर्यायमें यह मैं हू, शरीरमें यह मैं हू, ऐसी बुद्धि यदि न रखता तो इसके ये जन्म मरणके दुःख टल जाते और फिर कभी न होते।

यथार्थ तत्त्वज्ञान किये बिना संसार सकट मुक्तिके मार्गके लाभकी अपात्रता— जिनको संसारसकटोंसे बचना है उनका सर्व प्रथम यह निर्णय होना चाहिए कि मैं केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हू, देह मैं नहीं हूं। यह निर्णय किए बिना धर्मके मार्गमें कदम नही बढ़ाया जा सकता। यदि तत्त्वज्ञान न हो और भले ही भगवद्-भक्ति करके कुछ पुण्य लूट लिया गया, कुछ पुण्य बंध हो गया, उसके फलमें कुछ सांसारिक सुख मिल गया, लेकिन जन्म मरणके संकटोंका तांता तो न निकल सका। प्रभुभक्ति करके तो अपने आपके स्वरूप की श्रद्धा की जाती है, जो प्रभुका स्वरूप है सो मेरा स्वरूप है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा बनानेके लिए ही प्रभुभक्ति की जाती है। प्रभु स्वरूपको निरखकर अपने आपमें जो ऐब हो रहे उन पर पश्चात्ताप करनेसे अपनेमे निर्मलता बढ़ती है, यह तो लाभ है प्रभुभक्तिका, लेकिन सब कुछ करना खुदको ही पड़ेगा। जरा इस मार्गमें आकर, विषय प्रीतिमें आकर अपने आपको कायर बना देना और यह सोचना कि यह तो त्यागियोंके करनेका काम है, हम कहां ये काम कर सकते हैं, ऐसा सोचना एक अज्ञानता भरी बात है। अरे करनेकी बात क्या है? यदि कोई पुरुष लाखोंका वैभव पाकर यह अनुभव करे कि मैंने लाखों रुपये कमाये अथवा कोई पुरुष लाखोंका वैभव छोड़कर साधु बन जाय, जंगलोंमें रहे और वह यह अनुभव करे कि मैंने तो लाखोंका वैभव छोड़ा तो समझो कि सम्पदाका लगाव उन दोनों पुरुषोंने किया। एकने सम्पदाके कमानेके विकल्पका लगाव किया और एकने सम्पदाके छोड़नेके विकल्पका लगाव किया। तो जब तक मैं चैतन्यमात्र हूं, मैंने कहां धन कमाया, कहां धन छोड़ा, ऐसी श्रद्धा न जगेगी तब तक इसके ही विकल्प बने रहेंगे और वह सकटोंसे घिरा रहेगा। मैं न तो धनको कमाने वाला था, न धनको छोड़ने वाला था, मैं तो एक ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र हू, इस तरह जब तक अपने आपको ज्ञानभावमात्र अनुभव न किया जाय तब तक निर्जरा और मोक्षके मार्गमें हम जरा भी नहीं बढ़ सकते।

कितनीसी भूल और कितना दुष्परिणाम — भैया! केवल एक भूल किया कि देहको यह मैं हू ऐसा मान भर लिया कि इसके फलमें विडम्बना बहुत बड़ी बन रही है। कितनी बड़ी विडम्बना कि यह जीव

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय, नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदि नाना तरहकी पर्यायोंको धारण करता फिर रहा है व नाना तरहके क्लेश भोग रहा है। इन समस्त विपदाओंके पहाड़ टूटनेका कारण मूल इतना ही है कि देहको माना कि यह मैं हू। अब सोचिये कि जो बात बहुत सरल लग रही है—सोच लिया, जरा सी देरको मान लिया, किसीका कुछ चुराया तो नहीं, किसी को सताया तो नहीं, कोई और बाहरमें पाप तो नहीं किया, केवल एक मान भर लिया इस देहको निरखकर कि यह मैं हूं, बस इतनी सी गल्तीके फलमें नाना कुयोनियोंमें देह धारण करने पड़ रहे हैं और घोर दुःख सहन करने पड रहे है। तो यह जीव मिथ्यात्व और कषायके वशीभूत होकर नाना देहोंको धारण करता है। यही तो इसका ससार है।

तिर्यञ्चगतिमे परस्पर एक दूसरेके खाये जानेका क्लेश—विडम्बनामय ससारमे रुलरण करते हुए घूमता भटकता हुआ यह जीव तिर्यञ्चगतिमें आया। तिर्यञ्चगतिमें कैसे कैसे क्लेश सहने पड़ते हैं इसका यह वर्णन चल रहा है। तिर्यञ्चगतिमें इस जीवने जन्म लिया तो अनेक बार तो गर्भमें ही मारा गया। जैसे मासलोभी पशुके गर्भको ही विदारण करके उसका मासभक्षण करते अथवा चमडेके लोभी लोग गर्भको ही विदारण करके उसके बच्चेका चमड़ा ग्रहण करते तो अनेक बार तो मनुष्योंके द्वारा यह तिर्यञ्च जीव गर्भमें ही मारा गया और फिर तिर्यञ्चोंने तिर्यञ्चोंको परस्परमें खाया। सिंह अनेक पशुओं को खाते और वे अनेक पशु अन्य अनेक पशुओंको खाते, उनमें से अनेक पशु अन्य जीवोको खाते, इस तरह एक दूसरेको भक्षण करके ये तिर्यञ्च अपनी जिन्दगी बिता रहे हैं। एक दूसरे का घात करके यह तिर्यञ्च दारुण दुःखको प्राप्त करता है। और तो बात क्या कहें—जहा माता भी अपने बच्चे का भक्षण कर जाय उस तिर्यञ्चगतिमें अन्य कौन रक्षा करने में समर्थ है? सर्पिणीके बच्चे होते हैं तो सुना है कि वह सर्पिणी अपनी कुण्डली बनाकर उन बच्चोंक कुण्डलीमें रख लेती है और उनको खा जाती है। जो बच्चे कुण्डलीसे बाहर हो गए वे किसी तरहो बचकर भाग जाते है अथवा ये कुतिया, बिल्ली आदि जानवर भी क्षुधाकी तीव्र वेदना होने पर अपने बच्चोका भक्षण कर जाते हैं। तो जिस तिर्यञ्च गतिमें मां भी अपने बच्चोका भक्षण कर जाय वहा फिर रक्षा करनेमे अन्य कौन समर्थ हो सकता है?

तिर्यग्गतिमे जीवहि जीव आहाराकी उक्तिकी चरितार्थता—लोकमें ऐसी कहावत है कि जीवहिं जीव आहारा अर्थात् जीव जीवका भक्षक है सो यह बात तिर्यञ्च गतिमे प्रत्यक्ष चरितार्थ होती है। छिपकली, कीड़ा, मकौड़ा, मक्खी मच्छर आदिको खा जाते हैं, बडे बडे मगरमच्छ, छोटी छोटी मछलियोंको खा जाते हैं। स्वयंभूरमण समुद्रमें एक महामत्स्य रहता है, जिसकी बहुत बड़ी अवगाहना है, जो अपना मुँह बाये रहता है, उस मुखके अन्दर हजारों मछलियाँ किलोल करती रहती हैं। बहुत समय बाद जब कभी वह महामत्स्य अपना मुख बन्द कर लेता है तो वे हजारों मछलियाँ उसके पेटमें चली जाती हैं। उस महामत्स्यके कर्णके पास बैठा हुआ एक तंदुल मत्स्य जिसकी अवगाहना अत्यन्त छोटी है वह सोचता रहता है कि देखो हजारो मच्छी इसके मुखमें किलोल कर रही हैं पर यह खाता नहीं, इसकी जगह पर यदि मैं होता तो एक भी मछली बचने न देता। वह तदुलमत्स्य इस प्रकार के खोटे भाव बनानेके कारण और अधिक नीचे नरकमें जाता है जब कि वह हजारो मछलियाँ खा जाने वाला महामत्स्य उससे ऊपर के नरकमे जाता है। याने तदुलमत्स्य महामत्स्यकी अपेक्षा नीचे के नरकमें जाता है। तो आप देखिये कि अपध्यानका कितना बुरा असर इस भगवान आत्मा पर होता है?

स्वतत्त्वकी भावनाके अतिरिक्त अन्य विकल्पोकी अकर्तव्यता—जब तक अपने इस ज्ञानस्वरूप भगवान आत्माका आदर नहीं करते, ज्ञानस्वरूप अपने आत्मा अनुभव नहीं करते तब तक हमारा जीवन क्या जीवन है? पशु पक्षी हुए अथवा मनुष्य हुए सब समान हैं। यदि एक धर्मभाव हमारे चित्तमे न बसा,

अपने आपका सहज पवित्रस्वरूप अपने आपमें न आये तो जीवन बेकार है। स्वप्नवत् निकल गया जीवन तो लाभ क्या पाया ? जन्ममरणकी परम्परा तो बनी ही हुई है। प्रश्नोत्तररत्नमालिकामें एक जगह पूछा कि—'त्वरित कि कर्तव्यं,' अर्थात् बड़ी जल्दीसे क्या काम कर लेना चाहिए ? तो यहां तो लोग कहा करते हैं कि मुझे अमुक काम शीघ्र कर लेना चाहिए, मुझे अमुक, पर वहां उत्तर दिया गया कि 'विदुषा संसार=संततिच्छेदः अर्थात् विद्वान् पुरुषोंको तुरन्त करने योग्य काम है संसारकी संततिका छेदन कर देना। ससारकी संतति हैं रागद्वेष मोह, जन्म मरण आदि उसका विनाश करना। तो इन रागद्वेषादिके विनष्ट करनेका हमारे जीवनमें मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। अपना यह विश्वास हो कि ये बाह्य समस्त पदार्थ भिन्न हैं, असार हैं, विनाशीक हैं, ये धन वैभव आखिर मुझसे बिल्कुल भिन्न हैं तो फिर इनके पीछे अनेक प्रकारके विकल्प करनेसे क्या लाभ ? ये तो पुण्यानुसार आते हैं और ये मेरे कुछ काम नहीं आते। मै हू एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा। उसमें इन बाह्यपदार्थोंका प्रवेश नहीं। जब तक जीवन है तब तक एक गुजाराभर किया जा रहा है, मरणके बाद यहां का क्या मेरा साथी है ? ऐसा जानकर इस जग वैभवसे क्या प्रीति रखना। और प्रीति करना, राजी होना यह तो एक आत्माके लिए विपदा है। एक आत्मानुभवके अतिरिक्त अन्य जो विकल्प हैं वे मिथ्या है, विपत्तियोंके कारण हैं। कुटुम्बीजन हैं, स्त्री पुत्रादिक हैं सो उनके लिए जैसा जो कुछ हो रहा है सो ठीक है। आप धन वैभव कमाते नहीं हैं। बल्कि घरके जिन जीवोंका पुण्यका उदय है उनके आप चाकर बने हुए हैं। उनके पुण्यो-दयके कारण आप उस धनार्जनमे निमित्त मात्र बने हुए हैं, आपकी अन्यमें, बाहरमे कुछ करतूत नहीं है।

परकी प्रीतिमे सारका अभाव—इस क्षणिक वैभवकी प्रीतिमें क्या रखा ? कितनी ही किसीसे प्रीति की जाय, आखिर मरणके बाद कोई साथ नहीं जाता। कदाचित् कोई साथ भी जाय आगे पीछे मरकर, उस एक ही गतिमें पहुंच जाय तो भी उस गतिमे पूर्वभव जैसी बात तो हो नहीं सकती, प्रीति हो नहीं सकती। नरकोंमे तो वे स्वजन, वे कुटुम्बीजन जहाँ एक जगह उत्पन्न हो गए, वे एक दूसरेको देखकर काटमार कर डालते हैं। तिर्यञ्चोंमें भी पहिलेके स्वजन एक जगह उत्पन्न हो भी गए तो भी उन्हें क्या खबर ? वहाँ तो नया समागम। सबकी अपनी-अपनी जुदी-जुदी कषायें। अपनी-अपनी कषायके अनुसार वे अपना परिणमन करते हैं। वहां भी पूर्वभवके सम्बन्धका कुछ उठता नहीं है और फिर यहां भी जिसे माना है पुत्र, उस आत्मामें क्या यह सम्बन्ध जुड़ा हुआ है कि यह आत्मा पुत्र ही होगा ? जगतके अनन्त जीवोंमें से अटपट कोई भी जीव आकर जन्म ले ले उसीको ही ये मोही प्राणी कल्पना कर लेते कि यह मेरा है। सभी जीव और समस्त पदार्थ (चेतन अचेतन) मुझसे अत्यन्त निराले हैं। मैं केवलज्ञान और आनन्दभाव वाला चिद्ब्रह्म हूं, इस तरहकी प्रतीति बने तो इस जीवका मनुष्य जीवनका पाना सफल है अन्यथा तो जैसे पशु पक्षी आदिक अनेक जीव आते है और मरते है, बिछुड़ते हैं उनही की तरह यह जीवन रहा। तो इस तिर्यञ्चभवमे जहां कि एक दूसरेको परस्पर खा जाते है, जहां इस तिर्यञ्चको उत्पन्न करने वाली माता भी खा जाती है वहां अन्य कौन रक्षा करने वाला है ? बड़ा कठिन दुःख है और भी क्या है तिर्यञ्चोंमे क्लेश ? सो सुनिये—

तिव्व–तिसाए तिसिदो तिव्व–विभुक्खाइ भुक्खिदो संतो।
तिव्वं पावदि दुक्खं उयर–हुयासेण डज्झंतो ॥४३॥

तिर्यग्गतिमे तीव्र दुःखोंकी प्राप्ति—ये तिर्यञ्च जीव तीव्र प्याससे प्यासे होकर, तीव्र भूखेसे भूखे होकर, उदराग्निसे जल जलकर तीव्र दुःखको प्राप्त करते हैं। कितने ही कुत्ते बिल्ली जिनका पेट भूख प्यासके मारे एकदम मिल गया हो उनके खानेका कोई उपाय नहीं है, वे भूखे और दुःखी रहते है और उस बुभुक्षामें पेटकी अग्नि जलती है और उससे खून सूखता है, भूखके मारे व्याकुल होकर बडे आर्त रौद्र

आदि स्थानोंसे मरकर खोटी गतियोंमे जन्म लेकर घोर दुःख सहन करते हैं। नरक गतिमें तो उपाय ही नहीं है। भूख प्यासकी बड़ी तीव्र वेदना नरकोंमें होती है, लेकिन वहां अन्नका एक दाना नही मिलता व पानीका एक बूँद भी नहीं मिलता। इस भूख प्यास आदिकी तीव्र वेदनाओंका घोर दुःख वे नारकी जीवो सागरोपर्यन्त तक सहते रहते हैं। तिर्यञ्चोंमे भी अन्यायसे, भक्ष्य अभक्ष्य आदि कुछ भी चीजे मिल भी जाती है, लेकिन उसका कोई निश्चय नहीं। विरला ही कोई पशु धनिकोंके यहाँ पला पूसा हो और बड़ी अच्छी तरह रहा हो, नहीं तो प्रायः सभी पशु भूख, प्यास आदिकी वेदनाओंसे पीड़ित रहा करते हैं। जिनको भोजनसामग्री व्यवस्थित ढंगसे मिलती भी है वे पालतू पशु हैं, वे बन्धनमे बंधे होते हैं। सो वे बन्धनमें बंधनेका दुःख भोगते हैं। तो इन तिर्यञ्चोको घोर दुःख है। कोई पुरुष किसी झोंटा आदि जानवरको बाहर बांध जाय और उसे खोजनेका ध्यान न रहे तो वह बेचारा झोंटा सारे दिन भर भूख, प्याससे पीड़ित रहता है। अनेक पशु तो इस तरहसे मरण भी कर जाते हैं। उनको कौन बचा सकता है? वे बेचारे पशु बोल सकते नहीं, भूख, प्यास लगे तो बता सकते नहीं, एक उनकी जैसी आवाज है उससे वे चिल्लाते रहेंगे, उन पर दया भी कोई नहीं करते। तो ये तिर्यञ्च भूख, प्यासके घोर दुःखोंसे व्याकुल रहा करते हैं। कभी कहीं खाना मिल गया, वहां मुंह मार दिया तो उस पर लोग डंडे बरसाने लगते हैं तो कितने कठिन दुःख तिर्यञ्चगतिमे इस जीवको सहन करने पड़ते हैं। उन दुःखोंसे बचानेमें अन्य कौन समर्थ है?

एवं बहु-प्पयारं दुक्खं विसहेदि तिरिय-जोणीसु।
तत्तो णीसरिदूणं लद्धि-अपुण्णो णरो होदि॥४४॥

तिर्यंग्गतिसे निकलकर लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य होनेमें निगोदवत् क्लेशोका उपभोग— इस तरहसे तिर्यञ्चगति के नाना दुःखोंको सहता हुआ यह जीव, जब कभी वहांसे निकलता है और हो गया लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य तो भी क्या लाभ उठाया? मनुष्य दो प्रकारके हैं— लब्ध्यपर्याप्तक और पर्याप्तक। पर्याप्तक मनुष्य तो जैसे यहां पुरुष, स्त्री, बच्चा, बच्ची आदि मनुष्य है वे कहलाते हैं। भोग भूमियाके मनुष्य भी पर्याप्तक मनुष्य हैं, पर एक लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य भी होते हैं, जिनका नाम तो है मनुष्य लेकिन उनकी निगोद जैसी दशा है। कर्मभूमिज स्त्रियोंके काख, पेट आदिक स्थानोंसे उनकी उत्पत्ति होती रहती है। जिनका शरीर दिखने लायक, फिरने लायक नही होता है। वे होते हैं और तुरन्त मर जाते हैं। उनकी निगोद जैसी दशा समझिये। वे एक मनुष्य हैं, पञ्चेन्द्रिय भी हैं और उनके मन भी है लेकिन उनकी निगोद जैसी दशा है। वे एक श्वासमें आठ दस बार जन्म मरण करते हैं, उन्हें विवेक करनेका अवसर नहीं मिलता है। वे जन्मते हैं, मरते हैं, यों कठिन क्लेश भोगते रहते हैं। तो बहुत प्रकारके तिर्यञ्च-योनियोंमे दुःख भोग करके यह जीव मनुष्य हुआ तो लब्ध्यपर्याप्तक हुआ तो क्या लाभ? लब्ध्यपर्याप्तक का अर्थ है, लब्धि और अपर्याप्त अर्थात् लब्धि भी अपर्याप्त, याने जहाँ पर्याप्तिकी लब्धि न हो, उपलब्धि न हो उसे कहते हैं लब्ध्यपर्याप्त। मनुष्य उत्पन्न हुआ और शरीर पर्याप्ति पूरी नहीं हो पाती कि मरण हो जाता है, वे हैं लब्ध्यपर्याप्तक। वे वहीं जन्मते और वहीं मरते हैं। तो ऐसे मनुष्य होनेसे भी इस आत्माको लाभ क्या? यह जीव निगोदसे, स्थावरसे, विकलत्रयसे निकलकर कभी मनुष्य नाममें भी आया और बन गया लब्ध्यपर्याप्तक तो वह लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य एक भवकी गिनती कर गया, लाभ कुछ हुआ।

सर्वत्र संसारमें क्लेश-- यह संसारका चरित्र बताया जा रहा है कि संसारमें सर्वत्र क्लेश ही क्लेश हैं। संसार भावनामें भूधरदासजीने बारह भावनामें कहा है कि 'दाम बिना निर्धन दुखी तृष्णावश धनवान। कहूं न सुख संसारमें, सब जग देख्यो छान॥' यह बात एक मोटी दृष्टिसे बतायी गई है। केवल एक

मनुष्यभव पर दृष्टि रखकर कहा गया है कि देखो— अनेक मनुष्य धनके बिना दुःखी है और अनेक मनुष्य धनी है तो तृष्णाके कारण दुःखी है। और इस ससारमें खूब देखा भाला खूब छाना, पर कहीं सुख नजर नही आता। यह दृष्टि एक मनुष्यभव पर डालकर कहा गया है यह भी ससारके दुःखका चित्रण है किन्तु कुछ और व्यापक दृष्टि बनाकर देखे, एकेन्द्रिय आदिक जीवोंपर दृष्टि डालकर देखें तो विदित होगा कि इस जीव पर महान कष्ट हैं। आज है मनुष्य, मरकर हो गए कीड़ा मकौड़ा, अब क्या तो घमण्ड चलेगा, क्या सुकुमालताकी बात चलेगी ? जो जो बातें मनुष्यभवमें करते थे उनका अब कुछ भी गौरव नहीं, बडे दुःख सहने पड़ते है। तो संसारमे सर्वत्र दृष्टि डालकर देख लो, यह सारा संसार दुःखमय है। यहां सुखका नाम नही। कभी थोड़ा भोग विषय मिले, सुखकी कल्पनाएँ करते तो वे सुख क्या है ? जैसे कहते हैं कि सरसोंके दाने बराबर तो सुख और पहाड़ बराबर दुःख। यह है जीवनका सग। इस जीवनमें प्रीति न करके केवल एक आत्मस्वभावके परिचयकी प्रीति रुचि करनी चाहिए। यदि हम अपने सहज स्वभावको जान सकें तो संसार सकटोंसे पार हो जायेंगे, यह प्रभुभक्ति भी सफल हो जायेगी अन्यथा जन्ममरण करते रहेंगे और इस मनुष्यभवके पानेका कुछ भी लाभ न उठा सकेंगे।

अह गब्भे वि य जायदि तत्थ वि णिवडीकयंग-पच्चगो।
विसहदि तिव्व दुक्खं णिग्गममाणो वि जोणीदो ॥ ४५ ॥

पर्याप्त मनुष्य होनेमे गर्भस्थ रहनेका क्लेश—तिर्यञ्च और नरकगतिके दुःखोंके भोगने के बाद कभी यह जीव मनुष्य भी हुआ और हुआ लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य तो उसने इस मनुष्य जीवनसे लाभ क्या पाया ? निगोदिया जीवोंकी भाँति दुःख सहकर जीवन बिताया। कदाचित् यह गर्भमें भी उत्पन्न हुआ अर्थात् गर्भज मनुष्य हुआ तो वहा गर्भमे शरीरके अंगोपाङ्ग संकुचित रहते हैं। और जब गर्भसे निकलता है तो तीव्र दुःखको सहना है। लोग प्रायः ऐसा कहते है कि जब गर्भसे निकला बालक तब उसका जन्म हुआ पर जन्म तो उसका तभी हो चुका था जब गर्भमे आया था। बल्कि उससे भी पहिले पूर्वभवमें जहाँ मरण किया उस मरण समय ही उत्तरजन्म है। उस स्थानको छोड़नेके बाद तीन समय जो विग्रहगतिमें भी लग सकते है, वहा भी नया जन्म है। तो यह जीव जब गर्भमे रहा तब बड़े संकुचित अंग होनेसे दुःखी रहा। जैसे किसी पुरुषको संकुचित करके बाँध दिया जाय तो वह बडा दुःखी होता है, उससे भी अधिक दुःख गर्भमें सकुचित हालतमे रहना है। इस शरीरके अंग मनुष्यके गर्भमे आयुर्वेद शास्त्रोंके अनुसार ५—६ महीनेके बाद एक स्पष्टरूपसे बनना प्रारम्भ होते है। उससे पहिले माह दो माहके गर्भमें या कुछ दिनके गर्भमें कैसी जीवकी स्थिति होती है कि जिसमे अङ्गोपाङ्ग भी प्रकट नहीं हो पाते हैं। ऐसी स्थितिमें यह जीव गर्भमें रहता है, और जहां अङ्गोपाङ्ग प्रकट हुए वहा इसके अङ्ग संकुचित रहते हैं। इस कारण यह जीव अत्यन्त दुःखी रहता है। वह अपना मुख नही खोल सकता। नाभिमे लगी हुई नालिकासे ही वृक्षोंकी भाँति उसका आहार होता रहता है जिससे जीवन रहता है। ऐसी दुःखमयी अवस्थामें यह जीव गर्भमे निवास करता है। इस देहके अग ८ है— सिर, दो हाथ, छाती, पीठ, नितम्ब और दो पैर और इनमे जो अगुली, नाक आदिक है ये उपाङ्ग कहलाते हैं। ये अङ्गोपाङ्ग गर्भमें संकुचित रहते हैं इस कारण वह जीव गर्भमे दुःखी रहा।

गर्भसे निकलनेका क्लेश और धर्म विना जीवनकी व्यर्थता— जब गर्भसे निकला तो गर्भसे निकलते समय इस जीवको बड़ा कष्ट होता है। इस कष्टका यों अदाज करिये कि जैसे कोई सुनार तारको पतला करते समय कोई यंत्रके छिद्रसे उस तारको खींचता है इसी प्रकार उस उत्पन्न होने वाले जीवको भी खिंचना होता है और उस समय उसे बड़ी कड़ी वेदना होती है। ये वेदनाये हम आप सबने सही हैं पर अब ध्यान नही है, बतलावो जब गर्भके समयकी भी वेदनाका ध्यान नहीं है और जब गर्भसे निकल रहे

तब की वेदनाका ध्यान नहीं, और तो जाने दो, वर्ष दो वर्षकी उम्रकी चेष्टाओंका भी ध्यान नहीं तो पूर्वभवका तो कहा ध्यान है ? यही कारण है कि भोगे हुए दुःखका यथार्थ स्मरण नहीं कर पाते और विषय सुखोमें लगनेकी आसक्ति और धुन बनी रहती है । ऐसे कठिन दुःखोंको यह मनुष्य गर्भमे और गर्भसे निकलते समय सहन करता है । अब समझिये कि हम इतने वडे मनुष्य होकर, कुछ साधन पाकर किस बातपर अहंकार करे और मौज माने ? कितने दिनका यह समय है ? बुढापा होगा, मरण होगा, फिर जन्म लेना होगा । तो तिर्यञ्च, नरकमे जन्म लेने पर तो बड़ी बाधाये हैं, संकट है ही । कभी मनुष्य भी हो गया तो वहाँ फिर ऐसे गर्भके और ऐसे गर्भसे निकलने के सकट आयेंगे । तो यों समझिये कि बड़े बन गए, बड़े बनकर फिर एकदम लघु बनना है तो यहाँ मौज मानने का कोई अवसर न समझिये ।

बालो वि पियर-चत्तो पर-उच्छिट्ठेण वड्ढदे दुहिदो ।
एव जायण-सीलो गमेदि काल महादुक्खं ॥४६॥

मानवजीवनमे उच्छिष्ट भोजनकी भी आशा रखनेके क्लेशोका प्रसग—यह जीव मनुष्य तो हो गया, पर मनुष्योंमे भी कितने कठिन दुःख होते हैं । दुःख तो अनेक प्रकारके होते हैं, किन्तु उनमेसे कुछ दुःखोंकी बात कह रहे हैं कि अनेक बालक तो ऐसे हुए कि जिनको बचपनमें ही मां बाप छोडकर चले गए । वह असहाय बालक दूसरोंका जूठा भोजन खा खाकर अपना जीवन बिताता है और दुःखी होता है । कितनी ही जगह तो यों देखा गया कि बहुतसे अत्यन्त दरिद्र लोग भूखसे व्याकुल होकर ग्लान पदार्थोमे भी अन्न तलाशते हैं जैसे कि गाय भैस आदि अन्न खाने वाले पशुओंका गोबर इकट्ठा किया और उसे धो धोकर उससे अन्न निकालते है और उस अन्नको धो सुखाकर भोजनके काममें लेते हैं । बहुतसे लोग तो गंदी नालियोंसे अथवा कूडा करकटसे खानेकी चीज उठाकर खा जाते है, तो कितने ही असहाय दरिद्र लोग

मे ही मस्त रहे, विकल्पोंमें संचयमे ही धुन बनाये रहे और कल्पित सुखोंमें ही रहकर अपनी जिन्दगी गुजार दो तो क्या वह जिन्दगी बेकार जिन्दगी नहीं है ? एक दीन मनुष्य ने इस १०-२०-५० वर्षके जीवनको कष्ट भोग भोगकर बिताया और एक सुखिया मनुष्यने जो पुण्योदय पाकर अपने को बड़ा गौरवशील समझता है उसने कल्पित सुखोंमे ही रमकर अपने जीवनका समय बिता दिया तो आखिर मरण तो दोनोंका ही होता है। सम्भव है कि वह दीन पुरुष प्रभुकी याद रखकर, पापकार्योंसे बचकर सद्गतिको पा ले और वह विषयसुखोंमें मस्त हुआ पुरुष कहो दुर्ध्यानमें मरकर कुगतिका पात्र बने। तो जैसे दरिद्रका जीवन लोग बेकारका समझते हैं ऐसे ही उससे भी अधिक बेकार जीवन विषयसुखोंमें मग्न रहने वाले पुरुषका समझना चाहिए। ये सभी खोटे फल बुरे कामोसे उपार्जित किए गए पापकर्मके उदयसे होते है किन्तु फिर भी यह जीव पाप ही करता है। पुण्यको कभी उपार्जित नहीं करता।

मोहियोंकी चाह और प्रवृत्तिकी विषमता—देखो भैया ! यह जीव चाहता तो है पुण्यका फल और करता है पापका फल भोगनेका काम। तो यों कैसे पुण्यफलकी प्राप्ति होगी ? सत्यता तो यह है कि संसार के यथार्थ स्वरूपको जाने, अपने आपके यथार्थ रहस्यको जानें और समस्त परभावोंसे भिन्न अपने आत्मा के सहज ज्ञानानन्द स्वरूपका ध्यान रखे, इसकी उपासना करें। यह तो है सकटोंसे तिरनेका उपाय और इसके अतिरिक्त जो भी परपदार्थका सम्बन्ध बनाकर उपयोग बनता है, परिणाम बनता है वह है ससार के कष्ट पानेका उपाय। ससारके जीव रात दिन पापके काममें ही लगे रहते हैं, इस कारण पापकर्मका ही बध करते हैं और इस पापकर्मके कारण उन्हें पुनः जन्म लेना पडता है, किन्तु पुन जन्म लेकर भी पाप के ही संचय करने में लगे रहते है। उनका सारा जीवन खाने पीनेमें, इन्द्रियोंके दास बने रहनेमे व्यतीत होता है, इसी कारण उनका मन धार्मिक कार्योंमें नहीं लगता है। ऐसे पाप परिणाम वाले जीव चाहे ऊपरी रूपक धर्मात्माका भी बनायें तो भी भेषसे बात नहीं बनती। बंध तो भीतरके परिणाम जैसे हों उसके अनुसार तत्काल ही हो जाता है। तो देखिये— आश्चर्यकी बात कि पापकर्मके उदयसे ये जीव दुःखी हो रहे हैं, फिर भी पाप ही कमाते हैं।

विरलो अज्जदि पुण्णं सम्मादिट्ठी वएहि एंजुत्तो।
उवसम-भावे सहिदो णिंदण-गरहाहि सजुत्तो ॥४८॥

सम्यग्दर्शनकी रक्षकता— विरला ही कोई पुरुष है ऐसा जो पुण्यका अर्जन करता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष अथवा व्रतोंसे संयुक्त पुरुष जो मंद कषाय है, जो अपने अपराधकी निन्दा और गरहा करते रहते है, ऐसे विरले ही पुरुष पुण्यका उपार्जन करते हैं। इस जीवका रक्षक सम्यक्त्व परिणाम है। जगतमें अन्य कोई इस जीवका रक्षक नहीं है। सम्यग्दर्शन क्या ? इसका सीधा स्वरूप तो यह है कि परद्रव्योंसे निराला, देहसे भी निराला अपने आपके ज्ञानमात्र स्वरूपकी प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। मै केवल ज्ञानमात्र हू, ज्ञानभावके सिवाय मुझमें अन्य कोई रूप, रस आदिक नहीं है, मै केवल ज्ञानरूप हू। अपने आपको केवल इतना ही मान करके रहना, ऐसा ही एक ध्यान जमाना कि मै ज्ञान-ज्ञान हूं। ज्ञानभावके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं हूं। यो ज्ञान ज्ञानरूपसे बराबर अपनी भावना करे, ज्ञानरूपमें अपने आपको निरखनेका यत्न करे तो बाह्य समस्त विकल्प हटनेसे और एक ज्ञानमात्र स्वरूपमे ही ज्ञानोपयोग रहनेसे इस जीवको अद्भुत विश्राम प्राप्त होता है। उस विश्राममे यह अपने आपके सहज स्वरूपका अनुभव करता है, यह अनुभव सम्यग्दर्शन है। उस अनुभवके होनेके बाद जो निजकी यथार्थ प्रतीति रहती है वह भी सम्यक्त्वप्रवर्तनाका प्रसाद है। उसका स्मरण और प्रतीति भी इस जीवको विलक्षण आनन्द प्रदान करती है। तो सम्यग्दर्शन ही हम आप सबका रक्षक है।

सम्यक् परिणामसे अतिरिक्त अन्य अर्थोंसे आपकी रक्षाकी असंभवता— अपने सम्यक् परिणामके अलावा

तब की वेदनाका ध्यान नहीं, और तो जाने दो, वर्ष दो वर्षकी उम्रकी चेष्टाओंका भी ध्यान नहीं तो पूर्वभवका तो कहा ध्यान है ? यही कारण है कि भोगे हुए दुःखका यथार्थ स्मरण नहीं कर पाते और विषय सुखोमे लगनेकी आसक्ति और धुन बनी रहती है। ऐसे कठिन दुःखोंको यह मनुष्य गर्भमें और गर्भसे निकलते समय सहन करता है। अब समझिये कि हम इतने बडे मनुष्य होकर, कुछ साधन पाकर किस बातपर अहकार करे और मौज माने ? कितने दिनका यह समय है ? बुढापा होगा, मरण होगा, फिर जन्म लेना होगा। तो तिर्यञ्च, नरकमे जन्म लेने पर तो बड़ी बाधाये है, संकट है ही। कभी मनुष्य भी हो गया तो वहाँ फिर ऐसे गर्भके और ऐसे गर्भसे निकलने के सकट आयेंगे। तो यों समझिये कि बडे बन गए, बड़े बनकर फिर एकदम लघु बनना है तो यहाँ मौज मानने का कोई अवसर न समझिये।

बालो वि पियर-चत्तो पर-उच्छिट्ठेण वड्ढदे दुहिदो।
एव जायण-सीलो गमेदि काल महादुक्खं ॥४६॥

मानवजीवनमे उच्छिष्ट भोजनकी भी आशा रखनेके क्लेशोका प्रसग—यह जीव मनुष्य तो हो गया, पर मनुष्योंमे भी कितने कठिन दुःख होते हैं। दुःख तो अनेक प्रकारके होते हैं, किन्तु उनमेसे कुछ दुःखोंकी बात कह रहे है कि अनेक बालक तो ऐसे हुए कि जिनको बचपनमे ही मां बाप छोडकर चले गए। वह असहाय बालक दूसरोंका जूठा भोजन खा खाकर अपना जीवन बिताता है और दुःखी होता है। कितनी ही जगह तो यों देखा गया कि बहुतसे अत्यन्त दरिद्र लोग भूखसे व्याकुल होकर ग्लान पदार्थोंमे भी अन्न तलाशते हैं जैसे कि गाय भैंस आदि अन्न खाने वाले पशुओंका गोबर इकट्ठा किया और उसे धो धोकर उससे अन्न निकालते है और उस अन्नको धो सुखाकर भोजनके काममे लेते है। बहुतसे लोग तो गंदी नालियोंसे अथवा कूड़ा करकटसे खानेकी चीज उठाकर खा जाते है, तो कितने ही असहाय दरिद्र लोग जिनको बचपनमे ही उनके माता पिता छोड़कर कहीं बाहर चले गए अथवा मरण कर गए, वे दूसरोंका जूठा भोजन खा खाकर जीवन गुजारते है और दुःखी रहा करते हैं। ऐसे याचनाशील, मागमांग कर पेट भरने वाले बालक प्रथम तो गर्भमें ही घोर दुःख पाते, दूसरे गर्भसे निकलते समय बड़ा दुःख पाते, और बादमे मा बाप छोडकर कही चले गए अथवा मर गए, अथवा उपेक्षा कर दी तो वे बालक दीन बन कर दूसरोका जूठा भोजन खा खाकर अपना पेट भरते है और बहुत दुःखी रहकर अपने जीवनका समय व्यतीत करते है। (ये दुःखकी बाते हम दूसरे दरिद्र पुरुषोकी नहीं कह रहे।) आत्मा वे भी है, आत्मा हम भी है। ऐसी स्थितिया हम आप पर भी अनेक बार आयी होंगी अथवा आ सकेंगी कि इस तरहसे दुःखसे भीख मांग मांगकर अथवा जूठा खा खा कर पेट भरते हैं और पेट नहीं भरता है तो भूखे ही रह रहकर अपना जीवन बिताते हैं।

पावेण जणो एसो दुक्कम्म-वसेण जायदे सव्वो।
पुणरवि करेदि पाव ण य पुण्ण को वि अज्जेदि ॥४७॥

पापवश जीवका क्लेशमय स्थितियोसे घिराव—यहां सभी प्रकारके दुःख पाप कर्मोंसे अर्जित होते हैं। तो खोटे परिणामोंके करनेसे जिन पापकर्मोंका बन्ध होता है उनके उदयकालमे ऐसे कठिन दुःख भोगने पड़ते है। हम ऐसे दुःख भोगते हुए जब उन दीन भिखारियोंको निरखते है, असहायोंको देखते है तो कभी कृपाका भी भाव जगता है। वह कृपाका भाव जगनेका मूलभाव यह है कि उस भावको निरख कर अपने ही समान समझकर यह अदाज हो जाता है कि व्यक्त या अव्यक्तके रूपमें कि ऐसी अवस्था कभी भी हो सकती है और तब एक दुःख उत्पन्न होता है, कितना कठिन क्लेश है, इनकी जिन्दगी क्या जिन्दगी है। इन अधोकी भिखारियोंकी, पशुओंकी जिन्दगी क्या जिन्दगी है ? इनका बेकार जीवन है, ठीक है, उनके सम्बन्धमे तो ऐसा सोच लेते है लेकिन खुदके सम्बन्धमें भी तो बात सुनो। विषय कषायो

में ही मस्त रहे, विकल्पोंमें संचयमें ही धुन बनाये रहे और कल्पित सुखोंमें ही रहकर अपनी जिन्दगी गुजार दी तो क्या वह जिन्दगी बेकार जिन्दगी नहीं है? एक दीन मनुष्य ने इस १०-२०-५० वर्षके जीवनको कष्ट भोग भोगकर बिताया और एक सुखिया मनुष्यने जो पुण्योदय पाकर अपने को बड़ा गौरवशील समझता है उसने कल्पित सुखोंमें ही रमकर अपने जीवनका समय बिता दिया तो आखिर मरण तो दोनोंका ही होता है। सम्भव है कि वह दीन पुरुष प्रभुकी याद रखकर, पापकार्योंसे बचकर सद्गतिको पा ले और वह विषयसुखोंमें मस्त हुआ पुरुष कहो दुर्ध्यानमें मरकर कुगतिका पात्र बने। तो जैसे दरिद्रका जीवन लोग बेकारका समझते हैं ऐसे ही उससे भी अधिक बेकार जीवन विषयसुखोंमें मग्न रहने वाले पुरुषका समझना चाहिए। ये सभी खोटे फल बुरे कामोंसे उपार्जित किए गए पापकर्मके उदयसे होते हैं किन्तु फिर भी यह जीव पाप ही करता है। पुण्यको कभी उपार्जित नहीं करता।

मोहियोंकी चाह और प्रवृत्तिकी विषमता—देखो भैया! यह जीव चाहता तो है पुण्यका फल और करता है पापका फल भोगनेका काम। तो यों कैसे पुण्यफलकी प्राप्ति होगी? सत्यता तो यह है कि संसार के यथार्थ स्वरूपको जाने, अपने आपके यथार्थ रहस्यको जानें और समस्त परभावोंसे भिन्न अपने आत्मा के सहज ज्ञानानन्द स्वरूपका ध्यान रखे, इसकी उपासना करें। यह तो है संकटोंसे तिरनेका उपाय और इसके अतिरिक्त जो भी परपदार्थका सम्बन्ध बनाकर उपयोग बनता है, परिणाम बनता है वह है ससार के कष्ट पानेका उपाय। ससारके जीव रात दिन पापके काममें ही लगे रहते हैं, इस कारण पापकर्मका ही बंध करते हैं और इस पापकर्मके कारण उन्हें पुनः जन्म लेना पड़ता है, किन्तु पुन: जन्म लेकर भी पाप के ही संचय करने में लगे रहते है। उनका सारा जीवन खाने पीनेमें, इन्द्रियोंके दास बने रहनेमें व्यतीत होता है, इसी कारण उनका मन धार्मिक कार्योंमें नहीं लगता है। ऐसे पाप परिणाम वाले जीव चाहे ऊपरी रूपक धर्मात्माका भी बनाये तो भी भेषसे बात नहीं बनती। बंध तो भीतरके परिणाम जैसे हों उसके अनुसार तत्काल ही हो जाता है। तो देखिये— आश्चर्यकी बात कि पापकर्मके उदयसे ये जीव दु:खी हो रहे हैं, फिर भी पाप ही कमाते हैं।

विरलो अज्जदि पुण्णं सम्मादिट्ठी वएहि संजुत्तो।
उवसम-भावे सहिदो णिंदण गरहाहि संजुत्तो ॥४८॥

सम्यग्दर्शनकी रक्षकता— विरला ही कोई पुरुष है ऐसा जो पुण्यका अर्जन करता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष अथवा व्रतोंसे संयुक्त पुरुष जो मंद कषाय है, जो अपने अपराधकी निन्दा और गरहा करते रहते हैं, ऐसे विरले ही पुरुष पुण्यका उपार्जन करते हैं। इस जीवका रक्षक सम्यक्त्व परिणाम है। जगतमें अन्य कोई इस जीवका रक्षक नहीं है। सम्यग्दर्शन क्या? इसका सीधा स्वरूप तो यह है कि परद्रव्योंसे निराला, देहसे भी निराला अपने आपके ज्ञानमात्र स्वरूपकी प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानभावके सिवाय मुझमें अन्य कोई रूप, रस आदिक नहीं है, मैं केवल ज्ञानरूप हू। अपने आपको केवल इतना ही मान करके रहना, ऐसा ही एक ध्यान जमाना कि मैं ज्ञान-ज्ञान हूं। ज्ञानभावके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं हू। यों ज्ञान ज्ञानरूपसे बराबर अपनी भावना करे, ज्ञानरूपमें अपने आपको निरखनेका यत्न करे तो बाह्य समस्त विकल्प हटनेसे और एक ज्ञानमात्र स्वरूपमें ही ज्ञानोपयोग रहनेसे इस जीवको अद्भुत विश्राम प्राप्त होता है। उस विश्राममें यह अपने आपके सहज स्वरूपका अनुभव करता है, यह अनुभव सम्यग्दर्शन है। उस अनुभवके होनेके बाद जो निजकी यथार्थ प्रतीति रहती है वह भी सम्यक्त्ववर्तनाका प्रसाद है। उसका स्मरण और प्रतीति भी इस जीवको विलक्षण आनन्द प्रदान करती है। तो सम्यग्दर्शन ही हम आप सबका रक्षक है।

सम्यक् परिणामसे अतिरिक्त अन्य अर्थोंसे आपकी रक्षाकी असंभवता— अपने सम्यक् परिणामके अलावा

और किसको बनाओगे आप रक्षक ? बडे लम्बे चौडे ढंगके महल भी बना लिये, वे महल सदा रहेंगे क्या ? अथवा उन महलोंको छोड़कर जाना न होगा क्या ? ये महल मेरे रक्षक नहीं हैं। ये परिजन, मित्रजन, सहयोगीगण भी सदा साथ न रहेंगे, ये भी इस जीवके मददगार न होंगे। लोकव्यवहारमे जिस तरह कहा करते है उसकी बात कह रहे हैं। वस्तुत तो कोई भी जीव किसी दूसरेकी मदद नहीं करता। सबको अपना-अपना आनन्द प्रिय है, सभी अपना सुख पानेके लिए अपनी चेष्टा करते हैं। प्रत्येक संसारी प्राणीके कषाय उत्पन्न होती हैं, चाहे वह लोभ कषाय हो, माया हो, किसी परवस्तुके प्रसगमें कोई इष्ट अनिष्टकी बात उत्पन्न होती है, उसकी सिद्धिके लिए यह जीव अपनी चेष्टा करता है, सो जब इसको यह विदित होता कि देखो भाई अमुक काम करनेसे या अमुकके अनुकूल चलनेसे मेरेको सुख होगा तो वह अपनी चेष्टा करता है, कोई किसी दूसरेका उपकार नही करता। तो प्रथम तो कोई किसी का कुछ करता ही नही है और करता है तो यह जोव समझता है कि यह मेरा बहुत बड़ा प्रेमी है, किन्तु कर रहा है वह अपना ही कार्य। तो यह जीव अपने स्वार्थके वश होकर कषायसे पीड़ित होकर यह सुख के लिए पापकर्मका तो उपाय समझता है, पर यह नही जान पाता है कि मै अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि दूँ और अनर्थ व्यर्थ भिन्न इन परसगोंसे अपनी दृष्टि हटाऊँ तो मेरा भला होगा, यह बात उसके चित्त मे नहीं आती। यही मिथ्या परिणाम है। तो मिथ्या परिणामसे ही जीव दु:खी है और सम्यक्त्व परिणाम जगे तो इस जीवको शान्तिका उपाय प्राप्त हो।

सम्यक्त्वके साधकोमे ज्ञानीका व्यहार और बाधकोसे उपेक्षा-- सम्यक्त्व क्या है, परद्रव्यसे, शरीरसे, परभावोंसे भिन्न आत्माकी श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है। अब इस प्रकारकी आत्मप्रतीतिके साधक कौन कौन हैं, क्या क्या उपाय हैं, उन उपायोको भी व्यवहारत सम्यग्दर्शन कहते हैं। जैसे देव, शास्त्र, गुरुका यथार्थ श्रद्धान करना, इससे अपने आत्माके सहज स्वरूपकी प्रतीतिमें मदद मिलती है। सो अनुभव करके भी आप समझ रहे होंगे। जो रागद्वेश रहित अपने गुणोंमे पूर्ण विकसित आत्मा है वह देव है, ऐसे देवकी जब श्रद्धा होती है तो अपने आपके स्वरूपका भी परिचय होता है। मै वह हू जो है भगवान, जो मै हूं वह हैं भगवान। यदि प्रभुपरिचयके द्वारा अपने आपके स्वरूपका परिचय न हो तो वह प्रभुभक्ति हमारे लिए ससारसे तिराने वाली नहीं बन सकती। हॉ, कुछ मद कषाय हो, पुण्यबध हो, ससारके सुख मिले यह बात दूसरी है। लेकिन जैसे समझिये कि बकरेकी मा कितने दिन तक बच्चेकी जिन्दगी की खैर मनाये ? मान लो कहीं इतवारको कषायी लोग धर्मका नाम लेकर बकरेकी बलि चढ़ाते हों और किसी दिन एक इतवार गुजर गया और बकरीका यह बच्चा न पकड़ा गया, न मारा गया तो वह बकरे की माँ बड़ा सन्तोष करती है कि हमारा यह इतवार अच्छा निकल गया। तो एक अहानेमे कहते है कि बकरेकी माँ कितने इतवारकी खैर मनाये ? यों ही समझिये कि हम आपने यदि जीवनके ये कुछ वर्ष विषयभोगोंमें सुख सुविधाओमे गुजार लिये तो हम कितनी खैर मनावें, आखिर मरना होगा. भावनानुसार गतियोंमें जन्म लेना होगा। इस कारण वर्तमानमे पाये हुए समागमोमे मग्न न होना चाहिए।

जलमें कमलकी भांति सगसे विरक्त रहनेकी शिक्षा—हम उपलब्ध सग समागमसे विरक्त रहें। जलमे रहने वाले कमलकी तरह निर्लेप रहें। जैसे जलसे भिन्न कमल है। जलमें ही तो कमल उत्पन्न होता और जलमे रहेगा तब तक वह खिला रहेगा, विकसित रहेगा, पुष्ट रहेगा, तो देखो कमल जलसे ही उत्पन्न है, जलसे ही पुष्ट है, फिर भी वह कमल जलसे अलग रह रहा है। यदि वह फूला हुआ कमल—पुष्प जलमे मिल जाय, मानो उसकी डडी टेढी हो जाय और वह बढकर वह फूल पानीमे आ जाय तो वह फूल सड़ जायेगा, उसका जीवन नहीं रह सकता। तो यो ही समझिये कि मनुष्य घरमें उत्पन्न हुआ और इन घर गृहस्थोसे ही उसकी बुद्धि भी हो रही, फिर भी इस गृहस्थमनुष्यको गृहस्थीसे अलग

रहना चाहिए अन्यथा गृहस्थीमें लिपटकर, गृहस्थीमे आसक्त होने पर कमलकी भाँति सड़ जायेगा। अर्थात् जीव दुःखी होगा, मलिन होगा। यही तो जीवका सड़ना है। तो जैसे जलमें रहकर भी कमल जलसे भिन्न रहता है इसी तरह इन समागमोंमे रहकर भी विवेकी मनुष्य इन समागमोसे विरक्त रहता है। तो यथार्थ विवेक करना हमारा सहाय है। यदि हम विवेकसे चिगे तो घबड़ायेगे, दुःखी होगे, अँधेरा छा जायेगा, पापकर्मका बन्ध होगा।

अपने स्वरूपके सभालकी यत्नकी संभाल—भैया! अपने आपको बहुत संभालनेकी आवश्यकता है। तो यह साधन देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान यह मुझे उन पापोंसे ही तो बचाता है और अपने आपके स्वरूपकी स्मृतिमे सहयोग ही तो देता है। ऐसे मुक्तिके मार्गमे लगे हुए जो संतपुरुष हैं, साधुजन हैं वे गुरु कहलाते हैं। इन गुरुओका भीतरी आत्मोपयोग तकिये, उनको केवल एक अन्तःस्वरूपकी ही धुन है, वे बाहरमे कुछ भी नही चाहते। ऐसे केवल ज्ञानस्वभावकी धुन वाले गुरुजन भी क्या हैं? ज्ञानस्वरूप हैं। ऐसा ज्ञानस्वरूप हमारा गुरु है और ऐसे ही मोक्षमार्गका जहां उपदेश पाया जाता है, जहां अपने आपके परमपदका उपाय बताया गया है वे शास्त्र हैं। देव, शास्त्र, गुरुका शरण ग्रहण करने पर हम आपको शान्तिका मार्ग मिलेगा। अतः देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है। आत्मतत्त्वका विचार, वस्तुस्वरूपका विचार, ७ तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान यह भी सम्यग्दर्शन है। सम्यक्त्वमें विपरीत अभिप्रायका विनाश है। विपरीत अभिप्राय न रहना चाहिए, इस बातकी सिद्धिके साधक जो जो धर्म हैं वे सब सम्यक्त्वके रूप हैं, मै जीव हूं, चैतन्यस्वरूप हू, समस्त परभावोसे निराला हू, मुझमें कर्म भी पड़ा हुआ है। लेकिन कर्मका स्वरूप भिन्न है, मेरा स्वरूप भिन्न है। मैं सर्व परभावोसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूं। जब इस अंतस्तत्त्वकी संभाल नहीं होती तो कर्म आते हैं, यही तो आश्रव है। जब अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि नहीं रहती तो कर्म बँधते हैं। यही तो बंध है और यही सब संसारी जीवोंको हो रहा है। तो आश्रव और बन्ध ये सब दुःखदायी हैं। इनसे यदि बचना है तो जिन उपायोंसे आश्रव बध होना है उन उपायोंको न करें। उनके विपरीत शुद्ध भावोमे लगें तो आश्रव बंध मिटेगा। मै आत्मा केवल ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा निरखकर इसही मे मग्न होनेका यत्न करना, अन्य सबको असार जानना, जब इस सहज ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानवृत्ति होती है तो संवर और निर्जरा तत्त्व बनता है। कर्म रुक जाते हैं अर्थात् कर्म आते नहीं और पहिले आये हुए बँधे हुए, सत्तामें रहने वाले कर्म भी झड़ते हैं। तो यों संवर निर्जरा होकर यह जीव जब केवल अकेला रह जाता है तो यही उसकी मोक्ष अवस्था है।

मोक्षपदकी प्रतीक्षाका लाभ—हम आपको उस मोक्षपदकी बाट देखना चाहिए। जैसे यहां किसी वस्तु को इष्ट मानकर उसके मिलापकी बाट जोहते है, कब मिले, कब साधन बने, कब इसका उपभोग हो आदि तो यह तो है ससारका कारण, भुलावा, अधेरा, लेकिन जो मोक्षपदकी बाट जोहे, मेरेको कब मुक्ति हो, मै कब शरीरसे, कर्मोसे, कषायोसे रहित होकर केवल ज्ञानस्वरूपमे ही रत रहूं, जब इस प्रकार इस मुक्तिपदकी बाट जोही जाती है तब उस जीवके सवर निर्जरा होने लगती है। हम आपको बाट जोहना चाहिए मोक्षपदकी। हमारा प्रियतम, हमारा इष्टतम, हमारा हिततम क्या है? यही मोक्षपद। मुझे और कुछ न चाहिए। मुझे किसी परका विश्वास नहीं है क कोई भी परपदार्थ, कोई भी परभाव मेरा हित कर देगा। मेरा हित करनेमें मेरा ही निर्मल परिणाम समर्थ है। उस परिणामकी कमाई कीजिए। शान्त होना है तो निर्मल परिणामकी प्रकृतिकी धुन बनायें। मेरेको अविकार परिणमन वर्तो। ये कषाय, ये लोभ, ये विषय प्रसग, ये साधन, ये जो तत्काल बड़े अच्छे लग रहे है, जिससे यह जीव अपने आपके आनन्द धामको तजकर इन भिन्न असहाय अनाश्रय पदार्थोंमे लग रहा है। ये लग रहे हैं तत्काल मीठे और सस्ते लेकिन यह हलाहल विषकी तरह है। जैसे विषको पीकर मरण हो जाता है इसी प्रकार उन

विषयविषोंको भोगकर इस जीवको नाना कुयोनियोंमे परिभ्रमण करना पड़ता है। ऐसा जान कर मिथ्या भावोंसे हटे और सम्यक्त्व भावमे लगे। व्रत संयम धारण करे, मंद कषायपूर्वक रहें और अपने अपराध पर अपनी निन्दा करें। गुरुके समक्ष अपने दोषोंका निवेदन करे। अपने आपको अपना अपराध बुरा लगे और निरपराध अविकार अपना स्वभाव रुचने लगे, ऐसा यत्न करे, मोक्षपदकी प्रतीक्षा करे उस ही मे भलाई है और अन्य बातोंमे, बाहरी तत्त्वोंमें हम आपकी भलाई नहीं है।

पुण्यार्जनमे तत्त्वावधायक सम्यक्त्व परिणामकी विशेषता--संसारमे मिथ्यात्व और कषायके वश होकर नाना कुयोनियोमे यह जीव जन्म लेता है और मरण करता है। कभी कुछ सुयोगवश मनुष्यभवमें उत्पन्न हो तो वहां भी पापोदयके कारण दरिद्रता अथवा अपांगता होनेके कारण अनेक प्रकारके कष्ट सहता है और कष्टके उपायभूत पापोंमें ही रमता है। कोई विरले ही पुरुष ऐसे उत्पन्न होते है जो पुण्यका अर्जन करे। ऐसे पुरुष विशेषतया सम्यदृष्टि, व्रती, मंदकषाय वाले और निन्दा गर्हासे युक्त रहने वाले होते हैं। सम्यग्दर्शनका अर्थ है आत्माके सहजस्वरूपका आत्मारूपसे श्रद्धान करना। इस सम्यक्त्वरूप निर्दोष परिणामका घात करने वाले हैं अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति। ये ७ प्रकृतिया सम्यक्त्वका घात करने वाली है। इन प्रकृतियोंका जब उपशम होता है तब यह औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। उपशमकी होती है स्याद, कितने समय तकके लिए उपशम रहेगा। उसके बाद वह उपशम नष्ट हो जाता है। या तो मिथ्यात्वका उदय आये तो मिथ्यादृष्टि बनेगा या कुछ समयको मिथ्यात्वका उदय न आ पाये और अनन्तानुबंधी कषाय जग जाय तो सासादन गुणस्थान वाला बनता है। यदि सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय आ जाय तो क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होता है। लेकिन उपशमका काल खत्म होने पर उपशम मिटता ही है। जब इन ७ प्रकृतियोका क्षयोपशम होता है तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है और ७ प्रकृतियोंका क्षय होने पर क्षायिक सम्यक्त्व होता है। जैसे एक गिलासमे गंदा पानी भर गया अब वह सहज ही जब उसकी गंदगी नीचे बैठ जाय तो उस जलको कहेंगे कि यह उपशान्त हो गया अर्थात् इसकी गंदगी दब गयी और किसी कारणसे अथवा कुछ हिलाने से वह गंदगी यदि कुछ उखड़ जाती है तो क्या कहा जायेगा कि इसकी कुछ तो गंदगी उखड़ी है और कुछ जल निर्मल है याने क्षायोपशम जैसी स्थिति होगी। यदि उस जलको दूसरे बर्तनमें निखार लिया जाय जिसमे गंदगी का नाम नहीं है तो वह जल अत्यन्त निर्मल है और कभी उसके मलिन होनेकी शंका नहीं। इस तरहका होता है क्षायिक सम्यक्त्व।

पुण्यार्जनके अधिकारीकी विरलता-- सम्यग्दृष्टि पुरुष, विरले ही पुरुष पुण्यका अर्जन करते है और वह है व्रतोंसे संयुक्त तो वहाँ और विशेष पुण्य बढ़ता है। किन्तु इस प्रसगमे जानना चाहिए कि पुण्य बढ़ना सम्यक्त्वका काम नहीं है। जो शुभ भाव होते हैं सम्यक्त्वके रहते हुए उनसे पुण्यका अर्जन होता है। व्रत दो प्रकारके हैं— अणुव्रत और महाव्रत। अणुव्रत—पचाणुव्रतका पालन करे और उसका साधक ३ दिग्व्रत और ४ शिक्षाव्रतोंका कोई पालन करे तो वह अणुव्रती श्रावक कहलाता है। पाप ५ होते है— हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह। इन पंच प्रकारके पापोंसे विरक्त होना सो पचाणुव्रत है। महाव्रत ५ प्रकारके होते हैं — अहिंसा महाव्रत, सत्यमहाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, परिग्रह त्याग महाव्रत। इन पंच पापोंका पूर्णतया त्याग होना सो महाव्रत है। इन व्रतोंसे संयुक्त हुआ विरला ही कोई सम्यग्दृष्टि जीव मंद कषायोंके कारण पुण्यका अर्जन करता है। पुण्य और पाप कषायकी तीव्रता और मंदतापर निर्भर है। जिसके मिथ्यात्वका उदय है, जो मिथ्यादृष्टि है उसके तो सदा मूलमें पाप बना हुआ है उसके भी कदाचित् कषाय मंद हो अपने ढंगमें तो वह भी कुछ पुण्य अर्जन करता है, किन्तु जिसके मिथ्यात्व नहीं रहा, सम्यग्दर्शन हो गया उनके मंद कषायोंमे बड़ी विशेषता है कि ऊँचे-ऊँचे पुण्यका बन्ध

कर लेता है।

निन्दा और गर्हाके विशुद्ध आश्रयीका प्रलाप-- यह सम्यग्दृष्टि पुरुष निन्दा गर्हाका बड़ा आश्रय रखता है। निन्दा उसे कहते हैं कि अपने आपमे कोई अपराध बन गया, पाप बन गया, तो अपने आपमे उस का कुछ खेद होना, अपनी निन्दा करना, अपने आपमें अपने आपके अपराधको बुरा मानते हुए अपनी पर्यायकी, स्थितिकी, परिणतिकी निन्दा करना सो निन्दा है। अनेक पुरुष तो ऐसे होते हैं कि पाप करते हैं और भला मानते जाते हैं। तत्काल भी भला मानते हैं और बादमे भी ख्याल करके अपनेको बड़ा चतुर मानते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्काल भी प्रतीतिमे किसी भी पापको, अपराधको भला नहीं मानते। स्थितिवश सम्यग्दृष्टिसे कोई पाप भी हो जाय तो उसकी पापमें आस्था नहीं है और उसके बाद अपने आपकी फिर बड़ी विशेषतासे निन्दा करता है। अहो ! कहाँ तो मेरा एक शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूप, कितना पवित्र मेरा स्वरूप और यह विभावपरिणमन कैसा खोटा बन रहा है ? मेरा स्वभाव तो, मेरा स्वरूप तो है कि परमात्माकी तरह अपने शुद्ध सहज आनन्दका अनुभव करना, लेकिन क्या अपराध है, कैसी कमजोरी है, कैसा पाप है, कैसी दुष्परिणति है, कि मै अपने शुद्ध स्वरूपसे वंचित रह रहा हूं, यों विवेकी अपने आपमें अपनी निन्दा करता है और गुरुवोके समक्ष जाकर अपने अपराधका निवेदन करता है। तो गुरुके समक्ष अपने आपके दोषको जाहिर करना, निन्दा करना यह तो है गर्हा और अपने आपमें अपने दोषोकी निन्दा करना यह है निन्दा। यों निन्दा और गर्हाका भाव रहता है। निन्दा गर्हा किया करता है सम्यग्दृष्टि पुरुष। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष व्रतोंसे संयुक्त मंद कषाय सहित होता हुआ निन्दा गर्हासे सम्पन्न होकर पुण्य कार्यका अर्जन करता है। सो पुण्यका अर्जन हो भी जाय, पर उससे होता क्या है ? संसारसे निकलने का रास्ता पुण्य नहीं है, किन्तु धर्मभाव है। अपने आपके सहजस्वरूपका श्रद्धान करना यह है संसारसंकटोंसे निकलनेका प्रारम्भिक उपाय। फिर उसी स्वरूपमें मग्न होना यही है मोक्ष मार्गमें प्रगति।

पुण्ण-जुदस्स वि दीसदि इट्ठ-विओय अणिट्ठहसंजोयं।
भरहो वि साहिमाणो परिज्जिओ लहुय-भाएण ॥४६॥

पुण्ययुक्त पुरुषके भी इष्टवियोग अनिष्ट सयोगके प्रसंग-- इस ससारमे कभी पुण्यका भी अर्जन जीवने किया लेकिन उस पुण्यसे आत्माका पूरा नहीं पड़ा। देखो बड़े-बडे पुण्यवान् पुरुषोंमें भी इष्टवियोग और अनिष्ट संयोग देखे गए हैं। क्या पुण्यवान् पुरुषोके स्वजन, धन सम्पदाका वियोग नहीं होता ? कभी उस ही जीवनमें पुण्य क्षीण हो जाय- तो उसी जीवनमे सम्पदा स्वजनका वियोग हो जाता है। और जब आयुका अन्त आता है उस समय सब छोड़कर जाना ही पड़ता है। कोई पुण्यवन्त उदाहरणमे ऐसा न मिलेगा कि जिसको इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग न हुआ हो। श्री राम भगवानका चरित्र देख लीजिए बचपनसे लेकर सारे जीवनमे जब तक कि वह निर्ग्रन्थ मुनि नहीं हुए तब तक उनपर अनेक अनिष्ट संयोग इष्ट वियोगकी बाते बीतती रहीं और भी अनेक उदाहरण ले लो कोई भी पुण्यवन्त ऐसा नहीं दिखा जिसको इष्टका वियोग अनिष्टका संयोग न हुआ हो। आदिनाथ भगवान भी तो पुण्यवान थे। गृहस्थावस्थामे उन्होने भी बहुत-बहुत विकल्प किए। उनकी कथा जब सुनते हैं कि वे जब मुनि हुए तो ६ महीनेका तो उपवास ठाना ही था और वे ६ माह तक रोज-रोज आहार चर्याको भी निकले, लेकिन जिनकी गृहस्थावस्थामे इन्द्र भी सेवा करता था, स्वर्गोसे भोगोपभोगकी सामग्रिया आती थी, और इन्द्र अब भी सेवा करता, लेकिन मुनि अवस्थामे इन्द्र या देवके हाथका आहार मुनिजन ग्रहण नही किया करते, सो ६ माह तक बराबर आहार चर्याको निकले, पर विधिपूर्वक जल तक भी उन्हें न प्राप्त हो सका। बराबर अन्तराय आते रहे। अनेक उदाहरण मिलेंगे कि बडे-बडे पुण्यवन्तोंको भी समय समय

पर इष्टवियोग अनिष्ट संयोग आदि उपस्थित हुए। यहां थोड़ासा पुण्योदयसे कुछ वैभव या खाने, पीने, पहिनने, ओढने, रहने आदिके साधन पाकर उनका क्या संतोष करना ? ये सुख साधन भी सदा न रहेंगे, इनका भी वियोग होगा। तो यहा कुछ भी प्रसंग ऐसा नहीं है जो आत्माके रुतेदके लायक हो। केवल एक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही आत्माका रक्षक है। बडे बडे पुण्यवंतोके भी इष्टवियोग और अनिष्ट सयोग देखे गए।

विशिष्टपुण्ययुक्तके भी इष्टवियोग अनिष्टसयोगकी एक घटना--देखो तो सही साभिमान भरतचक्रवर्ती को भी अपने लघुभ्राता बाहुबलिके द्वारा पराजित होना पड़ा। ऋषभदेवके ये दो पुत्र थे भरत और बाहुबलि। भरत बडे थे और बाहुबलि छोटे थे। भरतका पुण्यवैभव बड़ा था। पुण्योदयसे उन्होने छ खण्ड का राज्य पाया, चक्रवर्ती हुए। षट्खण्ड पर विजय पाकर जब अपनी राजधानी अयोध्यामे घुसने लगे तो चक्ररत्न भीतर प्रविष्ट न हुआ। उसका कायदा है कि जब तक पूर्ण चक्रवतित्व न प्राप्त हो जाय तब तक वह चक्ररत्न भीतर नही प्रवेश हो सकता। अब भरतके सामने यह समस्या आयी कि छ खण्डके राजा मेरे आधीन हो गए लेकिन अभी बाहुबलि पर मैने विजय नहीं प्राप्त किया। झट बाहुबलिके पास समाचार भेजा, राजदूत भेजा लेकिन बाहुबलिने यही उत्तर दिया कि हम तुम दोनों ऋषभनाथके पुत्र हैं, आपको तो छ खण्डका इतना बड़ा वैभव प्राप्त हो चुका है फिर भी आपको संतोष नहीं है। हम भी ऋषभदेवके पुत्र हैं, आपकी आधीनता हमें स्वीकार नहीं। हां बडे भाईके नातेसे हम आपका सत्कार करते है। पर चक्रवर्तीको कैसे सन्तोष हो ? आखिर भरत बाहुबलि दोनोंमें युद्ध ठना। दोनों राज्यके सभी मंत्रियोने विचार किया कि ये दोनों तो चरम शरीरी है। इनका तो युद्धसे कुछ बिगाड़ न होगा, व्यर्थमे लाखोकी सख्यामें लोग कट मर जायेंगे, इससे उन दोनो भाइयोंमे तीन युद्ध ठाननेका निर्णय किया—जल युद्ध, दृष्टि युद्ध और मल्लयुद्ध। सो इन तीनों युद्धोंमें बाहुबलि विजयी हुए। मल्लयुद्धमे बाहुबलिने भरत को अपने दोनो हाथोंसे ऊपर उठा लिया और वहाँ भी यह भाव रखा कि यह मेरा बडा भाई है, इसे जमीनपर क्यो पटकूँ ? तो यह भी एक भरतका पराजय है। आखिर बाहुबलि विजयी हुए। तो इस प्रसगमें यह बात देखिये कि बडे-बडे पुण्यवान पुरुषोंको भी इष्ट वियोग व अनिष्ट सयोग होते रहते हैं।

पुण्यवैभवको त्यागकर धर्ममे रत होनेपर ही कल्याण लाभ--अब आगेकी बात धर्मप्रसगकी विशेषतया है। बाहुबलिने सोचा कि धिक्कार है इस वैभवको जिस वैभवके पीछे इतना युद्ध छिड़ा और इस चक्रवर्ती को अपने पाये हुए वैभव पर भी सन्तोष नहीं है। जब कोई उत्कृष्ट विजय हो जाती है तब परिणाम अनुदार नही हुआ करते। बाहुबलिको वैराग्य जगा और राजपाट छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि हो गए। मुनि होकर बराबर १ वर्ष तक एक ही स्थान पर ध्यानस्थ खडे रहे। बरसातके समयमे उनके शरीर पर बेलें भी लिपट गई, आसपास सर्पोंकी बामियाँ भी बन गयीं, पर वे अपने स्थानसे चिगे नहीं। इतना दुर्धर तप किया जिनकी स्मृतिमे, जिनकी भक्तिमें। अब भी श्रवणबेलगोलमे भक्तजन जाते हैं और बाहुबलिकी मूर्तिके दर्शन करते है। तो बाहुबलिने इतना कठिन तप किया फिर भी केवलज्ञान न उत्पन्न हुआ। एक कविके अभिप्रायसे यह कथन आता है कि बाहुबलिको यह शल्य थी कि मैं भरत राजाकी भूमिपर तपश्चरण कर रहा हू और एक कविके अभिप्रायसे बाहुबलिको यह शल्य थी कि मेरे द्वारा मेरे बडे भाई भरतका अपमान हो गया। खैर किसी भी प्रकारकी शल्य रही हो, जब भरतचक्रवर्ती बाहुबलिके पास गए और नमस्कार करके विनती की कि महाराज यह सारा ससार असार है, यहाँ कोई सदा न रहेगा। बडे बडे चक्रवर्ती इस धरती पर हो गए पर यहां कोई टिक न सका। यहां किसी का कुछ नहीं है। यहा किसकी भूमि ? आपके इस पवित्र हृदयको धन्य है जो ज्ञान और वैराग्यमे अपनी लौ लगाये हुए हैं। मै आपका दास हू यों कहकर नमस्कार किया। उस समय बाहुबलिकी शल्य छूटी

और तुरन्त केवलज्ञान हो गया। तो इस प्रसंगमें यह देखिये कि बडे-बडे पुण्यवन्तोंको भी इष्ट वियोग व अनिष्ट सयोगके प्रकरण आये और जब तक बाह्य तत्त्वोंके सम्बन्धमे वे विकल्प बनाये रहे तब तक वे मुक्तिके पात्र नहीं हो सके। ऐसा जानकर कि इस संसारमे पापके फलमे कुयोनियोंमे परिभ्रमण करना पड़ता है, पापसे हटे और पुण्यको भी हेय जानकर धर्ममे लगे। देखो, कभी पुण्य भी बँध जाय तो उसका उदय होने पर भी बड़े-बडे पुण्यवालोंके भी क्षणमात्रमें बड़े से बड़े अनिष्ट होते हैं, यहां क्षणिक पुण्य क्षणमात्रमे क्षीण हो जाता है।

सयलट्ठ-विसय-जोओ बहु-पुण्णस्स वि ण सव्वहा होदि।
तं पुण्णं पि ण कस्स वि सव्वं जेणिच्छिदं लहदि ॥५०॥

बहुपुण्यवानके भी सर्वथा सकलार्थविषययोगकी असभवता— बहुत बड़ा पुण्यशाली भी जीव हो तो भी उसको समस्त भोगोपभोग पदार्थ प्राप्त नही होते। जिसे प्राय: मनोवाञ्छित वस्तुएँ बहुत बार प्राप्त हो जाती हैं उसे लोग कहते हैं कि यह बड़ा पुण्यवान है, लेकिन ऐसा पुण्यवान यहा कोई नहीं है कि जिन जिन वस्तुओंकी वह चाह करे वे समस्त वस्तुवें मिल ही जायें। यहाँ भी देख लो बड़े बड़े ऊँचे धनिक लोग अधिकारी लोग जो जो चाहते हैं क्या वे सब हो ही जाते हैं ? नही होते। नही होते तभी तो उनके यत्नमे रहा करते हैं। ऐसा पुण्यवंत यहाँ कोई नहीं जिसकी पूर्णतया इच्छा पूरी हो जाय। यहां एक बात वस्तुस्वरूपके ढगसे समझिये। वस्तुत: ऐसी इच्छा कोई हो ही नहीं सकती कि जिसकी पूर्ति उसी समय हो जाय। यहा तो अभी यह कह रहे हैं कि सारी इच्छाये पूर्ण नहीं हो पातीं। कुछ न कुछ इच्छायें खाली रह जाती हैं, वस्तु स्वरूपकी बात देखो कि कोई भी इच्छा पूर्ण उस कालमे हो ही नहीं सकती। कैसी एक मोटीसी बात है कि देखो जिस समय इच्छा कर रहे हैं उस समय वह भोग या पदार्थ तो नहीं मिला हुआ है, अगर मिला हुआ होता तो इच्छा ही क्यो होती ? जैसे किसी की इच्छा हुई कि आज तो इस काममें हजार रुपयेका लाभ हो तो उस समय उसके हाथ वे हजार रुपये हैं क्या, जिनकी वह इच्छा कर रहा ? यदि वे रुपये उसके हाथमे हो तो वह उनकी इच्छा ही क्यो करे ? उसकी इच्छा करनेका भाव भी नहीं जगता। यदि उसके हाथमें चीज रखी हो या दूसरेके हाथमे चीज दिख जाय तो उसके बारेमें वह सोच सकता कि यह चीज मुझे मिल जाय। यद्यपि उसे वह चीज अभी मिली नहीं, पर उसके मिलने के बारेमें वह सोच सकता है। लेकिन कोई वस्तु अपने हाथमें हो, साथ ही अपने अधिकारमें हो तो उसका भाव यह नहीं होता कि यह चीज मुझे मिल जाय। तो जिस चीजकी इच्छा की जाती है उसका उस समय मिलान नहीं है, उसका मिलना कुछ क्षण बादमें होगा। लेकिन यह भी देखिये कि जिस क्षणमे उस चीजका मिलना होगा उस क्षणमे वह इच्छा न रहेगी।

इच्छा व उपभोगकी एककालमे असभवता - इच्छा व उपभोग युगपत् नहीं हो सकते इस सम्बन्धमें एक मोटा दृष्टान्त लीजिए—कि कोई दरिद्र जवान पुरुष इतना दरिद्र कि खानेको चने भी न जुड़ते थे। बचपनसे लेकर अब तक दरिद्र रहा लेकिन खाने को चने भी न जुड़ते थे। बचपनसे लेकर अब तक दरिद्र रहा लेकिन खानेको चने भी न जुड़े। उसकी चाह बनी रही कि मुझे खानेको चने मिल जाये और जब सम्पन्नता आयी, घरमे ढेरो चने रहने लगे उस समय वृद्धावस्थामे दाँत न रहनेके कारण वह चने न चबा सका। यों उसके जब चने चबा सकनेकी सामर्थ्य थी तब चने न जुड़े और जब चने चबा सकने की सामर्थ्य न रही तब चने जुडे, तो वह कभी चने न चबा सका। ऐसी ही बात इच्छा और उपभोगकी है। जब इच्छा है तब उपभोग नहीं और जब उपभोग है तब इच्छा नहीं। यह बात मोटे रूपसे समझ लीजिए। अब सूक्ष्मरूपसे भी समझ लीजिए— इच्छाका जो क्षण है उस समय है वेद्यभाव, मुझे यह चीज भोगना है ऐसा परिणाम और जिस समय चीज मिलती है, उपभोग है, उस समय होता है वेदक भाव।

तो वेद्य वेदक भाव एक ही प्रसंगके कभी एक साथ नहीं होते। जब वेद्यभाव है तब वेदकभाव नहीं और जब वेदक भाव है तब वेद्यभाव नहीं। तो यों समझिये कि जब हम इच्छा करते हैं तो चीज नहीं है सो दुःखी होते है और जब चीज मिलती है तो उसकी इच्छा ही न रही, फिर उससे लाभ क्या लूटा ? तो यों समझिये कि यह इच्छा अनर्थकारिणी है, व्यर्थ है। जिस कालमें इच्छा होती है उसी कालमें उसकी पूर्ति हो जाय तब तो भला है, सन्तोष की बात है, लेकिन ऐसा कभी न हुआ, न कभी हो सकेगा। इच्छा रहेगी तब दुःख ही है।

इच्छाके अभावमें ही सुखकी निष्पत्ति—एक बात और भी समझिये कि हम जब जब सुखी होते हैं तब तब चीजके मिलनेसे सुखी नहीं होते है, किन्तु इच्छाके नष्ट होनेसे सुखी होते हे। जैसे इच्छा हुई कि एक कोठी बनवा ले। तो उस कोठीके बनवानेमें बड़ा श्रम करना पड़ा, बड़ी-बड़ी आकुलतायें सहनी पड़ी किन्तु जब वह कोठी बन चुकी तो वह बड़े सन्तोषकी श्वास लेता है और बड़ा आनन्द मानता है। तो वह आनन्द कहीं उस कोठीके बननेसे नहीं हुआ किन्तु कोठी बनानेकी जो इच्छा चल रही थी अब वह इच्छा न रही। उस इच्छाके न रहनेका उसे सुख हुआ है। यदि कोई ज्ञानी पुरुष कोठी बनवाने की इच्छा ही न करे, और विरक्त होकर उस इच्छाको शान्त करदे तो क्या वह सुखी न होगा ? चीजोंको जोड जोड़ कर कोई सुखी नहीं हो सकता। जो भी सुखी होगा, शान्त होगा वह इच्छाके विनाशके उपायसे ही शान्त होगा। तभी तो बड़े-बड़े राजा महाराजा चक्रवर्ती तीर्थकरोंने भी घर बार राजपाट सब छोड़कर केवल अविकार ज्ञानस्वभाव मात्र निजस्वरूपका ध्यान किया और ज्ञान परिणतिसे, ज्ञानोपयोगसे अपने आप को ज्ञानमात्र ही निरखते रहे। जब ज्ञानस्वभावमें ज्ञानकी वर्तना एक रूपसे बन जाती है, बस वही तो एक अध्यात्मयोग है। उस योगसाधनमें लगे हुए पुरुषों ने ही आनन्द पाया और उस आनन्दके बल पर बँधे हुए कर्मोंकी निर्जरा की और जब समस्त कर्म दूर हो गए तब उन्होंने मुक्तिलाभ प्राप्त किया। तो वास्तविक शान्ति इस जीवको प्राप्त होगी तो विकाररहित, इच्छारहित जो अपना सहज ज्ञानानन्दस्वरूप है उसके अनुभवनसे ही प्राप्त होगी। इच्छाओंसे शान्ति नहीं प्राप्त होती। इच्छा तो इच्छाओंका ताँता बढ़ाते रहनेका कारण बनती है। इच्छानुसार कुछ चीज मिले तो उसकी इच्छा और आगे बढ गई। वह भी चीज मिल जाय तो इच्छा और भी बढ़ गई। इच्छाके बढनेकी कोई सीमा नहीं रहती। तो इच्छाओं से न शान्ति मिलती, न सुख मिलता और न आत्माका पूरा पड़ता। ऐसा जानकर इस लौकिक वैभवकी इच्छा न करे और पुण्य पाप दोनोंका फल संसार है ऐसा जानकर पापसे तो अत्यन्त विरक्त हों ही और इस पुण्यमें भी आत्मीयरूपकी श्रद्धा न करे तो अपने को मुक्तिका मार्ग प्राप्त होगा।

> कस्स वि णत्थि कलत्तं अहव कलत्तं ण पुत्त-संपत्ती।
> अह तेसिं संपत्ती तह वि सरोओ हवे देहो ॥५१॥

मनुष्यभवमें इष्टके अलाभसे और अनिष्टके योगसे क्लेशोपभोग— यह जीव संसारमें अनेक कुयोनियोंमें भ्रमण करता हुआ कभी सुयोगसे मनुष्यभवमें भी आता है तो वहाँ भी इसे अनेक दुःख सहन करने पडते है। किसी मनुष्यके स्त्री नहीं है तो किसी मनुष्यके स्त्री है पर पुत्र नहीं है। किसीके पुत्र भी हो तो शरीर रोगी रहता है। एक न एक अनिष्ट संयोग मनुष्यके हो रहा है। लोकमें पुण्यफल विषय साधनोंके समागमको मानते है। किसीके वैभव हो, स्त्री, पुत्रादिक हों तो माना जाता है कि यह बड़ा पुण्यवान् है। इसका पुण्य बहुत फल रहा है किन्तु इस पुण्यफलमें वास्तविकता देखो तो सार कुछ भी नहीं है। जीव जब केवल अपने ज्ञानस्वरूपका ही धनी है, ज्ञानके सिवाय जीवका अन्य कुछ कर्तव्य नहीं हो पाता। जितने भी जो कुछ सुख-दुःख विकल्प हैं, वे सब ज्ञानके ही तो परिणमन हैं। विरुद्ध परिणमन विभाव-रूप परिणमन है। जैसी ज्ञानमें कल्पना जगती है उस ही प्रकारसे अनुभूति होती है। कहीं लाखों रुपयों

का घाटा भी हुआ हो और खबर हो जाय कि इसमें दो लाखका फायदा हुआ है तो यह दुःखी नहीं रहता, क्योंकि ज्ञानमें वैसा ही भाव समाया हुआ है और कहीं लाभ भी हो और खबर मिल जाय कि इसमें तो इतनेका नुक्सान हो गया है तो वह दुःखी रहता है क्योंकि कल्पनाका ही तो असर होता है जीव पर। बाहरी बातोंका असर नहीं हुआ करता है अथवा कुछ भी हो, अब इसका मेल है, बाहरी नुक्सान है तो उसने नुक्सानकी कल्पना की। इसी मेलसे विषयोंमें उपचार किया जाता है कि इस हानि लाभसे इसको सुख दुःख हुए हैं, पर सुख दुःख जीवको उसकी कल्पनासे ही हुआ करता है। तो यह संसारी प्राणी इष्ट वस्तुके समागममें अपनेको सम्पन्न समझता है। सो ऐसा किसीका भी पुण्य नहीं है कि जो चाहे सो उसे प्राप्त हो ही जाय।

ऊपरसे शान बनाने और अन्तः पीडित होनेके द्वितीय क्लेश — अब भी जितने भी लोग देखे जाते हैं उन सब पुरुषोंसे पूछा जाय कि क्या कोई सभी प्रकारसे सुखी है? तो भले ही कोई शानमें आकर कह दे कि मैं सब प्रकारसे सुखी हूं क्योंकि अगर ऐसा कहे कि मैं दुःखी हूं, तो इसमें पापके फलकी बात आती है। तो वह कह देता है कि मैं सब प्रकारसे सुखी हूं, किन्तु उसके चित्तमें तो अनेक क्लेश बसे हुए हैं। कुछ कल्पनायें करता है और क्लेशका अनुभव करता है। धन कम है, विशेष न हो, स्त्री आज्ञाकारिणी न हो, अथवा स्त्री ही न हो, अथवा पुत्र न हुए, कुपूत हुए सपूत होकर भी पूर्ण रूपसे अनुकूल नहीं है, कितने ही विकल्प बनाकर यह जीव दुःख अनुभव करता है। सो इस गाथामें बता रहे हैं कि ऐसा पुण्य किसीके नहीं है कि जो चाहे सो मिले।

आत्माका कलत्र और पुत्र— लोग स्त्रीकी प्रधान रूपसे चाह करते हैं क्योंकि घर ही नाम स्त्रीका है और स्त्रीका नाम है कलत्र। कलत्र अर्थात् शरीर, उसकी जो रक्षा करे उसे कलत्र कहते हैं। याने पुरुषकी रक्षा, भोजन पान आदिकका विधान करनेसे स्त्रीका नाम कलत्र है। न हो स्त्री तो वह भी स्त्री-विहीन होकर कल्पनायें करके दुःखी होता है और कलत्र हुई तो पुत्र नहीं है। जो अपने वंशको पवित्र करे उसे पुत्र कहते हैं। पुत्रकी चाह लोग इसीलिए करते हैं कि मेरा वंश चले। किन्तु बताओ कि यह जीव मर कर कहीं गया तो इसके नामसे अब लाभ क्या अथवा कितने दिनोंका नाम? अथवा नाम लेने वाला भी कौन? किसीका यदि स्वार्थ सिद्ध होता है तो अपनी गरजसे भले ही कोई कुछ नाम ले ले, लेकिन है कौन नाम लेने वाला? यह संसार सब असार है, यहाँ सार बात कुछ है ही नहीं, फिर ऐसे स्वप्न देखना कि मेरा वंश चलेगा, ये सब व्यवहारकी बातें हैं और वस्तुतः देखो तो आत्माका कलत्र कौन है? आत्मा ही स्वयं। आत्माका कलत्र है ज्ञान। यह है ज्ञान शरीर। ज्ञान ही इसका शरीर है। मेरे आत्माका शरीर क्या? सिर्फ ज्ञान। उस ज्ञानकी जो रक्षा करे वही मेरा कलत्र है। मेरे ज्ञानकी रक्षा करने वाला मैं स्वयं हूं। ज्ञान यदि सही बना रहे तो सच समझिये कि यही वैभव है। बुद्धिमें दोष आये बुद्धि मलिन हो जाय, बुद्धि पापकी ओर चले, बुद्धिमें अधीरता हो, घबड़ाहट हो तो उसे क्लेश है। बुद्धि यदि निर्मल है तो बाहरमें कुछ भी व्यतीत हो उसका भी असर स्वच्छ बुद्धि वाले जीवोंपर नहीं पड़ता। तो बुद्धिकी स्वच्छता निर्दोषता होनेकी भावना करना चाहिए। हे प्रभो! मैं और कुछ नहीं चाहता। मेरी बुद्धि, मेरा ज्ञान निर्दोष रहे। तो आत्माका कलत्र वस्तुतः आत्मा है और आत्माका पुत्र भी आत्मा ही है। पुत्र उसे कहते हैं जो वंशको पवित्र करे, मेरा वंश चैतन्य वंश है, जो सहज ज्ञानस्वरूप है, जितना मैं सदा रहता हूं, मेरे साथ जिसका अन्वय है, ऐसा जो चैतन्यस्वरूप है यही मेरा वंश है। उस चैतन्य-स्वरूपको पवित्र करने वाला कौन? यह मैं ही स्वयं। अपनी दृष्टि निर्मल बनायें, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी परिणति बनायें तो समझिये कि हम अपने चैतन्य वंशको पवित्र कर रहे हैं। तो वस्तुतः पुत्र भी मेरा मैं ही हूं। किन्तु इस मर्मको न जानकर मोही जीव कलत्र, पुत्र अथवा इन अविनाशी स्वप्नोंकी

चाह करता है। कभी इनकी प्राप्ति भी हो गई तो देह सरोग है। श्वास, कुष्ट, उदर आदिक व्याधियाँ हैं तो उनके कारण वे दुःखी रहते हैं।

अह णीरोओ देहो तो धण-धण्णाण णेय संपत्ती।
अह धण-धण्ण होदि हु तो मरणं झत्ति ढुक्केदि ॥४२॥

देह नीरोग होनेपर अन्य अलाभके क्लेश— कदाचित् देह भी नीरोग रहा तो दरिद्रता, धन धान्यकी प्राप्ति नहीं है सो भी यह जीव दुःखी रहा। अथवा धन-धान्यकी खूब प्राप्ति भी है, शरीर भी निरोग है, वैभव भी खूब है, साधन सुविधायें भी मनोवाञ्छित हैं लेकिन उसकी आयु विशेष नहीं है। वह शीघ्र ही मरणको प्राप्त हो जाता है। इस तरह यह जीव मनुष्य भवमें आकर सुखी नहीं रह पाया। सुखका साधन तो विषय साधन है ही नहीं। यह जीव मानता है सुखका साधन विषय उपभोग और वे मनोवाञ्छित कभी हो ही नहीं सकते। परवस्तु पर किसीका अधिकार ही क्या? मैं अपने स्वरूपसे सत हू और बाह्य पदार्थ ये सब विषय अपने स्वरूपसे सत हैं, मेरा उनसे क्या नाता? ये बाह्य पदार्थ जब आने हों आयें, जब बिछुड़ने हों बिछुडें, उनमें जब जो परिणमन होता हो, उनके अधिकारी हम नहीं हैं। भले ही पुण्योदयके निमित्तसे समागम प्राप्त हो जायें लेकिन उन समागमोंकी परिणति उनके ही आधीन है, मेरे आधीन नहीं है। भिन्न सारहीन, जिनमें मेरा कुछ स्वरूप ही नहीं है उनकी लालसा रखना यह व्यामोह है और इसीका क्लेश है। कभी यह जीव नीरोग देह वाला भी हुआ तो धन धान्य न मिले, वैभव मिले तो शीघ्र ही मरणको प्राप्त हो गया। वस्तुतः किन्हीं भी प्रसंगोंमें इस आत्माको कोई भी क्लेश नहीं है, क्लेश तो कल्पनाओंसे होता है।

ज्ञानबलीके रुग्णावस्थामें भी प्रसन्नता— सबसे बड़ी भारी घटना तो शरीरके रुग्ण होनेकी है। पर जिसका ज्ञानबल विशद है, सही है वह कैसे ही रुग्ण शरीरमें भी अपने आपको प्रसन्न रख सकता है। सनतकुमार चक्रवर्ती जो कि कामदेव थे। उनके समान सुन्दर रूप उस समय किसीका नहीं था, परन्तु जब वे निर्ग्रन्थ मुनि हुए तो कुछ ऐसा उदय आया कि उनके शरीरमें कुष्ट हो गया। कुष्ट हो जानेके बाद फिर सुन्दरताकी तो बात क्या, विद्रूप होने लगता है। लेकिन उस अवस्थामें भी सनतकुमार चक्रवर्तीको मनमें रंच भी खेद न था। वे तो अपने ज्ञानस्वरूप, आत्मतत्त्वको निरख कर प्रसन्न ही रहा करते थे। एक देवने आकर उनकी परीक्षा की। वैद्यका रूप धारण कर अनेक बार कहा कि कैसे ही कठिन शारीरिक रोग हों मैं सब रोगोंको मिटा देता हू। मेरे पास समस्त शारीरिक रोगोंकी अमोघ दवा है। तो बार बार कहे जाने पर सनतकुमार चक्रवर्ती मुनिराज कहते हैं कि हे वैद्यराज, मुझे जो जन्म मरणका कठिन रोग लगा है उसे यदि दूर कर सकनेकी कोई दवा हो तो दे दीजिए। उस जन्म मरणके रोगसे मैं बहुत परेशान हो रहा हू, तो शरीर रुग्ण भी हो, यदि कोई अन्तः हिम्मत बनाता है अर्थात् अपने आपकी प्रतीति करता है, मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, वह ज्ञानभाव सभला हुआ रहे, मेरे स्वरूपको यथावत निरखाये हुए रहे तो मेरेको सब समृद्धियाँ हैं। इस तरहका संतोष जिनके हुआ है वे रुग्ण अवस्थामें भी किसी प्रकारकी घबड़ाहट नहीं करते।

धन धान्य सपत्तिकी न्यूनतामें भी खेदके अकर्तव्यकी शिक्षा— धन धान्यकी प्राप्ति यदि कम है तो भी उसमें खेद करनेकी कोई बात नहीं। ये सब बाहरी बातें हैं। जो पुरुष बहुत बड़ा धनी भी है वह भी कर क्या लेता है धनका? वह अधिकसे अधिक इतना ही तो कर पाता है व्यवहारमें कि भूख, प्यास मिटा ले, ठंड, गर्मी मिटा ले, इसके अतिरिक्त और कर ही क्या पाता है? अन्य जो कुछ करना लोग मानते हैं वह तो सब असार है। केवल कल्पनाकी बात है। वे लोग मेरे विषयमें जान जायें कि यह भी धनी है। इस बुद्धिसे धनसंचयमें जो आसक्ति रहती है उसकी गति तो बड़ी कठिन है। तो बड़े पुरुष भी इस धन-

धान्यसे कोई अपना लाभ नहीं लूट पाते। न मिले धन वैभव तो कोई खेदकी बात नहीं है। किन्तु ये मोही प्राणी मानते यह हैं कि मुझे वैभव मिले तो मै सुखी कहलाऊँ।

सर्व वैभव प्राप्त होनेपर भी मरणसे क्लेश माननेका व्यर्थ व्यामोह— कदाचित पुण्ययोगसे धन-धान्य वैभव भी प्राप्त हो गया तो उसका मरण शीघ्र हो जाता है, आयु कम मिलती है। यदि मर गए, फिर इस भवमें पाये हुए वैभवसे क्या लाभ पाया ? लोग ऐसा समझते हैं कि मरण एक बहुत बडी विपत्ति है, किन्तु विवेकी पुरुष विचार करे तो मरण बडी विपत्ति नहीं किन्तु जन्म लेना बड़ी विपत्ति है। मरणके बाद तो मोक्ष भी मिलता लेकिन जन्मके बाद मोक्ष नही मिलता। अरहत भगवान, जिनके चार अघातिया कर्म है जिनके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म रहे तो आयुका जब क्षय होगा तो चार घातिया कर्म एक साथ खिरेंगे, दूर होंगे, तो आयुके क्षयका ही नाम मरण है। उस मरणका नाम है पडित-पंडित मरण अथवा निर्वाण। लेकिन देखो— उस मरणके बाद सदाके लिए शान्ति प्राप्त होती है किन्तु जन्मके बाद तो नियम नहीं है कि वह शान्ति पा लेगा। तो मरण विपदा नहीं किन्तु जन्म विपदा है और फिर वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे देखो तो जीवका मरण क्या ? जगतमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब उतने ही हैं, उनका कभी अभाव नहीं होता। मै भी एक सत् हूं, हूं ना, मेरी भी सत्ता है। तो मेरा भी कभी अभाव न होगा। तो स्वरूपदृष्टि करके देखिये तो मै अविनाशी हूं। मेरा मरण कहाँ ? मेरा प्राण है चैतन्य, ज्ञानदर्शन। पदार्थका प्राण वह कहलाता कि जिसके निकलने पर पदार्थ ही न रहे। जैसे अग्नि का प्राण गर्मी। गर्मी निकली तो अग्नि कुछ नहीं रहती इसी तरह आत्माका प्राण क्या ? चैतन्य। चैतन्यस्वरूप अलग हो तो आत्मा रह ही नहीं सकता। यद्यपि ऐसा कभी न होता, न होगा कि आत्माका चैतन्य प्राण निकला वह तो स्वरूप है, प्रयोजन यह है कि पदार्थका स्वरूप ही पदार्थका प्राण कहलाता है। तो मेरा प्राण चैतन्यस्वरूप है, उसका कभी वियोग नही होता। तो मेरा मरण क्या ?

देह परिवर्तनरूप मरणमे क्लेशकी अननुभाव्यता— जिसे मरण कहा जाता है वह तो एक ऐसी अवस्था है कि जैसे कोई पुरुष पुराने महलको छोड़कर नये महलमें पहुंचे। किसीका घर पुराना है उसमे जगह जगह अँधेरासा रहता है, बड़ा अटपटा है तो वह अपने रहनेके लिए एक नई कोठी बनवाता है। उस नई कोठीमे जानेके लिए वह उद्घाटन करता है, उत्सव मनाता है, समारोह करता है, खुश होकर जाता है वह उस नई कोठीमें। तो यह तो एक पर्यायकी बात है। अब जीवकी बात देखिये— जीवका यह शरीर पुराना घर हो गया, इन्द्रियाँ शिथिल हो गयी, सुनाई ठीक नहीं देता, दिखाई भी ठीक नहीं देता, चलते भी नही बनता, भूख भी खतम सी हो रही और अनेक प्रकारकी अशक्तियाँ भी आ गयीं तो इस जीवको नया शरीर मिलनेका प्रसंग चल रहा है। आयु बन चुकी, जहाँ जन्म लेगा वह सब भविष्य बन गया। अब यह इस पुराने महलको छोड़कर जब उस नये महलमे प्रवेश करने को होता है तो उत्सव मनानेकी बात तो दूर रही, यहाँ अन्य लोग भी रोते है और वह भी बड़ा विह्वल होता है। अरे जैसे लोग पुराने महलको छोड़कर नये महलमे जानेके लिए कभी दु:खी नहीं होते, ज्ञानी पुरुष भी पुराने महलको छोड़ कर कहीं नई जगह जानेके लिए वे दु:ख नही मानते। वे जानते हैं कि मैं तो पूराका पूरा यही हू। मेरेमें जो कुछ है वह सब मै अपने साथ लिए जा रहा हूं। मेरा जो कुछ न था वह सब रह गया, रहने दे, वह तो मेरा था ही नहीं। मेरा मै ज्ञानस्वरूप हू, सो उसके साथ पूरा जा रहा हूं। यह देह मेरा न था, यह वैभव मेरा न था। स्वजन, मित्रजन मेरे न थे सो वे जहाँके तहाँ रह गए। उसको किस प्रकारका क्लेश ?

जीवके सत्यवैभवके गुणसम्पदाके वियोगकी असम्भवता—जैसे कोई बड़ा आफीसर जब उसका तबादला होता है तो उस समय उसे बडे साधन मिलते है। सामान धरनेके लिए एक मालगाडी का पूरा डिब्बा मिलता है। बैठनेके लिए एक छोटा डिब्बा अलग मिलता है और जहाँ जायेगा वहा पहिले से खबर है,

तैयारी भी हो गयी, लोग भी स्वागतके लिए तैयार हैं, वहां भी बड़ा प्रबंध बन गया है तो ऐसे उस तबादला करने वाले आफीसरको क्लेशका क्या प्रसंग है ? तो यों ही समझिये कि हमारा तबादला हो रहा है, अभी इस भवमें हैं, इसके बाद कहीं अन्यत्र जायेंगे। उस समय मेरी जितनी सुविधायें हैं, मेरे जितने गुण हैं, मेरा जितना स्वभाव सम्पदा है वह सबका सब मेरे साथ जा रहा है और जहां मैं जाऊँगा वहाँके लोग अबसे ही स्वागतके लिए तैयार हैं, मेरी चर्चायें है। ऐसे समयमें एक पुराना घर छोड़कर जानेमें कष्टकी क्या बात है ? मानो आज जितनी सम्पदा है, यहां जीवनमें भले भाव करके रहे हैं तो पुण्योदय में इससे भी कई गुनी सम्पदा वाली जगहमें जा रहे हैं, फिर उसमें खेद क्या ? सत्य तो यह है कि जिस पुरुषको अपने आत्मस्वरूपका भान है, अपने आपके उस सहज ज्ञानानन्द स्वरूपमें आत्मारूपसे प्रतीति है उसको तो कुछ क्लेश ही नहीं है। मोह हो तब क्लेश है। जब मोह न रहा तो वहां क्लेशका क्या प्रसंग ? बात तो ऐसी है लेकिन यह जीव अज्ञानसे, मरणसे, दरिद्रतासे, शरीरके रुग्ण होनेसे अपने आपमें खिन्न समझता है। तो यहां आचार्य बतलाते हैं कि इस जीवको सुयोगसे कभी मनुष्यभव भी मिला तो उसको ये सारे क्लेश भोगने पड़ रहे हैं।

कस्स वि दुट्ट-कलत्तं कस्स वि दुव्वसण-वसणिओ पुत्तो।
कस्स वि अरि सम-बंधू कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया ॥५३॥

दुष्ट कलत्र प्राप्तिका क्लेश—किसी पुरुषकी स्त्री दुष्टा है। किसी पुरुषका पुत्र खोटे व्यसनमें पड़ा हुआ है, किसीका बन्धु शत्रुके समान बन रहा है, किसी की पुत्री दुश्चरित्र हो गयी है, ये भी दुःख इस मनुष्यको देखने पड़ते हैं। स्त्रीका विपरीत होना, दुष्ट होना, कर्कशा होना, यह इस गृहस्थके जीवनके लिए सदा शूलसा है, क्योंकि लोग स्त्रीको अर्द्धांगिनी कहते हैं, सहयोगिनी कहते हैं, पत्नी कहते हैं। जैसे पतिका अर्थ मालिक है ऐसे ही पत्नीका अर्थ मालकिन है। तो जैसे किसी की पत्नी दुष्ट हो तो उसको लौकिक जीवनमें फिर शान्तिका क्या आधार है ? तो इस तरह इस मनुष्यको दुष्ट स्त्रीका सहवास मिला उस मनुष्यकी व्यथा देखो। जो मनुष्य दुकान पर व्यापार कार्यमें अनेक लोगोंसे अनेक बातें सुनता रहता है, अनेक लोगोंकी गाली सुने, प्रतिकूल बातें सुने, दुर्वचन सुने और अनेकानेक कष्ट सहे, ऐसे बड़े कष्टसे व्यापार करके दुकान करके दिनभर अपने चित्तको क्षुब्ध करके घरमें आता है भोजन करने के लिए, लेकिन वह स्त्री कर्कश कठोर वचन बोलती है, झुंझला देती है, वचन बाणोंका प्रहार करती है तो उस मनुष्यकी स्थिति देखो—बाहरमें भी पिटा और घरमें भी वह पिटा। तो ऐसी दुष्ट स्त्रीका मिलन यह मनुष्यके लिए एक दुःखकी बात है। यह पुण्य होकर भी कुछ पापकी ही बात है।

दुर्व्यसनी पुत्रके लाभका क्लेश—किसीको दुर्व्यसनी पुत्र मिल जाता है। वह भी कल्पना करके देखिये अथवा कहीं साक्षात् देख लीजिए। किसीका पुत्र यदि खोटे व्यसनमें लग गया, उल्टी चाल चलता है। घरकी ही जड़ काटता है तो उस पुत्रसे घर बरबाद हो जाता है। वे माता पिता भी हैरान हो जाते हैं। माता पिताका भी उस पर प्रेम नहीं रहता, तभी तो जो कुछ विवेक वाले लोग हैं वे अपनी जिन्दगीमें नाबालिक पोतों के नामसे सम्पदा लिख जाते हैं, पर पुत्रको नहीं देते। वे जानते हैं कि इसको दिया तो यह इस सम्पदाको समाप्त कर देगा, फिर ये छोटे छोटे बच्चे किसके सहारे पलेंगे पुसेंगे। तो किसीका पुत्र यदि दुर्व्यसनी हो गया तो यह भी उसके लिए बड़े खेदकी बात रहती है।

वस्तुतः किसी भी समागमसे अशान्तिकी अनिवार्यताका अभाव—एक तरहसे यदि देखो तो ये समागम भी इस जीवके लिए कोई खेद करने वाले नहीं हैं। यह ही चाह करके, कल्पना करके उनमें खेद मानता है। यदि स्त्री विपरीत है, दुष्ट है तो यह मनुष्य तो और भी अधिक शान्त रह सकता है। उपेक्षा कर देगा उसका राग न सतायेगा, उससे प्रीति छूट जायेगी तो यह तो उसके लिए लाभकी ही बात है। मगर

ऐसी बात ज्ञानी पुरुष ही तो कर सकेगा। अज्ञानी तो इसमें खेद मानता है। किसी का पुत्र दुर्व्यसनी हो, खोटे मार्ग पर चलता है तो चलो छुट्टी मिली। अब उसका विकल्प तो ज्यादा न करेगा। लोगोंमे एक प्रकट ऐलान करा देगा कि मेरा अब इस पुत्रसे कोई वास्ता नही है, इसे कोई कुछ दे ले तो वही जाने। यदि पुत्र सपूत हुआ तो लोग बडा सुख मानते है किन्तु सपूतकी भी बात देख लो। यदि पुत्र आज्ञाकारी है, सपूत है तो पिता उस कुपूतसे भी अधिक सपूतके कारण दु:खी रहेगा, क्योंकि पुत्र सुहाता है, आज्ञाकारी है तो पिताके चित्तमे यह बात समाती है कि मै अधिकसे अधिक धन जोड़कर इसे रख दू, अधिकसे अधिक सुख सुविधाये बना दू। यो वह पिता उससे निवृत्त नही हो पाता, उसीमे ही लीन रहा करता है। तो सपूत हो तो क्या, कुपूत हो तो क्या ? इनके सम्बन्धसे इस जीवको शान्ति नही प्राप्त होती।

व्यामोहवश दुष्ट कलत्र, दुर्व्यसनीपुत्र व अरिसम बन्धुके सगका काल्पनिक क्लेश--दुष्ट स्त्री हो तो क्या, भली आज्ञाकारिणी हो तो क्या, किसी भी परजीवके मोहमें लगावमें यह जीव संकटोंसे मुक्त होनेका मार्ग नही पाता, लेकिन ये मोही प्राणी इन सुहावने समागमोमे ही सुख पाता हैं। सुयोगसे मनुष्य हुआ तो वहां भी इस जीवको ऐसे बडे क्लेश मानने पडते हैं। किसीका भाई शत्रु समान या यह महसूस कर रहा तो वह और किसी को तो देख लें पर भाईको नही देख सकता। यह द्वेषकी ज्वाला, यह विरोधकी ज्वाला कितना इस जीवको दु:खी करती है। किसी की पुत्री यदि दुश्चरित्रा हो गयी, खोटे मार्गमें लग गयी तो उसके माँ बापको कितना बड़ा क्लेश रहता है ? शर्मिन्दा रहें अथवा किसी कार्यमें मन ही न लगे, बड़ा दु:ख महसूस करते हैं। तो उस समय इस जीवको क्लेश ही पहुचता है, भ्रमण करते हुए यह जीव कभी सुयोगसे मनुष्य भी बना तो मनुष्य होकर भी यह दु:खी रहा। संसारमे कोई भी गति सुखके साधनभूत नही है। सारा ससार दु:खमय है, इस प्रकार ससार-चरित्र- निरख कर ससारकी असारताकी भावना करना। सो संसार अनुप्रेक्षाओंके भानेसे इस जीवको परसे निवृत्तिका अवसर होता है और अपने आपके शुद्ध स्वरूपमे इसकी रुचि जगती है।

मरदि सुपुत्तो कस्स वि कस्स वि महिला विणस्सदे इट्ठा।
कस्स वि अग्गि-पलित्तं गिहं कुडवं च डज्झेइ ॥५४॥

मनुष्यभवमे इष्टविनाशकी वेदना--यह जीव संसारमें अनेक योनियोंमें भ्रमण करता करता मनुष्यभव में भी आता है और वहां पर्याप्त मनुष्य होता है तो भी सुख नहीं है। मनुष्योमे सुख सांसारिक दृष्टिसे यह ही माना जाता है कि स्त्री मिले, पुत्र मिले, वैभव मिले, लेकिन प्रथम तो ये इच्छानुसार मिल जायें यह ही कठिन है। कदाचित मिल भी जाये तो शरीर रोगी रह तो इन चीजोके मिलनेसे उसे सुख न हो सका। शरीर भी निरोग रहा और शीघ्र ही मरणको प्राप्त हो गया तो उनसे लाभ क्या मिला ? और न भी मरण हो पर ये समागम कही सभी बिछुड जाये। स्त्री दुष्ट हो जाय, पुत्र दुर्व्यसनमे लग जाय, बन्धु अरिसम बन जाय, पुत्री दुश्चरित्र हो जाय तो उसका महान क्लेश भोगना पड़ता हैं। कभी स्त्री भी आज्ञाकारिणी हो, चतुर हो और पुत्र सुपुत्र हो लेकिन किसीका सुपुत्र मर जाता है, किसी की इष्ट स्त्री गुजर जाती है तो वह इष्टवियोगका कठिन दु:ख पाता है।

वर्तमान जीवनमे ही अतीत सुख दु खके थोडे हिसाबकी निरख--अपनी जिन्दगीमे सुख दु खका हिसाब तो लगाओ, बचपनसे ही तो आपको अब तक की जिन्दगीमे सुख कुछ नही मालूम हुआ होगा। दु ख ही दु ख मालूम हुआ होगा। जब बच्चे थे तब जो चाहे धमका देता था, रह जाते थे। मनमाना खेल नही पाते थे, स्वच्छन्द प्रवृत्तियोसे रोकने वाले माता पिता गुरुजन थे, इसका कष्ट भोगा। यद्यपि वे सब बातें हितके लिए थीं, लेकिन बालक तो नहीं मानते कि ये बाते मेरे हितके लिए है। तो बचपनमे इसने यह

कष्ट होगा। जब कुछ बडे हुए तो शादीके सिलसिलेमें नाना विकल्प किए। कुछ लोग तो इन्हीं विकल्पोंको बढा बढाकर अपना दिमाग भी खराब कर लेते हैं। वे कष्ट सहे। शादी होनेके बाद चूँकि उसने समझा कि मेरा तो इसपर अधिकार है, सो जरा-जरासी बात प्रतिकूल मान-मानकर उसका मानसिक कष्ट सहता रहा। जब बच्चे हुए तो उनके पालनपोषणकी चिन्तामें व्यस्त रहा और सबसे कठिन दुःख तो मनुष्य को यह है कि इन मोही, पापी, रोगी मनुष्योंके बीच मेरी पोजीशन न गिर जाय— यह विकल्प बहुत कठिन विकल्प है। संसार क्या है? एक स्वप्न है। जो लोग दिखते हैं, जिनसे लोकव्यवहार चल रहा है ये सब क्या सदा रहने वाले हैं और जितनी देरको रहने वाले हैं उतनी देरको भी ये क्या हैं? रागी, द्वेषी, मोही, मूर्ख, अज्ञानी जिन्हें आत्माकी कुछ भी सुध नहीं है। अन्धेरेसे भरे हुए लोग जिनका स्वयं कुछ ठिकाना नहीं है ऐसे इन अशरण लोगोंमें चाहते हैं कि मेरी पोजीशन रहे अर्थात् ये लोग मुझे कुछ अच्छा समझ लें। यह विकल्प कितना खोटा विकल्प है। इस जीवको मुक्तिसे हटानेके लिए और संसार में रुलानेके लिए यह विकल्प बहुत बड़ी विपदा है। जो मनुष्य हुए तो यहाँ भी ये सब विकल्प विपदायें सताती हैं। यहाँ भी इसे चैन नहीं है। इष्ट समागम भी हुआ तो उसके अनेक कष्ट हैं। किसीका पुत्र मर गया, किसीकी इष्ट स्त्री मर गयी, और कभी घरमें आग लग गयी तो कुटुम्ब घर सब जल गया, ऐसे नाना कष्ट इस मनुष्यको प्राप्त हो रहे हैं।

संसारके किसी भी पदार्थमें अपने लिये विश्वस्यता व संतोष्यताकी लब्धिका अभाव— भैया! संसारमें कुछ भी अवस्था आत्माको विश्वासके योग्य नहीं है कि सन्तोष तो करे। अच्छा महल बन गया, अच्छा घर बन गया, यह आरामका कमरा है, यह लोगोंसे मिलनेका कमरा है, यह स्त्रीका कमरा है, यह बच्चोंके लिए कमरा है, ये नौकरोंके लिए है। यों बहुत अच्छा महल बना लिया, लेकिन संतोष और विश्वास के लायक यह कुछ भी बात नहीं हुई। क्या हुआ? बस रोगी हो गए अथवा कोई घटना एक्सीडेन्टकी हो गई, मृत्यु हो गयी, या कुटुम्बके लोग ही गुजर गए ये सब बातें अचानक होती ही रहती हैं। तब संतोष की आरामकी कौनसी बात पा ली? बड़ा राजपाट भी पा लिया। सब जगह आज्ञा चल रही, प्रजाजन हुकुममें रहते हैं। कुछ बडी-बड़ी सभाओंमें सत्कार होता है और तो क्या, प्रजाके लोग भगवानकी तरह मानने लगते हैं, ऐसा राजा, महाराजाका पद भी मिला तो भी संतोष और विश्वासके लायक कोई बात नहीं है। कर्म सबके साथ हैं। पूर्वभवमें किए हुए कर्मका न जाने कब कैसा उदय आ जाय, न जाने कब किस ढंगकी बात बन जाय, यह सब सम्भव है। बड़े बड़े महापुरुषों पर भी संकट आये। यदि उन पर संकट न आये होते तो हम आप लोग उनके विषयमें कुछ जान ही न पाते। उनका इतिहास भी न बनता। महापुरुष वे ही तो हुए जिनपर विपदायें मडरायीं लेकिन वे उन विपदाओंमें धीर रहे, विवेकी रहे, इस कारण वे महापुरुष कहलाये। प्रसंग यह चल रहा है कि सब इष्ट समागम भी प्राप्त हो जायें तो भी वह विश्वासके योग्य नहीं और न उसमें सन्तोष करनेका अवसर है।

एव मणुय गदीए णाणा-दुक्खाइ विसहमाणो वि।
ण वि धम्मे कुणदि मइ आरंभं णेय परिचयइ ॥५५॥

नाना दुःखोंको सह कर भी धर्मकी बुद्धि भी न करनेकी बेहोशी— मनुष्यगतिमें तो बड़े-बड़े घोर क्लेश हैं, उन समस्त क्लेशोंको यह जीव सहता भी जाता है फिर भी धर्ममें अपनी बुद्धि नहीं लगाता। सर्व-संकटोंसे छूटनेका उपाय जो धर्म है, उस धर्मकर्ममें यह मनुष्य चित्त नहीं देता। सुख चाहता है यह, मगर सुख पानेका जो उपाय है उसे करना पसंद नहीं करता। तो यह कितने व्यामोहकी बात है? यह आत्मा अपने स्थायी ज्ञानस्वरूपसे चिगकर अस्थायी अध्रुव विनाशीक परपदार्थोंमें अपना लगाव रखता है, बस क्लेश सकल इतना ही है। इतना ही है इसका भाव यह नहीं समझें कि मामूलीसा है, किन्तु भाव

बिगाड़नेका सारा दुःख है, विडम्बना है यह समझना। देखिये इतने कठिन तो संसारके दुःख हैं फिर भी उन्हें ही सहता जाता है और उन्हींमे रमता जाता है। सकल विभावोंसे भिन्न मेरा यह ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्व ही शरण है, सर्वस्व है। ऐसी दृष्टि नही कर पाता है और न आत्मधर्मका पालन कर पाता है। विषयकषायोंके वश होकर, दुःखोको सहकर भी व्यामोहसे भ्रमसे दुःखके उपायोको ही सुखका हेतु मान कर विषयसाधनोंके आरम्भको नही छोड पाता है।

शान्ति और अशान्तिके मर्मसे परिचित पुरुषोकी चित्तवृत्ति— जिन जीवोंको इस क्लेश और शान्तिके मर्मका परिचय हो जाता है उनका चित्त फिर इन आरम्भ परिग्रह समागमोमे मिल ही नही सकता। नेमिनाथ स्वामीके समयकी घटना है कि जब यह ज्ञात हुआ कि द्वारिकापुरी बारह वर्षमें भस्म हो जायगी तब जो कुछ विवेकी लोग थे वे मोहको छोड़कर निर्ग्रन्थ होते हुए आत्मसाधनामें लगे। जो कुछ भयभीत थे वे नगर छोड़कर अन्यत्र चले गए। जिनके मनमे जो आया सो किया। कुछ ज्ञानी पुरुष ऐसे थे कि तत्त्वस्वरूपका विचार करके और इस घटनाकी बात सुनकर संसारभावनामें अधिक बढकर अर्थात् ससार असार है इसकी असारताके चिन्तनमे आकर विवेकी बने और उन्हें अपने आत्माके स्वरूपका दर्शन हुआ। जो आनन्द पाया उसके बाद उनका चित्त रंच समयको भी बाह्य पदार्थोंमे न लग सका। ऐसे ही जीवोमे श्रीकृष्ण नारायणके पुत्र प्रद्युम्न जब सभामे कुछ धार्मिक उपदेश चल रहा था, नारायण बलभद्र उनके पिता और सभी बुजुर्ग लोग बैठे हुए धर्मोपदेशका व्याख्यान सुन रहे थे, प्रद्युम्नको सातिशय वैराग्य हुआ और उठकर प्रद्युम्नकुमार बोला, महाराज— अब मेरा चित्त यहाँ रहनेका नही रहा। मैं वनमे जाऊँगा, निर्ग्रन्थ होऊँगा, आत्मसाधना करूँगा। सबने समझाया, प्रद्युम्न सबका बड़ा प्यारा था, कलावान, रूपवान, अनेक गुणसम्पन्न होनेके कारण सबका बड़ा प्रिय था। सबने समझाया और किसीने यह भी कहा कि देखो तुम्हारे पिता श्रीकृष्ण नारायण यहाँ बैठे हैं, तुम्हारे दादा, चाचा आदि भी बैठे हैं। इनके सामने तू तो एक छोटा बालक ही है। तू क्या यह बात करता है? तो प्रद्युम्न कहता है कि मेरे पिता, चाचा, बाबा आदि अगर ससारके खम्भा बनकर रहते हो तो रहें, मेरा तो किसी बाह्य पदार्थके लगावमे चित्त लग ही नहीं रहा और उठकर चल दिया। यह तो हुई प्रद्युम्नकी बात। अब वह प्रद्युम्न घर जाकर स्त्रीसे कहता है कि मुझे तो वैराग्य हुआ है, मै तो यहाँ न रहूंगा, यह बात तुमसे कहने आया हू। तो स्त्री कहती है कि यदि तुमको वैराग्य हुआ ही था तो वैराग्यका काम वहींसे करते। यहाँ मुझको बताने या मिलनेकी क्या आवश्यकता थी? इतना वैराग्य था उस स्त्रीमें कि वह कुछ न कह कर घर छोड़कर बनको चल पड़ी। तो जिन जीवोको इस बातका विश्वास हो जाता है कि मेरे आत्माको केवल मेरा धर्म ही शरण है, धर्मके सिवाय मेरा कोई रक्षक नहीं है, वे पुरुष फिर संसारमे नहीं रमते। धर्म क्या? जो दुःखसे छुटाकर उत्तम सुखमें पहुचा दे उसे धर्म कहते हैं।

ससारमे दुःखोका घिराव— दुःख क्या है? संसारके विकल्प, बाह्य पदार्थोंमें उपयोग लगानेका विकल्प, अपने स्वरूपसे अपने आपको हटाकर बाह्य विषयोंमें उपयोगको फंसाना यही है दुःख। लोग तो इसीमे दुःख अनुभव करते हैं कि मेरी स्त्री गुजर गई, पुत्र गुजर गया, अथवा रोजिगार कम हो गया आदि, वे इस बातको ख्यालमें नही लाते कि हम ज्ञानानन्द स्वरूप, परमात्मास्वरूप अपने आपके स्वभावसे दृष्टि हटाकर बाह्य पदार्थोंमे व्यर्थ मोहभरी दृष्टि कर रहे हैं, परमें ऐसा लगाव कर रहे हैं कि हम अपने आपके स्वरूपकी सुध भी नहीं कर पाते। इसको वे आपत्ति नहीं समझते। जिन कुटुम्बीजनोंके लिए बडे बडे आरम्भ किए जाते है, बड़ी-बडी चिन्तायें की जाती हैं वे कोई इस जीवकी मदद कर सकने वाले नही हैं। यदि पापका उदय आ जाय तो स्वयको ही दुःख भोगना पडेगा। रंच भी कोई अन्य लोग मददगार न होंगे। मनुष्यगतिमे नाना दुःखोको सहता हुआ भी यह जीव धर्म नहीं करता।

परिग्रहकी प्रियतामें विपदा— प्रकृत्या इस मोही प्राणीकी मति विषयोंकी ओर लगी हुई है। पापमें मन चाहता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये सभी पाप इसे प्रिय लग रहे हैं। परिग्रह बड़ा प्रिय लग रहा है सो जमाना बता रहा है। मनुष्यभव पाया है तो इसलिए कि रत्नत्रय धर्मका पालन कर लेवें और संसारसंकटोंसे सदाके लिए छूटनेका उपाय बना लेवें। मनुष्यभव केवल इसी प्रयोजनके लिए है। यह बात अन्य भवमें नहीं हो पाती। तो यह मनुष्यभव इसीलिए ही है ऐसा समझना चाहिए, लेकिन इसकी तो किसीको सुध भी नहीं है, आत्महितकी वाञ्छा ही नहीं बन पाती ऐसा तीव्र मिथ्यात्व पापका उदय है। लोगोंको वैभव बढ़ाना बड़ा भला लग रहा है, पर यह तो बताओ कि इस वैभवको जोड़-जोड़ लाभ क्या लूट लिया जायेगा? यह आत्मा तो भावस्वरूप है, ज्ञानानन्दमात्र है। इसके साथ तो एक धेला भी न जायगा। यह मनुष्य सोचता है कि मैं धन जोड़कर अपने बच्चोंके लिए रख दूं, पर जरा सोचो तो सही कि कौन किसका बच्चा? मरण हो जानेके बाद तो सारा फैसला हो जाता है। यहांसे मर कर चले गए तो कहा रहे उसके बच्चे? दूसरी बात यह है कि जिसका जैसा उदय है उसको वैसा वैभव मिलेगा। आजके समयमें लाखोंका वैभव हो तो भी कलका पता नहीं कि यह रहेगा। एक तो मर गये तो धन गया और फिर वैसे ही आजके कानूनमें आजकी स्वच्छन्दतामें आजादीमें यह भी विश्वास नहीं है कि मेरा यह वैभव कल तक रह सकेगा या नहीं। ऐसे कठिन समयमें ऐसी विषम परिस्थितियोंमें यह मनुष्य फिर भी परिग्रहसे इतना अधिक मोह रख रहा है।

कुशील झूठ आदि पापोंमें मोहीका रमण— कुशील, पाप, परस्त्री, परपुरुष रुच जायें और उनके प्रति विकारभाव जगें तो यह कुशील पाप है। यह आत्मा तो केवल भावमात्र है, इसने यदि विकारभाव किया तो लाभ क्या पाया? भोगोपभोगमें इस आत्माको मिल क्या जाता है? कुछ भी नहीं और विपत्तियाँ, विडम्बनायें ये इस जीवको कितनी ही भोगनी पड़ती है? तो इस जीवका प्रकृत्या कुशील पापमें चित्त जाता है। यह जीव चाहता तो है सुख, मगर कर रहा है दुःखके उपाय। तो जैसे खूनका दाग कभी खूनसे धुल नहीं सकता इसी प्रकार दुःखका उपाय करनेसे कभी दुःख मिट नहीं सकता। झूठ और चोरी भी इस जीवको बड़े इष्ट जँच रहे हैं। इन संसारी मोही मलिन लोगोंको झूठ बोलनेकी तो आदत सी बन गई है। झूठ बोलना, अधिक बोलना, चुगली करना आदि बातोंको करके लोग आनन्द मान रहे हैं। यह सब क्या है? यह रौद्र ध्यान है। आर्तध्यानमें तो होता है रंजका परिणाम और रौद्र ध्यानमें मानता है यह जीव मौज। तो आर्तध्यानके फलमें उतनी कठिन दुर्गति नहीं होती जितनी कठिन दुर्गति रौद्र ध्यानमें होती है। यह रौद्र ध्यानका ही तो फल है कि हिंसा कर भी नहीं पाते लेकिन हिंसा करने वालेको देखकर हिंसाकी घटना निरखकर खुश होते हैं। इसीके फलमें तो वह तंदुल मत्स्य महामत्ससे भी अधिक नीची दुर्गति प्राप्त करता है। तो ये कुध्यान खोटे ध्यान करनेसे ही इस जीवपर विपदा छा जाती है। हिंसा भी यह जीव करता हुआ आनन्द मानता है। किसीका दिल दुःखे, किसीके प्राण जायें, इसका विचार करने वाले कितने मनुष्य हैं। तो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोंको करता हुआ यह जीव आनन्द मानता है। सो दुःखका उपाय तो करता है और चाहता है कि मुझे सुख मिले तो यह कभी हो नहीं सकता। इस मनुष्यको चाहिये कि जब इस मनुष्यभवमें अन्य बातोंका संयोग असार है, हानिकर है, एक बड़े भारी लाभको पानेसे वंचित कर देता है तो इन समस्त संयोगोंकी उपेक्षा करके धर्ममें बुद्धि करे, आरम्भ परिग्रहोंसे विरक्त रह कर उन्हें त्याग दे। किन्तु मिथ्यात्वका ऐसा उदय है कि ये जीव दुःखी होते जाते पर धर्मबुद्धि नहीं कर पाते हैं।

सधणो वि होदि णिधणो धण-हीणो तह य ईसरो होदि।
राया वि होदि भिच्चो भिच्चो वि य होदि णर-णाहो ॥५६॥

लौकिक पुरुषोकी आशा तज कर प्रभुज्ञानमें महत्त्व पानेकी बुद्धिकी समीचीनता—इस संसारमे देखो अनेक घटाबढ़ीकी बातें हैं, जिनसे यह विदित होता है कि विश्वासके लायक यहां कुछ भी स्थिति नहीं है। कोई धनी पुरुष है वह भी थोड़े समयमें निर्धन हो जाता है। ऐसा व्यक्ति जो पहिले बहुत धनिक था और धनी होने के कारण बड़ी इज्जत प्रतिष्ठा थी, कदाचित निर्धन हो गया तो वह अपने आपमें कितना दुःखी होता है? उसको बाहरमें अपनी इज्जत पोजीशन बनाने की भी फिकर रहती है और वह भीतरमे निर्बलतासे खोखला होता जाता है। यह भी कष्ट अज्ञानसे उठाया है। धनी थे, निर्धन हो गए तो उसमें क्या बिगाड़? यदि धर्ममें बुद्धि है, आत्महितकी लगन है तो सब मार्ग स्पष्ट है। मैं देहसे भी निराला अकिञ्चन केवल ज्ञानमात्र हूं। इस ज्ञानमात्र निज तत्त्वको कष्ट कहां? इसका जानने वाला भी है कौन लोकमें? ये हजारों लाखों मनुष्य क्या मेरे आत्माको जानते हैं? नहीं जानते। जो मुझको जानते नहीं उनकी शरम क्या, उनका सकोच क्या? उनमे पोजीशन रखनेका विकल्प ही क्यों? शरम करो तो अपने आपके विभावोंकी करो, शरम करो तो अपने प्रभुकी करो। प्रभुके ज्ञानमे मैं अच्छा ही झलकूँ ऐसा भाव करो। इन मोही मलिन अशरण जीवोंसे कुछ चाहना यह तो मूढता है। ये लोग मुझे हलका न मान लें। अरे इस विकल्पमे क्या तत्त्व है? करो तो यह भाव कि अरहंत सिद्ध मुझे हल्का न जान लें। मेरे विषयमें यह पापी है ऐसा प्रभुके ज्ञानमें न आने पाये, करो तो यह भाव। यहां पर तो कोई मनुष्य पापी भी रहे तो भी छुपा सकता है और लोगोंमे अपनी सज्जनताका रूप बता सकता है लेकिन प्रभुके ज्ञानमे तो कोई बात छुपी नहीं रह सकती। जो कर्तव्य हो रहा है, जो भी परिणति है वह परिणति उनके ज्ञानमे आ गयी। तो भाव करो तो यो करो कि प्रभु मेरे विषयमें न जानें कि यह पापी है, मिथ्यात्वी है। तो अपने आपके भावकी संभालमें, धर्मकी संभालमे इस जीवका लाभ है। धनिक थे और निर्धन हो गए, तो इसमें कुछ बिगाड़ नहीं।

ससारकी विषम घटनाओका अनुप्रेक्षण—इस संसार अनुप्रेक्षामें इसलिए कुछ अचम्भे और खेदकी बात दिखाई जा रही कि लोग इन घटनाओंको बुरा मानते हैं और हैं ये यथार्थ बातें सो इस व्यामोहको छोड़ दें। सो देखो जो धनी हैं वे भी क्षणमात्रमें निर्धन हो जाते हैं और जो आज धनहीन हैं वे कुछ ही समयमें सम्पन्न हो जाते हैं। इसके बताने वाली अनेक घटनायें हैं। इस देशमें आपको अनेक उदाहरण मिलेंगे कि कुछ तो न था और एकदम सम्पन्न और प्रतिष्ठित बन गए। तो इस जगतमे किस स्थितिका विश्वास किया जाय? राजा भी कहो दास बन जाय और दास भी कहो राजा बन जाय। यहीं देखलो ना। कुछ वर्ष पहिले सैकड़ों राजा थे, देशमे उनकी बड़ी हुकूमत थी, वे ऐश्वर्यसम्पन्न रहते थे लेकिन आज उनकी क्या स्थिति है? जैसे किसी एक गरीब भाईकी स्थिति है हुकूमत आज्ञाके बारेमे वही स्थिति उन राजाओंकी हो गई है। तो राजा भी भृत्य हो जाता है और भृत्य भी राजा हो जाता है।

मालिकसे दास और दाससे मालिक होनेकी घटनाका ससारस्वभाव—एक घटना है कि किसी बड़ी कम्पनीका एक कोई अंग्रेज मैनेजर था। उसका एक चपरासी पढ़ा लिखा बिल्कुल न था पर बड़ा आज्ञाकारी था। शेष सभी सेवक पढ़े लिखे थे। उस अंग्रेजने बहुत बार लाटरीमें रुपये डालनेका काम किया पर उसके नामसे कभी लाटरी न खुली थी। एक दिन उसने यों ही विनोदमें सोचा कि भला अपने चपरासीके नामसे १०) लाटरीमे डाल दें। सो भाग्यकी बात कि—उस चपरासीके नामसे ४-५ लाख रुपये के इनामकी लाटरी खुली। अब उस अंग्रेज मालिक ने सोचा कि यदि यह चपरासी यह बात सुन पायेगा कि हमारे नामसे ४—५ लाखकी लाटरी खुली है तो मारे खुशीके कहीं इसका हार्ट ही फेल हो जाय, सो उसने भली बुरी बातें कहकर व कुछ मार पीटकर पहिले चपरासीको दुःखी कर दिया तब बताया कि तेरे नामसे ४—५ लाख रुपये की लाटरी खुली है, सो इसका उपयोग बदला हुआ होने से

उसको कुछ न हुआ। अब क्या था, जिस कम्पनी का वह मैनेजर था वह कम्पनी ही लाटरीमे मिली थी, सो अपने चपरासीके नाम कम्पनी करा दी और खुद उसमे दास बनकर काम करने लगा। अब देखिये कि वह दास तो बन गया मालिक और मालिक बन गया दास। तो इस जगतमे किस स्थितिका विश्वास किया जाय ? एक कथानक है कि सत्यन्धर राजाने अपनी रानीके प्रेमके कारण अपना राज्य काष्ठागार को दे दिया। काष्ठागारने चढाई करदी उस ही राजा पर। उसने राजमहल घेर लिया। रानी उस समय गर्भवती थी। उसे एक यन्त्रमें बैठाल कर आकाश मार्गसे उड़ा ले गया। राजा मारा गया। उस यन्त्रने रानीको किसी मरघटमे डाला। वहाँ पर रानी ने पुत्रको जन्म दिया। तो देखिये ससारकी स्थितियाँ कि क्षणमात्रमें ही तुच्छ व्यक्ति बड़ा बन जाता है और बड़ा व्यक्ति तुच्छ बन जाता है। ऐसा जानकर ससार के समागमोमे रुचि न करना, मौज न मानना। अपने धर्मकी वृद्धि करें, आत्माको परखें, प्रभुको जाने, भक्ति करें, धर्ममे लगें, इससे अब भी सुख होगा और भविष्यमें भी सुख शान्ति प्राप्त होगी।

सत्तू विहोदि मित्तो मित्तो वि य जायदे तहा सत्तू।
कम्म-विवाग-वसादो एसो ससार-सब्भावो ॥५७॥

शत्रुका मित्र और मित्रका शत्रु हो जानेका ससारस्वभाव— कर्मोदयके वशसे शत्रु भी मित्र हो जाता है और मित्र भी शत्रु हो जाता है, यह तो ससारका स्वभाव है। इस जगतमे जितने भी जीव हैं वे सब स्वरूपत समान है, किसी भी जीवका स्वरूप किसी अन्य जीवसे कोई खास अधिक नहीं है, जो ज्ञानानन्द स्वरूप एकका है वही ज्ञानानन्द स्वरूप सबका है, तब इस दृष्टिसे कोई जीव न किसी का शत्रु है और न कोई किसीका मित्र है। वे जीव है, सद्भूत हैं, अपने स्वरूपको लिए हुए हैं, अपना परिणमन करते है, लेकिन कर्म सबके साथ लगे हैं, उनके उदयमें कषाय परिणाम होते हैं, इन कषाय परिणामोंके कारण अपने विषयोंकी वाञ्छारूप जिनका परिणमन जंचा उन्हें शत्रु मान लिया जाता है और अपने कषाय परिणामोके अनुकूल जिनकी प्रवृत्ति जँची उनको मित्र मान लिया जाता है। बस इस शत्रुता मित्रताकी बुनियाद पर जब चाहे इनमे परिवर्तन भी देखा जाता है, जो शत्रु था वही मित्र बन जाता है और जो मित्र था वही शत्रु बन जाता है।

शत्रुसे मित्र और मित्रसे शत्रु बन जानेकी एक प्रसिद्ध घटना—देखिये विभीषण रामके घरानेका कितना बड़ा भारी दुश्मन था। जब यह बात विदित हुई कि मेरे भाई रावणकी मृत्यु दशरथके पुत्र और जनक राजा की पुत्रीके कारण होगी तो विभीषणने सोचा कि मै दशरथ और जनक इन दोनोंका शिर ही उड़ा दू तो न दशरथके पुत्र होगा, न जनकके पुत्री। फिर मेरे भाई रावणका वध कैसे हो जायेगा? इस आशय से विभीषण चला दशरथ और जनकका शिर उतारने के लिए। इस बातका पता उन दोनो राजाओंको भी हो गया। तो उनके मन्त्रियोने मिलकर यह घटना रची कि दशरथ और जनक इन दोनोको गुप्त कर दिया और उनके नामका उनके ही समान पुतले बनवाकर महलमे रखवा दिया, जो बिलकुल जनक और दशरथ जैसे लगे और प्रजामे यह कहलवा दिया कि राजा अस्वस्थ है इससे वे दरबारमे न आयेंगे। विभीषण खोजता-खोजता महलोमे पहुचा और दशरथ तथा जनकके शिर जो कि पुतलेके रूपमे थे उनको काटकर खुश होकर एक समुद्रमे फेंक दिया। तो रावणसे कितना घनिष्ट प्यारा था विभीषणको और वह विभीषण राम सीताके घरानेका कितना जबरदस्त दुश्मन था। उदय बलवान है। बहुत दिनोके बाद जब रावणने सीताका हरण किया, विभीषण और रावणमें विवाद छिड गया। विवाद छिडते छिडते इतनी नौबत आयी कि विभीषण रावणका साथ छोड़कर चल दिया, रामसे जा मिला और रामका बड़ा प्यारा भक्त बन गया। तो विभीषण रावणका बडा स्नेही था, लेकिन कर्मवश रावणके वधका ही कारण बना और रामके घराने का कितना बडा दुश्मन था, किन्तु कर्मोदयवश रामका बड़ा भक्त बन गया। यह तो संसार

का स्वभाव है। ऐसा जानकर अपना क्या कर्तव्य है कि किसीसे हम विरोध न करें। जिससे आज हमारा विरोध है समझें कि वह हमारा शत्रु नहीं है।

शत्रु मित्रताके विकल्पोंके हटनेमें कल्याण लाभ— शत्रु मित्र होनेकी बात बन जाना तो एक घटना है। हम जो चाहते हैं उसके अनुकूल बात नहीं बनती है, तो हम मान लेते हैं वैरी लेकिन वस्तुतः कोई मेरा शत्रु नहीं है। जो आज प्रतिकूल है वह कभी मेरे अधिक अनुकूल भी हो सकता है अथवा संसारमें भटकते हुए अनेक जीव मेरे कुटुम्बी हुए, मित्र हुए तो जिनसे भी आज कुछ विरोध रखा जा रहा है वे भी हमारे पहिले स्वजन ही थे। शत्रुता और मित्रताकी यहाँ कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है। जीवनमें भी अनेक ऐसी घटनायें घटित होती हैं कि अपना ही पड़ौसी, रिश्तेदार, देशवासी कोई बहुत समय तक मित्र रहा और किसी समय किसी घटना पर उससे शत्रुता बन गयी अथवा बहुत समय तक शत्रुता रही और किसी घटनाके कारण अभिन्न मित्रता हो गयी। इस प्रसंगमें यह निश्चय रखिये कि मैं यदि किसीके प्रति विरोध-भाव रखता हूं तो बाहरमें तो जो भवितव्य है सो होगा, लेकिन हम अपने परिणामोंको बिगाड़ कर तुरन्त पाप बंध करते हैं और ऐसी स्थितिमें पापका फल हमें भोगना पड़ेगा। जगतमें कोई भी जीव विरोधी नहीं है, मैं किसीका विरोधी नहीं हूं, सभी जीव हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, अपनी-अपनी पात्रतासे अपना परिणमन करते हैं। शान्ति ज्ञाताद्रष्टा रहनेमें है। शत्रु और मित्रके विकल्पमें शान्ति नहीं है। यह तो कर्मोदयका एक स्वभाव है। यही संसारका स्वरूप है। भैया! अब निरख लीजिए कि भटकते-भटकते कभी मनुष्य भी हुए, जो कि बड़ी दुर्लभ बात है, ऐसे दुर्लभ मनुष्य जन्मको पाकर भी सांसारिक विषय सुख क्लेश शत्रुता मित्रता मौज विपदा, ऐसे ही अनुभव करते रहनेमें यदि जिन्दगी गुजार दी तो फिर जिन्दगी की सफलता कब होगी? जिनकी प्रीतिसे, जिनके मोहमें अपने आपको भुलसाया जा रहा है वे कभी भी हमके साथी हो ही नहीं सकते। वस्तुका स्वरूप ही नहीं है ऐसा कि किसी परपदार्थसे किसी परपदार्थको कुछ मिल जाय। तब देखिये निरखिये सब जीव सत हैं, सत होनेके नाते वे अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यमें रहा करते हैं। वे स्वतः कारण भले ही हैं, यहां हम किसे विरोधक मानें?

अपना ही परिणमन कर सकनेका वस्तुमें स्वभाव— एक शल्य यह रहती है मनुष्योंके, यदि कुछ चतुर भी हों तो भी वे सोचते हैं कि देखो जमाना खुदगर्ज है। सब अपनी-अपनी गरजके साथी हैं। अरे इस बातका क्या बुरा मानना? वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक वस्तु अपने आपमें ही अपना परिणमन करता है। तो खुदगर्ज कहो अथवा सम्प्रदान कारकका अभेद कहो, यह तो वस्तुस्वरूपमें ही पड़ा है। पदार्थ हैं, किसके लिए हैं? यह अपने लिए है। किसी पदार्थके सत्त्वका लाभ कोई दूसरा पदार्थ नहीं उठाता। और लाभकी बात क्या है? स्वरूप बना रहना यही तो सत्त्वका लाभ है। ये पदार्थ हैं, किस लिए हैं? ये पदार्थ परिणमते रहते हैं, किसके लिए परिणमते रहते हैं? अपने लिए ही परिणमते हैं। कोई दुष्ट कषायवश क्रोध मचाये रहता है, गाली बकता है, अपने भाव बनाता है, अपना परिणमन करता है तो वह किसके लिए करता है? अपने लिए करता है। जो कषायभाव कर रहा है उसका फल कौन पायेगा? जो कर रहा है वही पायेगा। तो सम्प्रदान कारकका अभेद होना यह तो वस्तुके स्वरूपसे ही है। उसका क्या बुरा मानना? खुदगर्ज है तो वस्तु स्वरूपकी तारीफ ही तो की गई। इसमें दोष क्या बताया गया? तो वस्तुके यथार्थस्वरूपको निहारकर इष्ट अनिष्टकी कल्पनाएँ त्याग कर देनेमें ही हम आप लोगोंकी भलाई है। ऐसे श्रेष्ठ मनुष्यजन्मको पाना तो इसका लाभ ले लेना चाहिये। यह रहेगा नहीं। कुछ समयका ठिकाना नहीं कि कितने समय तक हम आप लोगोंको यहां टिकना है। कुछ ध्यान यही करना है कि अपना ज्ञान बनावें, अपने स्वरूपकी दृष्टि करें, इससे ही हम आप शान्ति पायेंगे और अन्य प्रकार ऐसा नहीं है।

अह कह वि हवदि देवो तस्स वि जाएदि माणसं दुक्खं।
दट्ठूण महड्ढीण देवाण रिद्धि-सपंत्ती ।।५८।।

देव होने पर भी मानसिक दुःखोका क्लेश—यह जीव संसारमे अनेक कुयोनियों मे भ्रमण करता हुआ कभी देव भी हुआ तो भी उस देव भवसे इसने लाभ क्या पाया ? देवोके शारीरिक सुख तो बहुत हैं, शारीरिक क्लेश नहीं है। उनका शरीर वैक्रियक है। क्षुधा तृषाका भी उनके क्लेश नहीं है। रोजगार व्यापार करने की भी आवश्यकता नहीं है। रोग, पसीना, मल, मूत्र आदिक भी उस देहमें नहीं होते। तो शारीरिक दृष्टिसे तो उनका कितना अच्छा स्थान है किन्तु दुःखी वे भी बहुत है। उनके मानसिक दुःख ज्यादा है। देवगतिमें लोभ कषायकी प्रधानता है। लोग तो यों समझते कि मनुष्यमें लोभ कषायकी मुख्यता है लेकिन मनुष्योंसे भी तीव्र लोभ देवगतिमें रहता है। वे एक दूसरेकी ऋद्धि वैभवको नहीं देख सकते। कोई बड़ा ऋद्धिसम्पन्न देव है तो उसकी प्रभुताको दूसरा देव नहीं देख सकता। वह उस विशेष ऋद्धिधारी देवसे लोभ होने के कारण ईर्ष्या करता है।

मनुष्यभवमे बरबादीके उपायभूत मान कषायकी मुख्यता—मनुष्योंमे तो मान कषायकी प्रधानता है। जो कुछ यह मनुष्य करता है यह अपना मान सम्मान बढ़ाने के लिए करता है। आज मनुष्य इतने चिन्तित हो रहे हैं, पर चिन्ताकी बात है कुछ भी नही। अरे जिसका जैसा उदय है उसके अनुसार सारी बाते बनेंगी, मगर यह मनुष्य अपनी मान कषायको पुष्ट करने के लिए रात दिन चिन्तित रहा करता है, सारे प्रयत्न करता है पर उसे चैन नहीं मिल पाती। एक कथानक है कि बुन्देलखण्डमे किसी गाँवमें एक सुनारिन रहती थी। उसे एक बार शौक हुआ कि मेरे को ७५ तोले सोने के बखौरे बनवाकर पहिनना चाहिए। बखौरा भुजाओंमे पहिने जाते हैं। उन्हें बाजूबन्द भी कहते हैं। तो उस सुनारिनने अपने पति सुनारसे कई बार बखौरे बनवानेको कहा। स्थिति उसकी गरीबी की थी, पर वह सुनारिन रोज रोज बखौरे बनवानेके लिए अपने पतिसे लड़ा करती थी। खैर, किसी तरहसे अपना कुछ सामान बेचकर, कुछ कर्ज लेकर उसने बखौरे बनवा दिए। अब उस देशमें रिवाज था मोटी धोती पहिननेका और सब अंग ढक कर रहनेका। वह सुनारिन काफी दिनों तक वे बखौरे पहिने रही, मगर किसीके मुखसे कुछ प्रशंसाके शब्द न सुन सकी। प्रशंसाके शब्द सुने कैसे ? वे बखौरे किसीको दिखे ही न थे। सो वह रोज रोज गुस्सा सी रहा करती थी। एक दिन ऐसा तेज गुस्सा आया कि उसने अपनी झोंपड़ीमें आग लगा दीया। जब झोंपड़ी जलने लगी तो कुछ होश ठिकाने हुआ। लोगोंसे हाथ फैला फैलाकर कहने लगी, अरे बुझाओ आग, वह बाल्टी है, यह रस्सी है, इधर बुझाओ उधर बुझाओ आदि। इसी प्रसगमें उसके बखौरे एक स्त्रीको दिख गए। तो उस समय स्त्री कहती है—अरी जीजी ! ये बखौरे तुमने कब बनवाये ? ये तो बडे सलोने लगते हैं ? तो वह सुनारिन झुँझला कर कहती है—अरी राँड ! यही बात यदि पहिले से ही कह देती तो मेरी झोंपड़ी क्यो जलती ? मनुष्योमें मान कषायकी प्रधानता है। घरमें ही स्त्रीको अभिमान है और उसके मनमाफिक सम्मान नहीं हो पाता ? वह भी अनेक बार बहुत नुक्सान करती रहती है। पुरुषको अभिमान है और उसके अनुकूल स्त्री चलती नहीं तो वह भी अनेक प्रकारके नुक्सान करता रहता है। मान कषाय इतनी प्रबल है कि अपना सब कुछ खो देने पर मान रहना चाहिए उस ही मान कषायके पोषणके लिए इतना बड़ा भारी वैभव जोड़ा जा रहा है और रात दिन बेचैनी बर्ती जा रही है। तो मनुष्योंमें तो मान कषायकी प्रबलता है, सो कषायवश बरबाद होते है तो देवोंमें लोभ कषायकी प्रबलता है। सो वे लोभ कषायवश मानसिक दुःख सहते हैं।

बडे बडे देवोमे भी लोभकषायवश दुःखका भार—यद्यपि क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चारों कषायें देवोमे भी है और मनुष्योंमें भी है पर मुख्यताकी बात कही जा रही है। उन देवोंमे जो सदा

मानसिक दुःख रहता है वह इस बातका रहता है कि जो बड़ी ऋद्धि वाले हैं उनकी ऋद्धि सम्पदाको जब निरखते हैं तो दाय मनमें आती है। मेरे ऐसा वैभव न हुआ, मैं छोटा ही देव रह गया, मैं इतना ऊँचा देव न हुआ, इस तरह दूसरे देवोंकी ऋद्धि सम्पदाको निरखकर ये देव निरन्तर मनमें दुःखी रहा करते हैं। उन देवोंमें १० प्रकारके भेद हैं—इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक इन्द्र और सामानिक। ये तो ऋद्धि वैभवमें पूरे समान हैं, किन्तु इन्द्रकी तो आज्ञा चलती है और सामानिक देवोंकी आज्ञा नहीं चलती। जैसे घरमें कोई प्रधान पुरुष है उसके घरमें बच्चे, स्त्री, माता आदिक दसों पुरुष हैं, उन दसों पुरुषोंका खाना पीना, पहिनना ओढ़ना, आदि सभी आरामके साधन एक समान हैं लेकिन हुक्म एक उस प्रधान पुरुषका ही चलता है अथवा जैसे किसी राजाके राजघराने में आराम तो सबका बराबर है किन्तु हुकुम सिर्फ एक राजाका चलता है, तो इसी तरह इन्द्र और सामानिक देवोंका वैभव आराम सब एक समान है पर इन्द्रकी हुकूमत है। इन्द्र सामानिक ये हुकुमके सद्भाव व अभाव में ही दुःखी रहते हैं। त्रायस्त्रिंश एक मंत्रियों जैसे सलाहकार जैसे देव होते हैं। त्रायस्त्रिंशका अर्थ है ३३ व्यक्तियोंका ग्रुप। देखिये ये त्रायस्त्रिंश, ये देव किसी बात पर यदि सलाह दें तो ३३ के आधे हुए १६।। तो १६।। देव तो कुछ नहीं कहलाते. या तो १७ होंगे या १६ होंगे। विसमता आयी ना। उस समय इन्द्रकी जो राय होगी, जैसी व्यवस्था यहाँ सभापतिकी है कि सभासदोंकी समान राय हो तो सभापतिकी डबल रायसे निर्णय होता है। वह व्यवस्था वहाँ बराबर बनी है। अब कोरममें भी देखो तो उनका एक तिहाई ११ बैठता है। तो त्रायस्त्रिंश भी बुद्धिमान देव हैं, वे किसी भी विषयमें अपनी एक महत्त्वपूर्ण सलाह देते हैं। उनका भी बहुत बड़ा आदर है किन्तु ये भी दूसरोंके ऐश्वर्यको देखकर दुःखी रहते हैं।

पारिषद आत्मरक्ष लोकपाल जैसे देवोंमें भी लोभकषायवश मानसिक क्लेश—पारिषद देव कहते हैं परिषद में रहने वाले देवों को। वहाँ तीन प्रकारके परिषद हैं। एक भीतरी परिषद, उसके बाद मध्यपरिषद, उससे बाद सामान्य परिषद। जैसे कि यहाँ जनरल कमेटी, मैनेजिङ्ग कमेटी और वर्किङ्ग कमेटी, इस प्रकारकी तीन कमेटी होती हैं। इसी प्रकार भीतरी, मध्य और सामान्य ये तीन परिषद देवोंके होते हैं। उन्हें तीन सभायें भी कहते हैं। उन सभाओंमें रहनेका जिन्हें अधिकार है, जो रहते हैं वे पारिषद देव कहलाते हैं। वहाँ आत्मरक्षदेव भी होते हैं। जैसे यहाँ किसी बड़े राजा या सेठके साथमें कुछ सिपाही लोग चलते हैं इसी प्रकार इन्द्रके साथ भी आत्मरक्षदेव रहा करते हैं। जिन्हें बाडीगार्ड समझिये। यद्यपि इन्द्रको कुछ आवश्यकता नहीं है, उनका वैक्रियक शरीर है, उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती, लेकिन उनके पुण्यका ऐसा ठाठ है सो वे साधन होते ही हैं। वहाँ लोकपाल देव भी होते हैं। जैसे कि यहाँ कोतवाल होता है वैसे ही वे लोकपालदेव होते हैं। लोकपालका बहुत ऊँचा दर्जा है। इन्द्रोंके एक भवावतारी होनेका नियम है। जो दक्षिण दिशाके इन्द्र हैं और लोकपालके भी एक भवावतारी होनेका नियम है, वे भी एक मनुष्यका भव पाकर मोक्ष जाते हैं। तो समझिये लोकपालका कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोकपाल क्या, कोतवाल क्या? नगर और प्रजाका पिता। सब कुछ रक्षाकी बात उसके आधीन है? यद्यपि आजकल इस कलियुग में कोतवाल की स्थिति बड़ी खराब हो गयी है, प्रजाको भय और आपत्ति उत्पन्न करा देनेकी कारगुजारी उनमें आ गई है, क्योंकि उन्होंने जिस चाहे पर कोई दोष लगा दिया, या जरासा भी कोई दोष पाया तो उसको बढ़ा दिया, उलझा दिया, ऐसा करनेसे उनका काम बनता है, उनको आय होती है, तो यह सब एक खोटे समयकी बात है, किन्तु कोतवाल अथवा लोकपाल इतने विशेष पुण्यवान प्रतापी होते हैं कि प्रजा के लोग उन्हें अपने पिताकी भाँति रक्षक समझते हैं। और तभी तो वे एक भव पाकर मोक्ष जाते हैं। इतने ऊँचे देव होकर भी उस भवमें तो लोभकषायवश मानसिक दुःख वे पाते हैं।

अनीकादिक देवोमे भी लोभकषायवश मानसिक दुःखका सद्भाव— देवभवमे सेनाये भी हैं। वे सेनाये किस लिए है? सेनाओका वहाँ कुछ प्रयोजन नहीं है लेकिन इन्द्रके पुण्यका ठाठ है कि ७ प्रकारकी सेना होती है। और उस ७ प्रकारकी सेनामें एक नर्तकी सेना भी मानी गयी है। नाचने गाने वाली ऐसी जो देवागनाये हैं उन्हे भी एक सेनामें शामिल किया है। तो यह पुण्य वैभव वाली सेना है। प्रकीर्णक–प्रजाजन, ऐसे देवोंका नाम है प्रकीर्णक। ये तो कुछ थोड़ा ठीक-ठीक रहे, पर इनके जो भेद हैं आभियोग्य और किल्विषक। उन देवोंकी वहा दुर्गति सी है। आभियोग्यके देव बडे देवोकी सवारीके काम आते है। उन्हें कुछ जरूरत नहीं है मगर बडे समर्थ लोगोंके मन दौड़ा करते हैं—वे हुक्म देते है हाथी बन जावो, हम फलाने द्वीपमे विहार करेंगे, लो उसे हाथी बनना पड़ा और दूसरा देव बैठा है ऊपर, ये आभियोग्य देव बडा मानसिक दुःख पा रहे है। इनके चिन्ता रहती है कि मै न हुआ ऐसी ऋद्धि वाला। तो ऐसे मानसिक दुःख उनको बहुत हैं। किल्विषक जातिके देव जो यहाके आदिवासियोंके सामान है। जैसे बहुत छोटे बिरादरीके लोग गावके बाहर ही रहा करते हैं इसी प्रकार वे भी उन स्वर्गवासियोके वातावरणसे बाहर ही रहा करते है। कितना कष्ट पाते हैं वे देव और यह भी समझ लीजिए कि जिनपर हुकुम चलाया जाता वे कष्ट पाते है, सो तो सही है पर उनसे अधिक कष्ट उनको है जो कि हुक्म चलाया करते हैं तो हुक्म देने वाले भी दुःखी और हुक्म मानने वाले भी दुःखी। वहाँ एक दूसरे महर्द्धिकदेव की सम्पदा निरखकर वे देव मानसिक दुःखसे व्याकुल रहा करते है।

इट्ठ विओगं-दुक्ख होदि महड्ढीण विसय-तण्हादो।
विसय-वसादो सुक्ख जेसिं तेसिं कुदो तित्ती ॥५९॥

विषयसुखके लोभी देवोके असतोष व इष्टवियोगादिक क्लेशोकी बाधायें—उन बड़े ऋद्धि वाले देवोको बड़ी तृष्णा रहती है। खाने कमानेका कोई साधन जुटाना नहीं, बड़ा आराम है, कभी रोग आता नहीं। ऐसे मौजके समागममें रहने वाले देवों को सूझता क्या है, सिवाय भोगोपभोगके। तो उन देवोंके विषयों में तृष्णा रहती है। और उन्हें भी अपने प्रिय देव देवाङ्गनाओंके वियोगका दुःख सहना पड़ता है। सो बात सही है, जिनके विषयाधीन सुख हैं उनको तृप्ति कहासे हो सकती है? तृप्तिका सही साधन तो आत्मस्वरूपका दर्शन ज्ञानानन्दमयी आत्माका ज्ञान और उस ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मामें अपने आपको जुटा देनेका पुरुषार्थ, यही शान्तिका साधन है। विषयोकी तृष्णा करके कोई चाहे कि शान्ति मिल जाय सो नहीं मिल सकती। धन वैभव सम्पदाके संचयकी भी बात देखो—अबसे २५-५० वर्ष पहिले जो स्थिति थी उससे आज हजार गुणा अधिक स्थिति है लेकिन उस स्थितिको देखकर सन्तोष करने की आदत तो नहीं है किन्तु तत्काल यदि कुछ हानि है तो वह चित्त पर बड़ा घर जमाये रहती हैं। तृष्णामें यही तो होता है। जिन्हें विषयोंकी अथवा किसी भी प्रकारकी तृष्णा है उनको तृप्ति कहाँसे हो सकती है? उन देवोंमें भी किसी देवीका देव मर गया तो यद्यपि वहां ऐसा नियोग है कि कुछ ही समय बाद उस स्थानकी पूर्ति हो जाती है, नये देवका जन्म हो जाता है लेकिन वियोग तो हुआ ही। उतने समय तो दुःख भोगना ही पड़ा। यही हाल देवियोका है। तो वहा भी इस तरहके इष्टवियोगके दुःख भोगने पडते है। सो बड़ी ऋद्धि वाले भी देव हो लेकिन पंचेन्द्रियके विषयसुखोंकी वाञ्छा होनेसे उन जीवोको भी क्लेश है। जिनका सुख विषयोके आधीन है उनको किसी भी प्रकार तृप्ति हो ही नहीं सकती। सो वे देवगतिके जीव भी मानसिक दुःख सहते रहते हैं।

सारीरिय-दुक्खादो माणस दुक्खं हवेइ अइ-पउर।
माणस दुक्ख जुदस्स हि विसया वि दुहावहा हुंति ॥६०॥

शारीरिक दुःखसे मानसिक दुःखकी अति प्रचुरता—सासारिक दुःखसे मानसिक दुःख अत्यन्त कठिन

होते हैं, तभी तो यह देखा जाता है कि जिस जीवको मानसिक दुःख लग गए उसको विषय भी दुःखकारी होते है। देवोका शरीर वैक्रियक होता है। वहां भूख प्यास ठंड गर्मी आदिकका कोई दुःख नहीं। तो ऐसा जानकर कोई यह न मान ले कि देवगति तो बड़े सुखकी अवस्था है, उसके प्राप्त कर लेने पर सभी काम वन जाते हैं। देवगतिमे यद्यपि शारीरिक दुःख नहीं हैं किन्तु मानसिक दुःख विशेष हैं। मानसिक दुःख तो शारीरिक दुःखोसे भी अधिक पीड़ाकारी होते हैं। यह बात प्रायः करके यहाँ भी धनिकवर्गमे अथवा कुछ प्रतिष्ठित लोगोमें अधिकतर देखी जाती है। उनकी बीमारी प्रायः हार्टकी रहा करती है। डाक्टरोंपर अनाप सनाप खर्च भी है। सब तरहके लौकिक दृष्टिसे आराम भी है पर कोई गहरा नुक्सान हो जानेसे, अथवा किसी इष्टका वियोग हो जानेसे अथवा परिजनोंके अनुकूल न चलनेसे उन धनिक लोगोंको मानसिक दुःख वहुत अधिक रहा करता है। जब मानसिक दुःख अधिक होते हैं तब उन्हें वे विषय भी दुःखकारी लगते हैं। जसे किन्हीं किन्ही पौराणिक कथानकोमे सुना होगा कि किसी राजपुत्रको यदि कोई चित्रपट देखकर मोह हो गया तो उसकी धुनमे उसे खाना पीना तक नहीं सुहाता। तो ऐसी हालत हो जानेका कारण था मानसिक दुःख। लोग प्राय इस बातके लिए रात दिन विकल रहते हैं कि हमारा अपमान न हो। इसी धुनमें वे सुखसे खा पी नही सकते हैं। तो मानसिक दुःखमे बड़ी तीव्र वेदना रहती है। जिसके कोई इष्ट वियोग हो जाता उसे दो चार दिन कुछ भी नहीं सुहाता। उसे रिश्तेदार लोग व अन्य लोग भी वहुत-वहुत समझाते हैं, उसका वियोग मिटानेके लिए अनेक प्रकारके साधन जुटाते हैं, फिर भी उसकी मानसिक वेदनाको मेटनेमे कोई भी समर्थ नहीं हो पाता।

मानसिक दुःखका दुष्परिणाम— कभी-कभी तो यह मानसिक दुःख, सक्लेश सहित मरणका भी कारण बनता है। जब सुकौशल महाराज बचपनमे ही विरक्त हो गए तो उनकी माताको कितना मानसिक दुःख था कि पति भी विरक्त हुआ और मेरे विश्रामका साधन मेरा पुत्र भी विरक्त हो रहा, यह दृश्य देखकर उसके मानसिक दुःखका ठिकाना न रहा। परिणामस्वरूप वह राजमाता मरकर शेरनी हुई। इस मानसिक दुःखके कारण देव भी मर कर एकेन्द्रिय तक हो जाते हैं। देवगतिके जीव मर कर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय तो होते नहीं, नारकी और देव भी नहीं बन पाते, वे या तो एकेन्द्रिय बनेगे या पञ्चेन्द्रियमें तिर्यञ्च अथवा मनुष्य तो सीधी स्पष्ट बात यह है कि देवोमे जो पुण्य बसा था वह खलास हो गया, तभी तो देव मरकर देव नहीं बन सकते, भोगभूमिया भी नहीं बन सकते। अर्थात् जहाँ इष्ट भोगों का मौज हो ऐसी गति देवोंको नही मिलती। तो पुण्य फल भोगे जा रहे हैं देवगतिमें, पर साथ ही जो मानसिक दुःख लगा है उसके कारण उनको असह्य वेदना भी बनी रहती है और पापकर्मके उदयसे फिर मरकर एकेन्द्रिय तकमें भी उत्पन्न हो जाते हैं। तो शारीरिक दुःखसे कठिन दुःख है मनमे विकल्प किये जानेका।

मानसिक दुःखोका निर्मूल जानकर आत्मलाभके लिये यत्नका शिक्षण— अच्छा यहीं बतलाओ। प्रायः हम आप लोग जैन शासन, श्रावककुल, सत्समागम, सब साधन पाये हुए हैं लेकिन व्यर्थकी ऐसी चितायें बसाये है कि जैन शासन पाकर के उसका जो लाभ जल्दी लूट लेना चाहिए था, अपने आत्माका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करके समाधिभावका परमलाभ ले लेना चाहिए था सो व्यर्थ ही अज्ञानसे परमें दृष्टि करके, परसे अपनायत करके दुःख मचाया जा रहा है। वस्तुत देखो तो इस समय हम आपको कोई क्लेश नहीं है, पर क्लेश माननेके अनेक बहाने है। जहाँ वीतराग सर्वज्ञदेवका स्मरण, भक्ति करने अथवा अपने स्वरूपकी सुध करनेका मौका मिला हुआ है वहाँ यदि इन शान्तिके साधनोंमें अपनी दृष्टि बनाये रहें तो कितना अलौकिक लाभ होगा? किसीके हाथ पैर, दिमाग ये धनार्जन नहीं किया करते किन्तु शुद्धभावके रहते हुए जब कभी पुण्यबंध, हुआ था, उसके फलमे धनार्जन हुआ करता है। कोई बालक किसी करोड़-

पतिके घर उत्पन्न हुआ तो बचपनसे ही वह धनिक कहलाने लगा। बताओ कहाँ उसने धन कमाया, पर वह धनिक कहलाने लगा। तो उसके धनिक कहलानेका कारण है उसका पूर्वकृत पुण्यकर्म। अच्छा यह बताओ कि घरमें जिस बच्चेकी सेवा घरके सभी लोग करते हैं, उसे गोदमें लिए फिरते हैं, उसके पीछे बड़ा श्रम करते हैं तो इसमें भाग्य किसका बड़ा है? उस बच्चेका या घरके अन्य सभी लोगोंका? अरे जो लोग उस बच्चेके पीछे रात दिन चिन्ता किया करते हैं, उनका भाग्य बड़ा नहीं है। भाग्य तो उस बच्चेका ही बड़ा माना जायेगा। घरके सभी लोग तो उस बच्चेके नौकर बने हुए हैं, वे घर वाले खुद तो पुण्यहीन हैं, वे खुदकी तो कुछ चिन्ता नहीं करते कि मेरा भविष्य ठीक हो, मेरा कुछ सुधार हो, पर जिस बच्चेका पुण्य प्रबल है उसके पीछे रात दिन चिन्तायें किया करते हैं।

पुण्यफलका दिग्दर्शन—एक ऐसी ही किम्वदन्ती है कि एक बार महादेव पार्वती दोनों घूमने जा रहे थे, उन्हें रास्तेमें एक लकड़हारा मिला। वह एक लकड़ीका बड़ा भारी बोझ लादे हुए था, उसके तन पर एक फटासा वस्त्र था। उसे यों ही देखा। फिर आगे बढ़नेपर मिला एक घुड़सवार, वह था कोई धनिक सेठ। उसका दुपट्टा नीचे गिर गया, तो महादेव ने पार्वतीसे कहा कि इसका दुपट्टा उठाओ और इसे दे दो तो पार्वती पूछती है कि यह तो बताओ कि लकड़हारा मिला, उस पर तो आपने दया नहीं की, वह बेचारा उतना बड़ा बोझ लिए हुए था, उसको तो आपने कुछ मदद नहीं की और आप इस धनिक व्यक्ति की मदद कर रहे हैं तो यह क्या बात है? तो महादेव कहते हैं कि देखो वह लकड़हारा तो अपने पैरों पर खड़ा है, उसको खुद अपनी चिन्ता लगी है और इस धनिकको कोई चिन्ता नहीं है। तो उस किम्वदन्तीमें यह बताया है कि पुण्यवन्तोंके दास तो महादेव तक भी हैं, फिर अन्यकी तो बात क्या? इन पुण्यवन्तोंके दास ये माँ बाप भी बन रहे हैं, उनके प्रति चिन्तायें करनेसे लाभ क्या? अरे जो स्वयं पुण्यवान हैं उनके पीछे चिन्तायें करना व्यर्थ है। अपना जीवन निश्चित रहकर बिताओ। न्यायका जीवन बनाओ, ममताको हटाओ। यदि ऐसी सद्भावना होगी तो अपना उद्धार है अन्यथा मानसिक दुःखोंमें रहकर कुछ भी लाभ न लूटा जा सकेगा।

देवगतिमें रागविडम्बनाकी एक घटना—आदिनाथ भगवानके पूर्वजन्मसे सम्बन्धित एक कथा है कि एक राजा और रानी मरण करके स्वर्गमें देव और देवी हुए और वहाँसे मरण करके देवी तो किसी राजा की कन्या हुई और देव किसी राजाका पुत्र बना। एक दिन वह राजकन्या अपनी छत पर बैठी हुई थी। किसी कबूतर कबूतरीके जोड़े को देखकर उसे अपने पूर्वभवका कुछ स्मरण हुआ। उसने प्रतिज्ञाकी कि मैं अपना सम्बन्ध उसी व्यक्तिके साथ स्थापित करूँगी जो पूर्वभवमें मेरा पति रहा है। उसने अपने मनकी बात अपनी धायको बताई। तो धायने क्या किया कि बहुतसे चित्रपट बनाये। उनमें से एक ऐसा भी चित्रपट था कि एक पुरुषके सिरपर कोई दाग लगा था और उसके पास ही कोई स्त्री खड़ी थी। उस चित्रपटको वह धाय उस मंदिरके पास लेगई जहा सभी लोग दर्शन करने आया करते थे। उस चित्रपटको वहा रखकर धाय बैठ गयी परीक्षा करने के लिए तो वहा बहुतसे राजपुत्र आये, उनमें से एक राजपुत्र ऐसा भी आया जो उस चित्रपटको देखकर मूर्छित हो गया। उस राजपुत्रको भी जातिस्मरण हो गया था। जब धायने पूछा—कि तुमने इस चित्रपटमें क्या देखा तो वह राजपुत्र कहता है कि मैं पूर्वजन्ममें ललिताङ्गदेव था उस भवमें मेरी अङ्गना जो देवी थी उसे मैंने इस चित्रपटमें देखा। तो उस समय उस देवीने उसके सिर में लात मारी थी, क्रोधसे नहीं, बल्कि प्रेमवश रूठकर, आसक्तिवश अथवा अनेक प्रकारकी प्रवृत्तियोंवश। उस लातका ही निशान उसके सिर पर बना हुआ था। तब उस धायने समझा कि यह वही व्यक्ति है जो इस राजकन्याका पूर्वभवमें पति था। आखिर उन दोनोंका सम्बन्ध बना। तो इस कथामें बात यह बता रहे कि देवोंमें भी ऐसी अटपट खटपट हुआ करती है जैसी कि मनुष्योंमें। देवोंमें अटपट खटपट कम

नहीं हैं कि कोई यह जाने कि देवगतिमें तो बड़ा सुख है। देव रूठे तो उसको देवी मनाये और देवी रूठे तो उसे देव मनाये। आखिर वे भी तो जीव हैं। कषायें इन देव देवियोंमें भी हैं, वे एक दूसरेके अनुकूल प्रतिकूल होते रहते हैं। वहां भी ये मानसिक दुःख लगे हुए हैं।

संसारमें मानसिक दुःखोंकी व्याप्ति—शारीरिक दुःखसे भी कठिन दुःख मानसिक दुःख होता है। जैसे यहां बड़े मनुष्योंमें शारीरिक दुःख तो कुछ नहीं है, सब प्रकारके साधन हैं, पर मानसिक दुःख बहुत लगे हुए हैं। मानसिक दुःख वाले जीवोंको ये विषय भी दुःखकारी मालूम होते हैं। जब कोई बच्चा किसी बात पर रूठ जाता है तो इस रूठे हुए बच्चेको उसके माँ बाप कितना ही मनाते हैं, उसे खानेके लिए मिठाइयां अथवा खेलनेके लिए खिलौने आदि देते हैं पर वह बच्चा उन मिठाइयोंको, उन खिलौनोंको धूलमें फेंक देता है। तो वह ऐसा क्यों करता है? उसने किसी बातका अपमान महसूस किया। यों ही जब बच्चा गोदमें चढ़ा हुआ होता है तो खुश रहता है और जब उसको नीचे बिठा दिया जाता है तो वह रोने लगता है। वह क्यों रोता है? इसलिए कि वह जानता है कि अभी तो गोदमें बैठा हुआ मैं राजाबाबू बना था, अब मुझे नीचे फेककर मेरा अपमान कर दिया गया। यों अपमान महसूस कर वह बच्चा रोने लगता है। तो शारीरिक दुःखसे भी कठिन दुःख मानसिक दुःख होता है। यह मानसिक दुःख सबमें पाया जाता है। पशु पक्षियोंमें भी रूठनेका यह मानसिक दुःख होता है। यह मानसिक दुःख इतना प्रबल है कि प्राणोंके वियोग तकका भी कारण बन जाता है। तो देवगतिमें सुख न समझना। देव भी हुआ यह जीव तो भी दुःखोंसे अतीव दुःखी ही रहा।

देवाण पि य सुक्खं मणहर-विसएहि कीरदे जदि हि।
विसय-वसं जं सुक्खं दुक्खस्स वि कारणं तं पि॥६१॥

विषयसुखोंकी दुःखकारणता—देवोंका सुख मनहारी विषयोंसे उत्पन्न होता है। सो जो सुख विषयाधीन है वह सुख भी क्या सुख है, वह तो दुःखका ही कारण है। अभी यहीं निरखलो, हम आप विषयसाधन सामग्री जोड़ते हैं और उनके द्वारा सुखका अनुभव करते है, तो ऐसी विषयसामग्रीसे जो सुख पाया जाता है वह सुख नहीं है बल्कि दुःखका ही हेतुभूत है। कोई चीज रसीली खानेकी मनमें आये तो उसके लिए उसने आग जलाया, धुँवा होनेसे आखोंसे खूब आसू भी गिरे, बड़ा कष्ट करके हलुवा बनाया, पर स्वाद कितनी देरका? जब तक कि वह जीभ पर रखा है और यदि तृष्णावश हलुवा अधिक खा गए तो कहो पेट दर्द आदिके दुःख भी सहने पड़े। तो जो सुख अनेक सामग्रियोंके आधीन है उससे फायदा क्या? वह तो विडम्बनारूप है। शान्ति तो असली यह है कि जब चाहा तभी दृष्टि दी अपने स्वरूपपर और उससे खूब शान्ति भोगी। यह सुख स्वाधीन है और यही सुख वास्तविक सुख है। जो सुख पराधीन है वह सुख नहीं है बल्कि दुःखरूप है। पराधीन सुख जो बड़े धनसम्पन्न राजा महाराजाओंका है वह भी एक विडम्बनारूप है और समस्त परिग्रहोंका त्याग करने वाले मुनिजनोंका जो आत्मध्यानका सुख बन रहा है, वह वास्तविक सुख है। इन सांसारिक सुखोंके पानेके लिए कितने ही लोगोंकी पराधीनतायें स्वीकार करनी पड़ती हैं। मान लो कोई लौकिक दृष्टिमें पराधीन नहीं है तो भी किसी को खुश रखनेका भाव तो रख ही रहा है। वही पराधीनता है। तो देवों के भी जो मनको बहुत प्रिय लगने वाला सुख हो रहा है वह सुख भी दुःख है क्योंकि विषयाधीन है। इन देवोंको न तो रोजगार करना होता है, न कुछ आजीविकाकी चिन्ता होती है, बाहरी सामग्रियोंके नष्ट हो जानेका उनको कोई भय नहीं है। उनको भी जो सुख होता है वह उनके दुःखका कारण है तो अन्य पुरुषोंका जो सुख है वह क्या सुखका कारण बनेगा? वह भी दुःखरूप है।

सांसारिक सुखके साधनकी दुःखहेतुता—देखिये—धनका सुख है तो उसके साथ डाकू न चुरा लें,

कोई लोग मुझे न सतायें अथवा कोई कानून ऐसा न बने कि जिससे सम्पदा नष्ट हो जाय। यों कितने ही प्रकारके क्लेश लगा रखे है। ज्ञानी पुरुषमे इतना साहस होता है कि हमारा जैसा उदय होगा उसके अनुसार सब साधन स्वत· ही बनेंगे। उनका क्या विकल्प करना? गृहस्थीके नाते थोड़ा प्रयत्न कर ले बस यही अपना कर्तव्य है, अब जो बात बीतेगी उसमें मुझे आनन्द है। राणा प्रताप जो कि बहुत बडे राजा थे वह भी जब समय आया तो जगलोंमें रहे, घास, फूसकी रोटियाँ, सब्जियाँ अथवा फल, फूल आदि खाकर अपना समय गुजारा, उस हालतमे भी वे प्रसन्न रहे। रहे प्रसन्न मगर दु ख तो था। वहाँ पर भी आधीनता उन बच्चोंको व स्त्री आदिकी थी। तो इस सुखके लोभमे बडे-बडे दु ख सहने पड़ते है। जितने भी सुख है वे आज हैं, मगर कोई ऐसा मौका आता है कि उसीके कारण दु ख हो जाता है।

एव सुट्ठु असारे ससारे दुक्ख-सायरे घारे।
कि कत्थ वि अत्थि सुह वियारमाण सुणिच्छयदो॥६२॥

दु खमय असार ससारमे वास्तविक सुखका अभाव-- इस तरह परमार्थ विचार करनेपर सर्वथा जो सारहीन है, दु खरूप है ऐसे भयानक इन भवोमें क्या किसीको सुख है, खूब विचार कर लो। इस संसारमे किसी भी पर्यायमे क्या वास्तवमे सुख है? सर्वत्र दु ख ही द ख दिख रहा है। कदाचित् पुण्यका उदय है, वैभव सामग्री खूब है तो उसमे मस्त मत हो, उसके सदुपयोगका ध्यान रखो। आता है तो क्या वह आप के लिए आता है? आप उसका क्या कर लेंगे, कितना खायेगे, कितना उपभोग करेंगे? रही यह बात कि यदि आप ऐसा मानगे कि लोकमें हम कुछ ठाठसे तो रह लेंगे तो यह लोक भी क्या? यहाँ दिखने वाली समस्त पर्यायें मायारूप हैं, आखिर इन सबका वियोग होगा। तो अपने शुद्धभाव बनाये, विषयोसे रहित परिणाम रखनेकी बात अब भी निभाते रहे तो आगे भी कुछ प्राप्ति होगी, अन्यथा जैसे किसी राजाने कहा कि। हे मत्री! एक आदमी ऐसा लावो जो यहाका हो, एक आदमी ऐसा लावो जो वहांका हो, एक ऐसा लावो जो यहाका भी हो वहाका भी हो, एक आदमी ऐसा लावो जो न यहांका हो, न वहाका हो। यहाके मायने इस जीवनमे कामका हो, वहांके मायने जो परलोकमे कामका हो। तो लाये साहब। एक योगी पुरुषको दिखाया और बताया कि देखो यह यहाके तो नहीं, पर वहाके है। एक दरिद्र, कोढी भिखारीको दिखाया कि देखो— यह यहाके हैं, न वहाके है। एक धनी कृपण सेठको दिखाया और बताया कि देखो यह यहांके हैं, वहाके नही। क्योकि तृष्णा है, यथा तथा प्रवृत्ति है और एक परोपकारी सेठको दिखाया और बताया कि देखो— यह यहाके भी हैं और वहाके भी हैं। अर्थात् यह सेठजी यहा भी सुख पा रहे और आगे भी सुख पायेगे।

सतोष व उदारतासे जीवनकी सफलता-- प्रयोजन यह है कि जो वर्तमानमे वैभव पाया है उसको यह समझे कि यह हमें जरूरतसे ज्यादा मिला हुआ है, सन्तुष्ट रहें। असन्तोषमें लाभ न मिलेगा और न असन्तोष कभी मिट सकेगा। हर स्थितिमे यह अनुभव करें कि हमने वैभव जरूरतसे ज्यादा पाया है और बात भी सत्य है, जरूरतसे ज्यादा है, लेकिन मनको जो स्वच्छद रखा है। एकदम बाहरी पदार्थोंकी तृष्णामें जो मनको लगा रखा है उससे यह ख्याल आ जाता कि अरे हमारे पास तो कुछ भी वैभव नहीं है। जब हमने अरहन्त देवका शासन पाया है, वीतराग ऋषि सतोकी वाणी सुननेका, पढनेका अवसर मिला है, स्व परका विवेक करनेका ज्ञान हासिल हुआ है तो हम किस बातमे कम हैं? क्या असतोषकी बात है? यदि अपने असली वैभवको पहिचाने तो उसके मुकाबिले यह बाहरी वैभव तो कुछ भी चीज नहीं है। बुन्देलखण्डमे एक राजरानी राजाके न रहनेपर राज्य चलाती थी। उसके पास एक बालक था। वह बालक बडा उदार प्रकृतिका था। उस बालकको जो कुछ भी खर्च करनेको मिलता था उसे वह दानमे दे देता था, परोपकारके कार्योंमें लगा देता था। उसकी उदारताकी प्रकृतिपर राजमाता बहुत प्रसन्न

थी। राजमाता भी समझदार थी, वह जानती थी कि यह वैभव कमानेसे नहीं बल्कि पुण्यानुसार आता है। एक बार वह राजमाता अपने बालक सहित महलकी छतपर बैठी हुई थी। अपने बालकसे बोली—बेटा देखो सामने जो पहाड़ दिख रहा है उतना बड़ा सोना, चांदी, हीरा जवाहरात आदि वैभवोंका ढेर यदि तुम्हारे पास रख दिया जाय तो तुम उसे कितने दिनोंमे दान कर दोगे? तो वह बालक बोला—मै उतने बडे वैभवको एक मिनटमे दान कर दूगा, पर उठाने वाले उसे कितने ही दिनोंमें उठाये। ये मै नहीं जानता तो बुद्धि देखिये ये सब चीजे विनाशीक हैं। इन पाये हुए समागमोंको जरूरतसे ज्यादा जाने और धर्मनिष्ठ होकर धर्मलाभ लेनेका उद्यम करे।

दुक्किय-कम्मवसादो राया वि य असुइ-कीडओ होदि।
तत्थेव य कुणइ रई पेक्खह मोहस्स माहप्प ॥६३॥

पापकर्मके उदयकी विडम्बना और मोहका माहात्म्य-- पापकर्मके वशमे राजा भी विष्टाका कीड़ा हो जाता है और देखो पापका उदय कि अशुचि जगहमे उत्पन्न हो गया तो वह वहां ही प्रेम करने लगता है। एक ऐसी घटना हुई कि विदेह देशमे मिथिलानगरीमें एक सुभोग नामका राजा रहता था। उसकी पत्नीका नाम मनोरमा था। उसके एक देवरति नामका युवा पुत्र था। उसी नगरमे एक तपस्वी आचार्य संघसहित आये। तो सभी लोग वंदनाके लिए गए। राजा भी मुनिकी वंदनाके लिए गया। तो मुनिकी वदना करके आचर्यसे राजाने पूछा कि हे मुनिराज ! मै यहांसे मरकर कहां जन्म लू गा। मुनिराज अवधिज्ञानी थे। राजाका प्रश्न सुनकर मुनिराज बोले कि आजसे ७वे दिन बिजली गिरनेसे तुम्हारी मृत्यु होगी और मरकर तुम अपने घरकी सडासमे विष्टाके कीडा बनोगे। इस बातको सत्य समझनेके लिए प्रमाण यह है कि अब तुम यहासे जब जाओगे, नगरमें प्रवेश करोगे तो रास्तेमे भँवरेकी तरह अत्यन्त काला एक कुत्ता देखोगे। यह भी भविष्यकी बात और वह भी भविष्यकी बात। इस आजके निकट भविष्यकी बात देखकर राजाको विश्वास हो जायगा। अब मुनिराजकी बात सुनकर राजा चल पडा, तो रास्तेमे एक भंवरेकी तरह अत्यन्त काला कुत्ता दिखा। राजाने समझ लिया कि मुनिराजकी कही हुई बात बिल्कुल सत्य है। आखिर राजा जब अपने घर पहुचा तो अपने लडकेको बुलाकर कहा— बेटा देखो आजके ७ दिन बाद हम मर जायेंगे और मरकर अपने घरकी संडासमे विष्टाका कीड़ा बनेंगे, सो तुम वहां जाकर हमें मार डालना, कारण कि कहां तो मैं राजा और कहां मै बनू विष्टाका कीड़ा। यों पुत्रसे कहकर अपना सारा राजपाट छोड़ दिया और बिजली गिरनेके भयसे वह जलके भीतर बने हुए महलमे छिपकर बैठ गया। सोचा था कि यहां कहां बिजली गिरेगी। आखिर ७वे दिन बिजली गिरनेसे राजाकी मृत्यु हो गयी और मरकर विष्टाका कीड़ा बना। जब उस राजाके पुत्रने उस कीडेको लकडीसे मारना चाहा तो वह कीडा उस विष्टामे घुस गया। तो उस पुत्रको बड़ा अचरज हुआ कि देखो हमसे तो कहा था कि हमे मार डालना, पर जब मैं मारने गया तब उसी विष्टामे घुस गया। ऐसी हालत है इस जीवकी जिस पर्यायमे यह जीव जन्म ले लेता है उसीमे मिथ्यावश राजी रहता है।

क्रोध और मानके परिहार करनेका अनुरोध-- भैया ! यहा लोग जरा-जरासी बातोंमे अपना बड़प्पन चाहते है, पर यहा बड़प्पन चाहनेसे लाभ क्या? बड़प्पन मानो धर्मसे। यहा गर्व करने लायक कोई बात ही नहीं है और न किसी दूसरेपर अन्याय करना, क्रोध करना यह युक्त है। यहां तो राजा भी मर कर विष्टाका कीडा बन जाता है। हम आपको चाहिए कि अपने चित्तमें उदारता रखे और कषाये भी मंद करे। हमारी कषाये मंद होगी तो उसका लाभ हमे होगा। गुस्सा करनेकी आदत कम बने। बहुतसी गुस्साये पी जाये, गुस्सेमें किसीसे बोलना नहीं। गुस्सा न करके क्षमा प्रकृति बनानेसे बड़ा संतोष होता है। इसके लिए कुछ थोड़ा पुरुषार्थ करना चाहिए। यदि कषायोंको मद करनेका कुछ पुरुषार्थ न किया तो

यहांके कुछ पाये हुए बड़प्पनसे लाभ कुछ न मिलेगा। देखो यहां राजा भी मरकर कीड़ा बन गया। देव भी एकेन्द्रिय बन जाते, राजा और कीड़ा की तो बात जाने दो। ये कषाये इस जीवको बरबाद ही करने वाली है। गुस्सा करने से लाभ क्या मिल जाता है? बल्कि बुद्धि खराब हो जाती है। और उस खोटी बुद्धिमे जो विचार करे वह सही विचार भी न बन पायेगा। दूसरेसे कुछ कटुक वचन बोल दिया तो दूसरा भी उससे बदला लेनेका भाव रखेगा और तत्काल भी सब गुण फुंक जाते है। ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिए कि जिससे गुस्से पर कुछ विजय प्राप्त की जा सके। अभिमान करनेसे तत्काल ही अपमान होता है। कभी कुछ लोग लौकिक बड़प्पनके कारण उसे सीधा कुछ न कह सके लेकिन मनमे तो कह ही लेते है कि यह कैसा अभिमानी है? उसके प्रति लोगोको घृणा प्रकृत्या होती है। और फिर अभिमानीको समय समय पर बहुत नीचा देखना पड़ता है। तो अभिमानसे भी अपने को इस भवमे भी और अगले भवमें भी दुःख है।

माया और लोभके परिहारका अनुरोध— माया छल कपट—इससे भी इस आत्माको लाभकी बात नहीं है। अगर छल कपट करके कुछ वैभव जोड़ लिया तो उससे क्या लाभ? बल्कि छल कपट किया इससे तो हानिमे रहे, इसको कई गुणा मिलना था तो वह कम मिल सका। लोभकषायसे भी जीवको हानि ही हानि है, लोभयत्नसे तो वैभव कम मिल सका, तथ्यकी बात तो उसमें यह है, क्योंकि शुद्ध भाव रहनेसे पुण्य रस बढ़ता है और जितना जो कुछ माहात्म्य है ससारके सुख साधनोके पानेका वह सब पुण्य पर निर्भर है। यदि अपने भावोंमे पवित्रता हो तो वैभव स्वय प्राप्त होता है। एक निर्णय कर लेना चाहिए कि हम अनादिकालसे बहुत कुयोनियोंमें भटकते भटकते आज सुयोगसे मनुष्य हुए है तो जीवन तो यह रहेगा नहीं और जो कुछ समागम है वे भी भिन्न है, वे भी रहेंगे नही। कर्तव्य तो हमारा केवल एक यही है कि अपने आत्माके स्वरूप को पहिचाने और उसका अधिक समय तक उपयोग बनाये। उसीमे रत होकर तुष्ट रहनेका यत्न करें। कर्तव्य तो हमारा यह ही है। हाँ, कुछ परिस्थितियों वश घर गृहस्थीके बीच रहना पड़ रहा है लेकिन यह सब मेरा कुछ है नहीं, ऐसा अन्तरङ्ग चिन्तन चलना चाहिये। ऐसा अन्तरङ्ग चिन्तन चलता रहता है ज्ञानी गृहस्थका। वह जानता है कि यह सब जो कुछ दिखता है यह पुद्गलोका ढेर है, प्रयोजनवश इसके सम्पर्कमे रहकर इसकी व्यवस्था बनानी पड़ती है, मगर ये सभी चीजें हमसे छूट जानी हैं ऐसा चिन्तन विवेकी गृहस्थ करना है।

सभी मनुष्योका धर्मशालाओमे निवास—एक बार किसी नगरमे एक साधु आया। उसने एक हवेलीके पास खडे होकर पहरेदारसे पूछा कि यह धर्मशाला किसकी है? तो पहरेदार बोला-महाराज यह धर्मशाला नहीं है, धर्मशाला तो आगे है। वहाँ ठहरिये। साधुने कहा—नहीं, हम यह नहीं पूछते, हम तो पूछ रहे है कि यह धर्मशाला किसकी है? तो पहरेदारने फिर वही उत्तर दिया। यह चर्चा सुन ली ऊपरसे सेठ ने। तो सेठने साधुको अपने पास बुलाकर कहा— महाराज धर्मशाला तो आगे है, यह तो आपकी हवेली है। तब सन्यासीने पूछा कि अच्छा यह बताओ कि इस हवेलीको किसने बनवाया था? तो सेठ बोला— इसको हमारे बाबाने बनवाया था। ' ' अच्छा—आपके बाबा जी इसमे कितने दिनों तक ठहरे थे? करीब २-३ वर्ष। और आप इसमें कितने दिनो तक ठहरेंगे? साधुकी इतनी बात सुनकर सेठकी आँखे खुली और सेठ समझ गया कि महाराज ठीक ही कह रहे है। यह धर्मशाला है, हवेली नहीं है। इसमे थोडे समय तक ठहरकर चले जायेंगे। सो बात ऐसी है कि यदि सच्चा ज्ञान बना रहेगा तो भीतरमें आकुलता न रहेगी।

सुख दुःखकी ज्ञानकी विशेष परिणतियोपर निर्भरता—सुख दुःखका सम्बन्ध ज्ञान और अज्ञानसे है। जैसा हम ज्ञान बनाये उसीके अनुसार हम पर सुख दुःखकी बाते बीतती है। हर जगह परख लो—कोई

बहुत बड़ा संकट भी आये, पर ज्ञान यदि सही बना है तो फिर वह आकुलित न होगा और यदि कोई साधारण सी भी घटना हो और उसे वह बहुत बड़ा महसूस करे तो वह तो बड़ा विह्वल हो जायेगा। तो सुख दुःखका सम्बन्ध ज्ञानसे है। हमारा ज्ञान यदि सत्य है तो हम इन दुःखोसे घबड़ायेंगे नहीं, आकुलित न होंगे और यदि हमारा ज्ञान विपरीत है, कमजोर है, मोह भरा है तो हमको पद पद पर आकुलतायें होंगी। कोई दूसरा आकुलता नहीं देता। कोई मियां बीबी थे। मियांका तो नाम था बेवकूफ और बीबीका नाम था फजीहत वे दोनों खूब लड़ते थे और शामको सुलह भी हो जाती थी। एक दिन उनमें ऐसी विकट लड़ाई हुई कि फजीहत घर छोड़कर कहीं भाग गयी। तो वह बेवकूफ मियां अपनी फजीहतको इधर उधर ढूंढता फिरे और लोगोंसे पूछता फिरे—भैया! तुमने कहीं मेरी फजीहत देखी? तो लोगोंने यही कहा कि हमने तो नहीं देखी। एक बार किसी परदेशी पुरुषसे भी पूछ बैठा कि भैया, क्या तुमने हमारी फजीहत देखी? तो वह कुछ न समझ सका। उस परदेशीने पूछा कि आपका नाम क्या है? तो वह मियां बोला—मेरा नाम है बेवकूफ। अरे बेवकूफ होकर भी तुम फजीहत यहां वहां ढूंढते फिरते हो? जहां ही किसीको बुरी बात बोल दी वहीं हो तुम्हारी लात घूंसा आदि सब फजीहत हाजिर है। सो बात यह है कि हमारा ज्ञान अगर सही नहीं है, विपरीत ज्ञान है तो उस अज्ञानसे जगह-जगह विपदायें हैं। सुख दुःखका सम्बन्ध ज्ञानकी परिणतियोंसे विशेष है, अनेक मनुष्य करोड़पति होकर भी व्यग्र रहते हैं, तृप्त ही नहीं होते हैं। अपनेसे अधिक धनिकोंको देखकर उनसे ईर्ष्या करते हैं और दुःखी रहते हैं। अपना ज्ञान तो इस तरहका बनाये कि जितना जो कुछ भी मिला है वह जरूरतसे ज्यादा है। जीवन तो धर्मपालनके लिए है। इसमें ज्यादा क्या विकल्प करना? तो देखिये ऐसा विवेकी व्यक्ति थोड़ीसी सम्पदामें भी प्रसन्न है, सुखी है। तो हमारे भविष्यका सम्बन्ध ज्ञानसे है। यदि ज्ञान हमारा स्वच्छ है तो हमें आकुलतायें न होंगी, और यदि ज्ञान ही विपरीत है तो सर्वत्र आकुलतायें है। किसी भी बातको कुछ विचार लिया और अपने को दुःखी कर डाला।

लौकिक बड़प्पनकी अविश्वास्यता—भैया! यहां यह बतला रहे हैं कि संसारमें यदि कुछ लौकिक बड़प्पन भी पाया है तो उसका विश्वास न करें। इस लौकिक बड़प्पनसे फायदा क्या मिल जायेगा? यहां जब राजा भी मर कर विष्टाका कीड़ा बन जाता है अथवा देव भी मर कर पृथ्वी, पेड़ आदिक एकेन्द्रिय जीव बन जाता है तो फिर इस लौकिक बड़प्पनसे फायदा क्या है? भीतरमें ऐसा बड़प्पन बनायें ऐसा ज्ञान सम्यग्दर्शन श्रद्धान अपने आपके स्वरूपकी सुध करें, जिससे संसारके संकट टलेंगे और जब तक संसारमें रहेंगे तब तक भी ठाठके साथ वैभवके साथ जीवन बीतेगा, और यह बात स्वाधीन है, करना हो है, निजकी ही तो ज्ञानकी बात है। हम अपनी दृष्टि अपनी ओर ले जायें तो क्या हम अपने को जान नहीं सकते? हम जब बाहरकी ओर ज्ञानदृष्टि करके देखते हैं तो ये चौकी, तख्त आदिक सब जानते हैं, बड़े-बड़े हिसाब करते है और यह खुद जाननहार है, ज्ञानस्वरूप है, अपने ज्ञानस्वरूपको जाननेके लिए चले तो क्या जान न सकेंगे? अवश्य जानेंगे। तो मुख्य कर्तव्य यह है कि हम अपने आत्माके ज्ञानमें बढ़ें, अपने आपका सही पता ले कि मैं क्या हूं? इससे बढ़कर और कोई वैभव नहीं।

पुत्तो वि भाउ जाओ सो चिय भाओ कि देवरो होदि।
माया होदि सक्की जणणो वि य होदि भत्तारो ॥६४॥
एयम्मि भवे एदे संबधा होंति एय—जीवस्स।
अण्ण-भवे किं भण्णइ जीवाणं धम्म–रहिदाण ॥६५॥

संसरण सम्बन्धकी विचित्रता—इस संसारमें एक दूसरेसे रिश्तेदारी सम्बन्ध मानना यह सब एक यों ही बन जाता है, वहां कोई वास्तविक आत्माका आत्माके नाते से सम्बन्ध नहीं है। जैसे आज जो आपके

बच्चे है वे जीव है, उन जीवोंमे और आपमें कोई भीतर न लिखा है, न कोई ऐसा विलक्षण चिन्ह है, न शकलसूरत है जिससे कि यह निर्णय हो कि यह ही जीव आपका पुत्र कहला सकता है। जो आया, घरमें पैदा हुआ और आपको है मोहकी आदत, सो उस ही जातसे अपना रिश्ता मान लेते हैं और तो जाने दो एक ही भवमे एक ही जीवके साथ अनेक रिश्ते बन जाते हैं। संसारकी ये विचित्र स्थितियां हैं, एक ही भवमें जो पुत्र है वह भाई बन जाता है, जो भाई है वह देवर बन जाता है, जो माता है वही सौत बन जाती है। जो पिता है वही पति बन जाता है। एक ही भवकी बात कर रहे हैं कि एक ही भवमे जब इतने जीवके सम्बन्ध बन जाते हैं तो अन्य भवोमे इस धर्मरहित जीवोंका क्या होता है ? वह तो बड़ी विचित्र ही कहानी है।

एक भवमे अठारह नातेकी भूमिका— अठारह नातेकी कथा पुराणमें बहुत प्रसिद्ध है। उसमे यह बताया गया कि एक जीवका दूसरे जीवके साथ एक ही भवके ६ नाते बन गए। कथा संक्षिप्तमें यों है कि बहुत पहिले उज्जैन नगरीमे एक सुदत्त नामका सेठ रहता था और उसी नगरीमें एक वसंततिलका नामकी वेश्या थी। सेठने उस वेश्याको अपने घरमे रख लिया। जब कभी कुमति होती है और द्रव्य अधिक होता है तो कुछसे भी कुछ अनर्थ कर लेता है यह जीव। नीति शास्त्रमे बताया है कि जवानी, धन सम्पदा, प्रभुता याने चला और अज्ञान— इन ४ मेंसे अगर एक भी हो तो भी अनर्थके लिए होता है किन्तु जहाँ ये चारो बाते आ जाये जिस व्यक्तिमे, उसके अनर्थका तो कहना ही क्या ? तो सेठने उस वसंततिलकाको अपने घर रख लिया वसंततिलकाके गर्भ रहा और वह रुग्ण भी बहुत हो गयी। सेठने उसे घरसे निकाल दिया। वह अपने घर रहने लगी और उसके एक साथ एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुए। अब उसने बडे खेदमे आकर उन दोनोको अलग-अलग रत्नकम्बलमें लपेटकर पुत्रीको तो दक्षिणकी गलीमे डाल दिया और पुत्रको उत्तरकी गलीमे डाल दिया। अब वे दोनों अलग-अलग पले पुसे। एक कोई इलाहाबादका व्यापारी आया, उसको वह पुत्री मिली उसका नाम कमला रखा गया और कोई अयोध्यावासी आया तो उसे वह पुत्र मिला। उसका नाम धनदेव रखा गया। अब ये दोनों बडे हुए और ऐसा योग हुआ कि इन दोनोंका परस्पर विवाह हुआ। अब व्यापार निमित्त यह धनदेव अनेक दिशाओंमे जाता ही था, सो वह उज्जैन पहुचा और उसे वहाँ वसन्ततिलकासे प्रेम हुआ और उसके यहा रहने लगा और सम्बन्ध होनेसे वहा भी एक पुत्र हुआ। उसका नाम वरुण रखा। तो अब यह देखिये कि चार जीव हुए— धनदेव, कमला, वसततिलका और वरुण। अब यह कमला अपने घर अकेली थी, धनदेव तो वसततिलकाके यहा रहने लगा। एक बार मुनिराजसे इस कमलाने अपना पूर्वभव पूछा और मुनिराजने सब बताया और कहा कि देखो अब तुम्हारे इस भवमे उन्ही जीवोंसे जिनका पूर्वभवमें तुम्हारा सम्बन्ध था, कैसे विचित्र नाते हो गए ? तो वह कमला विरक्त हुई, कुछ व्रत धारण किया और वह यही देखने के लिए उज्जैनमे वसन्ततिलकाके घर पहुची।

वरुणके साथ कमलाके छ नाते— जब कमला वसन्ततिलकाके घर पहुची, उस समय वरुण पालनेमे झूल रहा था तो कमला बैठकर वरुणको झुलाती जाय और कहती जाये कि देख तेरे साथ मेरे ६ नाते है। मेरे पतिका तू पुत्र है इस कारणसे तू मेरा पुत्र हुआ। कमलाका पति धनदेव और उसका पुत्र हो गया वसततिलकाके यहा वरुण, उसीको कमला झुला रही थी, और देखो— धनदेव मेरा भाई है। भाई तो था ही। पीछे विवाह हो गया तो मेरे भाईका पुत्र होनेसे तू मेरा भतीजा हुआ और देख वरुण— हमारी भी माता वसन्ततिलका और तेरी भी माता वसन्ततिलका, तो जब दोनोंकी माता एक है तो तू मेरा भाई हुआ और देख— धनदेव मेरा पति है और तू है धनदेवका छोटा भाई क्योकि धनदेवकी मा भी वसततिलका और वरुणकी मा थी वसन्ततिलका, तो तू मेरा देवर हुआ और देख— धनदेव मेरी माता

का पति है, मेरी माता हैं बसंततिलका, तो धनदेव मेरा पिता है और पिताका तू है भाई, तो तू मेरा काका कहलाया और धनदेवकी स्त्री मैं और धनदेवकी स्त्री बसंततिलका तो वह बसंततिलका मेरी सौत हुई ना और उसका तू पुत्र है अतः मेरा भी पुत्र हुआ और धनदेवका तू है पुत्र, अतः तू मेरा पोता हुआ क्योंकि धनदेव मेरा पति है और उसका तू पुत्र है। यों वह कमला अपने नाते वरुणसे कह रही थी। अब इसके साथ ही साथ ६ नाते धनदेवके साथ और ६ नाते बसंततिलकाके साथके कहने लगी।

धनदेव और बसंततिलकाके साथ कमलाके छ छः नाते— अब कमला धनदेवके साथके ६ नाते कहने लगी। धनदेव मेरा पिता है, क्योंकि मेरी मां बसंततिलका और बसततिलकाका पति धनदेव हैं। धनदेव मेरा दादा है, क्योंकि वरुण मेरा काका है और वरुणका धनदेव पिता है। धनदेव मेरा पति तो स्पष्ट ही है। धनदेव मेरा भाई है, क्योंकि धनदेवकी और मेरी माता एक बसंततिलका ही है। धनदेव मेरा पुत्र है, क्योंकि मैं (कमला) बसनतिलकाकी सौत हूं और बसंततिलका सौतका पुत्र धनदेव है। धनदेव मेरा ससुर है, क्योंकि धनदेव पतिकी माँ होनेसे बसंततिलका मेरी सास है और धनदेव बसंततिलका सासका पति है। अब कमला बसंततिलकाके साथके ६ नाते कहने लगी। बसंततिलका मेरी भावज है, क्योंकि बसनतिलका मेरे भाई धनदेवकी पत्नी है। बसंततिलका मेरी दादी है। क्योंकि धनदेव मेरे और वरुण के पिता हैं। बसततिलका धनदेवको मां है याने पिताकी माता है। बसंततिलका मेरी माता तो स्पष्ट ही है। बसनतिलका मेरी सौत है, क्योंकि बसंततिलका मेरे पति धनदेवकी भार्या है। बसततिलका मेरी पुत्र वधू है, क्योंकि मेरी सौतका पुत्र होनेसे धनदेव मेरा भी पुत्र है और बसततिलका मेरे पुत्र धनदेवकी पत्नी है। बसनतिलका मेरी सास है, क्योंकि मेरे पति धनदेवकी बसंततिलका माता है। इस प्रकार कमलाने ३ व्यक्तियोंके प्रति अपने छ-छः नाते बताये।

इस अनादि ससरणमे इन जीवोका अनेक भवोमे परस्पर नाता— तो यहां बात केवल यह देखनी है कि देखो जीवोके सयोग कि एक भवमें कैसे विचित्र एक जीवके साथ ६ नाते बन गए? तो यहां सम्बन्ध क्या सत्य मानते? कुछसे भी कुछ हो जाता है। जिसको हम आज शत्रु समझ रहे हैं, गैर समझ रहे हैं, कहो वही जीव मरकर कुटुम्बी बन जाय। हम आप लोग कबसे भ्रमण कर रहे जिसकी कोई आदि ही नहीं है। अगर कल्पनामें लायें कि हम इस दिनसे हैं तो यह बताओ कि उसके पहिले क्या हम थे ही नहीं? तो जो वस्तु असत् है, जिसकी सत्ता ही नही है उसका कभी निर्माण ही नहीं होता। जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता, जो असत् है उसका कभी उत्पाद नहीं होता। तो प्रत्येक पदार्थ अनादिकालसे हैं, अनादिकालकी कोई हद ही नहीं। कालकी अगर हद मानी जाय कि जिस दिनसे समय चला तो क्या उस से पहिले समय था ही नहीं? तो हम अब अनादिसे हैं और आजका यह जीवन, यह देह यह साबित करता कि इसी तरहसे हम पूर्वभवोमे देह धारण करते चले आये। तो अनन्त भव छोडे। यहां इन सभी जीवोंके साथ कोई न कोई कुटुम्बका सम्बन्ध बना। आज हम यहां मोहमे आकर इन दो चार जीवोंको मानते है कि ये मेरे हैं, बाकीको समझते हैं कि ये गैर है। गैर हैं सो सभी गैर हैं और स्वरूपदृष्टिसे देखिये तो सभी जीव समान हैं। आत्माके स्वरूपका यथार्थ परिचय हो तो इस मनुष्यको कोई घबड़ाहट नहीं हो सकती। कितनी ही विपत्तियां आये उनको विपत्तियां ही न मानेगा। क्या विपत्ति? प्रत्येक पदार्थ का कुछसे कुछ परिणमन है। उससे मेरे पर क्या विपत्ति? मैं उसे अपनाऊँ तभी तो मेरे लिए विपत्ति है। इस ज्ञानीमे क्यों साहस बन जाता कि उसको यथार्थ ज्ञान हो गया।

ज्ञानको ही रक्षक जानकर ज्ञानकी उपासनाका अनुरोध— ज्ञान ही हम आपको मदद कर सकने वाला है और कोई दूसरा नही। जब तक आपका ज्ञान सही है, भला व्यवहार है, ज्ञान भरी बात बोलते रहते है तब तक आपके अनेक साथी बने हुए है। जिस दिन ज्ञान किसीका बिगड़ जाय, जिसे कहते हैं

दिमाग खराब हो गया, तो उस दिन लोग किनारा कस जाते हैं। कोई साथी नहीं होता। तो जो भी लोग आज आपके साथी हो रहे हैं वे आपके ही भले होने के कारण आपके साथी हो रहे हैं। अथवा इसलिए भी नहीं, सबको अपने अपने प्रयोजन हैं और उसकी सिद्धी परस्पर इसी तरह होती है तो सब भलापन बन रहा है, वस्तुत जीवकी रक्षा करने वाला अपना ही सम्यग्ज्ञान है और कोई दूसरा इसका रक्षक नहीं है, ऐसा समझकर और यह जानकर कि अनेक कुयोनियोंमें भटक भटककर आज मनुष्य बने हैं, जैन शासन मिला है तो इसमें जितना लाभ लिया जा सके आत्माका बहुत जल्दी लेना चाहिए और वह लाभ है रत्नत्रयका। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र बस यही रत्नत्रय धर्म है। यही हम आपको संकटोंसे बचा सकने वाला है। धर्मको छोड़कर किसी भी साथमें, किसी भी सयोगमें, किसी भी समागममें हमारा हित करनेका सामर्थ्य नहीं है। जब हम बाह्यपदार्थोंको, भिन्न जानकर कि इनसे मुझे कुछ लाभ ही नहीं, एकदम दिलसे निकाल दें तो बडे विश्रामसे बैठ जायें, किसी भी पर पदार्थका लगाव न रखें, ऐसे आरामसे बैठें तो सहज ही अपने आप अपनेमें उस ज्ञानस्वरूपके दर्शन होंगे और आनन्दका अनुभव होगा और उससे समझ जायेंगे कि सत्यता यह है। इसीके मायने सम्यग्दर्शन है।

संसारो पंचविहो दव्वे खेत्ते तहेव काले य।
भव-भमणो य चउत्थो पंचमओ भाव-संसारो ॥६६॥

संसारका अर्थ व उसके भेद—संसार नाम जगहका नहीं है। जैसे कि लोग कहते हैं कि इस संसारमें बड़ा दु:ख है, इस दुनियामें इस जगहमें बड़ा दु:ख है। सो ससारका अर्थ जगह नहीं है किन्तु ससारका अर्थ परिभ्रमण है। चतुर्गतिमें घूमना, रागद्वेष मोह भावोंमें भटकना, इसका नाम है संसार। जब कहा जाय कि ससार बड़ा दु:खमय है तो उसका अर्थ यह लेना चाहिए कि मेरा जो रागद्वेष मोह परिणाममें भटकना है वह है दु:खपूर्ण। जगहको ही ससार जानकर जगहमें दृष्टि न रखना चाहिये। यदि इस जगह को ही संसार कहते तो देखिये—अरहत भगवान कहाँ रहते हैं? इस दुनियामें। क्षेत्रको अगर ससार माना जाय तो इस ही ससारमें, इसही क्षेत्रमें लोकमें अरहत रहते हैं, वे तो दु:खी नहीं हैं। सिद्ध भगवान भी कहा रहते हैं? लोकमें। लोकसे बाहर तो आकाशके सिवाय और कुछ द्रव्य ही नहीं, पर सिद्ध भगवान कहाँ दु:खी हैं? और भी ससरणका माहात्म्य देखिये कि जिस स्थानपर सिद्ध भगवान अवस्थित हैं उस ही स्थान पर ससारी निगोदिया जीव भी रह रहे, पर वे निगोदिया जीव वहाके निगोदियाकी तरह एक श्वासमें अठारह बार जन्म मरण करते हुए दु:ख भोग रहे हैं। तो ससार नाम क्षेत्रका नहीं, जगहका नहीं किन्तु चतुर्गतियोंमें भ्रमण करनेका नाम ससार है और भावत अपने विभावपरिणामोंमें, कषायभावो में भटकते रहनेका नाम ससार है। ससार बड़ा दु:खी है। इसका अर्थ क्या लेना चाहिये कि जीवोंका जो रागद्वेष मोह परिणाम है उसमें जो उलझा हुआ है, यही भटकना दु:खपूर्ण है। हम जब जब भी दु:खी हों तब तब यह दृष्टि न करना कि मैं इस घरमें बड़ा दु:खी हू, मैं इस गाँवमें बड़ा दु:खी हू, मैं इस कुटुम्बके कारण बड़ा दु:खी हू, किन्तु यह अनुभव करना कि मैं जो अज्ञानवश मिथ्यात्व कषायके लगावसे जो अपने भावोंमें, विभावोमें रागद्वेष मोह भावोंमें रह रहा हू, यह स्थिति मेरे लिए दु:खपूर्ण है। तो ससरणका नाम ही ससार है। वह ससार ५ प्रकारका है—द्रव्यससार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवससार और भावससार। इन ५ प्रकारके ससारोंमें मुख्यतया हमें यह समझना है कि हम अनादिकालसे भटकते आये हैं और ऐसे ऐसे अनन्त पचससार हमने व्यतीत कर डाले। उन ५ प्रकारके ससारोंमें से पहिले द्रव्य-ससारका वर्णन करते हैं। द्रव्यससार कहो अथवा द्रव्यपरिवर्तन कहो, एक ही भाव है।

बंधदि मुंचदि जीवो पडिसमयं कम्म-पुग्गला विविहा।
णोकम्म-पुग्गला वि य मिच्छत्त-कसाय-संजुत्तो ॥६७॥

मिथ्यात्व कषायवश कर्म और नोकर्म पुद्गलोंका बंधन मोचन—मिथ्यात्व और कषायसे युक्त होता हुआ यह ससारी जीव प्रतिसमय अनेक प्रकारके कर्म पुद्गलोंको और शरीर नोकर्म पुद्गलो को ग्रहण करता है और छोड़ता है। द्रव्यपरिवर्तनमें यह बात बता रहे हैं कि यह जीव कबसे, किस ढंगसे कर्मोंका ग्रहण करता और छोड़ता चला आ रहा है और नोकर्म परमाणुओं को, शरीरके परमाणुओंको कैसा ग्रहण करता और छोड़ता चला आया है। कर्मग्रहणके मायने कर्मबंधना और कर्म छोड़नेके मायने कर्मका उदय आये, कर्मका फल पाये और इस तरह फल देकर झडना। इस छोड़ने से भलाई कुछ नहीं होती, बल्कि बँधे हुए कर्म मेरे आत्मासे कभी न निकलें तो इसमे भलाई है। कर्म कभी निकलें नहीं तो क्लेश हो नहीं सकता। ये कर्म जब निकलते हैं, जब समय पाकर उदयमें आते हैं उस समय इस जीवको क्लेश होता है। और वे कर्म आत्मामे बँधे रहें, सत्तामे पडे रहें तो उस सत्तासे इस जीवको क्लेश नहीं है। जब उदय आता है अर्थात् जब उनके निकलनेका समय आता है उस समय इसको क्लेश होता है। तो इस झड़नेके मायने कर्म उदयमे आये और दुःखी हुए। इस तरहके छूटनेमे तो और नवीन कर्म बाँध लिए जाते हैं। तो यह जीव पुद्गल कर्मको बाँधता आया है और जो कर्म उदयमे आयें सो उन्हें भोगता चला आया है। किस तरहसे हम यह जानें कि इस अनादि कालसे ससारमें भटकते आये हैं। उसका उपाय है यह पंचपरिवर्तन के स्वरूपका परिज्ञान।

कर्म जो आत्मामे बँधते हैं उसके कारण ५ हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। जीवमें जो मिथ्या परिणाम रहता है, वस्तुका स्वरूप हैं और भाँति, मान रहे हैं और भांति तो इस प्रकार का जो मिथ्या श्रद्धान चल रहा है, उससे बड़े विकट कर्म बँधते हैं। मिथ्यात्व परिणामके कारण जीवको उस समय भी दु खी होना पड़ता और भविष्यमे भी दुःखी होना पडेगा। जैसे संसारमे जन्म लेने वाले ये जीव मनुष्य तिर्यञ्च आदिक ये कोई भी जीव मेरे नही हैं, क्योंकि सभी पदार्थ स्वतंत्र हैं। वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपसे परिणमता है, दूसरेका मददगार नहीं है। लोग मानते हैं ना कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, ये सब मेरे ही तो हैं—इसको कहते हैं मिथ्यात्व परिणाम। व्यवहार करना और बात है और भीतरमे मिथ्या श्रद्धा रखना और बात है। जिनको पता ही नहीं है कि समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें स्वतंत्र हैं, किसी पदार्थका किसी भी अन्य पदार्थमे प्रवेश नहीं है, कोई किसी का कुछ कर सकने वाला नहीं है, ऐसा जिन्हें बोध नही है वे अज्ञानी पुरुष भीतरमे पूर्ण श्रद्धासे यह मानते हैं कि ये ही तो मेरे सब कुछ हैं और इनही से तो मुझे सुख है, इन ही से इन जीवोंके अनेक विडम्बनायें हैं, इनसे ही मेरा बड़प्पन है, इस प्रकारकी श्रद्धा रखना यह मिथ्या श्रद्धा है। यह देह मै नहीं हूं—यह बात बिलकुल प्रमाणीक है। देह अचेतन, मैं चेतन, देहमें रूप रस आदिक हैं। मै आत्मा तो ज्ञान और आनन्दका धाम हू, अमूर्त हू, मेरा यह देह नहीं है। तब ही तो मैं देहको छोड़कर चला जाऊँगा। मैं और देह ये प्रकट न्यारे-न्यारे हैं। अहो, देह और आत्माके विभक्तपनेकी ऐसी श्रद्धा करने वाले कितने जीव हैं? कितने ही जीव तो यह चर्चा तक भी नही कर सकते, श्रद्धा करना तो दूर रहा। तो देह मै नहीं हूं और मानें कि मै देह हू तो यह मिथ्या श्रद्धान् है।

अनित्यभावनाके विपरीत अयथार्थ श्रद्धा होनेका क्लेश—मिथ्यात्वविषयक और भी मोटी बात देखिये ये ससारके समस्त समागम धन वैभव कुटुम्ब आदिक ये सब विनाशीक हैं, इनका वियोग नियमसे होगा। ये सब समागम अनित्य है तो इन्हें अनित्य ही जानना चाहिए तब तो सही बात है, किन्तु अनित्यपदार्थों को यह मनुष्य समझ रहा है कि ये नित्य है। कोई मरेगा या धन नष्ट होगा तो दूसरेका मरेगा, मेरा कोई नहीं मरने का, ऐसा विश्वास लिए हुए लोग बैठे है, कभी जीभसे बोलना पड़ता है तो बोला जाता है, पर भीतरमे यह बात श्रद्धापूर्वक नही बैठती। तो समस्त समागम अनित्य हैं लेकिन यह मानना कि

ये सब नित्य हैं बस यही तो दुःखका कारण है।

जरा सोचिये कि घरमे कोई बड़ा प्यारा कुटुम्बका कठिन बीमार है, उसको उस बीमारीसे ग्रस्त हुए दो तीन वर्ष हो गए, खाटसे भी नहीं उठा जाता, लोगोंको यह विश्वास हो गया कि अब यह बचेगा नहीं, सो एक तो ऐसे व्यक्तिका मरण हो जाय और एक ऐसे व्यक्तिका मरण हो जाय कि जो बड़ा हृष्ट पुष्ट रहा हो और अचानक ही मरण कर गया हो। सो यह बताओ कि इन दोनोंमें से किसके मरण पर अधिक दुःख लोगोंको होगा ? दुःख तो ऐसे व्यक्तिके प्रति अधिक होगा जो हट्टा-कट्टा हो और अचानक ही मर जाय। उसका कारण यह है कि एक पुरुषके प्रति तो पहिलेसे ही जानकारी बना रखी थी कि यह अब बचेगा नहीं और एक पुरुषके प्रति पहिलेसे कोई जानकारी न बनायी थी कि अब इसका मरण हो जायगा, इस कारण जिस व्यक्तिके बारेमें बहुत पहिलेसे मरणकी बात जान रहे थे उस व्यक्तिके प्रति तो लोगो को दुःख नहीं होता और दूसरे व्यक्तिके प्रति दुःख होता है। जिस व्यक्तिके बारेमें पहिलेसे ही जान रहे थे कि अब यह बच न सकेगा इसका मरण हो जानेपर उसका सम्बन्धी ऐसा ख्याल करता है कि देखो जो मै पहिले जान रहा था ना कि यह बचेगा नहीं, सो वैसा ही हुआ। इस कारण उसके प्रति दुःख नहीं होता और जिसके बारेमे पहिलेसे जानकारी ही नहीं बनायी हो और उल्टी ही श्रद्धा हो कि यह तो सदा ही रहेगा उसके वियोगमे दुःख होता है। तो ये बारह भावनाओंमें जो अनित्य भावना भायी जाती है कि समस्त पदार्थ विनाशीक है, जो समागम मिले हैं वे नियमसे मिटेंगे, इस भावनाका फल यह है कि जब वियोग होता है तब उसको क्लेश नहीं होता। उस समय यह जान रहा है कि यह तो मै पहिलेसे ही जान रहा था। जैसे किसी चीजका एक आविष्कार किया जा रहा हो और उसके विषयमें दूसरा जानकारी रख रहा हो और कई बार वह बना चुका हो तो उस पदार्थके बननेपर वह ज्यादा खुश नहीं होता क्योंकि वह समझ रहा है कि इस तरहसे इसका निर्माण होता है, यह तो हम पहिलेसे ही जानते थे। इसी तरह मरणकी बात है। जिस वियोगको हम पहिलेसे ही समझ रहे हों उस वियोगमे अधिक क्लेश नहीं होता। *अनित्य भावना भानेसे गृहस्थोंको भी कितना अधिक फायदा है ?*

धर्मपरिणामके अतिरिक्त अन्य किसीको शरण माननेमे भलाईका अभाव—सभी भावनाओंमें शिक्षा मिलती है। जगत्का कोई भी जीव, कोई भी पदार्थ मेरा शरण नहीं है। यह बात तथ्यकी है, लेकिन किसीको माना कि यह मेरा शरण है, यह ही मेरा सर्वस्व है। इसके बिना मेरी जिन्दगी ही नहीं है। तो उसके वियोगमें या जब कभी वह प्रतिकूल बन जाय, दुश्मन सा बन जाय उस समय कितना खेद मानता है और यदि यह जाना होता कि मेरा शरण तो केवल मेरा शुद्ध परिणाम है। कषायें न करूँ, मिथ्या श्रद्धान न करूँ, शुद्ध निर्मल सहज ज्ञानानन्दस्वरूपको मै आत्मा समझूँ तो ऐसी प्रतीति व वृत्तिमे मेरेको मैं ही स्वय शरण हू, जब मै अपना ज्ञान उलट देता हू तो मैं ही मेरे लिए बरबादीका कारण बन जाता हूं। दूसरा कोई मेरा रक्षक नहीं, शरण नहीं। यह बात कोई पहिलेसे ही श्रद्धापूर्वक जान रहा हो और समागम चेतन अचेतन पदार्थका हो जाय वियोग तो वह अपनेको असहाय नहीं मानता, अथवा हो जाय प्रतिकूल तो अपनेको असहाय नहीं समझता। ससार है दुःखमय। यहा कुछ भी स्थिति ऐसी नहीं जो शान्तिपूर्ण हो। घर अच्छा है, धन वैभव ठीक है, रोजगार अच्छा चलता है, समाजमे भी लोग मानते हैं ये सब होते हुए भी वह जो कुछ थोड़ा सुखी नजर आ रहा है ढगसे तो धर्मके सम्बन्धसे सुखी नजर आ रहा। कोई पुरुष रागराग ही करता रहे चौबीस घन्टे घरमें ही घुमा रहे, स्त्री और पुत्रको ही लगाये रहे और न मदिर आये, न सत्सगमें आये, न धर्म करे तो उसे वहा फिर सुख न नजर आयेगा, चित्त ऊब जायगा। वहा उसका दिल नहीं रह सकता। तो उन सुखोंको भोगते भोगते जो थकान आती है, उसके मेटनेका साधन है यह मंदिर स्थान, शास्त्र स्वाध्याय, धर्म साधना, इनको अगर अच्छे ढंगसे भोगें तो उन

विषयसुखोंके लगावसे मुक्ति भी हो जाय, पर थोड़ा अटपट ढगसे धर्म करते हैं तो जरा सी थकान मिटते ही फिर विषयसुखोंको भोगने लगते हैं। जब मंदिरमे सुबह हम देखते हैं कि बहुत-सी महिलायें पूजा पाठ करती हैं तो वे महिलायें बहुत सवेरे उठकर नहाती धोती हैं और फिर मंदिरमे बैठकर घंटों बड़े रागसे गा गा कर पूजा पाठ करती हैं तो उनको देखकर हमारे चित्तमे यह ख्याल होता है कि ऐसा तो इन्हें करना ही पड़ेगा क्योकि ऐसा न करे और घरमें ही चौबीसों घटे रागरागमें ही रहें तो ये तो ऊब जाती है। इसलिए धर्म बिना कहीं भी भली गति नहीं है। धर्म करने से, मंदिरमें जाकर प्रभुदर्शन करने से बहुत सारे झंझट दूर हो जाते हैं। तो संसार दुःखमय है यह बात बिलकुल निश्चित है।

दुःखमय ससारको सुखधाम समझ लेनेमे क्लेशोपभोग— लोग कहते हैं कि इस संसारमे सुख तो है सरसों के दाने बराबर और दुःख है पहाड़ बराबर, लेकिन बात सत्य यह है कि इस संसारमे सुखका नाम भी नहीं है, सारा ससार दुःखमय है। जैसे कि मान लो सुखके साधन अच्छे हैं—खूब वैभव है, आज्ञाकारिणी सुन्दर स्त्री है। पुत्र भी बहुत सुहावने हैं आदि, लेकिन इन समस्त साधनोंमे रहकर वह पुरुष कर क्या रहा है अन्दरमें, यह भी तो निरख लीजिये। भीतरमें परदृष्टि कर करके आकुलतायें मचा रहा है क्षोभ कर रहा है। क्षोभ केवल प्रकट क्लेश भोगनेमे ही नहीं होता, किन्तु किसी बातमे सुख और मौज माने उसमे भी क्षोभ होता है। अनेक पुरुष बड़ा कष्ट भोगकर मरते हैं तो अनेक पुरुष बहुत बड़ा सुख देखकर मर जाते हैं, उनका भी दिल सभालमें नहीं रहता। जैसे कि क्लेश भोगकर मरने वाले का दिल संभालमे नहीं रहता। जैसे यहाँ मरने वालोंकी सख्या जो कुछ भी है उनमे बहुतोंकी तो ऐसी सख्या है कि खाने से मरते हैं और बहुतसे लोग ऐसे हैं कि खानेको न मिलनेसे मरते हैं। खाना न मिलना भी मृत्युका कारण है और खूब खाना मिलना भी मृत्युका कारण है। तो ऐसे ही ससारके ये प्रकट दुःख मिलना भी क्षोभका कारण है और ससारके सुख विशेष मिलना भी क्षोभका कारण है। यह जीव शान्तिधाम निज ज्ञानस्वरूप मे तो न लग सका। जैसे मछली अपने जलस्थानको छोडकर बाहर रहकर तडफती ही तो है ऐसे ही यह उपयोग अपने स्थान ज्ञानस्वरूपको छोडकर कहीं भी बाहर रहा तो वह तड़फता ही रहता है, उसे शान्ति नहीं मिलती। चाहे पुत्र स्त्रीमे बड़ा मन लग रहा हो और आप अपने को बड़ा सुखी मान रहे हों, लेकिन यह उपयोगरूपी मछली ज्ञानजलसे बाहर निकली हुई है, जो लोगोंसे मोह करते हैं, वार्तालाप करते हैं वहाँ मछली की तरह ही वे तड़फ रहे हैं, सुखी नहीं हैं।

दुःखमय ससारका यथावत् स्वरूप जाननेसे भी दुःखमे कमी—संसारमें सुख रचमात्र नहीं है सो ऐसा तो दुःखमय ससार है और कोई माने कि मै यहा बड़ा सुखी हूं तो यह उसका मिथ्या श्रद्धान है। और इसी कारण उसे दुःख भोगना पडता है। कोई जान जाय कि ससार दुःखसे पूरा भरा ही हुआ है तो ऐसा जानने वाले पर यदि कोई संकट आये तो उसे घबड़ाहट नहीं होती। वह जानता है कि संसारका स्वरूप ही यह है। यहा दुःख होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। एक सेठ किसी अपराधमे गिरफ्तार हो गया, सी. क्लासकी कैद हुई, अब वहाँ क्या होता कि सभी कैदियोंको चक्की पीसनी पड़ती है, बहुतसे अन्य काम भी करने पड़ते हैं. सिपाहियोंके डंडे भी सहने पडते हैं, तो सेठ वहां बड़ा दुःखी रहता था। बहुत दिनोंके बाद कैदियोंमे मित्रता हो ही जाती है तो एक चतुर कैदी ने सेठ जी से पूछा कि आप आजकल कहा रह रहे हैं? जेलमें? जेलमे क्या होता है? दुःख। तो तुम घरकी वे सब बाते भूल जावो कि हम बडे सुखमे रहते थे, ऐसे ऐसे आरामके साधन थे। यहां तो यह ख्याल करो कि हम तो इस समय कैदमें हैं, कैदमें यही करना पड़ता है, यही दुःख सहना पड़ता है, ऐसा ख्याल करने से दुःख कम हो जायेंगे। केवल एक दृष्टि फिरने भर की बात थी। सेठ वहाँ यह सोच रहा था कि मै सेठ हू, इतना धनिक हू, और मुझे करना यह पड़ रहा है, ऐसा सोचनेके कारण उसे दुःख था और जब उसने सोचा

कि मैं तो इस समय कैदमें हू, यहा तो यही करना पडता है, यहां हममें और गुण्डे बदमाशोंमें कोई अन्तर नहीं है। सभी को यहां बराबर सब काम करने ही पड़ेंगे, बस ऐसा सोचनेसे उसका दुःख कम हो गया। यों सारा संसार दु खमय है। यदि अपना ज्ञान सच्चा बना रहेगा तो चाहे कितने ही सकट आयें, सबमें कष्टसहिष्णुता बनी रहेगी। जो भी मनुष्य उन्नतिशील हुए वे कष्टोंके आने पर घबड़ाये नहीं, उनको समतासे सहन किया तब उन्नतिशील बने।

कष्टसहिष्णुताकी भावनाका लाभ—लोग तो भगवानसे प्रार्थना करते हैं कि हे भगवान ! हमारा दु ख मेट देना, हमको सुख देना, दु ख मुझे न मिले आदि, किन्तु यह प्रार्थना नहीं करते कि हे प्रभो ! मुझमें ऐसा बल भर दीजिए कि कष्टोंके आने पर उन्हें समतासे सहन करले, घबड़ाये नहीं। अच्छा यह बताओ कि प्रभुसे सुखकी भीख मांगने से अपना भला होगा या दु खमें सहनशील बनने से अपना भला होगा ? अपना भला तो इसीमें होगा कि हम कष्टसहिष्णु बने, कारण कि भगवानसे सुखकी भीख मांगने से सुख नहीं मिला करता। सुख तो प्रभुभक्ति करके और स्वरूपदृष्टि करके जो पुण्यका अर्जन किया है उससे मिलता है। लेकिन वह सुख भी वस्तुतः मिला ज्ञानसे। प्रभुसे भीख मांगनेसे कुछ मिलता नहीं, इसलिए प्रभुसे सुखकी भीख न मांगकर यह प्रार्थना करें कि हे प्रभो ! मुझे ऐसी शक्ति दीजिए कि मैं कष्टोंके आने पर घबड़ाऊँ नहीं, उन्हें समतापूर्वक सहन करूँ। यह बात तो हम इसी समयसे कर सकते हैं, यह तो हमारे ज्ञान और भावोंकी बात है। और प्रभुभक्ति करके अगर यह बात मांगे कि हे प्रभो ! मुझे ऐसी स्त्री मिले, ऐसे पुत्र मिलें, ऐसा वैभाव मिले तो कहीं भगवान ये सभी चीजे देने नही आते, वे सब चीजे मिलती है आपके योगसे, पुण्यके उदयसे। तो प्रभोसे हम वह चीज मांगे, प्रार्थना करें, दृष्टि करे कि जिसको हम उसी समय ग्रहण कर सकते है। हे प्रभो ! मुझमे ऐसी सहन शक्ति प्रकट हो कि चाहे कितने ही कष्ट आयें, सबमें हम सहनशील बने रहें। तो प्रभुकी भक्तिसे यह बात मिल जाना कभी कुछ कठिन अवश्य है, पर असम्भव नही है। प्रभुकी भक्ति करके हम ऐसा बल प्राप्त कर सकते है कि चाहे कितने ही कष्ट आये सबमें सहनशील रह सकते हैं। थोड़ी देरको मान लिया कि कोई शारीरिक विपत्ति आयी तो वह एक कठिन बात हो गयी उसके लिए, लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य कौनसी विपत्ति आती है सो तो बताओ ? और विपत्ति माननेके लिए तो घरमे किसी भींत की कोई ईंट जरा सा खिसक गई तो उसमे लोग बड़ा कष्ट मानते है। पर वहाँ देखो स्वरूपत तो बाह्य पदार्थोंमें चाहे कुछ भी परिणमन हो तिस पर भी उससे मेरा कोई अनर्थ नहीं।

आत्माके नाते अपनी सुध रखने वालेके क्षोभका अभाव—यदि आत्माका नाता लगाकर अपने आपमें परख करेंगे तो यह बात समझमे आ जायेगी। घर गिर गया तो गिरा क्या ? कुछ भी अनर्थ हो गया बाह्यमे परिणमन हो गया तो क्या हुआ ? एक मुनीमने एक सेठके यहां सर्विस की। मुनीम भी बड़ा धर्मात्मा था और सेठ तो धर्ममूर्ति ही था। भेदविज्ञान, सम्यग्दर्शन और अपने आपमे निराकुल रहना, गम्भीर रहना सब ज्ञान था। मुनीम सेठकी उस बड़ी विभूतिको देखकर सोचता था कि यह सेठ तो बहुत फँसा हुआ है। इसको तो बड़ा जाल लगा है, यों सोचता रहा, पर एक दो बार ऐसी घटनायें देखीं कि मुनीमका भ्रम दूर हुआ। एक बार खबर आयी कि अमुक कम्पनीमे आग लग जानेसे १० लखका नुक्सान हो गया, तो मुनीमने सेठको खबर दी कि आपकी कम्पनीमें १० लाखका नुकसान हो गया, तो सेठ कहता है—होने दो। सेठके चेहरे पर रच भी विषादकी रेखा न आने पायी। कुछ दिन बाद कहीं से खबर आयी कि अमुक कम्पनीमे २० लाख रुपयेका लाभ हुआ। मुनीमने सेठको खबर दी तो सेठ कहता है कि होने दो। इस बातको सुनकर सेठके चेहरे पर रच भी हर्षकी रेखा न खिची। अब तो मुनीम समझ गया कि यह सेठ भले ही घर गृहस्थीके बडे आडम्बरोंके बीच है फिर भी यह निर्लेप है,

जलमे कमलकी भाँति है तो जिस जीवने वस्तुका सत्य स्वरूप समझ लिया कि यह मैं आत्मा अपने स्वरूपसे सत् हू, मेरा सब कुछ मेरेमें ही चलता है, मेरा दूसरा कोई जीव परमाणुमात्र भी मेरा साथी नहीं है, यह मेरा यहां ही सब कुछ करता है, ऐसा जिसका निर्णय है उसको बाह्यपदार्थोंके अनुकूल प्रतिकूल, संयोग वियोग लाभ हानि आदिमे कुछ भी हर्पविषाद नहीं होता। वही तो शिक्षा दी गई ग्रन्थोमें कि पुण्य और पापके फलमे हर्ष और विषाद मत करे क्योंकि ये सब समागम पुद्गल द्रव्यका परिणमन हैं। ये उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते है, फिर उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते है। यही इनमे क्रम लगा हुआ है। तुम तो उनसे निराले हो। अपने ज्ञानानन्दस्वरूपको देखकर विश्वास करके अपने आपमे शान्त रहो और मोक्षमार्गमे अपनी प्रगति करो।

मिथ्यात्ववश अनन्तो किये गये द्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप—यह जीव अपने सहजस्वरूपकी प्रतीति न करके ससारमे ससरण कर रहा है। ये संसरण पंच प्रकारसे बताये गये हैं जिनमे यहां द्रव्यसंसरण वर्णन चल रहा है। द्रव्यससरण दो प्रकारसे जानिये—कर्मद्रव्यसंसरण व नोकर्मद्रव्यसंसरण। लोकमें सर्वत्र कार्माण वर्गणाये भरी हुई है, इस ससारी जीवके साथ भी अनन्त विस्रसोपचयरूप कार्माणवर्गणाये हैं जो जीवके मिथ्यात्व कपायभावका निमित्त पाकर तत्काल कर्मरूप परिणत हो जाती है, फिर आबाधाकाल पूरा होने पर वे कर्म उदयमे आकर खिर जाते हैं और उस विपाक समयमे फिर नवीन कर्म बंध जाते हैं। कर्म ८ प्रकारके होते हैं जिनमे से आयुकर्मका बध सदा नही होता, उसका बध आयुबधयोग्य अपकर्पके समय ही होता है। शेप ज्ञानावरणादि ७ कर्मोंका बध सदा होता रहता है। यह जीव अनादिकालसे संसारमे भटक कर अनन्त द्रव्यपरिवर्तन कर चुका है। यहां एक कर्मद्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप समझिये—किसी विवक्षित समयमे एक जीवने ज्ञानावरणादि सात कर्मोंके योग्य कार्माण पुद्गलस्कन्धोंको ग्रहण किया (बाँधा)। देखो लोकमे सर्वत्र कार्माणवर्गणाये है उनमे से अपने योग्यको ही ग्रहण करते हैं। फिर ये कर्म आबाधाकालको छोड कर यथाक्रमसे इनके निपेक उदयमे आते रहते हैं, सो उदयमे आने पर इनके फलमें क्षोभ सहना पडता है। हां तो ये कर्म स्कन्ध इस क्रमसे बँधे किसी विवक्षित कालको सोचकर कि इस विवक्षित समयमे एक जीवने ज्ञानावरण आदि सात कर्मोंके योग्य पुद्गलस्कन्ध ग्रहण किये और आबाधाकाल बीत जानेपर उन्हें भोगकर छोड दिये। उसके बाद अनन्तबार अगृहीत कार्माणवर्गणाओं को ग्रहण करे, तदनन्तर अनन्तबार मिश्र (अगृहीत व गृहीत) वर्गणावोंको ग्रहण करे, तदनन्तर अनन्तबार गृहीतका ग्रहण करके भोगकर छोड़ दिया। फिर अनन्तबार उक्त क्रमसे मिश्र अगृहीत व गृहीतका ग्रहण करे। फिर अनन्तबार उक्त क्रमसे मिश्र गृहीत व अगृहीत कार्माणस्कन्धोको ग्रहण करे। पश्चात् पूर्व-विवक्षित समयमे जैसे रूप रस गध स्पर्श आदि भावो को लेकर ग्रहण किया था, वैसे ही रूप रस गन्ध स्पर्श आदि भावपरिणत कार्माणस्कध उसी जीवके उसी परिणाम द्वारा बंधे। इसमे जितना काल व्यतीत हो सकता है उसे एक कर्मद्रव्यसंसार कहा है।

नोकर्मद्रव्य परिवर्तनका स्वरूप—अब नोकर्मद्रव्यसंसारका स्वरूप देखिये—किसी विवक्षित समयमे एक जीवने औदारिक वैक्रियक आहारक तीनों शरीरोंकी छः पर्याप्तिके योग्य नोकर्मपुद्गल ग्रहण किये और भोगकर छोड़ दिये। फिर कर्मद्रव्यपरिवर्तन मे कहे गये प्रकारसे अगृहीत मिश्रगृहीत, मिश्र अगृहीत गृहीत, मिश्र गृहीत व अगृहीत नोकर्मपुद्गलोको ग्रहण कर भोगकर छोड़कर फिर कभी वैसे रूपरसादि परिणत नोकर्म पुद्गलोको ग्रहण करके छोडे जैसे कि कर्मपुद्गल पूर्वविवक्षित समयमें बाधे थे। इसमें जितना काल व्यतीत हो उसे एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। अब परखिये एक द्रव्यपरिवर्तनमे कितना काल गुजर जाता है? इस जीवने मिथ्यात्व परिणामके कारण ऐसे ऐसे अनन्त द्रव्यपरिवर्तन किये। इसमें यह भी शिक्षा ग्रहण कर सकते है कि लोकमे ऐसा कोई नोकर्मपुद्गल नहीं बचा जिसे

अनन्त बार ग्रहण करके न छोड़ा हो। इस कारण सभी विषय उच्छिष्ट है, इनकी रुचिसे ससारके सकटों की ही वृद्धि होती है।

सो को वि णत्थि देसो लोयागासस्स णिरवसेसस्स।
जत्थ ण सव्वो जीवो जादो मरिदो य बहुवार ॥६८॥

आत्मतत्त्वका व प्रभुका ज्ञान पाये विना लोकमे सर्वत्र ससरण—यह जीव मिथ्या श्रद्धानके कारण इस संसारमे नाना खोटी खोटी योनियोमे जन्म लेता और मरता है। अनादिसे लेकर इस जीवने अब तक इतने जन्म मरण किये कि इस सारी दुनियामे कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं बचा जिस जगह यह जीव अनन्त बार पैदा न हुआ हो। इस भ्रमणका कारण मुख्यतया मिथ्यात्व है। मै खुद क्या हू ? इसका जिन्होने सही निर्णय नहीं किया उनके लिए तो सब अधेरा है, कहीं प्रकाश नहीं है। जब भीतरमे भीतरका प्रकाश नहीं है,तो बाहरमे कहाँ प्रकाश है ? अपने आपका सही निर्णय न करने पर ही तो जगह-जगह इसे भटकना होता है और बाहरमे भी सत्य असत्यका कुछ निर्णय नहीं हो सकता। देव कौन हो सकता है ? यदि देव का याने प्रभुका सप्रमाण ज्ञान करना हो तो अपने आपका अनुभव करके अपनी तुलनासे हम प्रभुका स्वरूप अनुमानमें ला सकते हैं। प्रभु हम आप जैसे यहाँ वहाँ आरम्भ परिग्रह लादने वाले नहीं होते। प्रभुका स्वरूप सत्य ज्ञान और आनन्द है, जहाँ ऐसा स्वच्छ ज्ञान है कि तीन लोक अलोककी समस्त भूत भविष्य वर्तमान पर्यायें एक साथ झलकती हो, ऐसा विशिष्ट ज्ञानशाली महान् आत्मा प्रभु होता है। प्रभु का आनन्द इतना विशिष्ट है कि जिस आनन्दमे कभी भी अन्तर नहीं आ सकता। यह बात हम कब अनुभवसे प्रमाणरूप ज्ञान सकेंगे कि जब अपने आपका सहजस्वरूप भी विदित हो जाय, मैं अपने आप अपनी ओर से अपने सत्वके कारण कैसा हू, इसका स्पष्ट अनुभव हो तो वह प्रभुके स्वरूपका भी सत्य ज्ञान कर सकता है।

प्रभुस्वरूपकी दृष्टिसे ही प्रभुताका परिचय—अनेक महापुरुष हुए हैं जिन्होने अपने जीवनमें जब तक गृहस्थावस्थामें रहे तब तक उन्होने लोकके बहुत परोपकारके काम किए और जब वे यथार्थ ज्ञानके अनुभवमे गहरे उतरे, सर्वका विकल्प तोडकर एक आत्मासे, ब्रह्मसे उन्होंने रुचि की, उसीमें लीन हुए, उसके प्रतापसे उसही भवमे कर्मोंको नष्ट करके वे प्रभु बने। अब हम प्रभु नामपर गृहस्थीमे जो कुछ उन्होंने किया उसकी महत्ता दे, और वही प्रभुका स्वरूप माने तो उससे अपने ध्येयमें अड़चन आ जाती है। वे प्रभु जब हुये और प्रभुके समयमे उनका जैसा स्वरूप है उस पर दृष्टि दें तो अपना मार्ग भी शान्तिके लिए शुद्ध मिल जाता है, जैसे इस चतुर्थकालमे चौबीस तीर्थंकर हुए तो वे पैदा तो घरमें ही हुए ना। उनके भी माता पिता थे ना। घरमे रहे, राजपाट सभाला। किन्हीं की शादी भी हुई, किन्हीं ने दिग्विजय भी की, चक्रवर्ती भी हुए और वे ही महापुरुष कारण पाकर विरक्त हुए, सब कुछ त्याग दिया और अपने आत्मस्वरूपमे मग्न रहने का ही जिनका मुख्य काम रहा, ऐसी स्थितिमें अध्यात्मयोगके प्रतापसे उन्होंने कर्मोंका नाश करके प्रभुपद पाया। अब हम प्रभुस्वरूपकी तो महिमा न गायें और जो गृहस्थीमें रहकर लोकोपकार किया वही दृष्टि रखकर तावन्मात्र प्रभुका स्वरूप मान तो उसमे हमें कुछ नहीं मिलता, शान्ति नहीं मिलती, शान्तिपथ नजर नहीं आता। उन्होंने पूर्वअवस्थामे लोकोपकार किया लेकिन जब सर्वविकल्प त्यागकर अपने स्वरूपमे लीन हुए तब उन्होंने कर्मोंका नाश कर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्द प्राप्त किया। वे प्रभु वन्दनीय हैं।

श्रीराम भगवान ने अपने जीवनमें जब तक गृहस्थीसे सम्बन्ध रखा तब तक उन्होंने कितने ही कष्ट पाये, पर उन कष्टोंको कष्ट नहीं माना। वे ज्ञानी थे, पुरुषोत्तम थे, चरमशरीरी थे। उसी भवसे उनका निर्वाण हुआ था, फिर भी गृहस्थावस्थासे जो कुछ भी कार्य किये गए, लोकोपकारका अथवा राग

भाव तो था ही। जब कारण पाकर वे पूर्णतः विरक्त हुए और अपने आत्मस्वरूपमें रत हुए तो उन्होंने निर्वाण पद पाया, श्रीराम भगवानने तुङ्गीगिरिसे मोक्षपद प्राप्त किया, वे प्रभु हुए। अब हम श्रीरामकी भक्तिमें रामका स्वरूप प्रभुसमयका निहारें कि कैसा स्वच्छ ज्ञान, कैसी निर्विकल्प समाधि, कैसा वे ब्रह्मस्वरूपमें रत हुए, कैसा उनका ज्ञानानन्द विकसित हुआ तो हम प्रभुस्वरूपको पा भी लेंगे, भक्ति करेंगे सही और हम अपना निर्वाण मार्ग भी बना लेंगे। हनूमान जी भी महान सुन्दर, रूपवान, कामदेव थे, जिनकी सानीका रूप उस समय किसीका भी न था। इतने सुन्दर अवतारमें हनूमान जी ने भी बहुत लोकोपकार किया। श्रीरामका तो निष्कपट उपकार किया। पर कारण पाकर वे भी जब विरक्त हुए और जब ब्रह्म समाधिमें लीन हुए तो कर्मोंका नाश कर उन्होंने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्राप्त किया। वे हनूमान भगवान हुए, उन्होंने निर्वाण पद पाया। तो ऐसे महापुरुष अपनी गृहस्थावस्थामें जो कि लोकका उपकार कर गए, प्रायः लोक उनके इस उपकारकी महिमा गाकर उनके स्वरूपकी इतिश्री करते हैं, प्रभु भक्त लोगोंको समझना होगा कि उन्होंने इस अवस्थाके बाद जो एक योग अवस्था धारण की, ब्रह्मसमाधिमें रत हुए, वह क्या तत्त्व था ? उसका ही प्रसाद था जो उन्होंने उत्कृष्ट निर्वाणपद प्राप्त किया।

निज ब्रह्मतत्त्वके बोध बिना जीवका विशाल लोकमें सर्वत्र जन्म मरण— निज ब्रह्मतत्त्वको जाने बिना हम आप सब इस संसारमें भटक रहे हैं, यहाँ एक भी प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहाँ हम आप जीव अनन्त बार जन्म न ले चुके हों। इतना भटके यह दुनिया कितनी बड़ी है, इसके बारेमें जिसकी जितनी बुद्धि है उतना बताते हैं, किन्तु परम्परासे आगममें जो उल्लिखित है वृत्तान्त उसकी दृष्टिसे देखो तो लोक इतना विशाल है कि जिसका कोई माप नहीं कर सकता। सभी लोग मानते हैं कि यह द्वीप जम्बूद्वीप है, जहाँ हम आप लोग रहते हैं। वैज्ञानिक लोग नहीं मानते, लेकिन जिन्हें धर्ममें श्रद्धा है, ऐसे सम्प्रदायके सभी लोग मानते हैं कि जम्बूद्वीप है, सुमेरू पर्वत है, शास्त्रोंमें लिखा है। तो यह जम्बू द्वीप जिसके एक खण्डमें अयोध्या नगरी बसी है और अयोध्यानगरी महापुरुषोंके जन्मके कारण बड़ा महत्त्वपूर्ण माना जाती है। तो इस जम्बूद्वीपमें जो एक भरत क्षेत्र है आर्य खण्ड उसके भीतर थोड़ासा यह हिस्सा इतनी जगहको आजकलके वैज्ञानिक सम्पूर्ण पृथ्वी समझकर इतिश्री कर देते हैं, लेकिन यह सारा संयोग कितना बड़ा है ? यह जम्बूद्वीप एक लाख योजनका लम्बा, चौड़ा है। दो हजार कोसका एक योजन होता है। यों एक लाख योजनका बड़ा है। उसको घेरकर लवण समुद्र है जिसके किनारे रावणने अपनी लंका सुदृढ़ की थी और वह सीताजीको हर कर अपनी उस सुरक्षित लंकामें ले गया था। लंकापर विजय प्राप्त करना बहुत टेढ़ा काम था। कारण यह है कि वह लवण समुद्रके किनारे बसा हुआ था और जो बहुतसे कोट खाई आदिकसे घिरा हुआ था। प्रथम तो वहाँ पहुचना बहुत कठिन काम था। यह तो हनुमान जी का एक सामर्थ्य था कि विद्याबलसे (वे विद्याधर थे) वहाँ पहुँचकर सब कुछ देख आये, सीता का पता लगा लिया, श्रीरामसे बताया और श्रीरामने लंका पर विजय प्राप्त की। सीता रामकी इतनी भक्त थी कि उसने लंकामें पहुचने पर यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं जब तक रामका सवाद न सुन लूँगी तब तक अन्न पान न ग्रहण करूँगी। आखिर जब वहाँ हनुमान जी पहुचे, सीताको रामका सन्देश सुनाया तब सीता ने अपना अनशन छोड़ा। तो इस जम्बूद्वीपको घेर कर इसके एक तरफ दूने विस्तारका लवण समुद्र है, उसके बाद फिर द्वीप, फिर समुद्र, ऐसे दूने-दूने विस्तार वाले अनगिनते द्वीप और अनगिनते समुद्र हैं, यह सब जितना वर्णन हुआ केवल एक राजूसे भी कम कहलाया। ऐसा जो एक राजू मोटा, एक राजू लम्बा, एक राजू चौड़ा हो उसे कहते हैं एक घन राजू। यों ३४३ घनराजू प्रमाण सारा विश्व है। इतने बड़े विश्वमें हम आप सब स्थानोंपर सब प्रदेशोंपर अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं और मरे हैं।

आत्माके नाते से कल्याणलाभका ध्येय होनेपर हेयहीन व आदेयोपादान--संसरणमें यह आवागमन हमारा अनादि कालसे चला आ रहा है। इस परम्पराके बीच हम आप लोगोंने आज मनुष्यभव प्राप्त किया। यह मनुष्यभव कितना महत्वपूर्ण है जिसमे प्रभुभक्ति करें, ब्रह्मसमाधि करें, ज्ञानवर्द्धन करें और लौकिक हिसाबसे बडी-बडी योजनायें बनालें, तो यह मनुष्यभव अति दुर्लभ है। इसको पाकर केवल यह ध्येय नहीं रखना है कि हम अच्छे साधन बनावें, खूब धन कमायें, खूब धन सचय करें, लोगो से तारीफ सुनें। कुछ धर्म भी करे अपने बडप्पनका या विषयोंके भोगका उद्देश्य रखकर तो इससे जीवन की कोई सफलता नहीं है। जगतके ये समस्त समागम असार हैं, भिन्न है, इनसे प्रीति करना अयोग्य है। जो प्रभुस्वरूप है, जो ज्ञानानन्द स्वरूप है, एक ज्योतिविकास है उसका दर्शन करें, उसकी दृष्टि करें, उसका आश्रय ले तो ससारसे तिर सकते है। ऐसा भाव रखकर शुद्ध हृदयसे निष्पाप हो, प्रभुकी उपासना में लगें, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन ५ प्रकारके पापोंसे आत्माकी भलाई नहीं है। प्राय करके जगतके ये सारे प्राणी इन्हीं पापकार्योंमें लगे हुए हैं क्योंकि उन्हें अपने अन्दरके प्रकाशकी कुछ खबर ही नहीं है। मै क्या हू ? इसका सही निर्णय किए बिना न तो हम भगवानका स्वरूप समझ सकते है, न धर्ममार्गको जान सकते है और न धर्ममे रच भी कदम बढा सकते है। जगलोंमें रहकर ऋषिसतजन किया क्या करते थे ? बस वे अपने आत्मस्वरूपमे (ब्रह्मस्वरूपमे) लीन रहा करते थे। जब हम इस बाहरकी वेषभूषाकी इस शरीर आकार प्रकारकी देश, वातावरण, जाति कुल आदिक की दृष्टि हटाकर केवल अपने को आत्मा ही आत्मा निरखकर केवल आत्माकी ही जानकारीमें रहते है तो वहाँ क्या चमत्कार होते है ? वहाँ अतुल वैभव मिलता है, ब्रह्मस्वरूपके साक्षात दर्शन होते रहते हैं और जो आनन्द वहाँ प्राप्त कर लिया जाता है, इस उस आनन्दके लाभके प्रतापसे यह जीव संकटोंसे सदाके लिए मुक्त हो जाता है। उस तत्त्वको पाये बिना यह जीव ससारमे अब तक भटकता ही रहा है।

स्वक्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप—इस श्लोकमे क्षेत्रपरिवर्तनकी बात कही जा रही है। क्षेत्रपरिवर्तन दो प्रकारका है—स्वक्षेत्रपरिवर्तन, । स्वक्षेत्र परिवर्तनका स्वरूप यह है कि कोई जीव सर्वजघन्य अवगाहना धारण करके जन्मा जैसे सूक्ष्मनिगोद लब्ध्यपर्याप्त जीव अङ्गुलके असख्यातवें भाग प्रमाण देहावगाहना को लेकर उत्पन्न हुआ। वह देह जितने प्रदेशोंमे है उतनी बार इसी जघन्य अवगाहनाको लेकर उत्पन्न हो, फिर एक-एक प्रदेश अधिक अवगाहनाको लेकर जन्मता रहे, यों जब सर्वोत्कृष्ट देहावगाहना प्राप्त कर ले उसमें जितना काल लगे उतने काल परिभ्रमणको स्वक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। देखिये किसी भी अवगाहनाको लेकर जन्मने के बाद एक प्रदेश अधिक अवगाहनामे ही जन्म ले ऐसा नियम तो नहीं है। यदि अन्य अवगाहनाको लेकर जन्मा तो वह इस गिनतीमे नहीं आयेगा। अन्य अन्य अवगाहनाओंमे जन्म लेकर जब इस क्रम वाली अवगाहनामे जन्मे तो वह गिनतीमे आवेगा। तब समझिये कि कितना बड़ा है यह स्वक्षेत्रपरिवर्तन। ऐसे ऐसे अनन्त स्वक्षेत्रपरिवर्तन इस जीवने किये।

परक्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप--अब परक्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप सुनिये, कोई जीव जघन्य अवगाहनाको लेकर सर्वलोकके अत्यन्त मध्यक्षेत्रमें ऐसा जन्मे कि देहावगाहनाके मध्यके प्रदेश लोकमध्यके आठ प्रदेशों पर हो। लोकके मध्य सुदर्शन मेरुके मूलमे आठ प्रदेश है लोकके प्रदेश हैं तो असख्यात, किन्तु सब ओर समसख्यक है अर्थात् उनमे २ का भाग दें तो पूरा भाग जायेगा शेषमे एक नहीं बचेगा। अतएव मध्य मे ८ प्रदेश ही होते है। उन प्रदेशोंपर अवगाहकाके मध्य प्रदेश हों यों जन्म लेकर फिर जितनी अवगाहना में प्रदेश है उतनी बार वहीं उसी प्रकार जन्म ले, फिर किसी एक ओर लोकक्षेत्रके एक एक प्रदेशको ही व्याप कर जन्मलें। यो सर्व ओरके लोकप्रदेशोंमें जन्म ले चुके। इसमे जितना काल लगता है उतने कालको एक परक्षेत्रपरिवर्तन कहते है। देखिये किसी प्रदेश तक जन्मे कोई जीव, फिर उससे एक ही प्रदेश बढकर

जन्मे यह कोई नियम तो नही और बड़ा कठिन है अन्य लोकप्रदेशों पर जन्म लेता फिरे, वह इस गिनती मे नहीं है। तो यो यह जीव ऐसे ऐसे अनन्त परक्षेत्र परिवर्तन कर चुका। इस क्रमसे जन्मकर भी इस लोकमे ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा, जहा यह जीव अनन्तबार उत्पन्न न हो गया हो। यों जन्म मरणकी परम्परा जान कर इसे असार समझकर जन्मसे, भवमें मोह न करना चाहिये।

उवसप्पिणि-अवसप्पिणि-पढम-समयादि-चरक-समयंत।
जीवो कमेण जम्मदि मरदि य सव्वेसु कालेसु ॥६६॥

अनन्तकल्पकालोके सब समयोमे संसारीका अनन्तोंबार जन्म मरण—जैसे कि उक्त श्लोकमें यह बताया है कि इस लोकमें कोई प्रदेश ऐसा नही बचा जिस पर यह जीव अनन्तबार जन्ममरण न कर चुका हो। इसी तरह यह भी जानो कि इस काल परिवर्तनमें इससे कल्पकालोमे कोई समय ऐसा नही बचा जिस समय यह जीव अनन्त बार पैदा न हो चुका हो। एक कल्पकाल कहते हैं अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके होने को। एक कल्पकालमे दो तरहके समय आते है–एक तो बढने का समय और एक घटनेका समय। जिस समयमे मनुष्यकी आयु, बुद्धि, धन, देहकी लम्बाई चौड़ाई आदि बढती जाय, ऐसे समयको कहते हैं उत्सर्पिणी काल और जिस कालके प्रवाहमे हर बाते घटती चली जाये उसे कहते हैं अवसर्पिणी काल। जैसे आजकलका समय अवसर्पिणीका है। हमारे पूर्वज महावीर स्वामीके समयके पुरुष, उनसे पहिले पार्श्वनाथ भगवानके समयके पुरुष, उनसे पहिले नेमिनाथ श्रीकृष्ण, बलभद्र, वसुदेव आदिक पुरुष और उनसे पहिले हुए हैं श्रीराम, हनूमान भगवान, इनके समयके पुरुष और इन सबसे भी पहिलेके पुरुष ये उत्तरोत्तर बहुत लम्बे शरीरके, लम्बी आयुके, बहुत बडी बुद्धिके, बहुत बडे धन बलके पुरुष हुआ करते थे। लेकिन ज्यों ज्यो समय बीतता जा रहा है त्यों त्यो मनुष्यकी ये सब चीजे घटती जा रही है। आप यहीं देखलो करीब १०० वर्ष पहिले जो व्यक्ति होते थे वे कितने धीर, गम्भीर, लम्बे चौडे बलवान व लम्बी उमरके होते थे, लेकिन अब वैसे लोग नहीं पाये जाते। तो यह घटतीका समय है। अबसे कई लाख वर्ष पहिले श्री मुनिसुव्रतनाथ हुए, उस समय रघुकुल भी बडा प्रसिद्ध रहा, श्रीराम भगवान उस ही समयमें हुए हैं। उस समय लोगोकी आयु लाखो वर्षकी होती थी। अब घटतीका (अवसर्पिणीका) समय है सो १०० वर्षकी आयु भी मुश्किलसे होती है। अब देखिये पुरुषोमें धर्मका भी ह्रास होता जा रहा है, सदाचारका भी ह्रास है, धनका भी ह्रास है। आजकल तो लोग थोड़ासा वैभव पाकर समझते है कि हम बहुत धनी हैं, लेकिन पहिले के लोग बहुत धनिक होते थे, चक्री नारायण मंडलेश्वर आदि होते थे। तो हर बातमे आज पुरुषोमें घटती चल रही है। कुछ ही समय बाद तो धर्मका नाम भी न रहेगा। सभी लोग मासभक्षी हो जायेंगे, यहा तक कि रसोई पकानेका भी साधन न रहेगा, अग्नि ठंडी हो जायेगी, एक जीव दूसरे जीवका यों ही भक्षण कर जायेगा। करीब ४० हजारवर्ष बाद तो घटतीका अंतिम नमूना है। इस घटतीके बाद प्रलय होगी, फिर नवीन सृजन होगा। फिर वह उत्सर्पिणीका होने बढती का समय होगा तो इस तरह एक उत्सर्पिणी और एक अवसर्पिणी काल आता है।

कल्पकालके विभाजित अवसर्पिणी व उत्सर्पिणीकालके विभाजन—आजकल अवसर्पिणीकाल है और इस समय यह पंचमकाल कहलाता है। इसके पहिले चतुर्थकाल था, जिस कालमें ये सब महापुरुष हुए। २४ तीर्थंकर भी चतुर्थकालमे हुए और उसी समयमें चक्रवर्ती बलभद्र आदि महापुरुष होते आये। उससे पहिले तीसरा काल था। वह तीसरा काल भोगभूमिका था। उस समय किसी को आजीविकाके कार्य न करने पड़ते थे। मनचाहे भोगसाधन कल्पवृक्षोंसे प्राप्त हो जाया करते थे। इससे भी उत्कृष्ट भोगभूमि दूसरे कालमे थी। तो अब समझिये कि पहिला काल बहुत लम्बे समयका होता है, ४ कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। दूसरा काल—तीन कोड़ाकोड़ी सागरका होता है। तीसरा काल, दो कोड़ा कोडी सागरका

व चौथा काल और पचम और छठा काल ये सब मिलकर एक कोड़ाकोड़ी सागरके होते हैं। यों १० कोड़ाकोडी सागर काल होता है उत्सर्पिणी कालमें और १० ही कोड़ाकोड़ी सागर काल होता है अवसर्पिणीकालमें, इस तरह २० कोड़ाकोड़ी सागर काल एक कल्पकालमें होता है। ऐसे कल्पकालोंमें प्रत्येक समय में इस जीवने अनन्त बार जन्म लिया और मरा।

अपने आधारसे बिगनेपर तड़फनकी और अपने आधारमे समाने पर शान्तिकी अवश्यभाविता--इस प्रसंग का प्रयोजन यह है कि अनादिकालसे यह जीव यों ही रुलता चला आया है। उसका कारण क्या है? बस उसका मूल कारण यही है कि इस जीवको अपने आपकी पहिचान नहीं हुई। यह जीव बाहमें दृष्टि करके बाह्यमें ही अपना उपयोग लगाकर यत्र तत्र भटकता रहा, दुःखी होता रहा और अपने आपके स्वरूपको न पहिचान सका। तो जैसे मछली जलसे बाहर निकल कर तड़फती है, दुःखी होती है, इसी तरह यह जीव अपने ज्ञानजलसे बिगकर बाह्यपदार्थोंमें अपने उपयोगको लगाता है तो दुःखी होता है। जीवोंकी यह व्याकुलता आत्मज्ञानके बिना मिट नहीं सकती। यह जीव दुःखी तो होता है आत्माकी भूलसे और उस दुःखको मिटानेका उपाय समझता है विषय कषायोंमें लगना, तो इस जीवके दुःख मिटे कैसे? इस जीवके दुःख मिटनेका मुख्य उपाय है आत्मज्ञान करना, अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है। जब कभी आप अपने अन्त स्वरूपकी प्रतीति करें कि मैं देहसे भी निराला हू, बस उसी समय सकल्प विकल्प के मारे दुःख खत्म हो जाते हैं। जब कभी किसीको इष्ट वियोग अथवा अनिष्ट सयोगका दुःख होता है तो उस समय कितने ही लोग समझाते हैं पर उसकी समझमें नहीं आता, उसका वह वियोगका दुःख शान्त नहीं हो पाता। बल्कि जो लोग समझाने आते हैं वे उसके दुःखको और भी बढ़ा देनेमें कारण बनते हैं। लोग प्रायः यही तो कहते हैं कि भाई वह बड़ा अच्छा था, घरके सभी लोगोंका बड़ा ख्याल रखता था, सब घरवालोंकी बड़ी सेवा करता था। बेचारा कैसे मर गया? यों उस मरे हुएके गुण गा गाकर उस वियोगी व्यक्तिको और भी दुःखी बना देते हैं। कदाचित् कोई ऐसा समझाये कि अरे तुम तो इस देहसे भी निराले, अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा हो, तुम्हारा इस जगतमें रच मात्र भी कुछ नहीं है, तुम किसे यहां अपना समझकर उसके पीछे दुःखी हो रहे हो? तो उसकी समझमें आ जाता है। जब वह वियोगीपुरुष बाह्यसे अपनी दृष्टि हटाकर अपने स्वरूपमें दृष्टि देता है तो सारे सयोग वियोगके दुःख समाप्त हो जाते हैं। जैसे यमुना नदीमें रहने वाला कोई कछुवा जब अपनी चोंच पानीसे बाहर निकालकर घूमता है तो सैकड़ों पक्षी उसकी चोंचको पकड़ने के लिए ऊपर मडराते रहते हैं। वह कछुवा दुःखी होकर यत्र तत्र भागता फिरता है। पर रे कछुवे, तेरेमें तो एक ऐसी कला है कि वे सारे दुःख क्षणभरमें ही मेट दे। वह कला यही है कि जलके भीतर जरा दो चार अगुल अपनी चोंच डुबो ले, फिर वे सारे पक्षी तेरा क्या कर सकेंगे? यों ही समझिये कि यह जीव अपने उपयोगकी चोंचको बाह्य पदार्थोंमें लगा रहा है। इसी कारण इस जीवपर अनेक विपत्तियां मडरा रही हैं। पर हे आत्मन! तेरे पास तो एक ऐसी कला है कि जिस कलाके खेले जाने पर ये कोई भी विपत्तियां तेरा कुछ भी बिगाड न कर सकेंगी। वह कला यही है कि अपने ज्ञानसागरमें तू जरा डुबकी लगा ले। बस तेरे सकट एक साथ समाप्त हो जायेंगे।

आत्मज्ञान बिना ससार सकटमुक्तिकी अशक्यताका दृढ निर्णय--भैया! अपना एक निर्णय बना लें कि जब तक मैं अपने आत्माका सही परिचय न कर लूँगा अर्थात् अपने ज्ञानको अपने ज्ञानसागरमें नहीं डुबा दूंगा, तब तक सकट मिट न सकेंगे। ग्रन्थोंका पढना, उपदेशका सुनना, प्रभुभक्ति करना आदिक उपाय हैं अपने आत्मस्वरूपके जाननेके। ये सब उपाय इसीलिए हैं कि हम अपने सत्यस्वरूपको जानें और उस सत्यस्वरूपको ही सार समझकर परसे हटें और उस ज्ञानज्योतिस्वरूपमें ही मग्न होवें। ऐसा काम करने के लिए कितने बलिदानकी आवश्यकता है। बलिदानका अर्थ है धन वैभव, कुटुम्बीजन मित्र-

जन आदिक सभी मोह त्यागकर अपने आपकी सही जानकारी करना, जिससे हमारा पूरा पड़ेगा। जब तक हम अपने आपका सही ज्ञान नहीं कर पाते तब तक संकटोके मेटनेका कोई भी उपाय नहीं है। ऐसा जानकर आत्माके नातेसे धर्मका परिज्ञान करे, प्रभुका स्वरूप जाने, अपने लिए जो हितकारी बात हो हो उसपर अमल करें। सब कुछ करे केवल आत्माके नातेसे। मै आत्मा हू और मै संसारमे रूल रहा हू। मुझे यह सब भ्रम मिटाना है और अपने आपका सत्य निर्णय प्राप्त करना है। इस नातेसे धर्म-पालनमें बढ़ें तो हम लोगोंका मनुष्यजन्म पाना सफल है।

कालपरिवर्तनका स्वरूप— इस श्लोकमे कालपरिवर्तनका स्वरूप कहा गया है— कोई जीव किसी विवक्षित उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमे उत्पन्न हुआ, फिर यह जीव किसी उत्सर्पिणी कालके द्वितीय समयमे जन्म ले, फिर आगे होने वाली किसी उत्सर्पिणी कालके तृतीय समयमे जन्म ले। यो विभिन्न उत्सर्पिणीकालोमे क्रमशः एक-एक अधिक समयमे जन्म लेता जाये। इस तरह क्रमसे जन्म ले लेकर उत्सर्पिणीयोके सब समयोमे जन्म ले चुके। फिर अवसर्पिणी कालके प्रथम द्वितीय आदि समयोमे क्रमशः जन्म ले चुके, यो कल्पकालोके सब समयोंमें जन्म लेनेमें जितना काल व्यतीत हो उतनेको एक कालपरिवर्तन कहते है। यहाँ यह बात कितनी कठिन जँचती है कि कोई जीव उत्सर्पिणीकालके प्रथम समयमे जन्म ले और फिर आगे किसी उत्सर्पिणीकालमें दूसरे समयमें जन्म ले। अनगिनती भी उत्सर्पिणियाँ व्यतीत हो सकती है ऐसी कि जिनके द्वितीय समयमे जन्म न ले। ऐसे समस्त समयोंकी बात है। ऐसे ऐसे अनन्तकाल परिवर्तन यह जीव कर चुका है। इतना लम्बा, लम्बा भी क्या, अनादिकालसे यह ससरण चला आया है, ऐसा जानकर किसी समयसे याने किसी समय होने वाली अपनी किसी घटनापर विवाद नही करना चाहिए। एक अपने निरपेक्ष स्वकालको परखकर अन्य समस्त परिणमनोसे उपेक्षा भाव रखे और सहज आनन्द पाये।

णेरइयादि-गदीणं अवर-ट्ठिदो वर-ट्ठिदी जाव।
सव्व-ट्ठिदिसु वि जम्मदि जीवो गेवेज्ज पज्जतं ॥७०॥

भवपरिवर्तनमें नरकभवपरिवर्तनके स्वरूपके वर्णनका उपक्रम— इस श्लोकमे भवपरिवर्तनके प्रदर्शनके द्वारा जीवका भ्रमण बता रहे हैं। इस जीवने अब तक इतने जन्म मरण किये जिनका अन्त नहीं। उन जन्म मरणोंका अदाज करनेके लिये इन परिवर्तनोका स्वरूप कहा जा रहा है। यह भवपरिवर्तन है। भव चार होते हैं— नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। तो भवपरिवर्तन चार हुए— नरकभवपरिवर्तन, तिर्यञ्चभवपरिवर्तन, मनुष्यभवपरिर्तन और देवभवपरिवर्तन। इन भवपरिवर्तनोमें यह बताया जा रहा कि जीव अपने भवमे जघन्य आयुसे लेकर जन्मे, ऐसा कोई एक विवक्षित समय बनाये और उतनी ही बार जितना कि उस आयुमें समय है उतनी आयु लेकर जन्ममरण करे, फिर एक एक समय बढ़ाकर जन्म मरण करे, इस तरह करते करते जब उत्कृष्ट आयु भी पुर जाती है तब वहाँ एक भवपरिवर्तन होता है। नरकभवमे सबसे कम आयु होती है १० हजार वर्ष। नारकियोकी उम्र कमसे कम १० हजार वर्षकी होगी। उससे एक समय भी कम नहीं हो सकती और उत्कृष्टसे उत्कृष्ट आयु होगी तो होतो ३३ सागरकी। इन समस्त समयोकी आयु क्रमसे पा करके भवमे यह जीव जन्मा और मरा। इसमे जो समय व्यतीत होता है वह है एक मरणभवपरिवर्तन।

उपमाप्रमाणसे सागरके परिमाणका परिज्ञान— ३३ सागरका समय कितना होता है? इस बातको जाननेका और कोई उपाय नहीं है, सिर्फ उपमाप्रमाणसे जान सकते है। एक कल्पना करो कि दो हजार कोशका लम्बा, चौड़ा, गहरा गड्ढा है, उसमें उत्तम भोगभूमिमे उत्पन्न हुए जीवके देहीके रोम भर दिये जाये, ऐसे रोम भरे जायें कि कतरनीसे उसके इतने छोटे-छोटे खण्ड हो कि जिनका कतरनीसे दूसरा

हिस्सा न हो सके। इतने छोटे अंश उस गड्ढेमें भर दिये जायें और इतने ठसाठस भरे जायें कि मानो उस पर हाथी भी खूब फिराये गये हों, ऐसे उन रोमोंसे भरे हुए गड्ढेमें से १०० वर्षमें एक टुकड़ा निकाला जाय। जितने वर्षोंमें वह गड्ढा खाली हो जाय उतने वर्षोंका नाम है एक व्यवहारपल्य। अब आप अंदाज करें कि इतने बड़े गहरे गड्ढेमें रोमके छोटे-छोटे टुकड़े कितने होंगे? उत्तम भोगभूमियाके प्राणियोंके वे रोम बहुत पतले होते हैं। जितने पतले रोम यहां हम आपके होते हैं उनसे ८वें भाग पतले वाले जघन्य भोगभूमियाके प्राणियोंके हैं और उनसे भी ८वें हिस्से पतले उत्तम भोगभूमियाके पशुवोंके हैं। अब आप समझिये कि कितने रोम उस गड्ढेमें समाये? और १००-१०० वर्ष बाद एक एक टुकड़ा निकलना। जितने वर्षोंमें वह गड्ढा खाली हो सके उतने समयका नाम है व्यवहारपल्य और उससे अनन्त गुना काल है उद्धार पल्यमें, उससे भी अनन्तगुना काल है अद्धापल्यमें। एक करोड़ अद्धापल्यमें एक करोड़ अद्धापल्यका गुणा किया जाय जितना समय आये उसे कहते हैं एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य, ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यका होता है एक सागर, ऐसी ३३ सागर तककी आयु नारकी जीवोंकी होती है। अब १० हजार वर्षसे लेकर ३३ सागर तककी आयुमें अनगिनते भेद हैं, जैसे मानलो कि मनुष्यकी आयु कमसे कम हो एक दिन और ज्यादासे ज्यादा हो १०० वर्ष, तो १ दिनसे लेकर १०० वर्ष तकके बीचमें कितने भेद हो गये? वह तो घंटोंमें आ जाता है। बहुत थोड़ा समय है, लेकिन नरकोंमें १० हजार वर्षसे ऊपर और ३३ सागरके नीचे असख्याते वर्ष हैं।

नरकभवपरिवर्तनका स्वरूप—अब नरक भव परिवर्तन देखिये—किसी जीवने १० हजार वर्षकी आयु बाधी, नरकभवमें जन्म लिया तो १० हजार वर्ष तो उसके व्यतीत होने ही पड़ेंगे और नारकी मरकर नरकसे निकलकर नारकी तुरन्त कभी नहीं होता। वह मनुष्य बने या पशु, फिर चाहे नरक चला जाय। तो १० हजार वर्षकी आयु भोगकर नारकी जीव मनुष्य या तिर्यञ्च हुआ। अब बार-बार १० हजार वर्ष की आयु ले लेकर कई बार नरकभवमें जन्म लेवे, जितना उस १० हजार वर्षमें समय है। १० हजार वर्षमें कितने दिन होते, फिर १० हजार वर्षमें कितने घंटे, कितने मिनट तथा कितने सेकेण्ड होते? उन १० हजार वर्षोंमें जितने सेकेण्ड होते, उन १० हजार वर्षोंमें जितने सेकेण्ड आये उनके समय बनाइये। असख्याते समयोंका एक सेकेण्ड होता है। तो १० हजार वर्षमें जितने समय हुए उतनी बार १० हजार वर्षकी आयु लेकर नरकभवमें जन्म ले। फिर १० हजार वर्ष व एक समयकी आयु पाये, फिर १० हजार वर्ष दो समयकी आयु पाये। इस क्रमसे न पाकर भिन्न-भिन्न आयु पाये, उससे उसकी गिनती न लेना। तो १० हजार वर्षके समय प्रमाण १० हजार वर्षकी आयु लेकर नरकगतिमें जन्म लेवे, फिर १० हजार वर्ष में एक समयकी आयु लेकर नरक गतिमें जन्म ले। फिर १० हजार वर्ष दो समयकी आयु लेकर जन्म ले। इसके बाद यह भी नियम नहीं कि कितनी आयु मिले? तो यों एक-एक समय अधिक आयु पाकर ३३ सागर पर्यन्त सारी आयु इस क्रमसे भोग ले, उसमें जितना समय लगता है उतनेको कहते हैं एक नरकभव परिवर्तन। इसमें तो कितने ही कल्पकाल गुजर जाते हैं। यह हुआ एक नरकभव परिवर्तन।

तिर्यग्भवपरिवर्तनका स्वरूप—अब तिर्यञ्चभवका परिवर्तन लें। तिर्यञ्चमें कमसे कम आयु होती है अन्तर्मुहूर्तकी। एक श्वासमें १८ बार जन्ममरण होता है तो वह श्वास है एक स्वस्थ पुरुषकी नाड़ी एक बार उचकने में जितना समय लगता है उतने को कहते हैं एक श्वास तो ऐसे एक श्वासमें १८ बार जन्म मरण होता है किसी जीवका और वह एक जन्मका समय कितना कहलाया? एक बटा तेइस सेकेण्ड। एक सेकेण्डमें २३ बार जन्म मरण होता है तो सेकेण्डके २३ वें हिस्सेको भी अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। तो यों अन्तर्मुहूर्तकी आयु है तिर्यञ्चगतिमें जघन्य और उत्कृष्ट आयु है तीन पल्यकी। इसमें भी उसी प्रकार से भ्रमणकी बात देखें कि कोई जीव अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर तिर्यञ्चमें उत्पन्न हुआ। अब अन्तर्मुहूर्त

मे जितने समय होते हैं उतनी बार अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर तिर्यञ्च भवमें उत्पन्न हो, फिर अन्तर्मुहूर्त एक समयकी आयु लेकर तिर्यञ्च बने, इस तरह एक समय बढाकर तीन पल्य तककी आयु पा ले, उसमे जितने समय लगते हैं उतने समयका नाम है तिर्यञ्चभवपरिवर्तन। तो एक तिर्यग्भवपरिवर्तनमें भी बहुत बड़ा समय लगा।

मनुष्यभवपरिवर्तनका स्वरूप--तीसरा सुनों मनुष्यभव परिवर्तन। मनुष्यकी आयु जघन्य है अन्तर्मुहूर्तकी और उत्कृष्ट है ३ पल्यकी। सबसे जघन्य आयु लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यकी होती है। उसी प्रकार यहा भी निरखे कि अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर कोई जीव मनुष्यगतिमें जन्म ले और अन्तर्मुहूर्तमें जितने समय हैं उतनी बार आयु अन्तर्मुहूर्त ही लेकर मनुष्य बने, फिर अन्तर्मुहूर्तएक समय अधिक आयु लेकर मनुष्य बने, ऐसे एक एक समय अधिक आयु लेकर मनुष्य बने, यों क्रमशः एक एक समय बढकर आयु ले लेकर जन्म मरण करते हुए ३ पल्यकी आयु तकका मनुष्य बन जाय तो उसे कहते है एक मनुष्यभव परिवर्तन। यों ही अंदाज लगा लीजिए कि यह जीव ससारमे कबसे भ्रमण करता आया, ऐसे ऐसे इस जीवने अनन्त परिवर्तन किए हैं।

देवभवपरिवर्तनका स्वरूप--अब देवभवका भी परिवर्तन लगा लें। देवोकी आयु जघन्य १० हजार वर्षकी होती है, इससे कम आयु किसी भी देवकी नहीं होती है। कोई जीव १० हजार वर्षकी आयु लेकर देवगतिमें जन्मा, फिर कभी १० हजार वर्षकी आयु लेकर देवगतिमें जन्मा, यों १० हजार वर्षके जितने समय होते हैं उतनी बार १० हजार वर्षकी आयु लेकर देवगतिमे जन्म कर ले। फिर दस हजार वर्ष व क समयकी आयु लेकर देवगतिमे, जन्में, फिर एक एक समय अधिककी आयु लेकर जन्म करले। इसर रह ३१ सागर पर्यन्तकी आयु धारण कर देवगतिमे जन्म ले चुके। इसमें जितना काल व्यतीत हो उतने कालको एक देवभवपरिवर्तन कहते है। यहाँ तीन बातें विचारनी हैं कि एक तो यह नियम है कि देवर मरकर फिर देव नहीं बनता और दूसरी बात यह है कि ऐसा होना भी कितना कठिन है कि कोई दस हजार वर्षकी आयु पाकर फिर कभी देव होवे तो १० हजार वर्ष एक समयकी ही आयु पावे। पता नहीं जितनी बार देव होवे सो कैसी कैसी भिन्न आयु पावे? जब कभी ऐसा योग हो कि दस हजार वर्ष व एक समयकी आयु पावे तो वह गिनती मे लेना। ऐसी ही सब किस्मकी आयुके आगे की समयकी बात समझना। अब सोच लीजिये कितना काल व्यतीत हो जाता है भव परिवर्तनमें? चारों भवके परिवर्तन होनेका नाम एक भवपरिवर्तन है। तीसरी बात यह है कि देवभवपरिवर्तनमे जो आयुको ३१ सागर तक ही ले गये, देवोमे तो उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर है, मगर ले गये ३१ सागर तक, सो इसका भाव यह है कि परिवर्तनका अधिकारी मिथ्यादृष्टि जीव है और मिथ्यादृष्टि जीव नवग्रैवेयकसे ऊपर उत्पन्न नहीं होता याने अनुदिश अनुत्तर विमानोमे मिथ्यादृष्टि जन्म नही लेता। नवग्रैवेयकमे उत्कृष्ट आयु ३१ सागर की है। अतः देवभवपरिवर्तनमे ३१ सागर तक का कथन किया है। चारो भवोके परिवर्तनमे जितना [illegible] यत त होता है उतना काल एक भवपरिवर्तन कहलाता है। ऐसे ऐसे अनन्त भवपरिवर्तन जीवने मिथ्यात्ववश किये है। यहॉ यह विशेष जानने योग्य है कि देखो नित्यनिगोद जीवने जो कि अब तक [illegible] से [illegible] उसने नरकभवपरिवर्तन, मनुष्यभवपरिवर्तन, देवभवपरिवर्तन तो नहीं किये हैं और तिर्यञ्चमे भी अनेक अवगाहना व अनेक आयु आदिसे भी परिवर्तन नही किये है, फिर वहॉ परिवर्तन कैसे घटे? अथवा जो कुछ ही समय पहिले निगोदसे निकला, उसमे भी सब कैसे घटे? इस समस्याकी सभालमे यह समझना चाहिये कि परिवर्तनोके स्वरूपके कथनका उद्देश्य अनन्त काल परिभ्रमणमें बीता, यह समझा देना है। सो वहां भी यह समझ लेना है कि अनन्त पञ्चपरिवर्तनोंमे जितना काल गयाहै, उतना काल इसका भी गया है।

परिणमदि सणिण-जीवो विविह-कसाएहि द्विदि-णिमितेहि ।
अणुभाग-णिमित्ते हि य वट्टतो भाव ससारे ।।७१।।

जीवको विविध कषाय स्थानोके निमित्तसे होने वाले भावससारका वर्णन— यह सज्ञी जीव जघन्य आदिक उत्कृष्ट स्थिति बंधके कारणभूत तथा अनुभाग बंधके कारणभूत नाना कषायोंसे और योग स्थानों से वर्द्धमान होता हुआ भावससारमे परिवर्तन करता है। भावससारमे यह बताया जा रहा कि यह जीव जो संसारमे जन्म मरण कर रहा है उसका कारण कषाय ही तो है। अब उन कषायोंमें से किस भवमें किस डिग्रीके कितने जघन्य हो सकते हैं, किस डिग्रीके उत्कृष्ट हो सकते हैं, किस कषायके भावसे कैसी स्थिति मिलती है, कैसा भव मिलता है? यो कषायोंके भेद नाना हैं और इसके साथ ही साथ जीवमें जो प्रदेश हैं उन प्रदेशोंमे जो हलन-चलन होती है वह कहलाता है योग। तो योग स्थान और कषाय स्थान हैं इनके निमित्तसे भावपरिवर्तन होता है। उसके सम्बन्धमें अनुराग वध, अध्यवसाय स्थान और स्थिति स्थान इनसे भावससारकी बात ली जाती है। तो इस जीवने इन भावोंके निमित्तसे नाना प्रकारके भवों मे जन्म मरण किया।

भावपरिवर्तनका स्वरूप— इस छन्दमें भावपरिवर्तनका स्वरूप कहा गया है। भावपरिवर्तन योग स्थान, अनुभागवन्धध्यवसाय स्थान, कषायध्यवसाय स्थान व स्थितिवन्धाध्यवसाय स्थान। योग स्थान—प्रकृतिवन्ध व प्रदेशवन्धके कारण आत्माके प्रदेशपरिस्पन्दरूप योगके तारतम्य लिये हुए स्थानोको योगस्थान कहते हैं। अनुभाग वन्धके कारण कषायके सारतम स्थानोंको अनुभाग वन्धाध्यवसाय स्थान कहते हैं। स्थितिवन्धाध्यवसाय स्थान—स्थितिवन्धके कारण कषायोंके तरातम्य स्थानोंको कषायाध्यवसाय-स्थान कहते हैं। वधने वाले कर्मोंकी स्थितिके भेदोंको स्थितिवन्धाध्यवसाय स्थान कहते हैं। अब इन निमित्तोंसे भावपरिवर्तन कैसे होता है, सो कहते हैं— पञ्चेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्त मिथ्यादृष्टि कोई जीव ज्ञानावरण कर्मकी अन्त कोडाकोड़ी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिको वाधता है, उस जीवके उस स्थितिके योग्य जघन्य कषाय स्थान, जघन्य अनुभागवधाध्यवसाय स्थान और जघन्य ही योगस्थान है। फिर उसी स्थिति, उसी कषायस्थान और उसी अनुभागवध स्थानको प्राप्त जीवके दूसरा योगस्थान होता है। इस तरह जब सब योगस्थानोंको समाप्त कर लेता है तब उसी स्थिति और उसी कषायस्थानको प्राप्त जीवके दूसरा अनुभागवधाध्यवसाय स्थान होता है। उसके योगस्थान भी पूर्वोक्त प्रकारसे जानना, सो प्रत्येक अनुभागवधाध्यवसाय स्थानोके सब योगस्थानोको समाप्त करता है। यों अनुभागवधाध्यवसाय स्थानों के समाप्त होनेपर उसी स्थितिको प्राप्त जीवके दूसरा कषायस्थान प्राप्त होता है। इस कषायस्थानके अनुभागवधाध्यवसायस्थान तथा योगस्थान पूर्ववत् हो होकर द्वितीय तृतीय आदि कषायस्थान वढ वढकर सब कषायस्थानोकी समाप्ति हो जाती है तब अर्थात् कषायस्थानोंके भी समाप्त हो जानेपर वही जीव उसी कर्मकी एक समय अधिक अन्तःकोडाकोडीसागर प्रमाण स्थिति वाधता है। उसके भी कषायस्थान अनुभागवधाध्यवसायस्थान तथा योगस्थान पूर्वोक्त प्रकार जानना। इस प्रकार एक-एक समय बढाते वढाते ज्ञानावरणकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोडाकोडी सागर पर्यन्त प्रत्येक स्थितिके कषायध्यावसायस्थान, अनुभागवधाध्यवसायस्थान तथा योगस्थानोंका क्रम जानना। इसी प्रकार प्रत्येक मूलप्रवृत्ति और उत्तर प्रकृतिको जघन्यस्थितिसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त प्रत्येक स्थितिके साथ पूर्वोक्त सब कषायध्यावसाय-स्थानों, अनुभागबंधाध्यवसायस्थानो और योगस्थानोको पूर्वोक्त प्रकार लगा लेना चाहिए। यों सर्वकर्मों की स्थितियोंको भोगनेको भावपरिवर्तन कहते है। इसको पूर्ण करनेमें जितना काल लगता है उसे एक भावपरिवर्तन कहते है। यह भावपरिवर्तन सबसे अधिक काल वाला है। यो इस जीवने अनन्तो वार द्रव्य क्षेत्र काल भाव भवपरिवर्तन किये।

एवं अणाइ-काले पच-पयारे भमेइ संसारे।
णाणा-दुक्ख-णिहाणो जीवो मिच्छत्त-दोसेण ॥७२॥

मिथ्यात्वदोषसे जीवका ससारभ्रमण—यह इसके पंचपरिवर्तनका स्वरूप कहा गया है। यों यह जीव अनादि कालसे ५ प्रकारके संसारोमें परिभ्रमण कर रहा है। ये नाना परिभ्रमण क्यो कर रहा है यह जीव एक मिथ्यात्वके दोषसे। हम आपपर जो विपत्तियाँ नही है उन्हें तो समझते है विपत्ति और जो वास्तवमे विपत्तियाँ मडरा रही है उन्हें विपत्ति मानते ही नही। अज्ञानमे यह हालत होती है। धन कम हो गया, परिजन कोई गुजर गए अथवा कोई रोग आ गया, खुदका भी मरण हो गया या कोई ससारमे संकट आ गया, इनको तो विपत्ति मानते हैं जो कि कुछ भी विपत्ति नही। अगर यह सचमुच विपत्ति होती तो सबको विपत्ति होवे। किसीका वैभव कम हो गया तो ऐसे वैभव तो सैकड़ो लोगोंके कम हो जाते है, पर कोई दु:खी होता है, कोई नही भी दु:खी होता है। कोई मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहता है। वह तो जानता है कि मेरा कुछ भी नहीं गया, यह तो ससारका स्वरूप ही है। अनेक लोग घरमे पुत्रादिकके मरण होने पर बडे दु:खी होते हैं और कोई ऐसे भी देखे गए कि जिनका कोई एक ही जवान लड़का था, वह गुजर गया, फिर भी उन्हें विषाद नही होता। उनमे ज्ञानबल है अथवा ऐसी ही पात्रता है। तो ये बाहरी बाते यदि विपत्ति होती तो ये बाते जिन-जिन लोगोपर आती हैं उन सबको दु:खी हो जाना चाहिये था, लेकिन दु:खी नही होते। निर्ग्रन्थ मुनियोके पास तो धन जरासा भी नहीं होता, उनके तन पर वस्त्र भी नहीं होते फिर भी वे दु:खी नहीं होते। तो बाहरी बातों को लोग विपत्ति समझते है लेकिन वे कुछ भी विपत्ति नही हैं।

जीव पर मिथ्यात्वकी महाविपदा—विपत्ति तो है जीव पर मिथ्यात्वभाव, अज्ञानभावकी। जिस-जिस जीवके मिथ्यात्व लगा है उस-उस जीवको नियमसे संसारमे जन्ममरण करना होगा। वहा मनमानी नही चल सकती। यहा बाहरी पदार्थोमे तो मनमानी भी चल सकती है। निर्धन होने पर कोई दु:खी नही है, कोई दु:खी होता है तो ये तो सब आश्रयभूत है जिनको लोगोने विपत्ति समझ लिया है, विपत्ति तो है जीव पर मिथ्यात्वभाव। अज्ञान लगा है, अपनी सुध नही है, बाहरी वैभवोको, देहको, सम्पदाको मानते है, अपनाते है, दृष्टि बाहरमे भ्रमण कर रही है, अपने आपकी ओर दृष्टि नहीं है। जैसे जलमे कोई पत्थर डाल दिया जाय तो जलमे लहर उठ जाती है ऐसे ही जीवके ज्ञानजलमे जब कषायोके डले पड़ रहे हैं तो इस ज्ञानजलमे तरगे उठतीं, क्षोभ होता। इसको नहीं देखता यह जीव। कोई सुध नहीं करता कि मै अकेला ही हू और अकेला ही रहूगा, मेरा कोई साथी नही। मै जैसी परिणति करूँगा उसके अनुसार मेरा भविष्य होगा। मेरे भविष्यको बदलनेमे कोई दूसरा समर्थ नही। मै ही अपना जैसा चाहे भविष्य बना लूँ। इसको नही देखता यह जीव। किसी परसे सम्बन्ध है कुछ नही, मिलता कुछ नहीं और लग रहा हैं परवस्तुओंके व्यामोहमे। जो मनुष्य आज दिख रहे है, जिनका कुछ सकोच करते हैं, जिनमे लोग अपनी पोजीशन समझते है वे सब मनुष्य हैं क्या? ससारमे भटकते हुए आये है, कहीं आकर इकट्ठे हो गए, ये जो जीव दिख रहे है वे कोई मेरे साथी नही है, न मेरा न्याय करने वाले है, न मुझे कुछ सहयोग दे सकने वाले है। ससारका स्वरूप ही ऐसा है कि सभी जीव अपने किए हुए करतबके अनुसार ही फल पाया करते है, तो यों दु:खमय अशरण असार भिन्न परवस्तुवोमे दृष्टि लगाकर हम अपने आपको बिलकुल भूल रहे है, दु:खी हो रहे है। यह सब एक मिथ्यात्वका दोष है, उस विपत्तिको तो देखता नहीं यह जीव और संसारकी जरा जरा-सी प्रतिकूलताओंको विपदा समझता है, जो कि कुछ भी बात नहीं है। कितना बोझ लगा रखा है? यह जीवन तिरने के लिए था। शुद्ध आचरण करके, शुद्ध ज्ञान रखकर, सत्य श्रद्धा करके अपने आत्मब्रह्मसे लौ लगाकर ससारसंकटोसे तिर जाने के लिए यह मनुष्य जन्म था, जिसको मोही प्राणी विषयोमे उपयोग देकर लोकमे यशकीर्तिकी चाहकर बाहरी नामकी बात लपेटकर व्यर्थ ख

रहे हैं। यह सब दोष किसका है ? मिथ्यात्वका, अज्ञानका।

स्वयके परिणमनका उत्तरदायित्व स्वयपर होनेसे स्वयके परिणामके समालकी शिक्षा—एक बाल्मीकि ऋषि हुए हैं। वे पहिले बहुत बड़े डाकू थे, जंगलोंमे जगह-जगह रहते थे और लोगोंसे धन लूटकर अपने घर पर धन भेजते थे। एक बार कोई संन्यासी उसी जंगलके मार्गसे निकला, तो उसके पास भी सोंटा, कमण्डल, कम्बल, लोटा आदि जो कुछ था सो छीन लिया और कहा कि तुमको पता है—हम बाल्मीकि डाकू हैं। हमसे छूटकर कोई जा नहीं सकता है। तो सन्यासी बोला कि आप बहुत ठीक कर रहे हो, पर एक काम करो, हम यहां पर इस सारे सामानको रखे रहेंगे, कहीं जायेंगे नहीं और आप अपने घर जाकर अपने घर वालोंसे हमारे एक प्रश्नका उत्तर पूछ आवो। बाल्मीकि बोले—महाराज क्या पूछ आयें ? तो संन्यासीने कहा कि देखो घर जाकर सबसे अपने विषयमे यह पूछना कि हम जो इतना-इतना अन्याय करके, दूसरोंको मारपीटकर, सताकर धन लूटकर लाते हैं, तो इसमें जो पाप लगता है उस पाप को कौन-कौन बाट लेगा ? बाल्मीकिने जाकर घर वालोंसे पूछा तो घर वाले कोई भी उस पापको बाटने के लिए तैयार न हुए। बाल्मीकिको ज्ञान जगा और जंगलमें उस सन्यासीके पास जाकर निवेदन किया, महाराज हम जितना जो कुछ अन्याय करके दूसरोंका धन लूटते थे और महान पाप करते थे उस पापको घरका कोई भी व्यक्ति बाटना स्वीकार नहीं करता। तो महाराज आजसे हम इस निंद्य कार्यको नहीं करेंगे और आप तो हमें भी अपना ही जैसा बना लीजिए। आखिर बाल्मीकि सन्यासी हो गए। तो यही उत्तर सबका है। कोई मोहवश झूठमूठ कह भी दे कि हाँ हम तुम्हारे पापमें सहयोगी होंगे, पर इतना सा कह देनेसे होगा क्या ? जो जीव जसा करता है उसको वैसा ही फल भोगना होता है। यह तो है स्थिति लेकिन यह जीव संसारमे अति दुर्लभ मनुष्यजन्म, श्रावककुल, संत समागम, जैन शासन जैसे वैभवको पाकर भी इसकी उपेक्षा कर रहा है और अपनी चिन्तामें, शल्यमे, विषयोंमे रम रहा है तो इसका फल कौन भोगेगा और उसका फल क्या है ? उसका फल यही है कि जैसे इस ससारमें यह जीव रुलता आया है उसी तरहसे रुलता चला जायेगा। इस जीवको यदि दु ख मिटाना है तो पहिले मिथ्यात्व को मिटाये। इस मिथ्यात्वको दूर किए बिना संसारके सकट मिट नहीं सकते।

इति संसारं जाणिय मोह सव्वायरेण चइऊण।
त झायह स—सरूव ससरण जेण णासेइ ॥७३॥

ससारानुप्रेक्षणसे लाभ लेनेका अनुरोध—यह संसार-अनुप्रेक्षा चल रही है। इस प्रकरणका यह अंतिम श्लोक है। इसमे आचार्य सम्बोधित करते हैं कि हे भव्य जीवो, ऐसे ससारको असार जानकर सब प्रकार से मोहको त्यागिये और अपने आपका जो स्वरूप है, सहजभाव है उसका ध्यान कीजिए, जिससे कि ससारका ससरण नष्ट हो जाय। इस छदमे चार बातोंपर ध्यान दिलाया है। पहिली बात तो यह है कि इस ससारके यथार्थस्वरूपको जान ले। जैसा कि इसमें वर्णन किया गया है। वह यथार्थ है, सत्य है कि यह ससार दु:खमय है और असार है। इसके लगावमें आत्माका पतन है, ऐसा जानें और फिर पूरे प्रयत्नके साथ मोहको त्याग दें, रंच भी परसे लगाव न रखें। छोडना है तो पूरा छोडे। तीसरी बात कह रहे हैं कि अपने आत्माके स्वरूपका ध्यान करें, मै ज्ञानानन्द स्वरूप हू, इसकी बारबार भावना करें। इस उपायसे ससारका यह परिभ्रमण मिट सकेगा। इसमे पूर्व पूर्व वचन उत्तर उत्तर वचनके लिए उपायभूत है। यह ससरण कसे मिटेगा ? आत्माका ज्ञानस्वरूपका ध्यान करने से यह ससरण मिटेगा। आत्माके सहजज्ञान स्वरूपका ध्यान कब बन सकेगा ? सर्वप्रथम सम्यक्त्व, व्रत, ध्यान आदिक सर्व उद्यमोसे मोहका त्याग करें और इस मोहके त्यागनेके उपायमे संसारकी असारता परखे। इस तरह इसमे उपदेश दिया गया कि इस संसारको असार जानकर सर्व प्रयत्नोसे मोहका त्याग करो, अपने आत्मस्वरूपका ध्यान करो।

अनुप्रेक्षा प्रवचन द्वितीय भाग

इक्को जीवो जायदि एक्को गब्भम्हि गिण्हदे देहं।
इक्को बाल-जुवाणो इक्को बुढ्ढो जरा-गहिओ ॥७४॥

अपने एकत्वस्वरूपको जाननेमें जीवका श्रेयोलाभ— यह जीव अपने स्वरूपमे अपने आप अकेला ही है। विश्वमे समस्त पदार्थ अपने-अपने अकेलेका ही स्वरूप रखते हैं। निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहीं लेश निशान। अपने आपके वास्तविक स्वरूपको 'यह मैं हूं' इस प्रकारकी प्रतीति बने, इससे भिन्न सब कुछ पर है, ऐसा विश्वास बने तब ही दुःखका कारण नहीं रह सकता है और जीव शान्त रह सकता है। यह जीव विकल्पोसे क्यों घिरा हुआ है, उसका कारण यह है कि अपने आपकी यथार्थ पहिचानमें इसकी दृष्टि नहीं और परको पर जान पाता नहीं, तब ज्ञानानन्द स्वभावी तो यह है ही। तो अपने ज्ञान और आनन्दकी बात तो चाहेगा ही, पर यह न जाननेसे कि मै स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, चाह लेना है परसे कि इससे मेरा ज्ञान बढ़े और इससे मेरा आनन्द हो। इस जीवकी ऐसी इच्छा बनी और यह पयोग अपने ज्ञानसमुद्रसे निकलकर बाहरको गया जिस उपयोगने अपने अधारका शरण छोड़ दिया, अब वह उपयोग बाहर निराधार रहता हुआ डोला करता है, उसका कही दूसरी जगह ठिकाना नहीं बैठ सकता। इस उपयोगका ठिकाना खुदका आधार ही है, वहाँ यह जाय, वहाँ एक रस होकर रहे तो वहाँ ही इस जावका उपयोग निस्तरंग रह सकता है, इसको विश्राम मिल सकता है। ऐसा किए बिना बाहरी पदार्थोके सम्पर्कमे चाहे कितना ही बाह्य वैभव मिले वहाँ अशान्त ही रहेगा। इससे अपने एकत्व स्वरूपका जानना अति आवश्यक है।

अपने एकत्व स्वरूपके दर्शनसे ही जीवका वास्तविक बड़प्पन— जीवका बड़प्पन ही इसीमे है कि वह अपने एकत्व स्वरूपको जान ले और प्रकारसे बढ़े हुए तो क्या हुआ? कोई सरकारी व्यक्ति बड़े ओहदेको प्राप्त करले तो क्या हुआ, धन वैभवमें भी कोई बड़ा हो गया तो क्या हुआ, किसी प्रकारसे बहुतसी विद्याये सीख लीं, बहुत प्रकारक एम० ए० पी०, एच० डी० आदि हो गए तो उससे भी क्या हुआ? और और किस्मसे भी बडे हो गए तो क्या हुआ? एक अपने आपके एकत्व स्वरूपका परिचय न पाया जा सका तो वह तो रंचमात्र भी नीव जहाँ नही ऐसा महल है, उसका टिकाव कैसे हो सकता है? अपना बड़प्पन है तो एकत्व, स्वरूपका परिचय होनेके कारण है अन्यथा हम कुछ भी बड़े नही है। इन बाहरी बातोंका क्या विश्वास? राजा भी मरकर कीड़ा बन जाता, कुत्ता भी मरकर देव बन जाता और इस ही भवमे कोई बहुत बडे ओहदे पर पहुच गया और कहां एकदम गिर जाय। कोई बड़ा अधिक हो और कहो थोड़े हा दिनोंमे गरीब हो जाय? तो इन बाहरी बातोमे बड़प्पन कुछ नही है, बड़प्पन तो है अपने आपके स्वरूपका परिचय पानेका। कितना स्व धीन अलौकिक अटूट भण्डार है स्वरूप परिचय नामका कि जब भी अशान्त हुए, आखे मिची, इन्द्रियोका व्यापार बन्द किया, भीतर अपने आपमे ज्ञानमात्र निहारा, लो सारे सकट टल गए तत्काल ही और कर्म निर्जरा हुई, भविष्यमे भी शान्तिका मार्ग मिला। तब यह निश्चय करिये अपन आपके सहज स्वरूपका परिचय पा लेना ही एकमात्र वैभव है, अन्य कुछ नहीं हैं।

मोहनिद्राके स्वप्नकी दशामे समागमकी सारताका भ्रम— यों तो स्वप्नमे भी बड़प्पनका दृश्य देख लिया जाता है। जैसे कोई घसिहारा घासका गट्ठा लिए हुए जा रहा था। थक जानेसे रास्तेमे किसी

पेड़के नीचे ककरीली जमीनमें सिरके नीचे कोई ईंट रखकर सो गया। सोते हुएमें वह स्वप्न देखता है कि मैं बहुत बड़ा राजा बन गया हू, बड़े-बड़े राजा लोग हमें नमस्कार कर रहे हैं। यों वह स्वप्नमें बड़ा खुश हो रहा था। इतनेमें किसीने जगा दिया और कहा— अरे उठो शाम हो गयी, घास कब बेचोगे ? वह घसियारा जगने पर देखता है कि वहाँ तो कहीं कुछ भी नहीं है। तो वह घसियारा उस जगाने वाले व्यक्तिसे लड़ने लगा कि तूने तो मेरा सब राजपाट छीन लिया। अरे तेरा राजपाट था ही कहाँ ? वह तो केवल एक स्वप्नकी बात थी ? तो ऐसे ही मोहकी नींदमें यहाँ ये स्वप्न देखे जा रहे हैं। भले ही आपके मकानकी रजिस्टी नगरपालिकामें है, उसे कोई दूसरा पा नहीं सकता, आपका जो धन बेंकमें जमा है वह भले ही आपके सिवाय और कोई निकाल नहीं सकता, उसपर आप अपना अधिकार समझते हैं। पर यह सब तो एक मोहकी नींदमें स्वप्नमें यह व्यवस्था बनी हुई है। सबने व्यवस्था बना ली है लेकिन स्वरूपत· देखो तो यह ज्ञानमात्र आत्मा जो आकाशवत् निर्लेप है उस आत्मामें इस धन वैभवका सम्बन्ध क्या ? यहाँ तो केवल बाहरमें कल्पनायें ही की जा रही हैं। यह तो मोही-मोही लोगोंके समूहके बीच एक व्यवस्था नहीं बनायी। मोहियोंकी व्यवस्था है यह कि यह मकान इनका है, इसपर दूसरेका कब्जा नहीं हो सकता। यह व्यवस्था तो इस मोही जगतकी है, वस्तुस्वरूपकी व्यवस्था नहीं है। वस्तुस्वरूपको देखो तो मैं आत्मा ज्ञानमात्र आकाशवत् अमूर्त, जिसका कोई जाननहार नहीं, जिसको कोई पहिचानने वाला नहीं उसका यहाँ क्या रखा है ? वह मैं एक हू।

एकत्वकी भावनामें समयकी सफलता— जो एकत्वकी भावनामें आयेगा वह अपना समय सफल कर लेगा, और जो परकी दृष्टि करके मानेंगे कि मैं, मैं इतने बच्चों वाला हू, ऐसी पार्टी वाला हू, ऐसे मित्रों वाला हू, इन बाहरी बातोंसे अपने आपको कुछ दुहरा सयुक्त कुछ मोटासा मानेंगे कि मैं अब इकहारा कहाँ रहा, अकेला कहा रहा ? मेरे साथ तो बड़ा वैभव है, बहुत लोग है, जो इस तरहकी बुद्धि रखेगा, वह अपना जीवन व्यर्थ खो रहा है। समय तो यों निकल रहा है जैसे किसी पर्वतसे निकलने वाली नदी का वेग चलना ही जा रहा है नीचेको, उसके ऊपर उठनेका काम नहीं, इसी प्रकार जो उमर गुजर रही है, वह तो गुजर ही रही है, उस उमरका वापिस होनेका काम नहीं है। तो थोड़े समयको यह मनुष्य जीवन मिला है। इस जीवनकी सफलता इसीमें है कि अपने आपके उस सही स्वरूपको जानें जो मेरेमें मेरे सत्त्वके कारण स्वय अपने आप है। वह है एक ज्ञानज्योतिमात्र। ऐसा मैं एक अकेला हू। अब इस एक अकेलेमें जो भ्रम लगा हुआ है उस भ्रमके कारण इस जीवके ये नानारूप हो रहे हैं। इस जीवकी नाना पर्यायें बन रही हैं, इसके विकल्पोंके भी नानारूप बन रहे हैं।

बहुविध रचनाओंका मूल हेतु—ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि यह ससारकी रचना बनी कैसे ? इसको ब्रह्माने बनाया जो कि एक है, नित्य है, सर्वव्यापक है। जब उसको यह विकल्प हुआ कि 'एकोहं बहुस्याम्' अर्थात् मैं एक हू बहुत हो जाऊँ, तो वह बहुत हो गया, सो नाना जीव बने, ये सब भौतिक पदार्थ बने। यह सब और है क्या, एक ब्रह्म ही तो है, यह उन ब्रह्माद्वैतवादियोंका कथन है, लेकिन हम किसी अन्य दार्शनिकोंके कथनको सुनकर एकदम नाक भौं सिकोड़कर घृणा करें, इसके बजाय यह जाननेकी कोशिश करें कि इसने कौनसा तत्त्व मूलमें ग्रहण किया होगा कि जिसके बाद भ्रममें आकर वह यहा तक पहुच गया। इस दृष्टिको निहारें तो हमारे तत्त्वकी दृढता भी होती है और समतापरिणाम भी बनता है। जैसे बहुत मजहब वाले धर्मवाले, दर्शन वाले पुरुष होते हैं और उनको निरखकर एकदम घृणा करने की प्रकृति बना लेते हैं, अपने को न जानकर धर्मको साबित करने वाले पुरुष, तो उसका फल उन्हें क्या मिलता है ? तब बजाय इस पद्धतिके हम यह पद्धति बनायें कि इस दार्शनिकने, इस मजहब वाले ने जो आज ऐसी प्रवृत्ति बनायी है और ऐसा सिद्धान्त रचा है, आखिर सबसे प्रारम्भमें वह कौनसी तत्त्वकी बात थी

क जहा पर कुछ थोड़ी सी भूल होने पर आज इस भूलमे आ गए, उसकी खोजके लिए जाना चाहिए।

विविध-विचित्र रचनाओके आधारका रहस्य—अब आप देखिये—ब्रह्माद्वैतवादी ने जो यह बात रक्खी कि इस जगतकी रचना यो हुई कि इस ब्रह्माने यह भाव किया कि एकोहं बहु स्याम् अर्थात् मैं एक बहुत हो जाऊँ, अब इसका आकार तकिये। प्रथम तो यहाँ यह निरखिये कि यह सर्वाद्वैतवाद है इनका इसको यदि विशिष्टाद्वैतवादमे ढाल दे तो इसका मर्म निकल आयेगा। सर्वाद्वैतका अर्थ यह है कि सारा जगत समस्त चेतन अचेतन पदार्थोका समूह पूरा एक है। यो अद्वैत है, विशिष्टाद्वैतका यह अर्थ है कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे अद्वैतमात्र है, एक है, तो अब विशिष्टाद्वैत की दृष्टिसे निहारिये, प्रत्येक आत्मा ब्रह्म है। ब्रह्म उसे कहते हैं जो अपने गुणोसे बढ़नेका स्वभाव रखता है। जीवका गुणविकास इस प्रकारकी पद्धतिको लिए हुए है कि जैसे कोई स्प्रिंग वाली कुर्सी है, उस पर कोई बैठ जाय तब वह दबी रहेगी लेकिन दबी रहनेकी हालतमे भी उस स्प्रिंगका स्वभाव तो उठने का ही है। वह दबाव हटे तो वह उठ जाती है। जीवमे ऐसा स्वभाव है कि विषय कषाय कर्म आदिकके कारण यह दबा है, इसका विकास नहीं है, लेकिन यह हर हालतमे विकसित होने का ही स्वभाव रख रहा है, बढेगा ही। आवरण जब दूर हो जाता है तो पूर्ण विकसित रहता है, फिर उस पूर्ण विकसित होने के बाद त्रिकालमे भी यह अवसर नही आता कि वह फिरसे घट जाय। इसी कारण इस आत्माका नाम ब्रह्म है। तो यह ब्रह्म अपने को एक देखता ही कहा है ? इस मिथ्यात्व और अज्ञान अवस्थामे यह अपने को एक अकेला स्वरूपमात्र निरख ही कहाँ रहा ? यह तो मै मनुष्य हू, तिर्यञ्च हू, अमुक ढगका हू आदि नाना रूपोमें अपने आपको तक रहा है। जब नानारूप तकनेकी आदत पडी है तो सारी रचना हो रही है, यही सारे जगतकी रचना जो आँखो दिख रही है इसमे जीवका सम्बन्ध है। जो देहधारी जीव हैं उनमे तो यह प्रकट मालूम हो रहा कि जीव है, तब यह शरीर बढा, शरीर बना आदिक बाते हो रही है किन्तु ये खम्भा, चौकी, पत्थर वगैरह ये भी तो जीवके ही शरीर हैं। जीव निकल गया, शरीरमात्र रह गया तो इसका भी यह आकार मूलत. बना कैसे ? जब यह सजीव था तब की महिमा है कि इसका यह आकार बना हुआ है। जीव निकलनेके बाद भी इसका वही आकार है। जैसे कोई मुर्दा पुरुष पड़ा है कही तो उस मुर्देका ऐसा आकार जो बना, वह कैसे बन गया ? जीव आया था, उनमें शरीर परमाणुओका संयोग बना, फिर अंगोपाङ्ग बने तो वह सब जीवके सम्बन्धसे ही तो बना, इस कारणसे यह सारा जगत इस ब्रह्ममें विवर्त है। यह एक ब्रह्माद्वैतसे अपने आपके मेल वाली दृष्टिसे बात कह रहे हैं और इसमे इस जीवने यह भाव किया कि यह मै बड़ा हू, यह भी हू, यह भी हू, सो इसकी सारी रचना चल रही है। इस रचनासे इसका बिगाड है, इससे सारे सकट ही आ रहे हैं, तो इन सब संकटोसे मुक्त होना है तो मूलमे अपने आपके एकत्व स्वरूपका परिचय पा लेना चाहिए। मै एक हू, अपने स्वरूपमात्र हूं।

वस्तुस्वरूप ही नही कि परसे कुछ मिले—जगतमे अनन्तानन्त पदार्थ हैं, अनन्तानन्त जीव और उससे भी अनन्तगुने अनन्तानन्त पुदगल परमाणु एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य, असख्यात कालद्रव्य, ये समस्त पदार्थ अपने आपमे अद्वैत अपने ही स्वरूपको लिए हुए है। घरके किसी बालकने बात न मानी। कोई बड़ा मित्र है, जिस पर बड़ा भरोसा रखते थे, आज प्रतिकूल हो गया तो इसमें कोई खेद करनेकी बात नहीं है। क्योकि वस्तुस्वरूप की ही बात हो रही। यह न सोचना कि गजब हो गया। अरे गजब कुछ नहीं हो गया, वस्तुस्वरूप ही यह गवाही देता है, प्रत्येक जीव अपना-अपना स्वरूप रख रहे हैं, वे मिलते भी हो तो अकेले ही तो हैं। वे कुछ भी व्यवहार करे, उन्होंने अपने आपमें अपने ही प्रयोजनके लिए अपने आपका ही तो कुछ किया। गजब कुछ नही हुआ हैं। उसके ज्ञाता द्रष्टा रहो—जाननहार रहो, बात ऐसी ही है। कोई परिवारमे, मित्र-मण्डलीमे किसीका मरण हो गया, यह मनुष्य विश्वास

नहीं रख रहा था कि ऐसी हालत बनेगी, यह गुजर जायेगा, मै अकेला रह जाऊँगा, इसे ऐसा विश्वास न था और हो गया अचानक तो कहता है कि अनहोनी हो गयी। अरे अनहोनी नही हुई, वस्तुस्वरूपको सोचिये यह घबड़ाता है। क्यों घबडाता है ? इसने पहिलेसे यह नहीं तय कर रखा था कि मैं तो अपने स्वरूपमात्र हू। जगतमे अनन्त जीव है, आते है, जाते हैं उनमे से ये कुछ जीव भी यहा आये और गए। इनका वही स्थान है, जो उन समस्त अनन्तानन्त जीवोका स्थान है जैसे कि वे गैर माने जाने वाले अनन्त जीव मुझसे अत्यन्त भिन्न है, रच सम्बन्ध नहीं है इसी प्रकार मेरे प्रसंगमें आये हुए, बहुत प्रिय लगने वाले ये जीव उतने ही जुदे है और निमित्त आश्रयकी बात पूछो तो जो गैर जीव है, जिन्हे गैर मान रखा है उनके कारण तो मेरा बिगाड हो नहीं रहा और जिन्हें अपना मान रखा है कुटुम्बी या मित्रजन उनके कारण, उनके विकल्पोसे मेरा बिगाड़ हो रहा है। अपने आपके एकत्वस्वरूपका यथार्थ बोध किए बिना शाति नहीं मिल सकती है। सर्व पुरुषार्थोसे इसी निर्णयमें लगिए, प्रयत्नमें लगिए कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हू।

समताकी परीक्षाके लिये अनुकूल घटनाओका आगमन--ये अनुकूल प्रतिकूल घटनाये परीक्षा ये है, मै ज्ञानमात्र हू, ऐसी मेरी श्रद्धा सही है या नहीं, इसकी ये परीक्षाये है। कोई मित्र प्रतिकूल हो गया, यह दु:खी हो रहा तो सोचो कि ये हमारी परीक्षायें हो रही है, हम अपने आपके एकत्वस्वरूपकी श्रद्धा लिए हुए है या नहीं। जैसे कोई पुरुष किसी चाकूकी धार निकाल रहा है तो कुछ धार निकालनेके बाद अपनी अगुली या पेन्सिल, लकड़ी आदिक पर उसको रखता है तो वह परीक्षा कर रहा है कि हमारी चाकूकी धार पूरी पैनी हुई या नहीं। कम पैनी नजर आयी तो फिर धार बनाली, फिर वह धारकी परीक्षा करता है, इसी तरह ये सब परीक्षायें है। अपने आपके एकत्वस्वरूपमें सही श्रद्धान करनेकी। ये प्रतिकूल वातावरण, ये बुद्धिया, ये अनिष्ट समागम, ये इष्टवियोग ये मेरे अनर्थ की चीजे नहीं हैं। ये सब निराले पदार्थ है। इनका उत्पाद, व्यय ध्रौव्य इनमे चल रहा है, इनसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है। ये सब परीक्षायें है। मै अपने श्रद्धानमे पूरा सही उतरा कि नही उतरा। इन इष्टवियोग, अनिष्ट सयोग आदिकमे यदि हमे खेद होना है तो समझिये कि अभी हम इन परीक्षाओंमे खरे नही उतरे अर्थात् अभी हम अपने आप को सही नही बना सके। अभी स्वरूपानुसारी बनने की ओर कोशिश करे। कुछ समय बाद हमने विजय प्राप्त की अपने आपपर कि जैसे पहिले इष्टवियोग अनिष्ट सयोग होते थे और उनमे बेचैनी बननी थी अब वह बेचैनी नहीं रही, अब हमने जरूर अपनेमे कुछ पाया है, हमको अभी थोडी धार और पैनी करनी है। तो इन बाहरी प्रसगोको अपनी परीक्षाका रूप दीजिए। ये सब विरोधी हो रहे है। अरे कुछ नहीं हो रहा। तो इन सब समागमोंके बीच हम अपने आपको इनमे मिला-जुला न समझे, किन्तु निराला अपने ज्ञानमात्र समझे। ऐसे इस एकत्वस्वरूप वाले जीवको ज्ञानानन्दमय स्वरूपका परिचय न होनेके कारण इसकी विडम्बना बन रही है।

जीवका अन्त बाह्य सर्वत्र अकेलापन--यह ससारी जीव बिगड़ रहा है, विकृत हो रहा है। कभी मनुष्य, कभी तिर्यञ्च, कभी देव, कभी नारकी इस तरह यह जीव बन रहा है। इसीके मायने है जन्म मरण। सो बिगड भी गया, तब भी देखो यह जीव अकेला ही तो जन्म लेता है, अकेला ही सुख दु ख मरण पाता है, वस्तुस्वरूप अब भी नही मिटा। वस्तुस्वरूप यही है कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे केवल अपना स्वरूप लिए हुए है, परिणमन खुदमे होगा, दूसरेमे न होगा। दूसरा न परिणमा देगा। वस्तुस्वरूप का मूल नियम तो सर्वत्र अकाट्य है, सो यह मलिन हुआ, ससारमे भव धारण कर रहा लेकिन यह अब भी अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही गर्भमे देहको धारण करता है। इसका कोई साथी नहीं है। अकेला ही तो यह बालक बनता है, अकेला ही जवान बनता है और अकेला ही बुढापा सहित होता है।

यह व्यवहार एकत्वका वर्णन चल रहा है। इसकी भी बुनियाद निश्चय एकत्व है। यदि उस बुनियादमे ही खोखलापन हो, मूलमें ही पदार्थ किसीसे मिल-जुल जाय तो यह व्यवहारका भी अकेलापन नही रह सकता है। फिर तो दो चार जने मिलकर जन्म ले और दो चार जने मिलकर मरण करे ऐसा प्रसंग आ जायेगा। किसी मित्रका बहुत घनिष्ठ प्रेम हो और वह एक का मरण देखकर विह्वल होकर तुरन्त मर जाय, उसी मिनटमे दोनों मरे तो बताओ कि वे दोनो एक साथ मरे कि अकेले-अकेले ? अकेले अकेले ही मरे। एक मनुष्य दुःखी है, उसका मित्र, कुटुम्बी, रिश्तेदार उससे मिलने आया, मानो इष्ट वियोगसे दुःखी है तो आते ही उससे मिलने ही यह भी बड़ा दुःखी हो गया और दोनों हृदयसे लगकर रोने लगे तो बताओ कि वे दोनों मिलकर एक साथ दुःखी हो रहे या अकेले-अकेले ? अरे वे तो अकेले अकेले ही दुःखी हो रहे। वे दोनो अपने अपने में अपना-अपना परिणाम बना रहे हैं। तो सर्वत्र यह जीव अकेला ही है, अकेला ही जन्म लेता और अकेला ही मरण करता है।

जन्मसंकटसे मुक्ति पानेका लक्ष्य बनानेका अनुरोध—जन्म इस जीवके लिए बहुत बड़ी बुरी बाधा है। मरणसे भी विकट बाधा जन्मकी है। मरण बुरा नहीं, जन्म बुरा है। मरकर फिर जन्म न हो यह बात कितनी भली है, और कदाचित् ऐसा हो जाय कि संसारमें जन्म लेकर मरण न हो तो क्या होता ? (होता तो नहीं ऐसा पर कल्पना करके मान लो) सारे जीवन भर दुःखी रहता। इस जीवन मे धरा ही क्या है ? अब दूसरी बात देखिये—मरणके बाद मुक्ति है, जन्मके बाद मुक्ति नही है। मरण हो गया, अब जन्म नहीं होना है इसीके मायने है निर्वाण। मरणके बाद पवित्रता आती है। जन्मके बाद पवित्रता नहीं आ सकती। जो जीव जन्म रहा है वह बड़ी विडम्बनामे फस रहा है और देखिये तो सही कि गर्भसे निकलते समय बच्चेको कितनी वेदना होती है ? वह तो हो रहा है उत्पन्न होते समय दुःखी और यहाँ बज रहे है ढोल। सब लो खुशी मना रहे है। अरे जिसके लिए खुशी मना रहे है उसकी तो बड़ी बुरी दशा है। वह इतना कोमल है कि एक कंकड़ भी अगर उसके शरीर पर आये तो शरीरमे घुस जाय, ऐसा अशक्त है। वह उसके लिए खुशी कोई नहीं मना रहा, खुशी मनाते है लोग अपने विकल्पमें अपने मोहमें। यह जीव तो अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरण करता है। बचपन, जवानी, बुढापा आदि सभी अवस्थाओंमे यह जीव अकेला ही है। ऐसा जानकर बाह्यमे मोह रागद्वेष छोड़कर कुछ अपने आपकी भी दया करनी चाहिए। मेरा ज्ञानप्रकाश मुझमें बने, जिससे ये संसार संकट जन्म मरणकी परम्परा सदाके लिए नष्ट हो।

इक्को रोई सोई इक्को तप्पेइ माणसे दुक्खे।
इक्को मरदि वराओ णरय—दुहं सहदि इक्को वि ॥७५॥

सहज एकत्वस्वभावकी साधनाके शासनका महोपकार—यह जीव अपने आपके सहजस्वरूपमे ही है, इस प्रकारका ज्ञानविकास देने वाले इस जैनशासनका कितना हम पर उपकार है कि जिसके एवजमे हम कुछ भी आभार प्रदर्शन करने मे समर्थ नहीं हो सकते। संसार है, मायाजाल है, फसाव है। कैसा श्रेष्ठ मन पाया, कैसी प्रतिभा बुद्धि ज्ञान पाया, ये सब कुछ पाकर भी यदि इन भिन्न अहित असार बाह्य पदार्थोंके के लगावमे उपयोग बनाया तो यहां तो कुछ लाभ है ही नहीं, कुछ सिद्धि है नही और आत्म की बात, सिद्धि सब दूर हो जाती है। फिर वही जन्म मरणका चक्र चलता रहेगा और यह जीव दुःख भोगता रहेगा। तो ऐसे उपयुक्त समयमें बुद्धिमानी यह होगी कि हम अपने आपमे बल लगाकर, अपने आपमे दृष्टि देकर गुप्त ही गुप्त अपने आपकी भावना बनाये रहे। हमारी दृष्टिमे हमारा वह सहज ज्ञानस्वरूप अधिकाधिक आता रहे, यह साधना यदि बन सकी तो समझ लीजिए कि हमारा यही शरण है। यही हमें संसारके समस्त संकटोंसे छुड़ा देने का मूल उपाय है। संसारमे दृश्यमान जो भी लोक समूह है ये सब

पुरुष, ये सब लोग मेरे कुछ नही है, ये ससारमे भटकते हुए कर्मोके प्रेरे जीव आज यहां मेले हो गए, इनसे कुछ सम्मान चाहें तो यह कितनी बेहूदी बात है ? जैसे स्वप्नमे जो कुछ भी बाते घटित होती हैं वे सब बेहूदी बाते है, उनसे कुछ इस आत्माको मिलना नहीं है। इसी तरह इस मोहमे कल्पनामे जो बात बन रही है, बनायी जा रही है इस आत्माके लिए बेहूदी और बेतुकी बात है। तो ऐसे अज्ञान अधकार से हटकर ज्ञानप्रकाशमे ले जाने वाले ये वचन, ये शास्त्र, यह जिन-शासन, ये ही मेरे माता पिता है, मेरे गुरु हैं, मेरे रक्षक हैं, मेरे शरण है, सर्वस्व हैं।

आत्मैकत्वस्वभावके निरखनेपर विकल्पविपदावोका विनाश—यहा यह बताया जा रहा है कि आत्मा अकेला है इसका स्वरूप भी एकत्वरूप है और इसका परिणमन भी एकमे ही है। जीवमे जो भी अवस्था बनती है उसमें अकेले में ही बनती है, दूसरा कोई पदार्थ इसमे साधक नही। कल्पना करो कि हम इस देहको छोडकर अन्य किसी कुटुम्बमे जाकर पैदा हो गए तो फिर यहांके कुटुम्बियोसे हमारा मोह रहेगा क्या ? कुछ भी तो इन परिजनोंसे फिर लगाव न रहेगा। जैसे यहांसे मरकर जीव किसी जगह पहुचे तो इसमें पिछले भवके कुटुम्बियोसे इस जीवका कुछ बिगाड तो नहीं, कुछ सम्बन्ध तो नहीं, ऐसे ही समझलो कि इस भवसे पूर्वभवमे जिन-जिनके भी समागममे हम थे उनसे भी हमारा कुछ बिगाड न था, कुछ सम्बन्ध न था। यहाँ भी आज जिन समागमोके बीच है उनसे हमारा कुछ बिगाड नही, कुछ सम्बन्ध नही, उनसे हमे कोई अड़चन नही आती, उन्हे जो है सो बने रहने दो, एक केवल शुद्ध दृष्टि बनाने भरकी बात है, बस सारे संकट दूर हो जाते है। लोग सबसे बड़ी विपदा यह मान लेते है कि जब हम इन लोगो के बीचमे रह रहे है तो इनमे हमारी शान क्यो न रही, इनके बीच हमारी पोजीशन क्यो न अच्छी बन सकी ? अरे इन ससारी प्राणियोसे क्या अपने बडप्पनकी चाह करना ? मान लो सारा जहान भी आपकी निन्दा कर रहा हो तो आप अपने स्वरूपके दृढ किलेमे बैठ जाइये, फिर वहा कोई प्रहार कर सकता है क्या ? उस अतरतत्त्व पर तो किसी का प्रहार नहीं चलता। वह तो स्वतन्त्र है, अपने स्वरूपसे निश्चल है। यह स्वभावत अविकार है, उस अविकार ज्ञानस्वरूपकी ओर लगाव बने तो फिर इस जीवका कुछ भी बिगाड़ नही हो सकता। यह जीव यदि परसे अपना कुछ लगाव न रखकर अपने अन्तःस्वरूपकी रक्षा करे तो घाटेमे न रहेगा, लाभमे ही रहेगा। लोग तो सासारिक चीजोमे हानि लाभका हिसाब लगाते है पर इस हानि लाभके हिसाबसे जीवका कुछ भी पूरा न पडेगा।

रोग शोक आदिमे सर्वत्र जीवका अकेलापन—जीव सर्वत्र अकेला है, अकेला ही रोगी होता है, अकेला ही शोकी होता है, अकेला ही मानसिक दुखोसे दुखी होता है, अकेला ही मरता है और बेचारा अकेला ही रहकर नरक दुखको सहता है। ये बाते जीवनमे रोज रोज प्रयोगमे आ रही है। यदि किसीका सिर भी दुखने लगे तो उस दुखको वह अकेला ही सहन करता है, घरका कोई भी व्यक्ति उस दुखको बाँट नहीं सकता। एक राजा था, वह जंगलमें किसी प्रयोजन से गया तो वहाँ पर एक नई उम्रके मुनिराज प्रसन्न मुद्रामे बैठे हुए दिखे। राजाने मुनिराजके पास जाकर नमस्कार किया। राजाको मुनिराजके अकेलेपनकी दशाको देखकर दया आयी कि देखो न इनके साथ कोई साथी है, न इनके पास कोई खाने पीनेका साधन है। तो राजाने कहा महाराज आप यहा अकले क्यो बैठे है ? आपका नाम क्या है ? तो मुनिराज बोले कि मेरा नाम है अनाथी मुनि। तो राजा बोला-हे मुनिराज! आजसे आप अपने को अनाथी न कहना। आजसे मै आपका नाथ हुआ। तो मुनिराज बोले—आप कौन है ? तो राजा बोला—महाराज आप शका न करे, मै राजा हू। सैकड़ो गाँवोमे मेरा राज्य है, सेना है, बडा वैभव है, आप सन्देह न करिये कि यह मेरी रक्षा कर सकेगे या नहीं। आजसे मै आपका नाथ बन रहा हूं, तो अनाथी मुनि बोले—कि ऐसा तो पहिले मै भी था, राजपाट वैभव सामग्री तो मेरे भी थीं। तो राजाकी आँखें खुलती है और

कहता है कि आप इतने बड़े वैभव वाले होकर भी यहाँ जंगलमे अकेले कैसे रह रहे? आपको वहा क्या तकलीफ थी? जो सब कुछ छोड़ छाड़कर आप यहां आये हैं। तो मुनि बोलते है कि एक बार मेरे शिर मे बड़ा बिकट दर्द हुआ, सबने मीठा बोला, अन्य यत्न किये, किन्तु मेरे दर्दको कोई बाट न सका। उस समय मैंने सोचा कि ये पुत्र मित्र स्त्री आदिक कोई भी मेरे दर्दमे सहायक नही हो रहे, मेरे सिर दर्दको नही बॉट सक रहे, मुझे अकेला ही सहना पड़ रहा है। उस समयके विचारसे मुझे वैराग्य आया सो सब कुछ छोड़ छाडकर मैं यहां रह रहा हू।

सताप मरण आदिमे किसी की सहयोगिताका अभाव—भैया! आप भी अनेक बार प्रयोग कर चुके होंगे कि जब भी व्याधिजन्य वेदना होती है तब अकेलेको ही भोगनी पड़ती है। दूसरा कोई इसमे मदद-गार नहीं बन सकता। जब शोक होता है तो यह अकेला ही शोकमे पड़ता है। घरके लोग तो खुश हैं जिनके लिए यह शोक कर रहा हैं, चिन्ता कर रहा है, वे तो जरा भी चिन्तित नहीं हैं। यह तो उन घर वालोंके लिए चिन्ता कर रहा और वे घर वाले मौज कर रहे, हँस रहे, उन्हें कुछ परवाह ही नहीं। तो यह जीव शोकी होता है तो अकेला ही तो होता है। जब जब भी कोई मानसिक व्यथा जगती है तो यह अकेला ही तो सतप्त रहता है। कोई दूसरा तो उसके साथ संताप नहीं करता। यह लोक-व्यवहारकी दृष्टि से जीवका अकेलापन बताया जा रहा है। यहाँ व्यवहारमे भी देखलो—सब बात जीवपर अकेले ही पड़ रही है। मरता है तो भी अकेला कोई साथ नहीं निभाता। भले ही कोई मोहवश अपने प्रियके मरनेपर शोकातुर होकर मर जाय तो मर जाय, वह भी अकेला, यह भी अकेला ही मरा। मिलजुलकर तो कोई नहीं मरता। निगोद जीव ऐसे होते हैं जो अनन्त जीव एक साथ मरते हैं, एक साथ उत्पन्न होते है। उनका एक शरीर रहता है औदारिक शरीर और जीव है अनन्त। तो अनन्त जीवोका एक शरीर है। एक साथ मरते है, एक साथ जन्म लेते है। तो कोई यह कहे कि हम लोग तो मिल जुलकर नहीं रह सकते, हम लोगों का तो सबका अकेला ही अकेला परिणमन है, निभाव है, मगर निगोद जीवो को देखलो—एक साथ मरते और एक साथ पैदा होते हैं और शरीर भी देखो तो एक तो यह कैसे कहा जा सकता कि जीव का कोई साथी नहीं है। देखो निगोदमें एक जीवके अनन्त जीव साथी हो रहे हैं। भैया! वहां भी साथी किसीका कोई नही हैं। वे एक साथ मरने वाले भी अनन्त जीव अकेले अकेले ही मरण कर रहे है। औदारिक शरीर भले ही एक है। लेकिन तैजस शरीर, कार्माण शरीर सब जीवोंके न्यारे-न्यारे हैं। सभी जीव अपने अपने आयुकर्मके क्षयसे ही मरण कर रहे है और अपनी ही अपनी आयुके उदयसे जीवित होते है। वहां भी यह नियम नहीं कि वही मरे, वही पैदा हो, कहीं चला जाय? यह जीव अकेला ही मरण करता है।

कषायके अनुरूप कषाय मिलने तक ही प्रेमका रूपक—एक देवरति राजा था, उसे अपनी रक्ता रानी पर बहुत प्रेम था। उस रक्ता रानीके प्रेममें उसने मन्त्रियोके कहने पर सारा राजपाट छोड़कर जगलमे रहना स्वीकार किया। सो वे राजा और रानी किसी जंगलमें जाकर एक रातको बस गए, तो राजा तो गया कुछ भोजन सामग्री लेने और यहा खेत पर चरस हांकने वाले किसी लगडे लूले कुबडे किसान का सुरीला गाना सुनकर रक्ता रानी उसपर आसक्त हो गयी और उसके पास जाकर बोली कि आप पर हमारा बड़ा अनुराग हुआ है। आप हमारे संग अब जीवन निर्वाह कीजिए। तो वह किसान बोला—अरे कहा तो तुम रानी और कहां मै किसान, यदि राजा इस बातको सुनेगा तो वह हमें मरवा देगा। तो रक्ता रानी यह कह कर वहांसे लौट आयी कि आप इसकी चिंता न करना। आखिर रक्ता रानी अपनी झौंपड़ीमे आयी और उदास होकर बैठ गयी। जब राजा देवरति आया और उसके उदास होने का कारण पूछा तो रक्ता-रानीने बताया कि आज आपका जन्मदिवस है। यदि आप इस अवसर पर महलोंमे होते तो मैं बडा ही

अच्छा उत्सव मनाती। तो राजा बोला— तुम यहाँ ही जैसा चाहे उत्सव मनाओ। आखिर रक्ता रानी जंगलोंसे बहुतसे फूल तोडकर लायी, एक वडे मजबूत तागेसे वड़ी लम्वी माला वनायी और एक ऊँची पहाड़ोकी चोटी पर राजाको ले जाकर वैठाया। वहाँ राजाको पहिले तागेसे कसकर वाँध दिया, वादमे एक तेजीका धक्का मारा तो राजा लुढकता लुढ़कता नदीमे जा गिरा। तो यहाँ अकेलेपनकी वात निहारो कि कोई किसीका साथी नहीं है, जब तक कषायसे कषाय मिलजुल रही है तब तक तो दुनियाका साथ है। जव एकके कषायसे विपरीत कषाय वनी तो वह उसका साथ छोड देता है।

अकेले स्वयको ही दु खभागी जानकर दु खके साधनोसे हटनेका विवेक— यह जीव अकेला ही मानसिक दु:ख सहता है, अकेला ही मरण करता है, अकेला ही नारकी दु:ख सहता है। नरकमे जन्म लेनेके वाद वह नारकी विचारता है कि जिस कुटुम्वके कारण जिन जिनके लिए मैंने पाप किया था अब उनमेसे कोई भी यहाँ साथी नही नजर आता। सारा दु:ख अकेले वह सहन करता है। क्षणमात्रको भी चैन नही, ऐसे नरक दु खोको भी यह जीव अकेला ही सहता है। ऐसा है यह अपने आपका स्वरूप, ऐसा समझकर धर्मकी ओर कुछ विशेष उपयोग करना चाहिए और यह वात तव ही वन सकती है जब कि हमारा व्यवहार भी सुलझा हुआ हो। जहाँ कुछ अन्याय हो, वेइमानी हो, छल कपट पूर्ण व्यवहार हो तो ऐसी वृत्तिसे संसारके वधनोमे कमती नहीं हो पाती। अपनी वृत्ति सरल रहे, सामान्य रहे, उदयानुसार जो कुछ होता है उसीमें तृप्त रहें। भक्ष्य अभक्ष्यका विवेक रखे। जिन चीजोके खानेसे त्रस जीवोका घात होता है और अनन्त स्थावरोका घात होता है उन चीजोके खाये विना जीवन न चलेगा क्या? अरे भक्ष्य पदार्थोंके खानेसे ही जीवन चलता है, वलिक उन अभक्ष्य पदार्थोंके सेवनसे स्वास्थ्य भी विगडता है। सामान्य वातोंमें भी जो धर्मके लिए व्यावहारिक है। प्रमाद करते हो तो हम आत्मकल्याणमे क्या गति कर सकते है? रात्रिभोजन एक अभक्ष्य भोजन है और मासभक्षणके समान दोप वाला भोजन है। लेकिन इतनी कमजोरी रखे कोई कि अजी मेरी नहीं चलती। क्यो नहीं चलती? दिनमें एक बार भी क्या उन्हें खाना नही मिलता। कभी ऐसा भी हो कि दिनमे एक वार ही खाना मिल पाता है, शामको खानेका मौका नही मिलता है तो एक वारका भी भोजन जीवनमे वहुत उत्तम रहता है। उसे वीमारीके प्रसग भी वहुत कम हो सकेंगे। कुछ इसका भी साहस रखना चाहिये, अरे दिनमे दो तीन वार भोजन का योग सवके लगा हुआ है, एक आदतकी ऐसी वात है कि लोग रात्रिको खाते है। यह एक कितने दोप वाली वात है। तो हम आप जो कोई सामान्य नियम भी नही पाल सकते। प्रभुका जो उपदेश है उस पर रच भी चलना नहीं चाहते और प्रभुका गुणगान खूब करे तो यह तो वैसी ही वात है जैसे एक कहावत है कि आपकी वात तो सिर माथे मगर पनाला यहीसे निकलेगा। प्रभुसे तो हम आप खव कहते है कि हे प्रभो! तुम धन्य हो मुझे तार देना और प्रभुका जो उपदेश है कि अभक्ष्य पदार्थोंका त्याग करो, नियम सयमसे रहो, तत्त्व चिन्तन करो, ज्ञानार्जन करो, तो हे प्रभु यह कुछ न होगा, पनाला तो यहींसे निकलेगा। रति तो विषय कषायोसे ही रहेगी। यदि ऐसी वात है तो वतलावो प्रभुकी भक्ति कहा की? अरे धर्मकर्तव्य जो कर सके सो करे, जो नहीं कर सकते उसका खेद माने। प्रभुकी आज्ञा नही पाल सकते हों तो उसका खेद माने। अनेक पुरुष तो विना ही व्रतोका मखौल उड़ाते हैं, अजी हम तो ढोंगी नही हैं, हमारा तो रातका भी खाना पीना चलता है और एक शानसी समझते है तो वतलाओ कि उन की क्या गति होगी जिनको प्रभु शासन श्रद्धा नही है। इस प्रभु शासनका कोई वदला नहीं चुका सकता। जिस भव्य जीवको अपने आपके स्वरूपकी झलक हुई है इस अनुशासनमे रहकर वही पुरुप समझ सकता है कि मेरा सर्वस्व तो यही है अन्य कुछ नहीं है।

स्वाधीन स्ववैभवकी परख करने व अनधिकृत वस्तुपर अधिकार न जमानेमे भलाई— अपने आपके एकत्व

स्वरूपको निहारे और आनन्दमय हों। आनन्द अन्यत्र न मिलेगा। कितनी ही उपाधियाँ आयी हों, कितनी ही उलझने आयी हों, उनको एक ज्ञानप्रकाशसे तुरन्त सुलझा देगे और सुलझाना भी क्या, यथार्थ समझ जाना है कि यह नहीं है सही, ऐसा होता है होने दो, हम तो उसके ज्ञातादृष्टा हैं। मेरा काम एक जाननहार, देखनहार रह सकनेसे तो हो सकता है ब्रह्मपर्यायमें, किन्तु कुछ सुधार बिगाड अनुकूल प्रतिकूल बना देनेका नहो हो सकना। अधिकृत बातपर अधिकार जमाना यही क्लेश है, जो अधिकृत बात है, हमारे आधीन नही है उसपर अपना अधिकार रखना यह अपनी अशान्तिके लिए है, यहाँ दूसरेके घरपर कोई अधिकार जमाने चले तो क्या उसपर डंडे न लगेंगे? वह अपना अधिकार नहीं जमा सकता। ऐसे ही समझिये कि यहां परघर पर अधिकार जमाना चाहते हैं। जिस घरमें रहते हैं वह परघर है, जिस कुटुम्बमे रहते वह पर है, जिस ढगमे रहते वह पर है, उसमे हम जब विकल्प लगाते, अधिकार जमाना चाहते, कुछ परिणमन कराना चाहते तो यह अनधिकृत बातपर अधिकार जमानेकी बात नहीं है क्या? इसमे शान्तिका मार्ग न मिलेगा। ज्ञातादृष्टा रहनेमे ही शान्तिका लाभ हो सकता है।

लौकिक जनोमे परिचय इज्जत आदिका भ्रम— अहो, यहाँ मेरा पहिचानने वाला कोई है भी तो नहीं। मै हू भीतर एक ज्ञानस्वरूप ज्ञानमात्र, सब सोचिये अपने अपनेमे। मै ज्ञानस्वरूप ज्ञानमात्र आकाशवत् अमूर्त निर्लेप बन्धनमें न आ सकने वाला हू। जब मै देहको छोडकर जाता हू तो चाहे बड़ा कितना हो, खूब बन्द मकान हो, सारा कुटुम्ब खूब घेर लेवे कि हम तो न जाने देंगे तो भी किसीका वश चलता है क्या? ऐसा यह मै एक अमूर्त आत्मा हूं। उसे निरखकर मेरेसे कौन व्यवहार करता है? यहाँ तो मायाकी मायासे पहिचान हो रही है। माया ही मायासे बोलचाल कर रही है, ये सब मूर्तियाँ भवमूर्तियां है, ये संसारकी मूर्तिया है। वे भवमूर्ति भवमूर्तिसे व्यवहार कर रही है। मेरा न कोई सम्मान कर सकता, न कोई अपमान कर सकता, न कोई मुझे सुख दे सकता, न दुःख दे सकता। यहा तो मैं सबसे निराला अकेला ही हूं, यहां जिस शरीरको देख देखकर लोग रीझ जाते है वह शरीर मायारूप है, अपने शरीरको देखकर रीझते हैं, दर्पणमे मुख देखे बिना रहा नही जाता, जब चाहे देख लिया और जब चाहे तेल लगाकर कघी ओछकर मुखपर खूब हाथ घसीटकर अपने को देखते है कि मै कैसा ठीक बन गया हू, देखकर खुश हो जाते, मुस्कान भी आ जाती। अरे ये सब कितनी बेहूदी बाते की जा रही है। कौन तो यह और किसको देखकर रीझ रहे। दूसरेके शरीरको देखकर रीझते हैं तबका बेहूदापन देखो—कितना अपने आपको कायर बना डालते, आधीन बना देते। यह कितनी बेहूदी बात है कि यह सहज परमात्मतत्त्व, जिसका स्वरूप सिद्ध समान है, प्रभुवत् है और वह कैसा विडम्बनामे पड़ जाता है? तो यहाँ तो सब मायाकी मायासे पहिचान हो रही है। जिसका लोग सम्मान करते हैं वह मै नही हू। जिसको लोग समझते हैं वह मै नही हू, ऐसे अपने अलौकिक स्वरूपमे अपनी दृष्टि जाये बस समझिये वह तो ससार सकटोसे पार हो गया।

सकटमोचक ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमे आत्मलाभ— सकटमोचक ज्ञानस्वभावकी दृष्टि पानी है कितनी कीमती चुकाकर? अरे तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करके भी अपने आत्माके ही स्वरूपदर्शनकी बात पानी है। कुछ न रहो, केवल एक स्वरूपदर्शन ही तो समझिये कि मुझे सब कुछ वैभव मिल गया। मै स्वरूपमे एक हू, मेरा स्वरूप किला बहुत दृढ है। इसमे किसी दूसरेका प्रवेश नहीं हो सकता। यह मै हू, दूसरी चीजोंको दिलमे बसा-बसाकर बोझ वाला बन रहा हू। यह स्वयं निर्भर है, वह एक ज्ञान ज्योतिस्वरूप है। उसमे बोझ नहीं है। विकल्पोंका बोझ हमने अज्ञानसे स्वय लादा है। जब कभी प्रेमवश किसीकी इसके अनुसार हम उलझनमे आ जाते है, चिन्तामे आ जाते है तो उस चिन्ता मेटनेका जरासा ही तो उपाय है। उस मोहको छोड दिया जाये बस सारी चिन्तायें दूर हो जायगी। मे

छोड़नेके मायने है सत्य ज्ञानप्रकाश करले। सच्ची वात जाननेमे कसूर है क्या? सच्ची वात जाननेमें कुछ मेहनत हो रही है क्या? कोई अड़चन है क्या? सच्ची वात जाननेकी तो भीतरमें प्रकृति पड़ी हुई है। असत्यको देखकर हम राजी होते हैं सत्य समझकर। तो यथार्थत' सत्यका निर्णय करता है यही मोह का त्याग है। मै मै हू, पर पर है, मेरा किसी परसे कोई लगाव नहीं है। मैं अपनेमें उत्पाद व्यय किये चला जा रहा हू। ऐसा यह मै एक हू, ऐसे अपने एकत्व स्वरूपको निरखना यही है आत्मकल्याणका विफल न हो सकने वाला एकमात्र साधन। उस एकपनेको मैं निहारूँ और सर्वसकटोंसे मुक्त होऊँ।

इक्को संचदि पुएणं एक्को भुंजेदि विविह-सुर-सोक्खं।
इक्को खवेदि कम्मं इक्को वि य पावए मोक्खं॥७६॥

पुण्यसचय व सुखोपभोगमे भी अन्य सहयोगिताका अभाव— यह जीव सर्वत्र अकेला है, ऐसे निरीक्षणसे ही इस जीवको शान्ति मिल सकती है। अज्ञानी जीव तो मैं अकेला रह गया ऐसा सोचकर दु खी रहते हैं और ज्ञानी जीव जब एकत्व स्वरूपको निहारता है यह मैं अमूर्त ज्ञानमात्र इतना ही हूं, मेरा सत्त्व मेरे मे ही है, मेरा उत्पाद व्यय ध्रौव्य मेरेमें ही है, मुझसे वाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है। इस विचारसे ममता का नाश है। इस कारण ज्ञानीको वड़ी तृप्ति और शान्ति मिलती है। अज्ञानी जीव तो अकेला रह जाने पर समझता है कि अब तो मेरा कोई सहयोगी न रहा, मैं अब कैसे सुखी हो सकूँगा, सभी काम जीवमें अकेलेमें ही चल रहे हैं। जब यह जीव शुभ परिणामोसे परिणमता है तब भी अकेला ही परिणमता है, कितने ही मित्रजन हों, यह जीव दूसरेका शुभ परिणाम बना नहीं सकता। दूसरेकी भलाई करनेका भाव हो तो यह भलाई नहीं कर सकता। भलाई होती है शुद्ध परिणामोसे। कोई किसीको शुद्ध परिणामो के देनेमें समर्थ नहीं है। सबको अपने आपके बलपर खड़ा होना होगा। किसीकी आशा करना व्यर्थ है। शान्तिकालमे कोई दूसरा सहायक नहीं होता। यह जीव जब शुभ परिणाम करके पुण्यका संचय करता है तो अकेला ही करता है। घरमें अनेक कुटुम्बीजन है किन्तु सभीके परिणाम सभीके पुण्य पापकर्म भिन्न-भिन्न हैं, कोई एक जीव किसी दूसरे जीवमें पुण्यकर्म अथवा पापकर्म उत्पन्न नहीं कर सकता। यह जीव अकेला ही पुण्य पाप आदिके परिणाम करता है और अकेला ही उनका वध करता है।

अन्यायके फलोपभोगमे अन्य सहयोगिताका अभाव— परिवारका कोई व्यक्ति अन्यायसे धन सचय करे और उससे अपने कुटुम्बका पालन पोषण करे तो लोग तो कहते कि यह अन्यायसे धन कमाता तो है पर इसको घरके सभी लोग खाने पीने पहिनने ओढने आदिके काममे लेगे इस कारण घरके सभी लोग पापके अधिकारी होंगे, लेकिन सिद्धान्त यह कहता है कि घरके वे सभी व्यक्ति जिन्हें यही नहीं पता हैं कि किस तरहसे कमाई की जाती है न्यायसे अथवा अन्यायसे तो उनको पापका बध नहीं है। उन्हें भी यदि विदित हो जाये कि यह अन्यायसे धन कमाकर लाता है और हम लोग उसका भोग करते हैं तो फिर उन्हें भी पापका बध होगा। लेकिन जो अन्याय करके धन कमाता है उसके तो हर हालतमें पापका बध होगा। उसके बधको कोई दूसरा बाट नहीं सकता। यह जीव अकेला ही शुभ परिणाम करता है और अकेला ही अशुभ परिणाम करता है। उन परिणामोके फलमें, (पुण्य अथवा पाप परिणामके फलमें) यह जीव नाना प्रकारके देहोको धारण करता अथवा दु ख भोगता है।

सुरसुखमे भी शान्तिका अभाव— देवगतिके सुखोंको अज्ञानी जीव बड़ा उत्तम मानते है। भला ही उनका वैक्रियक शरीर है, उनके शरीरमें हाड, मांस, खून आदिकका काम नहीं, हजारो वर्षोमे भूख लगती अनेक पखवारोमें श्वास लेते, उनका सुन्दर सुडौल शरीर, आयुसे पहिले उनका मरण भी नहीं होता, किसी प्रकारका कोई बाहरी दु ख नहीं है, कभी कोई रोग नहीं होता, शरीर सदा चगा रहता है। बचपन का भी दु ख देवोंको नहीं भोगना पड़ता, क्योकि अन्तर्मूहूर्तके बाद ही उनका शरीर जवान हो जाता है।

तो कितने सुख हैं देवगतिमे ? उनमें अज्ञानी जीव खुश होते हैं, लेकिन अन्तः तो देखो, इन सुखोंके लोभ मे रहने वालेको देव अपने आत्माके स्वरूपकी सुध नही रख रहे है। बाह्य सामग्रिया भले ही इन्हें प्राप्त है पर उन्हें सन्तोष नही होता। यहाँ भी तो अनेक मनुष्य ऐसे नजर आते हैं कि जो शरीरसे भी स्वस्थ हैं, वैभव सम्पदाभी मनमानी आ रही है, बडे बडे मित्रजन भी बड़ी प्रशंसा करते हैं, सब प्रकारकी सेवाये करनेके लिये हाजिर रहते हैं, स्त्री पुत्रादिकभी बडे आज्ञाकारी हैं, फिर भी उनको शान्तिका लाभ नहीं हैं। सुखके साथ शान्तिका सम्बन्ध नही है, शान्तिका सम्बन्ध तो निर्मोहताके साथ है। सांसारिक सुख बडे मिल रहे हो तो उससे शान्तिका नियम नही बनता, किन्तु निर्मोहता है, वीतरागता है, तो वहां शान्ति अवश्य है, नियमसे है। तो देवोका वह सुख जिस सुखको सुनकर अज्ञानी जीव ललचाते हैं वह सुख भी वास्तवमें दुःख है। अज्ञानी जीव अपनी बुद्धि माफिक धर्म करेंगे। तो इस भावसे करेंगे कि मुझे अच्छी गति मिले, अच्छे सुख साधन मिले। पर ज्ञानी पुरुष तो इस भावसे धर्म करते कि मैं ऐसी चीज पाऊँ, ऐसा कोई उपाय पाऊँ कि भवरहित हो जऊँ। मुझे जन्म मरणसे छुटकारा प्राप्त हो। केवल सहज शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप जैसा हू तैसा ही रह जाऊँ तो अपनेको यह निर्णय करना होगा कि यह जीव सुखी हो अथवा दुःखी हो अथवा ससारमें भटके अथवा मुक्त हो, सब कुछ उसको अकेलेको ही होगा।

अकेले ही कर्मक्षयकी साधनाकी शक्यता— कर्मोका क्षय भी यह जीव अकेला ही करता है। अर्जुन, भीम, युधिष्टिर, नकुल और सहदेव—ये पाचो भाई जब कौरवोपर विजय प्राप्त कर चुके और संसारको असार जानकर विरक्त होकर निर्ग्रन्थ मुनि बने तब कौरव वशमे जो उनके कुछ रिश्तेदार लोग बचे थे उन्होंने उन पांचो पाण्डवो पर उपसर्ग ढानेका निर्णय किया। आखिर अग्निसे खूब तप्त किए हुए लोहेके आभूषण उन पाचो पाण्डवोंको पहिनाये। गलेमे खूब तप्त लोहेका आभूषण डाल दिया और कहा— लो यह हार है। हाथोमे संतप्त लोहेका कड़ा डाल दिया और कहा— लो ये तुम्हारे कडे है। इस तरहसे शरीरके सारे अंगोमे अग्निसे खूब तप्त आभूषण कौरवोंने पहिनाये, पर धन्य है उन आत्मावोंको जिन्हें अपने सहज स्वभावका दर्शन हुआ। वे पांचो पाण्डव अपने ज्ञानस्वभावमें मग्न थे, अपने सहज स्वभावके आनन्दमे विभोर थे। ऐसे परम आत्मा किसके वदनीय नहीं होते ? लेकिन उन कौरवोने उनपर उपद्रव जारी ही रखा। वे सभी पाण्डव तो सम्यग्दृष्टि थे, अपने ध्यानमे रत थे। उस प्रसंगमे नकुल और सहदेव को अपनी तो कुछ परवाह न थी, अपने लिए तो कुछ दुःख न माना, लेकिन अपने तीन बडे भाइयोंपर उस तरहका उपसर्ग आता हुआ देखकर खेद करने लगे कि देखो कैसा मेरा निरपराध भाइयोंपर उपसर्ग ढाया जा रहा है। लो थोड़ासा इतना ध्यान भर हो जानेसे उन दोनों भाईयोका (नकुल और सहदेवका) मोक्ष रुक गया, वे सर्वार्थसिद्धिमे गए और वे तीनो पाण्डव (अर्जुन, भीम और युधिष्टिर) मोक्ष सिधारे। तो यहां देखिये— परिणाम सबके अलग-अलग होते है। जिसका जैसा परिणाम है उसको वैसी दशा प्राप्त होती है।

अपनी परख करके विश्राम पानेका अनुरोध— यहाँ कोई किसीका सहायक नही है, यहाँ सभी जीव अकेले अकेले हैं, फिर भी लोग एक दूसरेके पीछे अनेक प्रकारकी चिन्तायें करके अनेक प्रकारके विकल्प करके इस दुर्लभ मानव जीवनको व्यर्थ ही खो रहे हैं। कुछ तो अपना निर्णय करना चाहिए, कुछ अपनी अपनी परख तो करनी चाहिए। जैसे किसीने किसी बच्चेको बहका दिया कि देख तेरा कान तो कौवा ले गया, वह बच्चा चढ़ते हुए कौवेके पीछे रोता हुआ दौड़ लगाता है। किसीने पूछा— भाई क्यो रोता है, तो वह कहता है— अरे बोलो मत, मेरा कान कौवा ले गया। —अरे जरा टटोलकर देख तो सही, कहा तेरा कान कौवा ले गया ? उसे कुछ विश्वास हुआ, टटोलकर देखा तो उसका कान उसके पास ही था तो इसी तरहसे लोगोंने एक दूसरेको बहका रखा है कि तुम्हें सुख इन बाह्य पदार्थोंसे मिलेगा, इस कारण ये

जीव बाह्य पदार्थोंके पीछे सुखकी आशा लेकर दौड़ लगा रहे हैं। ज्ञानी पुरुष समझाते हैं कि अरे भाई देख तो सही, तू तो स्वयं ज्ञानानन्दमात्र है? कहाँ तेरा सुख इन बाह्यपदार्थोंमें क्या? ज्ञानी पुरुषोंकी बातका विश्वास करके कोई जीव देखता है तो उसे पता लगता है ओह! सचमुच मेरा सुख तो मेरेमें ही विद्यमान है। इन बाह्यपदार्थोंमे मेरा सुख नहीं गया। तो जरा सोचो तो सही इन परपदार्थोंसे तुम्हारा कुछ भी सम्बन्ध है क्या? तुम तो ज्ञानमात्र एक अमूर्त आत्मा हो, जिन परिजनोंको अपना समझकर उनके प्रति बड़ा लगाव किया जा रहा है वे भी उतने ही जुदे हैं जितने कि अन्य लोग, जिन्हें कि आप गैर समझते है। सभी जीव जुदे-जुदे हैं ऐसा समझकर अब कुछ तो विराम लेना चाहिए। जिन जिन चीजोंसे यहाँ अपना लगाव रखा हैं उन सभीको छोड़ना होगा।

अध्रुव सगके परिहारमे ही सत्य विश्रामका लाभ--कोई यह मत समझे कि मैंने बहुत दिनोंमें यह चीज बनाई, घर बनाया, यह सम्पदा बनाया, अथवा गाँवमे, बाहरमे सब जगह ऐसी इज्जत बनायी, ये सब कैसे छोडे जा सकते। पर भाई कितना ही श्रम करके ये सब कुछ बनाया हो, पर ये सब चीजे छोडनी होंगी। जो चीज मिथ्या है उसको तो क्षण मात्रमें ही छोड देना चाहिए। यों तो कोई सोचने लगे कि अनादि कालसे मैंने मिथ्यात्वको बसाया, बढाया, अब इसे कसे छोडें, तो क्या यह कोई विवेक है? अरे अनादिकालसे मिथ्यात्व बसाये हुए है तो वह तो हमारे अहितके लिए ही है। ऐसा समझकर इस मिथ्यात्वभावको छोड देना चाहिए। मैं सर्वत्र एक हू, अकेला हूं, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय इच्छावोंमे हम रमते है, उनमे हम विश्वास बनाये हुए हैं, वे भी हमारे साथ रहने वाले नहीं है। वे उत्पन्न होते है और नष्ट होते है। उनको हम अपनाते हैं, वे विदा हो जाते है और उन्हींके समान और और रागभाव आते हैं, हम उन्हे अपनाते हैं, भ्रम करते हैं, यही तो हमारा प्रेम है जो पहिले था। अरे समस्त राग पर्यायें, समस्तविभावभाव दूसरे क्षण नहीं टहरते पर अज्ञानीजन विश्वास करते है उन विभावोंमे कि ये मेरे साथी हैं, ये वे ही तो हैं जो पहिले थे। कैसा भ्रम है? लो तब विभाव भी हमारे साथ नहीं रह पाते, आपत्ति यह है कि विभावोंकी परम्परा इन विभावोंके लगावसे ही बन रही है। तो जब रागादिक भी हमारे बनकर नहीं रह सकते, उदयमें आये दूसरे क्षण निकल गए। मेरेमे होने वाले मेरे ही परिणमन जब मेरे बनकर नहीं रह सकते तो अन्यका विश्वास क्यों कि वे मेरे कुछ बन सकेंगे। अपने आपके एकत्व स्वरूपका भान हो तो जीवको शान्तिका मार्ग मिल सकता है।

निर्विकल्प निःसकट आत्मस्वभावके अवलम्बनसे विकल्प सकटोंका अभाव--इस जीवपर साक्षात विपदा है तो विभाव विकल्पोंके मडरानेकी है। जीव है ज्ञानस्वभाव, उसमे क्लेशका नाम नहीं। स्वरूपको देखो तो वहाँ क्लेश विकार कुछ नहीं पडा हुआ है, पर योग है, बन रहा है निमित्तनैमित्तिकभाव अपने आप मे उस प्रकारका परिणमन ये सारी चीजे चल रही है। तो स्थिति आज कुछ विचित्र हैं, क्लेशमय है, लेकिन इन सब क्लेशके कारणोंका क्षय करनेमें समर्थ शुद्धदृष्टि है। हमको संकटोंसे छूटना है, पर सकट मेरे स्वभावमे नहीं है—इस तरहका निर्णय न हो तो सकट छूटनेका उपाय क्या बनेगा? जैसे चौकी पर कूडा पडा है या चिडियाकी बीट पड़ी है या चूना पालिश आदिककी छींट भी पडी है, अब जो चाहता है कि मै इस चौकीको शुद्ध कर दू, साफ कर दू तो पहिले उसके चित्तमे यह श्रद्धा बैठी है ना कि चौकी तो अपनेमे अकेली वैसी ही है जैसी कि मै बना दूगा। इस समय जो छींट पड़ी हैं, बीट, कूडा आदि पडे है उनसे अलग है यह चौकी, तभी तो वह पानीसे घसीटकर उसे साफ करता है और साफ पा लेता है। तो मुझे होना है सकटोंसे न्यारा। सकट क्या है? यह शरीर मिलता है, इसमे राग द्वेष विषय कषाय भाव उत्पन्न होते हैं, यही सकट है। इन समस्त सकटोंसे छूटना है तो पहिले यह श्रद्धा करना आवश्यक होगा कि इन सकटोंसे रहित रहना तो मेरा स्वभाव ही है तभी ये दूर हो सकते है। राग-

द्वेषका यदि मुझमें स्वभाव पड़ा हो तो किसी भी उपायसे ये दूर नहीं किये जा सकते। अविकार विभक्त शुद्ध सहज स्वरूपकी दृष्टि करनी होगी। तब जाकर शान्ति मिल सकती है, तभी समस्त कर्म टल सकते हैं।

मोक्षमार्ग व मोक्षकी एकमें उसी एकके द्वारा साधना--जिस जीवने सम्यक्त्वका लाभ लिया, यथार्थ-स्वरूपका बोध किया उस ही सहजस्वच्छ ज्ञानानन्दस्वरूपमें मग्न होनेका ही जिसका पुरुषार्थ बना, वह कर्मोंका क्षय करता है। वह अकेला ही कर्मोंका क्षय करता है दूसरेके साथ नहीं, दूसरोंका कर्मक्षय कराता हुआ नहीं। जैसे यहां जिससे प्रीति है वे साथ-साथ खाते हैं, भाई सुख साथ साथ भोगे, हम सुखी होंगे तो तुमको सुखी करते हुए होंगे, हमारा तुमसे अधिक प्रेम है, हम अकेले सुखी हो लें, तुम दुःखी रहो ऐसा हम न करेंगे, हम तुमको सुख दिलायेंगे, हम भी सुखी होंगे, सब इस तरह एक साथ हिलमिलकर रहेंगे और ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, हर बातमें साथ रहते हैं और कुछ करते हैं ऐसा कि हाँ इनको भी खिला रहा, सुखी कर रहा, मन माफिक काम बना रहा। यह भी कल्पनाभरकी बात है, परिस्थितियां देखो तो इस व्यवहार प्रसंगमें भी सब अकेले ही अपने आपमें अपने भावोंसे केवल अपने सुखसे सुखी हो रहे हैं ये सब, न अपना सुख किसी दूसरेको दे पाते हैं, न दूसरेका सुख स्वयं ले पाते हैं, सो यहां भी यह बर्ताव चल रहा है। तो यह जीव अकेला ही कर्मबन्ध करता, कर्मक्षय करता और अकेला ही मोक्षको प्राप्त करता है। सीता जी का जीव (सोलहवें स्वर्गका प्रतीन्द्र) उसने अवधिज्ञानसे जाना कि मेरे पूर्वभवके पति श्री रामचन्द्र जी इस समय निर्ग्रन्थ अवस्थामें अध्यात्म साधनामें लगे हुए हैं। बड़ी प्रीति थी उस जीवसे। जिस जीवको किसी भवमें अत्यन्त अधिक प्रीति होती है प्रायः करके दूसरे भवमें भी उसका लगाव रहता है। तो उस जीवने सोचा कि यह तो बड़ा गजब हो जायेगा। ये तो मुक्त हो जायेंगे, फिर कभी इनसे मिलना न बन सकेगा। सो उस सीताके जीवने अपना ऐसा परिणाम बनाया कि ऐसी बाधा डाले कि अभी श्री राम जी को निर्वाण न हो, अभी कुछ दिन संसारमें रहें और बादमें हम दोनों एक साथ निर्वाण प्राप्त करेंगे। साथ कैसे निर्वाण प्राप्त हो, किस ढंगमें हो, यह किसीके हाथकी बात नहीं, किन्तु आया वह जीव, रामकी साधनामें विघ्न डालनेका यत्न किया, बड़े हावभाव दिखाये, अपना सुन्दर रूप बनाकर मोहित करनेका प्रयत्न किया और यह भी दृश्य दिखाया कि रावण सीताके केश खींच रहा है और सीता हा राम हा राम कहकर पुकार रही है, इसलिए कि श्रीराम जी अपनी साधनासे डिग जायें, हमारी रक्षा करने आयें, अभी संसारमें ही बने रहें, बादमें हम दोनों एक साथ मोक्ष जायेंगे। यह सब एक कल्पनाकी बात थी। श्री राम उस उपसर्गके कालमें और भी दृढ़ हुए, निर्वाणको प्राप्त हुए। तो सबका मोक्ष अपने अकेलेसे ही होता है, दूसरा इसमें कुछ नहीं कर सकता।

वस्तुस्वरूपकी निश्चलता-- भैया! वस्तुस्वरूपके सामने बड़े-बड़े बलवन्तोंने, पुण्यवंतोंने भी अपने घुटने टेक दिये। सभी जीव अपने आपके स्वरूपमें अकेले हैं और अकेले ही वे अपना निर्माण करते चले जाते हैं। हमें अपने बारेमें इस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माके बारेमें बहुत अधिक चिन्तन करना चाहिए। जिस चिन्तनमें लग रहे हैं मोही, स्वप्नवत् असार है। बाहरी बातें, लोगोंका समुदाय, लोगोंके वातावरणका प्रभाव आदिक जो कुछ भी बन रहे हैं, ये ख्याल चल रहे हैं वे सब एकदम पूर्ण असार हैं। रह गया यह कि अवस्था है गृहस्थीकी, वे सब करने होते हैं तो ठीक है, लगे परमें करनेके साथ किन्तु आत्माकी सुध भी तो निरन्तर रहे, तब तो उसका ठीक एक मेल सा बन जायेगा कि हानि न होगी। लोकव्यवहारके कामोंमें यदि हम ऐसा मान लें कि ऐसा किए बिना तो हमारा गुजारा ही नहीं, ये तो हमें करने ही पड़ेंगे, वहाँ हम यह हठ बनाये और अपने आपकी ओरसे आंखें मीच रहें तो उसमें तो भलाई नहीं है। चाहिए तो यह कि जितना चिन्तन बाहरी बातोंका चलता है इतना ही सही यदि अपने

आपका चिन्तन चले तो उससे इस आत्माका हित होगा। यदि अपने आत्माकी सुध तो छोड़ दे, उसे एक मनोविनोदका ही काम समझे और बाहरी प्रसगोको अपना मुख्य काम समझे तो यह तो इस जीवके लिए अहितकी बात है। अपने आपका एकत्वस्वरूप जानकर अपने आपके सहजस्वरूपमें मग्न होना यह अपना कर्तव्य है। मै परसे विभक्त हू, अपने स्वरूपमे स्वरूपमात्र हू, यह अनुभूति चाहिए। मैं देहसे भी निराला केवल ज्ञानमात्र हू। इन दो दृष्टियोमे अपना इष्ट सब कुछ आ गया। मैं देहसे भी निराला हू, ऐसा बोलनेके साथ ही अन्तरङ्गमें भावोंका ऐसा पुरुपार्थ करिये कि मैं तो इस देहसे भी निराला केवल ज्ञानमात्र हूं, मैं यह शरीर नही हू, ज्ञान ही मेरा शरीर है। ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, ज्ञानके अतिरिक्त मेरे मे अन्य कुछ स्वभाव नही नजर आये तो यो एक प्रकाशमात्र ज्ञान ज्ञानमें एकरस हो जावे।

एकत्वभावनाका फल-- जब ज्ञान ज्ञानके स्वरूपको जाननेमें रहता है तब ज्ञानमें और कुछ तो नहीं बसा, केवल ज्ञानस्वरूप बसा है। उस समय ज्ञान ज्ञाता बन रहा है और ज्ञान ही ज्ञेय बन रहा है वहा विकल्प नही रहता, वहा सहज आनन्द प्रकट होता है। यही स्थिति पानी है। तत्त्व जानकर धर्मके लिए बड़े-बडे पुरुषार्थ करके यह समझना है कि मै ज्ञानमात्र हू। जिसको इसकी ओर दृढतासे निर्णय बन जाता है वह लोगोकी दृष्टिमे भले ही पागल जँचे लेकिन यह तो अपनेमे परमात्मास्वरूपको बढ़ा रहा है। अपनी भलाईमात्र अपनेमे ही में है। अपने आपमें निर्विकल्प होकर मग्न हो रहा, यह बात तत्त्वाभ्याससे ही बन सकती है। इसलिए ज्ञानार्जनके लिए हमारा जितना अधिक प्रयत्न हो समझिये कि हम अपने जीवनको सफल करनेका साधन बनाये हुए है। अपना भी अनुभव करना, देहसे भी निराला ज्ञानमात्र हू, जब बाहरमे प्रत्येक अणु अपने आपमें ही परिणमता है, अपनेमे ही विलीन होता है, समझ रहे है कि कभी भी कोई भी अणु किसी दूसरेके साथ नहीं परिणमता, दूसरेको नहीं परिणमाता, यही बात तो प्रत्येक पदार्थमे है। अनुभव भी रहा हू, मै सर्वत्र अकेला ही सुखी दुःखी होता हू। तो जब कोई मेरा सहाय नही, कोई मेरा सम्बधी नहीं तो फिर मैं अपने आपके ही द्वारा अपना कल्याण करू। एकत्व भावना भानेका यही फल है कि हम अपने इस एक ज्ञानस्वरूपमे प्रसन्न रहें, तृप्त रहें और स्वाधीन आनन्दका ही भाव बनाये रहे। मुझे पराधीन सुख न चाहिए। मैं स्वय आनन्दमय हू, तो मैं अपने आप में आनन्दमय बना रहू, ऐसा बननेका जो पुरुषार्थ है वह धर्म है। वह मिलता है अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करनेपर। जैसे कि लोग सोचते हें कि मैं अमुक जाति कुलका, अमुक परिवार वाला हू, तो ये सब बाहरी बाते है। ऐसी बातोंको सोचने वाले व्यक्ति कभी यह नही निहार सकते कि मै केवल ज्ञानमात्र हू, यही था, यही हू, यही रहूगा। पर जो मेरा है, मेरे साथ जाता है जो मेरा नहीं वह यहीं छूट जाता है। मेरे साथ जो सदा शाश्वत रहता है वह मेरा है और जो औपाधिक बनते हे वे मेरी नही है, ऐसे समस्त परसे विभक्त अपने आपके स्वरूपको निहारनेमे ही शान्ति प्राप्त हो सकती है।

सुयणो पिच्छतो वि हु ण दुक्ख-लेस पि सक्कदे गहिदु।
एव जाणतो वि हु तो वि ममत्त ण छडेइ।७५॥

किसी भी स्वजनमे अपने दुःखके लेशको भी ग्रहण करनेकी समर्थताका अभाव—जब कोई क्लेश होता है तो अपने स्वजन कुटुम्बी पुरुष भी देख रहे है तब भी रच मात्र दुःखको ग्रहण करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। ऐसा जानकर भी यह जीव ममत्वको नही त्यागता, जिनके लिए सर्व यत्न करते है अहर्निश जिनके पीछे विकल्प हो बनाये रहते है, जिनके खिलाफ कुछ भी बात सुनने को भी तैयार नही हैं, वे चाहे कितना ही स्त्री पुत्र दिक प्रतिकूल हो, फिर भी यह जीव ममताको नहीं छोडता और उनके पीछे निरन्तर दुःखी होता रहता है। प्रथम तो यह बात है कि इस जीवने क्लेश लगाया है अपने मनमे, बाहरमे कही कुछ क्लेश नही है। किसी परके बारेमें विकल्प करना और दुःखी होना सिवाय इस रोजगारके भीतरमे

और कुछ व्यापार नहीं चल रहा। सोचना, सुखी होना, दुःखी होना भावके द्वारा भावका ही व्यापार चल रहा है, इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नही रहा। बाह्यमें दुःख हैं ही नहीं, लेकिन जिन बाह्य पुरुषोंके सम्बन्धमे विकल्प बनाकर ये गृहस्थ दुःखी होते हैं, शल्य बनाते हैं वे लोग देखते रह जायेंगे, पर न दुःख से बचानेमे समर्थ हैं, न मृत्युको रोकने मे समर्थ है चाहे माता, पिता, भाई, पुत्र आदि कोई भी अपने परिजन अथवा मित्रजन हो।

खुदमें खुदके लिये परिणमनेका वस्तुस्वरूप—वस्तुस्वरूप ही यह है कि परसे परका कुछ होता नहीं है। किसी को खुदगर्ज भी क्यों कहें ? लोग खुदगर्ज कहकर दूसरे पर झुँझला जाते हैं, सब गर्जके साथी हैं। अरे यह तो वस्तुका स्वरूप है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही प्रयोजनके लिए अपना परिणमन करते हैं, ये पुद्गल भी परिणमन करते हैं तो बताओ किसलिए परिणमन करते है ? जैसे यह घड़ी चलती है तो क्या लोगो को सम्बोधने के लिए चलती है ? यह तो कविलोग अलकारमे कहते हैं। इसमें ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि यो परिणमन होता है पर प्रत्येक पुर्जेमें, प्रत्येक पदार्थमे जो भी परिणमन होता है उसका प्रयोजन है यह कि उसकी सत्ता कायम रहे। चूँकि परिणमे बिना पदार्थकी सत्ता नही रह सकती। तो परिणमनका प्रयोजन है उसमें अस्तित्व बना रहता है। कुछ भी पदार्थ कैसे ही परिणमे, उनका प्रयोजन यही है कि उनकी सत्ता बनी रहे। इसके आगे उनका और कोई प्रयोजन नही। मेरे लिए कोई पदार्थ कैसा ही बन रहा हो तो वह बन रहा है अपना स्वरूप अस्तित्व कायम रखने के लिए। यह जीव तो मोह वाले पदार्थोंको निरखकर कल्पनाये करके इष्ट और अनिष्टकी बात मनमे गुनता है। तो यों देखने पर किसी भी प्राणीको मत निरखिये कि यह खुदगर्ज है। अरे वस्तुका स्वभाव ही यह है कि वह वस्तु अपने लिए ही अपनी सारी चेष्टाये करता है। अब उन चेष्टावों का विभिन्नरूप है। यदि कोई सज्जन पुरुष दुनियाका उपकार करनेके लिए श्रम करता है तो उस सज्जन पुरुषने भी किया क्या ? जो स्वयमे कषायभाव जगा, करुणाबुद्धि जगी उससे प्रेरित होकर जैसे करुणा बुद्धिसे उत्पन्न हुई वेदना, मिटे, वही तो किया। तो कोई पापी पुरुष भी करते ही क्या है कि उनका जो अज्ञान और कषायभाव हुआ उससे और उनकी वेदना हुई, उसकी शान्तिके लिए जो उन्हें सूझता है सो किया करते हैं। यह वस्तुका ही स्वरूप है।

वास्तविकताके परिचयमे शान्ति और अवास्तविकताके लगावमें विपदा—मूल दृष्टिसे निरखने पर यों ही समझा जाता है कि प्रत्येक जीव जो कुछ करता है वह अपने लिए करता है, इसकी मुझे कोई बुराई नही है, स्वरूप ही है ऐसा। खुदगर्ज भी किसको कहे, सब अपनी सत्ताके लिए अपना परिणमन करते है, लेकिन खेद तो इस बातका है कि यह जीव समझ रहा है कि कोई मेरा साथी नहीं, कोई दुःखमे, मरणादिकमे हिस्सा लेने वाला नही, फिर भी ममत्व नही छोड़ता ममता बहुत बड़ी विपदा है। विपदा ही केवल ममता है, अन्य कुछ विपदा है ही नहीं, स्वरूप दृष्टिको देखो, न कुछ लेना न कुछ देना, न कुछ सम्बन्ध, प्रत्येक जीव अपने आपमे परिपूर्ण है, अपने चतुष्टयसे सहित है, किसी भी अन्य पदार्थके साथ कुछ भी मेरा सम्बन्ध नही है। स्थिति कुछ रहो, लेकिन वास्तविकता यह है कि जो भी परद्रव्योमे मोहका भाव जगता है वह ममताका परिणाम इस जीवपर बड़ी कठिन विपदा है।

जीवस्स णिच्छयादो धम्मो दह-लक्खणो हवे सुमणो।
सो णेइ देव-लोए सो चिय दुक्ख-क्खयं कुणइ ॥७८॥

दशलक्षण धर्मकी स्वजनता व शरणरूपता—यथार्थमे जीवका आत्मीय स्वजन तो उत्तम क्षमा आदिक रूप दशलक्षणधर्म आदिक हैं। तब वास्तविक स्वजन कौन ? जो अपनी रक्षा करे, अपने हितकी बात करें ऐसे स्वजन केवल क्षमा, मार्दव आदिक दशलक्षण धर्मरूप परिणमन है। कषाये इस जीवको बरबाद कर देती है। क्रोध कषाय न जगे, क्षमा परिणाम बने तो शान्ति है। क्रोधकषायसे नुक्सान ही सारे है

पर लाभकी बात कुछ नहीं होती। प्रथम तो क्रोधमे बुद्धि खराब हो जाती है। क्रोधमे धीरता, गम्भीरता, विवेक, उदारता आदिक सब गुण जल जाते है। स्वय दु खी होते है। जिस पर क्रोध करते हैं उससे सम्बन्ध क्या ? उसका बिगाड़कर देनेसे इस जीवको मिलता क्या ? अरे यह जीव भी तो अनेक भवोंमे कुटुम्बी हुआ है, मित्र हुआ है। आज अपनी कषायके आवेशमे आकर जीवको शत्रु माना जा रहा है। तो क्रोधमे जीवको हानि ही तो है पर लाभ कुछ नही। क्रोधके अभाव होनेसे जो क्षमाभाव प्रकट होता है वही शरण है। घमडके परिणाममे फल क्या होता है ? लोग मुँह सामने नही कहते तो परोक्षमे तो कहते ही हैं कि यह बड़ा घमडी है, बड़ा अज्ञानी है। यहाँ किस बात पर घमंड करना ? घमडके योग्य यहा है भी कुछ नहीं। बड़ी-बड़ी सम्पदाओंके धनी, बडे राजपाटके अधिकारी राजा महाराजा भी बडी दुर्दशाको प्राप्त हो जाते है। गर्व करने लायक तो यहा कोई बात ही नही है और गर्व करता भी कौन है ? गर्व वही करता है जिसे अपने आत्माके ज्ञानस्वभावका विश्वास नहीं है वही बाह्य दृष्टि करके गर्व करता है कि देखो मै कितना बडा हू, कितना उच्च हू ? अरे जीवजातिको देखो तो प्रत्येक जीव समान है, स्वरूप सबका एक सा है, रही लौकिक स्थिति की बात सो आज जो बड़ा धनिक है वह कल तुच्छ बन सकता है और आज जो तुच्छ है वह कल महान बन सकता है। एक सदाचार विवेक, सत्य श्रद्धाके बल पर आज एक तुच्छ व्यक्ति भी महान बन सकता है और मिथ्या श्रद्धान, मिथ्याज्ञान, मिथ्याआचरण दुराचार आदिक परिणामोंके कारण आज कोई बड़ा है तो वह भी तुच्छ बन जायेगा। पुराणोंमें वर्णन आता है कि रावण नरक गया और रावणके भाई पुत्रादि निर्वाण गए, तो स्वत भिन्न भिन्न परिणाम है। सभी अपने-अपने भले बुरे परिणामसे भली बुरी गतिया प्राप्त करते है। यहां मोह करने का, गर्व करने का अवसर क्या ? गर्वमे केवल हैरानी ही है। मदके अभाव होनेसे जो मार्दवधर्म प्रकट होता है वही वास्तविक शरण है। छल कपट तो ऐसी बुरी परिणति है कि यह जीव अन्यमे उलझा ही रहता है, यह अपने आपमे ही कुछ समझ नहीं कर पाता। मायावी पुरुष सब जगह शकित रहता है, कहीं मेरा मायाचार खुल न जाय, ये दोनो व्यक्ति परस्पर बातचीत कर रहे है, कही मेरे मायाचारका भेद न खुल जाय इत्यादिरूपसे वह मायाचारी पुरुष शकित रहता है। ऐसा मायाचारी पुरुष धर्मका पात्र नहीं माना गया। माया कषायको शल्यमे गिना गया है। लोभकषायकी बात देखो—बाह्यवस्तुओंमे उपादेय बुद्धि होना, उसे आसक्तिपूर्वक ग्रहण किए रहना ये सब लोभके परिणाम है। इस लोभ कषायसे भी जीव दु खी है, ये चारों कषाये शान्त हो, आत्मा सत्यरूपमे प्रकट हो, अपने आपके स्वरूपमें यह सयत रह सके तो इस चैतन्यसूर्यका ऐसा प्रताप प्रकट होता है कि जो मोह है, अधकार है वह नष्ट होता है। और यह केवल रह जाता है, तब इस ही केवलज्ञान स्वरूपमे यह रमण करता है, मग्न होता है ऐसा जो दशलक्षण-मय आत्माका परिणमन है वही मेरा स्वजन है, अन्य कोई मेरा स्वजन नहीं है।

मोहविपदासे छूटनेके लिये पञ्चगुरुस्मरण व धर्मपालनका निर्णय—यह दशलक्षणमय आत्माका परिणमन ही हमे देवलोकमे ले जाता है व हमारे समस्त दु खोंका क्षय कर देता है। जब धर्मोपासनाके साथ ही शुभ परिणाम चलते है तो वहाँ महान पुण्य बँधता है। उस पुण्यके फलमे जो स्वर्गादि वैभव प्राप्त होता है, वस्तुत वे भी विपदा है। इस मोहकोविपदा जानकर उस मोह विपदासे बचनेके लिए अधिकाधिक समय पचनमस्कार मत्रके स्मरणकी प्रवृत्ति बने। इस नमस्कार मत्रमे जो पचपरमेष्ठियोंकी आराधना की गई है वह आराधना हम इस ढंगसे करें कि हमारा मोह परिणाम दूर हो। हे अरहत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय, साधुओ, तुम्हें नमस्कार हो, हम इस मोहविपदासे छूटें। तुम तो इस मोहके जालसे परे हो गए हो, सदाके लिए समस्त मोहमय सकटोंसे छूट गए हो। हे प्रभो! हमारा भी यह मोहभाव छूटे ताकि हम भी इन मोहजन्य संकटोंसे छुटकारा प्राप्त करें। इस प्रकारके भावों सहित पचनमस्कार मत्रका जाप

करें। बाह्य वस्तुवोंकी बातें सोच सोचकर आराधनामें सफलता मिले, या न मिले किन्तु निर्मोह होनेके लिए जो नमस्कार मन्त्रमें निर्मोह आत्माओंकी आराधना की जाती है तो थोड़ा बहुत फल तो तुरन्त ही मिलता है और आगे भी उसका फल मिलता है। तो मेरा मोह दूर हो, इस भावसे ही पचनमस्कार मन्त्रका स्मरण करना चाहिये। इस उद्देश्यसे जब स्मरणमें लाते हैं तो बीच बीचमें ज्ञानप्रकाश उत्पन्न होता है और जीवको तृप्ति उत्पन्न होती है। मेरा मोह भाव दूर हो, इसीका नाम है मुक्तिकी प्राप्ति।

कर्तव्यपालन और मुक्तिके प्रोगामका निर्णय--हमारा एक मुक्ति पानेका ही प्रोग्राम बने, बाहरी बातोंकी सभालमें उपयोग लगाना व्यर्थ है। कारण कि मेरे उपयोग लगानेसे कहीं बाह्यमें संभाल हो नहीं जाती। जिसका जैसा उदय होता है उसके अनुसार उसकी बात चलती है। हा, घर गृहस्थीमें रहते हुए अपना कर्तव्य है करनेका सो कुछ पुरुपार्थ करे। जैसे कि चार प्रकारके पुरुपार्थ कहे गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। तो मोक्ष पुरुपार्थका साक्षात् तो यहा काम हो नहीं पाता सो आजकल उसकी जगहमें चौथा पुरुपार्थ समझलो निद्रा लेना (सोना) अब जीवनमें करनेके चार पुरुपार्थ रह गए—धर्म, अर्थ, काम और निद्रा लेना और रातदिनमें कुल २४ घटे हैं। तो हर पुरुपार्थके करनेके लिए ६—६ घंटेका अवकाश मिलता है। सो आप जान ही रहें हैं कि करीब ६ घटेका हो समय अर्थका (व्यापारादिका) काम करनेके लिए उपयुक्त होता है, करीब ६ ही घटेका समय निद्रा लेने व करीब ६ ही घटेका समय काम याने पालन पोषण, भोगोपभोग आदिके कामोंके लिए उपयुक्त होता है। सब इस ही हिसाबसे करीब ६ घटेका समय धर्मपालनमें लगाना चाहिए। यदि इससे अधिक समय धर्मपालनमें लगे तो और भी अच्छा है। ६ घटे का धर्मसाधनका समय इस ढगसे ठीक हो सकता है कि सुबह ४ बजेसे ९ बजे तक याने करीब ५ घटे का समय रख लीजिए और एक घटेका समय रातको रख लीजिए। जो लोग प्रतिदिन शुद्ध भोजन करते हैं और भावना रखते हैं कि मैं किसी त्यागी व्रतीको पड़गाह कर, आहारदान देकर भोजन करूँगा तो उनका भोजनादि करने तक का सारा समय धर्मकार्यमें ही शामिल है। तो इस तरह करीब ६ घन्टे प्रतिदिन धर्मकार्यमें व्यतीत किए जायें, यह किसीके लिए कोई कठिनाईकी बात नहीं है। जो न करना चाहे उसकी तो बात ही अलग है। सुबह चार बजे उठकर सामायिक, ध्यान पूजा पाठ आदि सभी लोग कर सकते हैं, जरा भी उसमें कठिनाई की बात नहीं है और कमसे कम १ घन्टेका समय शामको धर्मसाधना में व्यतीत हो, इस तरहकी चर्यामें वर्षके ३६० या ३६५ दिनों तक रहने से उसके चित्त पर बहुत कुछ अच्छा प्रभाव पड़ेगा। यह धर्म ही, यह ज्ञान ही हमें उत्तम गतिमें ले जायेगा और कर्मोका क्षय करके मुक्ति प्राप्त करायेगा।

विरतमोह व निरतस्वभाव होकर धर्मपालनसे सकटमुक्ति पानेमें श्रेयोलाभ– धर्म नाम है किसका ? धर्म नाम है ज्ञानस्वभावका। अपना ज्ञानस्वभाव जैसा है वैसा विकसित हो जाय उस ही का नाम है धर्मका फल, इस ज्ञानस्वभावमें आनन्द भरा ही पड़ा हुआ है, जब ज्ञानस्वभावकी दृष्टि कर रहे तब भी आनन्द, उसका जब फल मिला तब भी आनन्द। ज्ञान ही आनन्दका कारण है, अन्य किसी उपायसे आनन्द नही मिल सकता। यह ज्ञान जन्म, जरा, मरण आदि रोगोके निवारण करने के लिए अमृतके समान है। जन्म मरणकी परिपाटी चलते रहना यही ससार है और यही क्लेश है। अपना उद्देश्य पंच नमस्कार मन्त्रका स्मरण करते समय यही रखे कि हे प्रभो! मेरा जन्म जरा मरणादिक का रोग दूर हो जाय। इस जन्म मरणके बीचमें आजकी जिन्दगीमें जो ये अध्रुव समागम प्राप्त है उनमें मेरे मोहभाव न रहे। अगर हम करते तो रहें मोह और प्रभुसे कहते रहें कि हे प्रभु! मेरा जन्ममरण मिटे तो यह तो केवल प्रलापमात्र है। इस तरहसे तो ये जन्म मरणके रोग नही मिट सकते है। एक यही सोच लीजिए कि यदि हम आज इस मनुष्य पर्यायमें न होते, कीट, पतगा, पशु, पक्षी, पेड़, पौधा आदिककी पर्यायमें होते तो आज

के ये पाये हुए समागम ये वातावरण हमारे लिए क्या थे ? कुछ भी तो न थे। सुयोगसे हुए हैं मनुष्य तो ऐसा ही मान कर चले कि यदि हम अन्य भवमें होते तो मेरे लिए यहाँके ये समागम कुछ भी न थे। सो मोह न जगे इस दिशामें मैं अपने को ऐसा मानते हुए चलूँ कि मैं इस भवमें नहीं हू, मैं तो किसी अन्य ही भवमे अभी हू। फिर यहाँका मेरे लिए क्या ? मिला है सुयोगसे यह मनुष्यभव तो बस लज्जा, संकोच भय, चाह आदि इन सबकी उपेक्षा करके एक अपने ज्ञानस्वभावकी आराधनामें ही समय बिताये, चाहे फिर मेरी कुछ भी बाह्य स्थिति बने तो उससे क्या ? यदि मेरा कोई रक्षक है तो केवल एक हमारा ही धर्म भाव है, वही हमारे समस्त दु खोंका क्षय करेगा और वही हमारी मुक्तिका साधन होगा।

सव्वायरेण जाणह एक्कं जीव सरीरदो भिण्णं।
जम्मि दु मुणिदे जीवे होदि असेसं खणे हेयं ॥७६॥

परसे विभक्त होकर निज एकत्वस्वरूपमें प्रवेश होने पर ही शान्तिका लाभ--यह एकत्वानुप्रेक्षाका अन्तिम छन्द है। यहाँ आचार्यदेव प्रेरणा करते हैं कि हे भव्य जीवो ! समस्त प्रयत्नोंसे अपने एक इस आत्माराम को शरीरसे भिन्न जानो। शान्तिका उपाय कितना सरल है, सुगम है, स्वाधीन है, किन्तु सम्यक्‌बोधके विना यह कठिन तो क्या असम्भव बन रहा है। जब तक ज्ञानप्रकाश नहीं है तब तक असम्भव ही है। सबको शान्ति ही तो चाहिए ना। जो कोई भी जो कुछ करता है वह अपनी शान्तिके लिए करता है। यदि एक बार भी हमारी स्थिति ऐसी बन जाय कि हम खुद खुदमें मग्न हो जायें, फिर चाहे कुछ भी हो, घर गिरे, लोग बिछुडे, वैभव नष्ट हो आदि, उनसे हमारा कुछ नुक्सान नहीं है। दो चीजें हमारे सामने हैं एक तो व्यवहारी स्वजन, कुटुम्बीजन, इज्जत पोजीशन आदि और दूसरे— अपने आपमें बहुत गहरे प्रवेश करके अपने आपको जानते रहना, उससे ही सन्तुष्ट होना, सर्व प्रकारके विकल्पोंका छोड़ना, इन दोनों स्थितियोंमें क्या ठीक है सो विचार करो। व्यवहारकी स्थितियोंका तो कुछ भरोसा ही नहीं है। यहाँ तो मनचाहा भी कुछ हो जाय तो वहाँ शान्तिका मार्ग नहीं मिलता। एक तो यहा मनचाहा होता नहीं और दूसरे—मनचाहा हो भी जाय तो भी शान्तिका मार्ग नहीं और मनचाहा न हो तो भी शान्ति नही, वैभव मिले तब भी शान्ति नही, वैभव न मिले तब भी शान्ति नहीं। पुत्र सपूत हो तो भी शान्ति नहीं, पुत्र कुपूत हो तो भी शान्ति नहीं। यदि पुत्र कुपूत हो गया तब तो लोग समझते ही हैं कि उसे शान्ति कहा और यदि पुत्र सपूत भी हो तो भी शान्ति नही मिलती, क्योंकि उसको सुखी रखनेके लिए वह रात दिन चिन्तित रहेगा, स्त्री यदि विरुद्ध है तो भी शान्ति नहीं और स्त्री यदि अनुकूल है, आज्ञाकारिणी है, बडा स्नेह रखने वाली है तो भी क्या वहां शान्ति है ? दोनों ही स्थितियोंमें शान्ति नही हैं, इष्ट चीज मिले तब भी शान्ति नही, अनिष्ट चीज मिले तब भी शान्ति नहीं। इसका कारण यह है कि शान्तिका धनी यह उपयोग शान्तिके निज धामसे निकलकर परघर भटकता फिर रहा है तो वहा शान्ति कैसे हो सकती है ? किसी दूसरेका घर बहुत बढिया बना हुआ है और बडा इष्ट लग रहा है, लेकिन उसका सम्बन्ध बनाने पर तो विपदा ही मिलेगी। तो इसी तरह बाह्यपदार्थ कितने ही भले लगते हो, कितने ही सुहावने लगते हो, किन्तु उनमे यह उपयोग लगता है तो वहा नियमसे अशान्ति ही मिलेगी। शान्तिका तो मात्र एक ही उपाय है, अपने आपके सहजस्वरूपको, सहज कारण परमात्मतत्त्वको जानना और वहा ही उपयोग रखकर शान्ति पानेका निर्णय रखना। अन्यत्र शान्ति नही है।

मोहमदका प्रभाव दूर कर आत्मप्रभावमें आनेका उपदेश--आचार्य यहा उपदेश करते हैं कि भाई सर्व प्रयत्नसे यह तो जानो कि यह मैं जीव शरीरसे भी न्यारा हू। अपने आपके आत्माके सम्बन्धमें बहुत कुछ समझना है और भीतर गम्भीरता धीरतासे गहरे प्रवेश करके अपने को विश्रान्त बनाना है। लेकिन इतने बडे महान् कार्यको करने के लिए सर्वप्रथम यह तो करले कि जान ले कि मैं इस शरीरसे भिन्न हू।

जो लोग अपनेको इस शरीरसे भिन्न नहीं मान सकते वे अपने अतस्तत्वके स्पर्श करनेके पात्र नहीं हो सकते। अतएव एकदम ज्ञानका प्रथम द्वार बताया है कि अपने आपके आत्माको शरीरसे भिन्न जानो, जिस एक निज अतस्तत्वके जान लेने पर शरीर, मित्र, स्त्री, पुत्र, धन सम्पदा आदिक वैभव सब क्षणमात्र मे हेय हो जाते हैं। मोहमदपानमे ही ये वैभव मनोज्ञ जंचते है। जैसे कोई मदिरा पीने वाला पुरुष किसी शराबकी दुकान पर गया, दुकानदारसे बोला भाई बहुत तेज शराब दो। दुकानदार बहुत तेज शराब देता है, वह पुरुष उस तेज शराबको पीकर बेहोश हो जाता है, उसके ऊपर कुत्ते आकर पेशाब भी कर जाते हैं, वह बड़ा दुःखी भी होता है, फिर भी उस दुःखको दुःख नहीं मानता, इसी प्रकार ये मोही प्राणी मोह मदिराका पान करके बहुत बहुत दुःख भी सहते रहते हैं फिर भी उन दुःखोंको दुःख नहीं समझते। हम ही चाहें तो इस मोहभावको रखकर अपने को दुःखी बना डालें और हम ही चाहे तो इस ज्ञान-स्वभावी अमृतका पान करके अपने आपको सर्वसंकटोंसे बचा ले। अपने को दुःखी करना, सुखी करना ये दोनों ही बातें केवल हमारे भावों द्वारा ही बन रही हैं, कोई दूसरा पदार्थ हमे सुखी अथवा दुःखी नहीं करता। तो अब कुछ विवेक करके हमे अपने ऐसे भाव बनाने चाहिएँ जिनसे कि हम ससारके समस्त सकटोंसे सदाके लिए मुक्त हो जायें।

अण्णं देहं गिण्हदि जणणी अण्णा य होदि कम्मादो।
अण्णं होदि कलत्तं अण्णो वि य जायदे पुत्तो ॥८०॥

देहकी अन्यता और देहकी अनन्यताकेभ्रमका कारण—यह जीव अपने उपार्जित किए हुए कर्मोंके उदयसे भिन्न शरीरको ग्रहण करता है। इसकी माता भिन्न है, इसकी स्त्री भिन्न है और पुत्र भी भिन्न ही पैदा होता है। मनुष्योंका इन ४—५ बातोंसे व्यवहारमें घनिष्ट सम्बन्ध रहता है—शरीरसे, मातासे, स्त्रीसे, पुत्रसे। माताके कहनेसे पिताका भी ग्रहण करलें, फिर भी मनुष्योंकी आदतसे पिताके प्रति अधिक प्रेम नहीं है। माँ, स्त्री, पुत्र और शरीर इन ४ से अधिक सम्बन्ध रहता है, तो अन्यत्वानुप्रेक्षामे इन चारोंको सबसे पहिले भिन्न बताया गया है। यह शरीर आहारवर्गणाके परमाणुवोंका पिण्ड है। जब अन्य भवसे विग्रहगतिमे होकर आता है तो जन्मस्थान पहुंचते ही वहाँ जो कुछ भी आहार वर्गणाओंका ढेर मिला है बीजरूपमे उसको यह जीव अंगीकार करता है, जीवके आने पर फिर वे बीजभूत पिण्ड वृद्धिको प्राप्त होते हैं। बस वही आहार वर्गणाओंका पिण्ड अंगोपाङ्गके निकलने पर वह एक मनुष्य आदि जैसी शकल मे बाहर दिखता है। स्थावर जीवके देहोंमे अङ्ग उपाङ्ग नहीं होते सो वे अटपट शकलमे दिखते हैं। तो यह जीव इस देहसे अत्यन्त भिन्न है। जीव चैतन्यस्वरूप है और ये देह परमाणु स्कध सारे अचेतन है। शरीरसे जीवका एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, जिन स्थानोंमें जीवप्रदेश रह रहे है उन्हीं स्थानोंमें यह देह रह रहा है, देहके रग-रगमे जीवप्रदेश मौजूद है और जहा देहमें कहीं पोल हो गयी जैसे नाकके छिद्रमे भीतर पोल है, कानके छिद्रोंमे पोल है, ऐसे ही जहाँ जहाँ देहमे पोल है वहाँ जीवप्रदेश नहीं है। स्कधोंमे जीव प्रदेश हैं, इस तरह एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है जीवका और देहका। साथ ही जीव और देहमें बहुत सी बातोंका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जब जीवके प्रदेशमें हलन-चलन हुआ तो शरीरप्रदेशोंमे भी हुआ। जब शरीरसे कहीं गमन हो रहा तो जीवका भी गमन हो रहा। कोई सोचे कि शरीर यहीं रखा रहे हम थोड़ी देर बाहर विहार कर आये तो यह हम आपके वशकी बात नहीं है। कोई आहारक या अन्य ऋद्धियाँ होनेसे भले ही शरीरका सम्बन्ध न छोड़कर शरीरसे बाहर प्रदेश चले जाते है पर इतना घनिष्ट एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है जीवका और देहका कि जब जहां जीव वहाँ देह। इस कारण अज्ञानवश इस जीवको इस देहसे अज्ञानवश बड़ी प्रीति उत्पन्न हो गयी है।

जीवपर लदे हुए भारकी दृष्टिसे जीवके यहां अकेलेपनका अभाव—जीवपर क्या बोझ लदा, इस दृष्टिसे

देखो तो कोई भी जीव अकेला नजर नहीं आता। है अकेला ही यह स्वरूपमें, मगर आप हम कोई यहा अकेले नही बैठे है। आपके साथ बड़ा भारी बोझ लदा हुआ है। एक पुरुषने अपने किसी मित्रसे कहा कि कलके दिन आपका निमत्रण है, आप १० बजे आ जाना। मगर हम गरीब आदमी है, हमारे पास अधिक गुन्जाइश नहीं है, सो आप अकेले आना। वह बेचारा दूसरे दिन १० बजे उसके घर पहुचा तो उस निमत्रण देने वाले ने कहा—भाई हमने तो आपको अकेले के लिए ही कहा था, सो आप अकेले क्यों नहीं आये ? अरे हम अकेले ही तो आये है। आप अपने साथमे इस शरीर पिण्डोले को लाये, इसके साथ अनन्त पुद्गल परमाणुवोंको लाये, बहुतसे कर्मोंको अपने साथ लाये, हमने तो आप अकेले को ही बुलाया था। अब भला बतलावो ऐसा अकेला कोई कहीं जा सकता है क्या ? ऐसे अकेले तो सिद्ध भगवान है कि जिनके साथ अन्य कुछ भी नहीं है, केवल वह ही एक मात्र आत्मा है। तो यहा ससार अवस्थामे जीव और देहका इतना घनिष्ट सम्बन्ध हो रहा है कि इस सम्बन्धमे यह अज्ञानी जीव देहमें आत्मबुद्धि करता है। कोई कितना ही वृद्ध पुरुष हो, हड्डिया निकल आयी हो, खून भी काम न कर रहा हो फिर भी कोई बालक यदि कहने लगे कि दादा जी तुम्हारा शरीर तो बहुत कुरूप हो गया, कान्तिहीन है, हड्डिया भी निकल आयी है और देखो हमारा शरीर कैसा चंगा रूपवान है। तो कृपा करके आप हमारे इस चंगे शरीरमे मोह किया करो, अपने शरीरमें मोह मत किया करो तो क्या वह वृद्ध पुरुष मानेगा ? अरे कैसा ही शरीर हो वह तो अपने ही शरीरको सब कुछ मानेगा। एक बुढिया बुढापे से परेशान होकर रोज रोज कहा करती थी कि हे भगवान मुझे उठाले। उसके पोते उस बुढियाकी यह बात रोज-रोज सुना करते थे। एक दिन अचानक ही उस बुढियाके पास एक सॉप निकल आया तो वह बुढिया अपने पोतोंका नाम ले लेकर चिल्लाती है कि अरे बचाओ, सॉप निकल आया। तो कोई बालक बोला- अरी बुढिया दादी तू रोज-रोज भगवानसे विनती करती थी कि हे भगवान मुझे उठाले, तो भगवानने अब तेरी पुकारको सुन लिया है और तुझे उठानेके लिए इसे भेजा है, लेकिन क्या वह बुढिया इस बातको मान जायेगी ? वह तो मरना नहीं चाहती तो देहमें जीवका इतना घनिष्ठ मोह है।

देहदेवालयसे भिन्न आत्मदेवकी वार्ता—यहा अन्यत्व भावनामे कह रहे कि अरे भव्य जीव, जिस देहमे तू बस रहा है यह तो तुझसे अत्यन्त भिन्न है। इस देहको तू देवालय समझ। तुम आत्मदेव इस घरमें बस रहे हो। यह मदिर तो भगवान नहीं, मदिरमे विराजमान जो प्रतिमा है उसमें भगवानकी स्थापना है। यह देह तो आत्मा नहीं। इस देहमे जो विराजमान आत्मा है, चेतन है वह है प्रभु, आत्म-देव। तो यह देह अत्यन्त भिन्न है, पर पूर्व उपार्जित कर्मके उदयवश यह जीव देहको ग्रहण करता है। माता भी अन्य है। जिस माँ का इतना अधिक स्नेह कि बचपनमें, शिशुअवस्थामे कितना अधिक माँ मोह रखती है, अपने पास उस बच्चेको सुलाये यदि बच्चा मूत्र करदे, कपडे गीले हो जाये तो स्वय उन गीले कपड़ोमे लेट जाती और बच्चेको सूखे कपड़ोमे सुलाती। बच्चेकी मुख मुद्राको देखकर माँ बहुत प्रसन्न रहती है। इतना अधिक स्नेह है माँ का, लेकिन हे जीव, वह मा भी तेरेसे अन्य ही है। यहा वस्तु स्वरूपकी बात कह रहे है, ममत्व हटानेका उपदेश है।

यथोचित रागव्यवहार करते हुए भी निर्मोह रहनेमे गृहस्थका निर्वाह—कोई घरमे रहकर भी साधु जैसा व्यवहार रखे तो वह उपयोग्य नही जचता, वहा तो राग करते हुए भी निर्मोह रहना है। जैसा कि ग्रन्थो में लिखा है कि ये स्त्री पुत्रादिक नरक निगोदके कारण है तो उनसे ऐसा कहकर व्यवहार न करे कि तुम तो नरक निगोदके कारण हो। उन परिजनोसे एक असुविधा मिटाने के अर्थ लोकव्यवहार करना होगा प्रेमयुक्त वचनालाप करे जिससे कि कलह न बढे और ऐसे शान्त वातावरणमे रखकर आत्माकी सुध लेनेका बारबार अवसर बनाये रहे। प्रेमव्यवहार रखना होगा लेकिन ममत्व रच भी न रखना होगा

अपनी रक्षा चाहते हो तो घरमें रहने पर भी प्रवृत्ति करनी है प्रेम व्यवहारकी, उत्तम वचन और घर गृहस्थीके कार्य व्यापारकी संभाल, इतने पर भी अन्तरमें परवस्तुसे ममत्व न रखना होगा। यह मेरा है ऐसी स्वप्नमें भी प्रतीति न हो, मेरा मैं हूं, मेरा वैभव मैं हूं, अन्य कुछ मेरा नहीं है, अतः यह श्रद्धा हो और बाहरमें रखे प्रेम, संभाल आदिकी बातें, तब गृहस्थी निभती है।

रागव्यवहार होनेपर भी निर्मोहताका एक दृष्टान्त—एक सेठजी वृद्ध थे, उनका एक बालक था कोई ३-४ वर्षका। सेठ जी को किसी रोगने घेर लिया तो अपनी सारी जायदाद ४ ट्रस्टियोंके नामसे लिख दिया और कह दिया कि मेरा बालक जब बालिग हो जाय तो सारी जायदाद इसे सौंप देना। सेठ तो गुजर गया। ट्रस्टियोंने सारी जायदाद संभाली। कुछ ही दिनों बाद क्या हुआ कि उस सेठके द्वारसे कोई ठग निकला, वह बालक अपने द्वार पर खेल रहा था, उस ठगको वह बालक बहुत अच्छा लगा, उसके कोई बालक था भी नहीं, तो वह उस बालकको उठा ले गया और उसने अपनी पत्नीको दे दिया। वे जंगल में एक झोपड़ी बनाकर रहते थे। दोनों ने उसे पालपोष कर बड़ा किया। जब वह बालक करीब १७-१८ वर्षका भी हो गया तो वह तो यही समझ रहा था कि यही मेरे मा बाप हैं और यह जो खेतीबाड़ी झोपड़ी आदि हैं यही मेरी जायदाद है। एक दिन वह बालक उसी शहरसे निकला तो किसी ट्रस्टीने उसे पहिचान लिया और उससे कहा कि तुम्हारी लाखोंकी जायदाद हम लोग बहुत दिनोंसे संभाले हुए हैं, इसे तुम संभाल लो, हम लोग कब तक संभालेंगे? उसकी बात सुनकर उस बालकने समझा कि यह हमें झूठमूठमें बहका रहा है। वही बात जब कई ट्रस्टियोंने कही तो सोचा कि जब ये सभी लोग वही बात कहते हैं तो इसमें कुछ राज होगा। सो वह बालक कहने लगा कि अच्छा तुम लोग एक दो माह तक और संभाले रहो, बादमें हम सब संभाल लेंगे। उनकी बात पर विश्वास न होकर भी उस बालकने इस तरहसे कह दिया और जिस जंगलमें उसके मां बाप रहते थे वहां आकर बड़े प्रीतिपूर्ण वचनोंसे अपनी मासे बोला—मां सच बतावो मैं किसका बेटा हू? उस समय उसे कुछ ध्यान न रहा तो यह कह आया कि बेटे तू तो अमुक शहरके अमुक सेठका बालक है। इतनी बात सुनते ही उस बालकको उस व्यवहार लोकमें सच्चा ज्ञानप्रकाश जग गया कि ओह! मैं तो अमुक सेठका पुत्र हू और इस ठगके यहा पलपुष रहा हू, ये मेरे माँ बाप नहीं हैं, यहा की खेतीबारी मेरी जायदाद नहीं है, मेरे तो लाखोंका धन है, मैं अमुक सेठका पुत्र हूं, ये सभी बातें उसी समय उसके ख्यालमें आ गईं, लेकिन इतना ध्यान होने पर भी क्या वह यह कहेगा कि ऐ ठग मुझे खाना खिला, ऐ ठगनी मुझे पानी पिला आदि? अरे वह मा को मां कहेगा, पिताको पिता कहेगा और उस समय उसके खेतोंमें कोई भैंस, झोंटा आदि घुस आवे तो उसे भी खदेगा, उसकी जायदादकी रक्षा भी वह कर रहा है, इतने पर भी उसके चित्तमें यह बात बसी हुई है कि ये मेरे मा, बाप, जायदाद आदि कुछ नहीं हैं, मेरे पास तो लाखोंकी जायदाद है, मै तो अमुक सेठका पुत्र हू आदि।

रागव्यवहार होकर भी निर्मोह गृहस्थकी वृत्ति—उक्त दृष्टान्तकी भांति ही समझिये कि यह जीव अज्ञान भावसे यहा के मां बापको अपने मा बाप समझ रहा, यहाके प्राप्त वैभवको अपना वैभव समझ रहा। कदाचित सुयोग मिले, कुछ स्वाध्याय भी करे तो लो इन अनेक ट्रस्टियोंने समझाना शुरू कर दिया। अनुप्रेक्षा ग्रन्थ पढा तो आचार्य महाराज ट्रस्टी समझा रहे हैं कि अरे तेरा वैभव तू ही है, तेरा माता पिता तू ही है और अन्य ग्रन्थ उठाया तो कुन्दकुन्द महाराज ट्रस्टीने भी यही कहा कि तू तो इस देहसे भी निराला है, तेरी अनुभूति ही तेरा सब कुछ है, तेरा कुटुम्ब तेरे ही प्रदेशोंमें है। और भी ग्रन्थ उठाये तो कई ट्रस्टियोंने वही बात कही तो इस जीवको कुछ ख्याल आया कि बात तो लगती है ठीक। तब यह गिड़गिड़ाकर भीतरसे उत्सुक बनकर इस अनुभूति मा से पूछता है यह जीव कि मां सच तो

बतावो क्या मैं क्या हू, किसका हू, कहा का हूं ? ओह ! बडे ध्यानसे उत्सुकतासे जब अनुभूतिसे इस जीवने पूछा, जानना चाहा तो एक झलकमें एकदम उत्तर आया कि तुम सर्वस्व अपने ही हो, यहींके हो। देखो यह है तुम्हारा वैभव, यही है तुम्हारी भूमि। तब इसका ज्ञाननेत्र खुलता है और जानता है कि यह लौकिक मां मेरी निश्चयसे मां नहीं, यह पिता मेरा निश्चयसे पिता नहीं, यहा का सारा वैभव मेरा निश्चयसे वैभव नहीं। मेरेमे जो अनन्त शक्ति है, शाश्वत सहज वही मेरा वैभव है। मेरी जननी तो मेरी पूर्ण परिणति है, वही नई नई परिणतियोंका उपादान करती हुई चली जाती है। ज्ञान हो गया, पर इतना ज्ञान होने पर भी क्या यह ज्ञानी उस क्षणसे यह कहना शुरू कर देगा कि ऐ नरकके कारणभूत स्त्री अथवा पुत्र, उठिये। मुझे पानी ला दो, क्या कोई ज्ञानवती महिला यह कहेगी कि हे नरकके कारणभूत पतिदेव ! सुबह हो गया, उठिये। अरे ग्रन्थोंमे स्त्री पुत्रादिक परिजनोंको उपचारसे नरकका द्वार कहा है, पर घर गृहस्थीके बीच ज्ञानी पुरुष इस तरहसे वार्तालापका व्यवहार करेगा क्या ? अरे वह तो जब तक गृहस्थीके बीच है तब तक प्रेम व्यवहारकी ही बात रखेगा, झगड़ा झंझट कलह विग्रह आदिकी बातें न करेगा, क्योंकि उनसे गुजारा चलता नहीं। वह तो धीरेसे, बुद्धिमानीसे, विधिपूर्वक उनसे हटता है। उसने उद्देश्य तो यही बनाया है कि मुझे तो इन सबसे हटना है, मुझे निर्ग्रन्थ होना है। मेरा पूरा निर्ग्रन्थ होनेसे ही पडेगा। बाह्यके रागद्वेष मोहादिकके परिणाम हटाकर केवल अपने आत्मस्वरूपमे उपयोग रमाये रहनेकी स्थिति पाये बिना मेरे आत्माका पूरा न पडेगा। ये सब स्त्री, पुत्र, वधु, घरद्वार कुटुम्ब आदि छोडने पडेंगे। इस देहको भी छोड़ना पडेगा लेकिन वर्तमान स्थिति ऐसी है कि इस देहको छोडकर कहा जायें ? तो यह ज्ञानी जीव इन सब रागप्रेमोका व्यवहार तो करता है, पर उसे अन्तरङ्गमें मम वभाव नहीं है। जो ग्रन्थोंमे बताया है कि पिता, पुत्र, स्त्री आदिक ये सब नरकके द्वार हैं, सो ये खुद नरकके द्वार नहीं हैं किन्तु इनके प्रति जो ममत्वका परिणाम बन रहा है वह नरकका द्वार है।

अपनेको परसे भिन्न जानकर अपने सहजस्वरूपमे आनेकी शिक्षा—आचार्य अन्यत्वानुप्रेक्षामें कह रहे हैं कि देख—जिस देहको तू ग्रहण करता वह भी तेरेसे भिन्न है, जिन माता, पिता, स्त्री, पुत्रादिकसे तू ममता करता है वे भी तेरेसे भिन्न हैं। यहा माताके लिए जननी शब्द दिया है, जननी के और भी पर्यायवाची शब्द थे, लेकिन जननीपनका नाता एक राग मोह बढानेमें विशेष आश्रय है इसी प्रकार स्त्रीको कलत्र शब्दसे कहा है। स्त्रीके पर्यायवाची शब्द और भी हैं भार्या, महिला, पत्नी आदिक, लेकिन यहा कलत्र शब्दसे कहनेका यही प्रयोजन है कि कलत्रताके नातेसे इस जीवको स्त्रीसे अधिक स्नेह होता है। कलत्रका अर्थ है जो शरीरकी रक्षा करे। भोजन पान देकर, अन्य प्रकार सेवाये करके। कोई रोगादिक हो जाये तो सबसे अधिक चिंता स्त्रीको होती है। तो यह स्त्री कलत्र कहलाती है। तो इस कलत्रताके नाते से इस जीवका स्त्रीमें प्रेम अधिक हो सकता है, इसलिए कलत्र शब्दसे बताया है कि यह कलत्र तुझ से भिन्न है। इसी प्रकार पुत्रको कहा। पुत्रके पर्यायवाची अनेक शब्द हो सकते हैं सुत, सतान आदिक लेकिन यहा पुत्र कहनेका प्रयोजन यह है कि पुत्रका अर्थ है वशं पुनाति इति पुत्र जो वंशको पवित्र करे वह पुत्र है तो मनुष्यको पुत्रसे जो अधिक स्नेह होता है वह इस कारणसे नही होता कि इसे मैने पैदा किया है, किन्तु मेरा नाम चलेगा, वश चलेगा, इस वश चलानेकी बात मनमे आती है तो पुत्रसे स्नेह जगता है। सो ये पुत्र, कलत्र, जननी आदिक शब्द देकर कहा यह है कि ये तुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। ये जब भिन्न हैं तो अपना क्या कर्तव्य है ? भिन्न हैं ऐसा जान लें। भिन्न है ऐसा जानकर क्या कर्तव्य है ? भिन्न है, मेरी परिणतिमे ये कुछ सहयोगी नहीं हैं। जब ये हमसे अत्यन्त जुदे है तब इनमे क्या रति करना और जो अपना सर्वस्व है उसमे रुचि करना यही कर्तव्य है अन्यत्वानुप्रेक्षाका रहस्य यही है कि परको भिन्न जानकर अपनेमे ही लगाव करो।

एव बाहिर-दव्व जाणदि रूवादु अप्पणो भिण्ण।
जाणतो वि हु जोवो तत्थेव हि रच्चदे मूढो ।।८१।।

समस्त परपदार्थोको भिन्न जाननेका प्रतिबोधन—इस प्रकार इन समस्त बाह्यपदार्थोको भिन्न जानो। शरीर, माता, पुत्र, स्त्री आदिक जैसे कि वे भिन्न है तैसे ही हाथी, घोड़ा धन, मकान, वैभव आदिक इन सबको भिन्न जानो। जब जिनसे अधिक प्रीति हो सकती है उनको ही भिन्न समझ लिया तो इन बाह्यो को भिन्न जाननेमे कोई अड़चन नही हो सकती। जैसे कि शरीरका चर्म अगर अलग हो गया तो रोम छिद्र तो अपने आप ही पृथक् हो गए। शरीर, स्त्री, जननी, पुत्र आदिक इन सबको जब अपने से भिन्न समझ लिया तो फिर ये धन धान्य आदिक तो प्रकट भिन्न है और भी गहरी दृष्टिसे विचारे तो अपने आपके स्वरूपमें ही जो आपका रागादिक रूप परिणमन है वह रागादिक परिणमन भी तेरा नही रह पाता। वह भी आया और गया, दूसरे क्षण नहीं ठहरता। तो जहां ये रागादिक परिणमन भी मुझसे निराले है तो फिर अन्य पदार्थ तो मेरे हो ही कैसे सकते है? एक हिन्दी छन्दमे कहा है 'कि जहा देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय। घर सम्पति पर प्रकट ये पर है परिजन लोय।।' जब कि यह देह भी अपना नही है तो अपना यहा अन्य कुछ हो ही कैसे सकता है? यहा 'जहा' शब्द डाला है। जहांका अर्थ यहा स्थानसे न लेना। दुनियावी लोग तो ऐसा अर्थ कर सकते है कि देखो जहा अपना शरीर नहीं है वहा तो अपना कोई नहीं है, जहां अपना शरीर आ गया वहा अपने सब आ गए। जब घरमे हम आ गए तो माँ भी है, बेटे भी हैं, स्त्री भी है। इस प्रकारका अर्थ जहा से नहीं लेना है। इसका अर्थ लेना है कि जब कि यह शरीर भी अपना नहीं है तो अपना और हो ही क्या सकता है? घर सम्पदा ये तो प्रकट पर हैं। इस प्रकार इन समस्त बाह्यद्रव्योको यह जीव अपने स्वरूपसे भिन्न जानता है।

अन्यत्वकी बात जानते हुए भी मोहीके ममत्वत्यागके भावका अभाव—भैया! साधारणतया सभी लोग जानते है कि घर धन वैभव ये सब मुझसे भिन्न है। क्या देहाती मूर्ख लोग, क्या शहरी धनिक, पंडित आदि सभीके मुखसे यह बात सुन लो कि ये घर, मकान, जमीन, जायदाद आदि सब मेरेसे निराले है। देखो मरने पर ये सभी चीजे छूट जाती हैं, कुछ भी साथ नहीं जाता। साधारणतया सभी लोग इस बात को समझते हैं, लेकिन खेद और आश्चर्यकी बात यह है कि इन सब बाह्यद्रव्योको अपने से भिन्न जानता हुआ भी यह मूढ जीव उन ही पदार्थोमे रचपच रहा है। मूढ कहो या मोही वहो बात एक ही है, लेकिन कुछ ऐसी प्रथा है कि किसी आदमीको कहदे कि तुम तो मूढ हो तो उसको ज्यादा बुरा लग जायेगा और अगर किसी भाईको कह दे कि भाई तुम ता मोही हो तो वह उतना बुरा न मानेगा। न जाने लोग मूढ़ और मोहीमें क्या अन्तर समझते है? अर्थ तो दोनोका एक ही है। दोनोंकी धातु एक है, जरा भिन्न भिन्न प्रत्यय लगे है। किसीसे कहा जाय कि भाई तुम्हे अपने कुटुम्बमें काफी मोह है तो कभी वह इसे प्रशसाकी दृष्टिसे भी समझ लेगा और अगर कह दे कि यह तो अपने कुटुम्बमे मूढ़ बन रहा है तो उसे वह कुछ गाली सा समझ लेता है, पर मोह और मूढ़में फर्क कुछ नही है। अर्थ दोनोका एक ही है। तो यह जीव मूढ होकर इन बाह्य द्रव्योमे रचपच रहा है। हम आप सभी लोग जानते है कि यह संसारका सारा वैभव हमसे निराला है, हां इसे कोई कितने ही अशमें जानता है, कोई कितनी ही गम्भीरतासे, कोई कितने ही विवेकसे जानता है, पर जानते सभी लोग हैं, फिर भी मोहका माहात्म्य ऐसा है कि उनमे ही यह जीव प्रीति कर रहा है, उन्हें भिन्न नही जानता। कितनी ही ठोकरें भी लग रही है लेकिन निर्णय अपना एक यही बना रखा है कि हमारा गुजारा तो इसीमे ही है अन्य भाति हमारा गुजारा चल ही नहीं सकता। उन ही मे यह रचपच रहा है, यह सब अज्ञानका महात्म्य है।

जो जाणिऊण देहं जीव-सरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ॥८२॥

अन्यत्वभावना भानेका प्रयोजन बतानेके प्रसगमे अनित्य व अशरणभावना भानेके प्रयोजनका उदाहरण—जो पुरुष जीवके स्वरूपसे देहको तत्त्वत' भिन्न जानकर अपने आपके आत्माकी सेवा करता है उसकी अन्यत्व भावना भाना सफल है। जैसे अनित्य भावनाका क्या प्रयोजन है ? अनित्यभावनामे भाते है— राजा, राणा क्षत्रपति सभी मरने वाले है, कोई यहाँ सदा नहीं रहनेका है, जिसका सयोग हुआ है उसका वियोग होगा आदिक बातें कहते हैं। लेकिन इस तरहकी बातें सोचना तो घबड़ाहट पैदा करता है। उससे लाभ क्या हुआ ? एक शका की जा सकती है कि यहाँ सभी लोग मरते हैं, हमे भी मरना पडेगा। अरे ऐसा सोचना तो एक घबड़ाहट पैदा करेगा उससे लाभ क्या ? तो अनित्य भावनाका प्रयोजन वास्तवमे यही है कि इन सबको अनित्य जानकर अपने नित्य ज्ञानस्वभावकी शरण ले, उसकी ही रुचि करें। यदि कभी आत्माके नित्य स्वभावकी रुचि न बने, उस ज्ञानस्वभावका उपयोग रखकर जो शरण नहीं ग्रहण करता उसकी अनित्य भावना कार्यकारी नही है। अनित्य भावना भानेका प्रयोजन यह है कि अनित्य पदार्थोंको अनित्य जानकर, इन सब समागमोंको विनाशीक जानकर इनसे प्रीति न करना और अपने आपका जो नित्य ज्ञानस्वभाव है, जो अपने साथ अनादिसे है अनन्त काल तक रहेगा, जिसके परिचय बिना ही ससारका जन्ममरण करना पड़ रहा है उस ज्ञानस्वभावकी रुचि करना यह अनित्य भावनाका प्रयोजन है। अशरण भावना भायी। इस जीवका कहीं कोई शरण नही है, जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही सुख दुःख भोगता है। इसकी कोई मदद नहीं करता है। यह जीव अशरण है, इसका कोई शरण नहीं है, इस तरहकी बात विचारने से तो एक घबड़ाहट पैदा करने की बात हुई। अशरण भावना भानेका प्रयोजन क्या है ? अशरण भावना भानेका प्रयोजन यह है कि इन बाह्य पदार्थोंसे अपने को शरण न समझें। ये बाहरी पदार्थ कुछ भी मेरे शरण नहीं है, मेरा शरण तो मेरे सहजस्वरूपका सम्बन्ध इसका उपयोग शरण है। तो अपने वास्तविक शरणभूत निज अतस्तत्त्वका शरण ग्रहण कराना अशरण भावना का प्रयोजन है।

अशका कोई सम्बन्ध नही है, ऐसा अपने को अकेला जानना और इसके फलमें समझा क्या कि मै अनादि अनन्त शाश्वत एक सहज ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हू, ऐसा मैं अकेला हू। मुझमे जो रागद्वेषादिक विभाव परिणमन चलते हैं वे भी मेरे नहीं है, उनसे भी निराला एक सहज ज्ञानस्वभावमात्र मै हू, ऐसे अपने एकत्व स्वरूपपर दृष्टि ले जाना, जिसमे उपयुक्त होने से कर्म झडते हैं, मुक्ति मिलती है, सदाके लिए सकट टलते है, ऐसे अपने एकत्व स्वरूपमें पहुचना, यह एकत्व भावना भाने का प्रयोजन है।

अन्यत्व भावना भानेका प्रयोजन—अनित्य अशरण आदि भावनाके प्रयोजनकी भाति अन्यत्व भावना भानेका प्रयोजन बतला रहे है। जीवके स्वरूपसे देहको भिन्न जानकर क्या करना कि देहसे निराले इस ज्ञानस्वरूपमात्र निज अतस्तत्वकी उपासना करना, ऐसा करने से ही अन्यत्व भावना भाना सफल है, यो तो अन्यत्व भावना शब्दोसे सभी भा लेते है, जब घरमे लड़ाई होती है तो झट अन्यत्व भावना सामने आ जाती है—अरे कोई किसीका नही है, सब जुदे है लेकिन यह अन्यत्वभावना कषायवश आयी है, विवेक ही इसमे नहीं आया है। विवेकसे यदि अन्यत्वकी बात सोची जाय तो यह तो एक है बाह्य अन्यत्वका परिचय, किन्तु वह अन्त: यह परिचय करेगा कि मैं एक सहज ज्ञान स्वभावरूप हू। इसके अलावा अन्य सारी परिणतियां मुझसे भिन्न हैं। देखो कोई प्रभु हो गए तो क्या हो गए ? जो उनका न था वह छूट गया, इसीके मायने प्रभुका होना कहलाता है। जो न था वह छूट गया और जो था वह दृढतासे हो गया इसीके मायने है प्रभुता पा लेना। अब बतलाओ प्रभुने कोई बड़ा काम तो नही किया। जो थे सो रह गए बस इतना ही किया। यह भक्तिके अलंकारमे कहा जा रहा है। उन्होने कोई पहाड़ नहीं उठाया अथवा कोई सग्राम नही किया, कोई बड़ा परिश्रम नहीं किया अर्थात् बाहरी बाते नही कीं। किया क्या ? केवल अपने कैवल्यस्वरूपकी भावना की, उपासना की, उसीके प्रसादसे अब वे केवल हो गए। जैसी श्रद्धा होती है जीवकी प्रवृत्ति उसकी वैसी होती है। यह तो एक आम बात है। जिस मनुष्यकी पापमे सुख माननेकी श्रद्धा जगती है उसकी पापमें प्रवृत्ति होती है। जिसको शुभमें पुण्यमें हित माननेकी प्रवृत्ति होती है उसकी किसी अशमे पुण्यमे प्रवृत्ति होती है और जिसको समस्त विभावोसे रहित अपने आपके सत्वके ही कारण जैसा जो सहज स्वरूप है वही मै हू इस तरहके जाननेकी रुचि रहती है उसके वह गुण भी प्रकट होता है, तो प्रभुने अपने कैवल्यस्वरूपकी उपासना की, उसके प्रसादसे वे केवल हो गए, यही उनकी प्रभुता हैं। हम भी देहसे निराले अन्तरतत्वकी उपासना करके शाश्वती निराकुलता प्राप्त करें यही अन्यत्व भावना भाने का प्रयोजन दिखाया जा रहा है।

इन्द्रियोसे ज्ञान और सुख मिलनेका भ्रम होनेका कारण—हम ससारी जीव इस समय जो कुछ ज्ञान करते हैं और आनन्द पाते है उसमे आश्रय इन्द्रियका होता है और इन्द्रियका आश्रय होनेसे अर्थात मति श्रुत ज्ञानकी उत्पत्ति तथा वैषयिक सुखकी उत्पत्ति इन्द्रियके कारण होने से जीवको यह भ्रम हो गया है कि ये इन्द्रिया जानती हैं, सुख भोगती हैं, इनके ही कारण मेरा ज्ञान और आनन्द है, लेकिन इस जीवमे स्वयं ज्ञान और आनन्दका स्वभाव न हो तो इन जड़ इन्द्रियोके माध्यमसे भी क्या कोई ज्ञान और सुख पाया जा सकता है ? तो जो स्वय ज्ञानमय हैं, स्वय आनन्दमय है उसकी पकड़ होना चाहिए। यह जगत् मायाजाल हैं, इसमें सब जीव भूले भटके फिर रहे है, बाह्य पदार्थोमें प्रीतिकी उत्सुकता होनेसे प्राय: ये जीव अधेरेमे हैं। यहाँ लोग बड़प्पन भिन्न-भिन्न बातोमे मानते हैं। कोई बड़ा अधिकारी बनानेमें, कोई बड़ा धनिक बननेमें, कोई ज्ञान वाला बननेमे, कोई किसी ही बातमें अपना बड़प्पन मानते हैं। सो ठीक हैं लेकिन यह मै आत्माराम तो उन सब विकल्पोंसे हटकर निर्विकल्प अविकार, सहजज्ञानस्वभावकी उपासनामें लगता हू। इस मेरेका दुनियाके लोगोसे सम्बन्ध क्या ? यहा कोई मदद कर सकने वाला नही है, किन्हींके द्वारा हमारे प्रति किए जाने वाले सम्मान अथवा अपमानसे

जो जाणिऊण देहं जीव-सरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ॥८२॥

अन्यत्वभावना भानेका प्रयोजन बतानेके प्रसगमे अनित्य व अशरणभावना भानेके प्रयोजनका उदाहरण—जो पुरुष जीवके स्वरूपसे देहको तत्त्वत भिन्न जानकर अपने आपके आत्माकी सेवा करता है उसकी अन्यत्व भावना भाना सफल है। जैसे अनित्य भावनाका क्या प्रयोजन है? अनित्यभावनामें भाते हैं— राजा, राणा क्षत्रपति सभी मरने वाले है, कोई यहाँ सदा नहीं रहनेका है, जिसका सयोग हुआ है उसका वियोग होगा आदिक बातें कहते हैं। लेकिन इस तरहकी बातें सोचना तो घबड़ाहट पैदा करता है। उससे लाभ क्या हुआ? एक शका की जा सकती है कि यहाँ सभी लोग मरते हैं, हमे भी मरना पडेगा। अरे ऐसा सोचना तो एक घबडाहट पैदा करेगा उससे लाभ क्या? तो अनित्य भावनाका प्रयोजन वास्तवमे यही है कि इन सबको अनित्य जानकर अपने नित्य ज्ञानस्वभावकी शरण ले, उसकी ही रुचि करें। यदि कभी आत्माके नित्य स्वभावकी रुचि न बने, उस ज्ञानस्वभावका उपयोग रखकर जो शरण नहीं ग्रहण करता उसकी अनित्य भावना कार्यकारी नही है। अनित्य भावना भानेका प्रयोजन यह है कि अनित्य पदार्थोंको अनित्य जानकर, इन सब समागमोंको विनाशीक जानकर इनसे प्रीति न करना और अपने आपका जो नित्य ज्ञानस्वभाव है, जो अपने साथ अनादिसे है अनन्त काल तक रहेगा, जिसके परिचय बिना ही ससारका जन्ममरण करना पड़ रहा है उस ज्ञानस्वभावकी रुचि करना यह अनित्य भावनाका प्रयोजन है। अशरण भावना भायी। इस जीवका कहीं कोई शरण नहीं है, जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही सुख दुःख भोगता है। इसकी कोई मदद नहीं करता है। यह जीव अशरण है, इसका कोई शरण नहीं है, इस तरहकी बात विचारने से तो एक घबड़ाहट पैदा करने की बात हुई। अशरण भावना भानेका प्रयोजन क्या है? अशरण भावना भानेका प्रयोजन यह है कि इन बाह्य पदार्थोंसे अपने को शरण न समझें। ये बाहरी पदार्थ कुछ भी मेरे शरण नहीं है, मेरा शरण तो मेरे सहजस्वरूपका सम्बन्ध इसका उपयोग शरण है। तो अपने वास्तविक शरणभूत निज अतस्तत्त्वका शरण ग्रहण कराना अशरण भावना का प्रयोजन है।

अन्यत्वभावना भानेका प्रयोजन बतानेके प्रसगमे ससार और एकत्व भावना भानेके प्रयोजनका उदाहरण—ससारभावनामे स्थूलतया यह वर्णन करते है कि यह ससार असार है। यहा सभी जीव दुखी है, ससारमे कहीं सुख नजर नहीं आता। धनी लोग तृष्णावश दुखी है, निर्धन धन बिना दुखी हैं। कुछ पढे लिखे लोग विद्या गौरवके कारण दुखी है और मूर्ख पुरुष परवस्तुओंकी चाह बनाकर दुखी है। इस जगत्मे कोई सुखी नजर नहीं आता, यहाँ सभी लोग दुखी नजर आ रहे हैं। इस तरहका ज्ञान करके लाभ क्या मिलेगा? संसारभावना भाने से लाभ यह है कि यह समझकर कि ससारमे सर्वत्र दुख ही है, सारी जीव दशाये ये आकुलताके ही कारण हैं, इनमें सार नहीं है, किन्तु मेरा सार, मेरेमें अपना आप सहजज्ञानमय अन्तस्तत्व अपने सत्वके कारण अनादि अनन्त विराजमान है। उसका दर्शन करना उसमे रुचि करना यह ससारभावना भानेका प्रयोजन है। एकत्व भावनामे यह बात कही गई कि यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरण करता है, अकेला ही बुढापा, जवानी, बचपन आदि पाता है, अकेला ही रोगी शोकी होता है, अकेला ही सुखी दुखी होता है। सब कुछ इस जीव पर अकेले ही होता है, तो ऐसा निरख कर हमे लाभ क्या मिला? लाभ यह है कि ऐसा सब कुछ सोचना तो व्यवहारका अकेलापन है, पर हम वस्तुत देखे तो निश्चयत मूलत यह जीव अकेला ही है। अपने स्वचतुष्टयसे सत् है, परचतुष्टयसे असत् है। मैं अपने ही द्रव्यसे हू, अपने ही गुणपर्यायके पिण्डसे हू, अपने ही प्रदेशोंसे हू, अपने ही परिणमनसे हू और अपने ही भावोंसे हू किसी अन्य द्रव्यके साथमें से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव किसी भी

अशका कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा अपने को अकेला जानना और इसके फलमें समझा क्या कि मैं अनादि अनन्त शाश्वत एक सहज ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हूं, ऐसा मैं अकेला हूं। मुझमें जो रागद्वेषादिक विभाव परिणमन चलते हैं वे भी मेरे नहीं हैं, उनसे भी निराला एक सहज ज्ञानस्वभावमात्र मैं हू, ऐसे अपने एकत्व स्वरूपपर दृष्टि ले जाना, जिसमें उपयुक्त होने से कर्म झड़ते हैं, मुक्ति मिलती है, सदाके लिए सकट टलते हैं, ऐसे अपने एकत्व स्वरूपमें पहुचना, यह एकत्व भावना भाने का प्रयोजन है।

अन्यत्व भावना भानेका प्रयोजन---अनित्य अशरण आदि भावनाके प्रयोजनकी भाति अन्यत्व भावना भानेका प्रयोजन बतला रहे हैं। जीवके स्वरूपसे देहको भिन्न जानकर क्या करना कि देहसे निराले इस ज्ञानस्वरूपमात्र निज अंतस्तत्वकी उपासना करना, ऐसा करने से ही अन्यत्व भावना भाना सफल है, यों तो अन्यत्व भावना शब्दोंसे सभी भा लेते हैं, जब घरमें लड़ाई होती है तो झट अन्यत्व भावना सामने आ जाती है—अरे कोई किसीका नहीं है, सब जुदे हैं लेकिन यह अन्यत्वभावना कषायवश आयी है, विवेक ही इसमे नहीं आया है। विवेकसे यदि अन्यत्वकी बात सोची जाय तो यह तो एक है बाह्य अन्यत्वका परिचय, किन्तु वह अन्तः यह परिचय करेगा कि मैं एक सहज ज्ञान स्वभावरूप हू। इसके अलावा अन्य सारी परिणतियां मुझसे भिन्न हैं। देखो कोई प्रभु हो गए तो क्या हो गए? जो उनका न था वह छूट गया, इसीके मायने प्रभुका होना कहलाता है। जो न था वह छूट गया और जो था वह दृढतासे हो गया इसीके मायने हैं प्रभुता पा लेना। अब बतलाओ प्रभुने कोई बडा काम तो नहीं किया। जो थे सो रह गए बस इतना ही किया। यह भक्तिके अलंकारमे कहा जा रहा है। उन्होने कोई पहाड़ नहीं उठाया अथवा कोई सग्राम नहीं किया, कोई बड़ा परिश्रम नहीं किया अर्थात् बाहरी बातें नहीं कीं। किया क्या? केवल अपने कैवल्यस्वरूपकी भावना की, उपासना की, उसीके प्रसादसे अब वे केवल हो गए। जैसी श्रद्धा होती है जीवकी प्रवृत्ति उसकी वैसी होती है। यह तो एक आम बात है। जिस मनुष्यकी पापमे सुख माननेकी श्रद्धा जगती है उसकी पापमें प्रवृत्ति होती है। जिसको शुभमे पुण्यमें हित माननेकी प्रवृत्ति होती है उसकी किसी अशमे पुण्यमे प्रवृत्ति होती है और जिसको समस्त विभावोंसे रहित अपने आपके सत्वके ही कारण जैसा जो सहज स्वरूप है वही मैं हू इस तरहके जाननेकी रुचि रहती है उसके वह गुण भी प्रकट होता है, तो प्रभुने अपने कैवल्यस्वरूपकी उपासना की, उसके प्रसादसे वे केवल हो गए, यही उनकी प्रभुता है। हम भी देहसे निराले अन्तस्तत्वकी उपासना करके शाश्वती निराकुलता प्राप्त करें यही अन्यत्व भावना भाने का प्रयोजन दिखाया जा रहा है।

इन्द्रियोसे ज्ञान और सुख मिलनेका भ्रम होनेका कारण—हम ससारी जीव इस समय जो कुछ ज्ञान करते हैं और आनन्द पाते हैं उसमें आश्रय इन्द्रियका होता है और इन्द्रियका आश्रय होनेसे अर्थात मति श्रुत ज्ञानकी उत्पत्ति तथा वैषयिक सुखकी उत्पत्ति इन्द्रियके कारण होने से जीवको यह भ्रम हो गया है कि ये इन्द्रिया जानती हैं, सुख भोगती हैं, इनके ही कारण मेरा ज्ञान और आनन्द है, लेकिन इस जीवमे स्वयं ज्ञान और आनन्दका स्वभाव न हो तो इन जड़ इन्द्रियोके माध्यमसे भी क्या कोई ज्ञान और सुख पाया जा सकता है? तो जो स्वय ज्ञानमय है, स्वय आनन्दमय है उसकी पकड होना चाहिए। यह जगत् मायाजाल है, इसमें सब जीव भूले भटके फिर रहे हैं, बाह्य पदार्थोंमें प्रीतिकी उत्सुकता होनेसे प्राय ये जीव अधेरेमें हैं। यहां लोग बड़प्पन भिन्न-भिन्न बातोंमे मानते हैं। कोई बड़ा अधिकारी बनानेमें, कोई बड़ा धनिक बननेमे, कोई ज्ञान वाला बननेमे, कोई किसी ही बातमें अपना बड़प्पन मानते हैं। सो ठीक है लेकिन यह मैं आत्माराम तो इन सब विकल्पोंसे हटकर निर्विकल्प अविकार, सहजज्ञानस्वभावकी उपासनामे लगता हू। इस मेरेका दुनियाके लोगोसे सम्बन्ध क्या? यहां कोई मदद कर सकने वाला नहीं है, किन्हींके द्वारा हमारे प्रति किए जाने वाले सम्मान अथवा अपमानसे

लाभ अथवा हानि क्या ? मैं तो एक सत् पदार्थ हू, अतएव उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप हू, अपने आपमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य किए चला जा रहा हू, हां जगतका एसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, विभावपरिणामों से परिणमने वाले पदार्थोंका ऐसा ही योग है कि अन्य पदार्थोंका आश्रय पाकर, निमित्त पाकर परिणतिया चल रही हैं, लेकिन सब कुछ चल रहा है, हो रहा है मेरा मेरे अकेले मे ही। किन्हीं दो पदार्थोंका मिल कर एक परिणमन नहीं बनता।

ज्ञेय पदार्थोंसे ज्ञायकस्वरूप आत्माकी विविक्तता--ज्ञानी सोचता है कि जानने वाला यहाँ वास्तवमे है कौन ? ये इन्द्रिया नहीं है। यह मै सहज ज्ञानस्वभाव सत् पदार्थ हू यह जानता है, इसमे जाननेका स्वभाव पड़ा है। जाने बिना यह रह सकता नहीं। कर्म सब नष्ट हो जाये तो इसके जानने के स्वभावकी तो और प्रकर्षता हो जायेगी। यह जानता है, जानता है अर्थात् जो विश्वमें है उसका परिज्ञान करता है। इन ज्ञेय पदार्थोंको जानता है। तो इस जानने वाले आत्माका इन ज्ञेय पदार्थोंसे कोई सम्बन्ध है नहीं। इसमे स्वभाव ही है ऐसा कि यह जान जाय, जानता रहे, जानने में सब आता है लेकिन किसी ज्ञेयपदार्थ से इस ज्ञाताका सम्बन्ध नही है, सम्बन्ध माना जाता है करने और भोगनेका सहयोग मिलनेके कारण। व्यवहारमें जो कुछ सम्बन्ध माने जा रहे हैं उनमें किसी प्रकार या तो करनेका सम्बन्ध समझा जा रहा है या भोगनेका सम्बन्ध समझा जा रहा है, लेकिन यह आत्मा अपने आपके परिणामको ही कर पाता है और अपने आपके परिणमनको ही भोग सकता है। यहीं एक हाथकी मुट्ठी बाँधकर वजनदार चीजको उठाया तो उस कामके करनेमे पाचो अगुलियां काम कर रही है लेकिन उन पाचो ही अंगुलियोंमें उनका अपना पृथक् पृथक् परिणमन है अथवा मानलो किसी ढाई मनके वजनकी चीजको ४ आदमियोंने मिलकर उठाया तो उसमे यह नही है कि उन चारो आदमियो ने मिलकर एक काम किया है। उन पाचों व्यक्तियोंने अपने आपमे अपने आपका यत्न करने रूप अपना-अपना काम किया है। कोई पदार्थ मिल करके एक काम नहीं करते। सबका अपने आपमे अकेलेमे ही काम होता है। तो यह मैं आत्मा इन बाह्यपदार्थोंका करने वाला नहीं, भोगने वाला नहीं।

आत्मामे ज्ञेयोके ज्ञातृत्वमात्रकी सिद्धि--जैसे ये आखें अग्निको करने वाली नही हैं किन्तु देखने वाली है। ये आँखे न तो आगको कर सकती, न भोग सकतीं। आंखे यदि आगको करती होतीं तो बरसातके दिनोंमें जब लकड़िया गीली हैं, महिलायें चूल्हा जलाती हैं और आग जलती नहीं तो फिर २-३-४ महिलायें चूल्हेके सामने खूब तेज आंखे निकालकर बैठ जायें तो आग जल जाना चाहिए, पर ऐसा तो नहीं होता है। आँखें यदि आगको भोगती होतीं तो जैसे ईंधनने आगको भोगा तो ईंधन खाक हो गया ऐसे ही आँखें भी आगको भोगे तो आँखें भी भस्म हो जावें। ये तो दूर ही रहकर आगको जानती हैं देखती है। इसी तरह यह ज्ञानमय आत्मा इन समस्त बाह्यपदार्थोंको इनसे अत्यन्त दूर ही रहकर जानता है और देखता है। तो दूर रहनेका अर्थ यह है कि चाहे एकक्षेत्रावगाह भी हो, लेकिन सर्वद्रव्योंमें परस्पर अत्यन्ताभाव होनेसे मुझसे व अत्यन्त दूर है। जैसे घरमें चार आदमियोंका परस्पर मन न मिल रहा हो तो घरमें रहकर भी वे एक दूसरेसे अत्यन्त दूर हैं। यों ही समझिये—एक जगह अनेक पदार्थोंके रहने पर भी एक दूसरेका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वीकार नहीं कर सकते तो वे सभी एक दूसरेसे अत्यन्त दूर हैं। मैं ज्ञानस्वभाव हू, मेरे जाननेका स्वभाव है, पर किसी पदार्थसे मेरा सम्बध नहीं है।

वस्तुस्वरूपत निराकुल रहनेकी गुजायश होनेपर भी अज्ञानवश जीवकी दु खभागिता--ये अज्ञानी जीव सम्बन्ध मान करके दु खी होते हैं। इतना ही मात्र इन क्लेशोंका रहस्य है। कोई भी पदार्थ मुझपर बल प्रयोग नहीं करता कि तुम मुझको देखो, तुम मुझको जानो, तुम मुझे सूँघो, तुम मुझे छुवो, खावो, स्वाद लो। कोई भी पदार्थ मुझपर जबरदस्ती नहीं कर रहा है और अन्त स्वरूपको देखो तो यह आत्मा भी

किसी पदार्थमे प्रवेश करके छूता, जागता, देखता नहीं है, यह अपने आपमे ही रहता हुआ जानता देखता है। जैसे कि दीपकको ये पदार्थ जबरदस्ती नही करते कि ऐ दीपक, तुम क्यों बुझे पडे हो ? तुम जल जावो, हम यहा अंधरेमे पडे है और न दीपक ही अपनी जगहसे खिसककर इन समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करने जाता है। दीपक भी अपनी जगह है और वे पदार्थ भी अपनी अपनी जगह है, पर दीपक में ऐसा स्वभाव है कि वह स्वयं प्रकाशमान रहे और इन पदार्थोंमें स्वय ऐसा स्वभाव है कि वे दीपक आदिक जैसे प्रकाशमान पदार्थका सन्निधान पाकर स्वय अधकार अवस्थाको छोडकर प्रकाश अवस्थामे आ जाती है। तभी तो कभी यह न देखा होगा कि दीपकने यदि काले घडेको प्रकाशित किया तो दीपक ही काला वन जाय अथवा चौकोर टेबिल को प्रकाशित किया तो दीपक ही चौकोर रूप वन जाय। वे पदार्थ ही अपने स्वरूपसे प्रकाशित होते हैं, उससे दीपकमे क्या वनता है ? वे अपने स्वरूपसे प्रकाशित है। ऐसी ही बात यहा है। हम इतने ज्ञेय पदार्थोंको जानते है, वे ज्ञेय बनते हैं मै ज्ञायक रहता हूं, लेकिन यहा एक विडम्बना और वन जाती है। वहां तो दीपक काला, चौकोर, गोल आदिक नही बनता, पर यह आत्मा विकल्पमे इन बाह्यपदार्थोंकी इष्ट अनिष्ट परिणतिको निरखकर सुखी दु:खी वन जाता हैं। भींतकी एक ईंट खिसकी हो तो इसके दिलकी भी ईंट खिसक जाती है। कहीं वैभव, दुकान आदिक जल रहा हो तो इसका दिल भी जलने लगता है। वस्तुतः हैं सब बाते न्यारी-न्यारी, मगर जैसा विकल्प बीतता है उसकी बात कह रहे हैं। तो यह सब अज्ञानका परिणमन है।

सत्य वस्तुस्वरूपके ज्ञानसे ही निर्मोहता व निराकुलताका अभ्युदय--सत्य ज्ञान बनाना इसके समान वैभव कुछ भी नहीं है। सत्य ज्ञानके प्रतापसे ही मोह कटता है। मोहको नष्ट करनेके लिए अनेक दार्शनिकोंने अपने-अपने समझे हुए उपाय बताये हैं। यह दु:ख कैसे मिटे ? तो किसीने बताया कि ईश्वरका नाम रटो, उसका भरोसा करो दु ख मिट जायगा। किसीने उपाय बताया कि तुम यह मानो कि मै आत्मा ही कुछ नहीं हूं। दु:ख तो आत्मामे तभी हो रहा जब यह समझ रहे है कि मै आत्मा कुछ हू, मै जीव हू, जब अपनेको आत्मा ही न समझे तो दु:ख कहां टिकेंगे ? ये कैसी वचपन जैसी बाते है ? क्या ऐसी कल्पनाये कर लेनेसे दु:ख मिट जायगा ? अनेक लोगोंने दु ख मिटानेके लिए अनेक उपाय बताये, पर जैन शासनने दु:ख मेटनेका एकमात्र यही उपाय बताया कि तुम प्रत्येक पदार्थको जैसा है तैसा स्वतंत्र निश्चल अपने-अपने स्वरूपमे ही शाश्वत रहने वाला भिन्न-भिन्न जेसा है तैसा समझ लो। यथार्थ समझ होने पर यह मोह मिट जायगा। मोह मिटा कि क्लेश मिटे, और इसके आगे जब मोह दूर हुआ, बाह्य पदार्थोंमे रति होना मिट गया। अपने आपके ज्ञानस्वरूपमे ही मग्न होनेकी बात बन पड़ी तो यह उपयोग अपने आपमें इस ज्ञानसमुद्रमे एकरस होकर मिलकर जीव निस्तरग हो जायगा, दु ख मिटेंगे, मुक्ति हो जायगी, प्रभुता प्राप्त हो जायगी। तो दु:ख मेटनेका उपाय एक सम्यग्ज्ञान है।

परमें अनन्यबुद्धिका परिहार करके निजके स्वरूप और परिणमनकी सुध करनेका अनुरोध—इस अन्यत्व भावनामे आचार्यदेव यह कह रहे है कि तुम अपने आपके स्वरूपको देहादिकसे भिन्न जानो और भिन्न जानकर सब परका विकल्प तोड़कर आत्मामें मगन होनेका यत्न करो। यही अपने आपकी सेवा है। हम दूसरोंकी सेवा अनादिसे करते चले आये हैं, दूसरोंकी सेवा भी नही करते आये, किन्तु दूसरोंके विकल्प रख रख कर अपने आपमे कषाय चेष्टा अनादिसे करते आये, हमने अपने आपकी वस्तुतः सेवा नहीं की। जैसे कोई कामी पुरुष किसी आसक्तिके कारण अपने आपका खाना पीना भी छोड़ देता है, अपने आपके शरीरकी सम्भाल छोड़ देता है, पागल सा बनकर यहां वहा विचरता रहता है तो कर क्या रहा है वह ? दूसरेकी सेवा करनेके लिए भी उत्सुक है जिसपर प्रीति हुई है, उसको रिझाने, मिलने, प्रसन्न रखनेके लिए इतना दत्तचित्त है कि अपने आपके इस शरीरकी भी खबर छोड़ देता है। यह तो

लाभ अथवा हानि क्या ? मैं तो एक सत् पदार्थ हू, अतएव उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप हू, अपने आपमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य किए चला जा रहा हू, हां जगतका एसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, विभावपरिणामों से परिणमने वाले पदार्थोंका ऐसा ही योग है कि अन्य पदार्थोंका आश्रय पाकर, निमित्त पाकर परिणतिया चल रही है, लेकिन सब कुछ चल रहा है, हो रहा है मेरा मेरे अकेले मे ही। किन्हीं दो पदार्थोंका मिल कर एक परिणमन नही बनता।

ज्ञेय पदार्थोंसे ज्ञायकस्वरूप आत्माकी विविक्तता--ज्ञानी सोचता है कि जानने वाला यहाँ वास्तवमे है कौन ? ये इन्द्रियां नहीं हैं। यह मै सहज ज्ञानस्वभाव सत् पदार्थ हूं यह जानता है, इसमे जाननेका स्वभाव पड़ा है। जाने बिना यह रह सकता नही। कर्म सब नष्ट हो जायें तो इसके जानने के स्वभावकी तो और प्रकर्षता हो जायेगी। यह जानता है, जानता है अर्थात् जो विश्वमे है उसका परिज्ञान करता है। इन ज्ञेय पदार्थोंको जानता है। तो इस जानने वाले आत्माका इन ज्ञेय पदार्थोंसे कोई सम्बन्ध है नहीं। इसमे स्वभाव हो है ऐसा कि यह जान जाय, जानता रहे, जानने में सब आता है लेकिन किसी ज्ञेयपदार्थ से इस ज्ञाताका सम्बन्ध नही है, सम्बन्ध माना जाता है करने और भोगनेका सहयोग मिलनेके कारण। व्यवहारमे जो कुछ सम्बन्ध माने जा रहे हैं उनमे किसी प्रकार या तो करनेका सम्बन्ध समझा जा रहा है या भोगनेका सम्बन्ध समझा जा रहा है, लेकिन यह आत्मा अपने आपके परिणामको ही कर पाता है और अपने आपके परिणमनको ही भोग सकता है। यहीं एक हाथकी मुट्ठी बाँधकर वजनदार चीजको उठाया तो उस कामके करनेमे पाचों अगुलियां काम कर रही हैं लेकिन उन पाचों ही अंगुलियोंमें उनका अपना पृथक् पृथक् परिणमन है अथवा मानलो किसी ढाई मनके वजनकी चीजको ४ आदमियोंने मिलकर उठाया तो उसमे यह नही है कि उन चारों आदमियो ने मिलकर एक काम किया है। उन पाचों व्यक्तियोंने अपने आपमे अपने आपका यत्न करने रूप अपना-अपना काम किया है। कोई पदार्थ मिल करके एक काम नहीं करते। सबका अपने आपमे अकेलेमे ही काम होता है। तो यह मैं आत्मा इन बाह्यपदार्थोंका करने वाला नहीं, भोगने वाला नहीं।

आत्मामे ज्ञेयोके ज्ञातृत्वमात्रकी सिद्धि--जैसे ये आखे अग्निको करने वाली नही है किन्तु देखने वाली हैं। ये आँखे न तो आगको कर सकती, न भोग सकतीं। आखे यदि आगको करती होतीं तो बरसातके दिनोंमें जब लकड़िया गीली हैं, महिलायें चूल्हा जलाती है और आग जलती नहीं तो फिर २-३-४ महिलाये चूल्हेके सामने खूब तेज आंखे निकालकर बैठ जाये तो आग जल जाना चाहिए, पर ऐसा तो नहीं होता है। आँखे यदि आगको भोगती होती तो जैसे ईंधनने आगको भोगा तो ईंधन खाक हो गया ऐसे ही आँखें भी आगको भोगे तो आँखें भी भस्म हो जावें। ये तो दूर ही रहकर आगको जानती हैं देखती है। इसी तरह यह ज्ञानमय आत्मा इन समस्त बाह्यपदार्थोंको इनसे अत्यन्त दूर ही रहकर जानता है और देखता है। तो दूर रहनेका अर्थ यह है कि चाहे एकक्षेत्रावगाह भी हो, लेकिन सर्वद्रव्योमे परस्पर अत्यन्ताभाव होनेसे मुझसे व अत्यन्त दूर हैं। जैसे घरमें चार आदमियोका परस्पर मन न मिल रहा हो तो घरमें रहकर भी वे एक दूसरेसे अत्यन्त दूर है। यों ही समझिये—एक जगह अनेक पदार्थोंके रहने पर भी एक दूसरेका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वीकार नहीं कर सकते तो वे सभी एक दूसरेसे अत्यन्त दूर हैं। मैं ज्ञानस्वभाव हू, मेरे जाननेका स्वभाव है, पर किसी पदार्थसे मेरा सम्बध नहीं है।

वस्तुस्वरूपत निराकुल रहनेकी गुजायश होनेपर भी अज्ञानवश जीवकी दु खभागिता--ये अज्ञानी जीव सम्बन्ध मान करके दु खी होते है। इतना ही मात्र इन क्लेशोंका रहस्य है। कोई भी पदार्थ मुझपर बल प्रयोग नहीं करता कि तुम मुझको देखो, तुम मुझको जानो, तुम मुझे सूँघो, तुम मुझे छुवो, खावो, स्वाद लो। कोई भी पदार्थ मुझपर जबरदस्ती नहीं कर रहा है और अन्त.स्वरूपको देखो तो यह आत्मा भी

किसी पदार्थमे प्रवेश करके छूता, जागता, देखता नही है, यह अपने आपमे ही रहता हुआ जानता देखता है। जैसे कि दीपकको ये पदार्थ जबरदस्ती नही करते कि ऐ दीपक, तुम क्यों चुप पडे हो ? तुम जल जावो, हम यहा अंधरेमे पडे है और न दीपक ही अपनी जगहसे खिसककर इन समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करने जाता है। दीपक भी अपनी जगह है और वे पदार्थ भी अपनी अपनी जगह हैं, पर दीपक में ऐसा स्वभाव है कि वह स्वयं प्रकाशमान रहे और इन पदार्थोंमें स्वय ऐसा स्वभाव है कि वे दीपक आदिक जैसे प्रकाशमान पदार्थका सन्निधान पाकर स्वयं अधकार अवस्थाको छोडकर प्रकाश अवस्थामे आ जाती हैं। तभी तो कभी यह न देखा होगा कि दीपकने यदि काले घडेको प्रकाशित किया तो दीपक ही काला बन जाय अथवा चौकोर टेबिल को प्रकाशित किया तो दीपक ही चौकोर रूप बन जाय। वे पदार्थ ही अपने स्वरूपसे प्रकाशित होते है, उससे दीपकमे क्या बनता है ? वे अपने स्वरूपसे प्रकाशित हैं। ऐसी ही बात यहा है। हम इतने ज्ञेय पदार्थोंको जानते है, वे ज्ञेय बनते हैं मै ज्ञायक रहता हू, लेकिन यहां एक विडम्बना और बन जाती है। वहां तो दीपक काला, चौकोर, गोल आदिक नही बनता, पर यह आत्मा विकल्पमे इन बाह्यपदार्थोंकी इष्ट अनिष्ट परिणतिको निरखकर सुखी दुखी बन जाता है। भींतकी एक ईंट खिसकी हो तो इसके दिलकी भी ईंट खिसक जाती है। कहीं वैभव, दुकान आदिक जल रहा हो तो इसका दिल भी जलने लगता है। वस्तुत: है सब बाते न्यारी-न्यारी, मगर जैसा विकल्प बीतता है उसकी बात कह रहे हैं। तो यह सब अज्ञानका परिणमन है।

सत्य वस्तुस्वरूपके ज्ञानसे ही निर्मोहता व निराकुलताका अभ्युदय—सत्य ज्ञान बनाना इसके समान वैभव कुछ भी नहीं है। सत्य ज्ञानके प्रतापसे ही मोह कटता है। मोहको नष्ट करनेके लिए अनेक दार्शनिकोंने अपने-अपने समझे हुए उपाय बताये हैं। यह दुःख कैसे मिटे ? तो किसीने बताया कि ईश्वरका नाम रटो, उसका भरोसा करो दुःख मिट जायगा। किसीने उपाय बताया कि तुम यह मानो कि मै आत्मा ही कुछ नहीं हूं। दुःख तो आत्मामे तभी हो रहा जब यह समझ रहे है कि मै आत्मा कुछ हू, मै जीव हू, जब अपनेको आत्मा ही न समझे तो दुःख कहां टिकेंगे ? ये कैसी बचपन जैसी बाते है ? क्या ऐसी कल्पनाये कर लेनेसे दुःख मिट जायगा ? अनेक लोगोंने दुःख मिटानेके लिए अनेक उपाय बताये, पर जैन शासनने दुःख मेटनेका एकमात्र यही उपाय बताया कि तुम प्रत्येक पदार्थको जैसा है तैसा स्वतंत्र निश्चल अपने-अपने स्वरूपमे ही शाश्वत रहने वाला भिन्न-भिन्न जैसा है तैसा समझ लो। यथार्थ समझ होने पर यह मोह मिट जायगा। मोह मिटा कि क्लेश मिटे, और इसके आगे जब मोह दूर हुआ, बाह्य पदार्थोंमे रति होना मिट गया। अपने आपके ज्ञानस्वरूपमे ही मग्न होनेकी बात बन पडी तो यह उपयोग अपने आपमे इस ज्ञानसमुद्रमे एकरस होकर मिलकर जीव निस्तरग हो जायगा, दुःख मिटेंगे, मुक्ति हो जायगी, प्रभुता प्राप्त हो जायगी। तो दुःख मेटनेका उपाय एक सम्यग्ज्ञान है।

परमें अनन्यबुद्धिका परिहार करके निजके स्वरूप और परिणमनकी सुध करनेका अनुरोध—इस अन्यत्व भावनामे आचार्यदेव यह कह रहे है कि तुम अपने आपके स्वरूपको देहादिकसे भिन्न जानो और भिन्न जानकर सब परका विकल्प तोड़कर आत्मामें मगन होनेका यत्न करो। यही अपने आपकी सेवा है। हम दूसरोकी सेवा अनादिसे करते चले आये हैं, दूसरोंकी सेवा भी नही करते आये, किन्तु दूसरोके विकल्प रख रख कर अपने आपमे कषाय चेष्टा अनादिसे करते आये, हमने अपने आपकी वस्तुतः सेवा नहीं की। जैसे कोई कामी पुरुष किसी आसक्तिके कारण अपने आपका खाना पीना भी छोड़ देता है, अपने आपके शरीरकी सम्भाल छोड देता है, पागल सा बनकर यहां वहा विचरता रहता है तो कर क्या रहा है वह ? दूसरेकी सेवा करनेके लिए भी उत्सुक है जिसपर प्रीति हुई है, उसको रिझाने, मिलने, प्रसन्न रखनेके लिए इतना दत्तचित्त है कि अपने आपके इस शरीरकी भी खबर छोड़ देता है। यह तो

है एक बाहरी बात और यहां ये अज्ञानी जन कर क्या रहे हैं कि बाह्य पदार्थोंमें इन्हें आसक्ति जगी है। इनसे ही तो सुख है। बहुत स्वादिष्ट भोजन करनेमें ही तो बहुत आनन्द मिलता है। वही रोज-रोज करना चाहिए। आसक्तिसे खाते हैं, स्वाद लेते हैं, पर यह बात भूल गए कि इस मिठाईके खानेके समय भी जो स्वाद आ रहा है वह ज्ञानका स्वाद आ रहा है, इन पदार्थोंका स्वाद नहीं आ रहा। यह खबर भूल गये। किसी भी प्रसगमें जब जब भी ये आनन्द मानते हैं, सन्तोष करते हैं तो वे अपने ही किसी ज्ञान का स्वाद लेते हैं, आनन्द मानते हैं। पर समझते हैं कि इससे स्वाद आया।

एक उदाहरणपूर्वक सुखको अन्याधीन माननेके भ्रमका दिग्दर्शन—जैसे कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है तो चबानेसे उसके ही दाँतोंके मसूढोंमें कुछ फटाव हो जाता है और उसीके मुखमें से खून निकलता है। उस खूनका वह स्वाद ले रहा है, कुछ अच्छा उसे जच रहा है तो यह जानकर कि यह स्वाद इस हड्डीसे आ रहा है, तब कभी वह अकेलेमें जाकर उस सूखी हड्डीको चबाता है इसलिए कि कहीं दूसरा कुत्ता छुडा न ले। यदि कोई दूसरा कुत्ता उसे छुडाने आ जाता है तो उससे बुरी तरह वह कुत्ता लड़ता है, उस कुत्तेसे भी यह नुचखिंच जाता है पर उस हड्डीको वह नहीं छोड़ना चाहता। यह भ्रमकी ही तो बात है। ऐसे ही इन अज्ञानी जीवोंने यह भ्रम मजबूत कर लिया है कि मेरेको आनन्द इन पदार्थों के छूनेसे होता है, मेरेको आनन्द इन पदार्थोंका स्वाद लेने होता है, इन रूपोंके देखनेसे मेरेको आनन्द होता है। लोककी ये भवमूर्ति, ये दुनियाके लोग मेरे बारेमें कुछ अच्छा कह दें ऐसी बात मेरे सुनने जाननेमें आये, इससे ही मुझको सुख होता है।

रागद्वेष मोह वश हुए दु खोंके मेटनेका उपाय निज ज्ञानस्वभावके ज्ञानका पौरुष—मेरा सुख इस पब्लिक के आधीन है, विषयके आधीन है ऐसी भ्रान्ति बना करके यह जीव यह भूल गया कि यह स्वय ही तो आनन्दका पिण्ड है। इन घटनाओंमें जो आनन्द जग रहा है वह इन चीजोंका आनन्द नहीं है। वह तो मेरा ही परिणमन है। इस तथ्यको भूल जाने के कारण यह जीव उन बाह्यपदार्थोंमें ही दौड़ लगाये जा रहा है। अब ऐसी चाह वाले मनुष्य हैं अनेक। वैभव है परिमाणका और उसके चाहने वाले हैं सभी मनुष्य तो सभी तो उसपर टूटते हैं। तो एक दूसरेका विरोधी जानकर जिसने समझा कि मेरे विषयमें यह बाधक बन रहा है, उसपर टूट पड़ता है यों यह जीव मोह रागद्वेषके वश होकर निरन्तर दु'खी रहता है। इस जीवके दु ख मिटनेका उपदेश आचार्यने यह दिया है कि तुम वस्तुके सत्य स्वरूपको जानो, तुम्हारे स्वरूपसे देह विषय आदिक समस्त पदार्थ भिन्न हैं। उनकी उपेक्षा करके अपने आपमें रुचि करे, इस ज्ञानस्वभावमें ही उपयोग लगानेका प्रयत्न करे, यही इस अन्यत्वभावना भानेका फल है।

सयल-कुहियाण पिंडं किमि-कुल-कलियं अउव्व-दुग्गंध।
मल-मुत्ताण य गेहं देहं जाणेहि असुइमयं ॥८३॥

देहकी अशुचिमयता—यह देह अशुचिमय है, अपवित्र द्रव्योंसे बना हुआ है, क्योंकि यह देह सारी अपवित्र वस्तुवोंका ही पिण्ड है। इस देहमें भीतरसे बाहर तक कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो किसी प्रकार लोकव्यवहारमें भी कुछ ठीक माना जाता हो, बहुतसे जानवरोंके देहमें कुछ चीजें ऐसी भी होती है कि जो लोकव्यवहारमें कुछ काममें आती है और कुछ ठीक भी मानते हैं—जैसे गजमोती, सीप, शख आदि किन्तु मनुष्योंके देहमें तो इतना भी नहीं है। इसमें अनेक कीडोंका समूह भी बसा हुआ है। पेटमें उत्पन्न होने वाले दो इन्द्रिय लट आदिक, शिरकेशमें जूँ लीख वगैरह अनेक जीव भी इसमें और अधिक बने हुए हैं। यह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धमय है तथा मलमूत्रादिकका घर है। ७ धातु उपधातु और मल-मूत्रादिक मलोंका समूह ही यह देह है। अशुचिभावनामें लिखा है कि यह देह चाम चादरसे मढी हुई है इसलिए प्रकट घिनावना नहीं लग रहा। यदि चामकी चादर इस देह पर न होती तो इस शरीरका बड़ा

विरावन कर जाना। तो यह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धमय है।

इस शरीरकी उत्पत्ति वृद्धिकी स्थितिमे भी अशुचिताकी प्रसिद्धि—देहकी अशुचितताके सम्बन्धमें प्रथम तो समझिये कि इस शरीरकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? कोई जीव मरकर जब गर्भमे आता है तो गर्भमे १० दिन तक इस शरीरका बीज कलिल अवस्थामें रहता है। कलिल दशा ऐसी होती है कि जैसे गले हुए तावे और चांदीको आपसमे मिलने पर होता है। एक ढड़कता हुआ गीलासा बीजभू शरीर रहता है। गर्भ अवस्थामे माताके रज और पिताके वीर्यकी ऐसी ही स्थिति १० दिन तक रहती है जो कि कलिल जैसी दशा रहती है। इसके वाद १० दिन तक उसका रंग कृष्ण हो जाता है। इसके बाद अब तक तो वह अस्थिर था. पिण्ड होकर भी कुछ गीला होने के कारण चलित अवस्था सी रहती थी, अब वह स्थिर हो गया। इन बातोंका अनुमान अडेमें आने वाले जीवके शरीरको देखकर किया जा सकता है। जैसे कभी छोटी अवस्थामे कही अडा फूट जाता है, गिर जाता है तो वह शरीर कलिलकी तरह पानी जैसा फैल जाता है। कुछ ज्यादा दिनका अडा गिरा हुआ होता है तो फैलता नही किन्तु गीला होकर भी स्थिर सा रहता है, ऐसे ही मनुष्यके गर्भमे ऐसी स्थिति होती है। सो पहिले महीनेमे तो यह दशा हुई, ३० दिन तक ऐसी स्थिति रही। दूसरे महीने में यह शरीर बुदबुदेकी तरह हो जाता है। तीसरे महीनेमे उसमें कड़ापन आता है। यह मनुष्यदेह जो बना है, उसकी क्रमश ऐसी ऐसी स्थितिया होती है। जीव तो उस ही क्षणसे है जब कि वह गर्भका प्रथम ही दिन था, जहांसे इस शरीरमे कुछ थोड़ीसी भी वृद्धि उत्पन्न हुई। तीसरे माहमे वह शरीर कड़ा हो जाता है, चौथे माहमे वह मासका पिण्ड बन जाता है। ५वें महीनेमे उस शरीरमे से ऐसी जगह अंकुर फूटने लगते हैं जहांसे हाथ पैर आदिक बनते हैं। तो ऐसे वे अकुर ५ फूटते हैं, दो हाथके, दो पैरके और एक सिरका। है भी शरीर इस तरह ५ शाखाओ जैसा। छठे माहमे अगोपाङ्ग बन जाते है। ७ वे महीनेमें चमडा केश, रोम, नख आदिक भी बन जाते है। कभी कभी कोई कोई बच्चा ७ माहका भी पैदा हो जाता है और उसमे ये सब बाते बन जाती हैं। ८ वें महीनेमें बच्चा पेटमे घूमने लगाता है। थोड़ासा सरकना, हिलना डुलना आदिक ऐसी बाते उसमे आने लगती है। ९ वे अथवा १० वें महीनेमे वह बच्चा गर्भसे बाहर निकलता है। तो इस तरह इस शरीरका निर्माण हुआ। इस निर्माण विधिमे प्रारम्भसे अन्त तक आपको यही ध्यानमे आ रहा होगा कि यह सारा शरीर अशुचि ही अशुचि है।

शरीरमे पाई जानेवाली रचनाओंकी अशुचिमयता—इस बने हुए शरीरमे क्या क्या रचनाये है ? इस का भी परिज्ञान करनेसे यह बात ज्ञात होती है कि यह शरीर अशुचिमय है। इस शरीरमे आयुर्वेद शास्त्र के मुताबिक ३०० हड्डियां बतायी गई हैं। जैसे अगुलियों के भीतर भी हड्डियां है और कही जुड़ी हुई हड्डियां हैं। ऐसी सारे शरीरमे मिलाकर ३०० हड्डियां होती है। ये हड्डिया मज्जा मासकी धातुसे भरी हुई होती हैं। उन हड्डियोंके भीतर कुछ थोडी पोल भी है लेकिन उसमे भी मज्जा जैसी धातु है तथा उन हड्डियोंके ऊपर भी लिपटी रहती है। ३०० ही इसकी सन्धिया है। एक हड्डी दूसरी हड्डीसे मिलें उसे सन्धियां बोलते हैं। इसमे ९०० नसे पायी जाती हैं, ७०० इसमे शिराएँ हैं। ५०० मांसकी गाँठे हैं, शिराओंके चार समूह हैं, रक्तपूर्ण १६ महाशिराये हैं। उन शिराओके ६ मूल है और दो मासरज्जु हैं। वे रस्सीकी तरह हैं। और जिसे आँत जैसी बात कह सकते है कि इतने लम्बे चौड़े रज्जु हैं पीठ पेटको कसने वाली कि जिनका इकहरा विस्तार हो तो बहुत बड़ी लम्बाई बने। ७ मांसखण्ड है, ८० लाख करोड़ रोम हैं। आमाशयमे १६ आते है। ७ दुर्गन्धके आश्रय है। तीन स्थूणा है वात पित्त और कफ। १०७ मर्मस्थान है, जिनमे चोट लगे तो प्राण निकलने जैसी वेदना मालूम पडे, जैसे गलेकी जगह, नाभिकी जगह, ऐसे १०७ मर्मस्थान हैं ९ मलद्वार हैं। जिनसे सर्वदा मल भरता रहता है। २ कानमे छिद्र, २ नाकके

छिद्र, २ आंखके छिद्र, एक मुखका छिद्र और २ मल तथा मूत्रके छिद्र ऐसे ६ मलद्वार हैं जिनसे सदा महा अपवित्र चीजें भरती रहती हैं। देखिये—शरीरमे सबसे अधिक मलका घर है तो मुँह है जिससे लोग बड़ा परिचय रखते है और जिससे ही सुन्दरता समझते हैं। किसीके रूपका कोई अवलोकन करता है सुन्दर समझकर तो मुखको ही देखता है, पर सबसे ज्यादा मलके स्थान इस मुखपर है। तो इस मुखकी जगह मे ७ मल द्वार हैं, दोनों कानोसे कर्णमल भरता, नाकके दोनो छिद्रोंसे नाक भरती, दोनों आखोंसे आखोंका कीचड़ भरता, और मुखसे लार, थूक, कफ आदिक भरते हैं। ऐसे महा अपवित्र मुख स्थानसे लोग अपना परिचय करते हैं और उसमे सौन्दर्यका व्यवहार बनाते हैं। बहुतसी महिलायें अथवा पुरुष तो इस मुखस्थानको पोडर पाउडर तेल पाउडर आदिकसे बहुत बहुत सजाते है तो वे क्या करते हैं—मानो मलसे भरे हुए स्वर्णके घडेको सजाते हैं। इस देहमे एक अञ्जलि प्रमाण मस्तक है, अञ्जलि कहते हैं—दोनो हाथ मिलकर उसमे जितनी कोई चीज समा सकती है उसे एक अञ्जलि कहते हैं। एक अञ्जलि प्रमाण मेदा है, एक अञ्जलि प्रमाण ओज है और एक अञ्जलि प्रमाण वीर्य है। तीन अञ्जलिप्रमाण वसा है, तीन अञ्जलि प्रमाण पित्त है। (इस देहके वर्णनमे यहा प्राय: एक मनुष्य देहकी बात चल रही है) इसमे ८ सेर खून है, १६ सेर मूत्र रहता है, २४ सेर विष्टा रहता है। अब आप समझिये कि करीब इतना विष्टा निरन्तर इस शरीरमे न रहे तो यह जीवित नहीं रह सकता। ऊपरसे इस शरीरका बड़ा भला रूप लग रहा है किन्तु भीतरमे महा अपवित्रतायें इसके अन्दर भरी हैं। इसमें २० नख है जो अगुलियोके अन्तमें निकलते है और ३२ दांत होते है। किसीके इससे कुछ कम भी हो सकते है।

मोहकी सर्वाधिक अशुचिता—इस शरीरमे भरा क्या है? इसका वर्णन इसलिए किया जा रहा है कि जिस शरीरसे इतनी अधिक ममता की जाती है वह शरीर पौद्गलिक पिण्ड है और कैसा अशुचिमय पदार्थ है। अशुचि भावनामें अन्य कवियों ने भी इस शरीरकी अशुचिताका वर्णन किया है। भूधरदास कवि ने बताया है कि हाड़का यह पिंजड़ा है। इस लोकमें देहके समान और कोई अपवित्र चीज नहीं है पर इसके ऊपर जो चामकी चादर मढी हुई है उसके कारण लोग बड़ा प्यार करते हैं, घृणा नहीं करते। लोकमे जो भी अशुचि पदार्थ माने जाते हैं वे शरीरके सम्बन्धसे ही तो अशुचि हुए है। विष्टा क्या है? यह इस शरीरके सम्बन्धसे ही तो बनता है। नालियोंमें जो गदगी है उसमे और है क्या? मरे हुए जीवों का समूह ही तो है। पर कुछ विवेक करके यह भी निरखिये कि जो अपवित्र शरीर माना जाता है उसमें अपवित्रता आयी कहा से? जब तक जीवने शरीरको ग्रहण न किया था तब तक ये आहारकवर्गणाये लोकमे सर्वत्र फैली थीं और इनमें कोई गंदगी न थी। आहारवर्गणायें ही औदारिक शरीररूप परिणमती कभी वैक्रियक शरीररूप परिणमती, कभी आहारक शरीररूप परिणमती तो जो जीव जिस प्रकारके कर्मोदय वाला हो उसके उस तरहके शरीर बन जाते है। उन आहारकवर्गणाओंमे क्या अशुचिपना है? जब इन कर्मभूमिया मनुष्य तिर्यञ्चोंने आहारकवर्गणाओंको ग्रहण किया तो वे अशुचि बन गए। तो इसको अशुचि किसने बनाया? इस मोही जीवने। जीवमे अशुचिपना नहीं है किन्तु जीवका जो मोह परिणाम है उसके कारण ये सब अपवित्रताये बन गई। तो सबसे गदी चीज है यह मोह भाव, जिसके सम्बन्धके कारण ये शरीरादिक सभी पदार्थ अशुचि हो गए। तो यह देह अशुचि है। इस देहके अन्दर विराजमान ज्ञानस्वरूप यह मै अन्तस्तत्त्व शुचि हू। यही समयसार है। आत्मामे जो एक सहजस्वरूप है वह उत्कृष्ट और पवित्र है। इसका ही शुद्ध विकास परमात्मा कहलाता है। तो यों इस अशुचि देहमे विराजमान जो शुचि है उसको अन्दर निरखते रहना चाहिए कि कहा तो यह मै ज्ञानस्वरूप शुचि पवित्र परम पावन आत्मतत्त्व, सहज परमात्मदेव और कहा यह अशुचि पदार्थोंका पिण्ड यह देह? इसकी इस देहमें ममता होना यह कितनी बेहूदी और बेतुकी बात है। इस प्रकार शुचि आत्मासे भिन्न अशुचि शरीर

को निहारना सो अशुचि भावना है।

सुट्ठुपवित्तं दव्वं सरस-सुगंधं मणोहरं जं पि।
देह-णिहित्तं जायदि घिणावणं सुट्ठु दुग्गंधं ॥८४॥

देहके सम्बन्धसे पावन सुगंध मनोहर पदार्थोंकी भी अशुचिता—यह देह इतना अशुचि है कि इस देह पर यदि भला, पवित्र, सरस, सुगंध, मनोहारी पदार्थ भी लगा दिया जाय तो वह भी घिनावना हो जाता है। जैसे चन्दन बहुत सुगंधित पदार्थ है लेकिन चन्दन घिसकर कोई मस्तकमें लगाता है और ज्यादा लग गया चंदन तो क्या कोई दूसरा उसे अपने मस्तकमें लगानेके लिए तैयार हो सकता है? नहीं तैयार हो सकता। तो चंदन जैसा पवित्र पदार्थ भी शरीरका स्पर्श होनेसे अपवित्र हो गया। किसीके शरीरमें तैल मालिश की जा रही हो, किसी जगह तैल अधिक लग गया तो क्या दूसरा पुरुष उसके तैलको छुटाकर अपने शरीरमें लगाना पसंद करेगा? नहीं पसंद करेगा। तो तैल शरीरका स्पर्श पाकर अपवित्र हो गया अन्यकी तो बात क्या। अगर किसीके गलेमें फूलोंका हार डाल दिया गया हो और दूसरोंको विदित हो जाय कि यह माला इसने पहिनी है तो कोई भी व्यक्ति उसे पहिनना पसंद न करेगा। तो इस शरीरसे सम्बद्ध हो जाने पर पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं। इतना अशुचि पदार्थ है यह देह, फिर भी इस जीवको इस शरीरसे ग्लानि नहीं आती, इससे उपेक्षा नहीं जगती और इस शरीरकी सेवा पोषणके लिए ही इस जीवका ममत्व बना रहता है, यह कितने खेदकी बात है? शरीरमें और आत्मामें स्वभावभेदका कितना महान् अन्तर है, कहां तो यह आत्मा आकाशवत् अमूर्त निर्लेप किन्तु चैतन्य गुणसे विशिष्ट पावन ज्ञाताद्रष्टा, कहां तो इसका ऐसा पवित्र स्वभाव और कहां शरीर ऐसा अपवित्र जो मांस, रुधिर, मल, मूत्र आदिक की थैली ही है। इस आत्मदेवको अज्ञानवश कैसा मोह होता है सब कुछ अपना बड़प्पन अपनी भलाई इस देहके कारण ही मान रहे हैं।

भेदविज्ञानका प्रारम्भ और प्रकर्षपना—मोक्षमार्गमें लगनेके लिए भेदविज्ञानका प्रारम्भ देहसे भिन्नता का चिन्तन करनेसे तो होता है। यद्यपि भेदविज्ञान सही मायनेमें वह कहलाता है जहाँ समस्त परतत्त्वों से भिन्न सहज ज्ञानस्वभावपर दृष्टि की जाय, किन्तु एक भिन्न पदार्थकी मीमांसामें यदि इस क्रमसे मीमांसा की जाय कि पहले सर्वाधिक भिन्न वस्तुसे आत्माको निराला सोचे फिर उससे अतिनिकट भिन्न वस्तुसे निराला सोचे तब धन वैभव तो प्रकट पराये हैं। उनको भिन्न सिद्ध करनेके लिये कोई दिमाग नहीं लगाना है। सभी लोग देख रहे हैं कि सभी वस्तुयें हमसे प्रकट भिन्न हैं, यहाँ तक कि यह देह भी हमसे भिन्न है, फिर भी मोहवश इन्हें यह जीव अपनाता है। इस शरीरकी भी बात क्या, इससे भी और अन्तरङ्गमें चलिये तो ये पौद्गलिक कर्म, ज्ञानावरण आदिक कर्म ये जीवसे भिन्न हैं ये भी अचेतन हैं, परद्रव्य हैं, इनसे मैं न्यारा हू। यहाँ तक तो परद्रव्यकी बात चली। याने नोकर्म और द्रव्यकर्मसे मैं न्यारा हू। अब और अन्तरङ्गमें चले तो ये रागादिक दोष क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा आदिक विषय कषाय के परिणाम ये औपाधिक भाव हैं, स्वरूपमें नहीं हैं। इनसे मैं न्यारा हू। जैसे दर्पणमें हाथकी छवि पड़ती है तो वह छवि दर्पणकी मूलभूत वस्तु नहीं है, औपाधिक है। दर्पणके सत्त्वके कारण ही केवल वहांसे प्रकट नहीं हुई, उसमें उपाधिका सन्निधान है। इस प्रकार रागादिक भाव, औपाधिक भाव हैं, इस कारण ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। मैं इन रागादिकोंसे न्यारा हू। अब और आगे चले तो विचार, वितर्क, चिन्तन, छुटपुट ज्ञान—ये उन रागादिक दोषोंकी अपेक्षा तो अन्तरङ्ग है, क्योंकि वे तो विकार हैं और यहां यह ज्ञानके आवरणमें छुटपुट परिणमन हैं, लेकिन इससे भी मैं निराला हू। अपने आपके सहजस्वरूप की दृष्टिसे निर्णय किए जानेपर तो यह भी विदित होगा कि शुद्ध अवस्था होने पर भी, प्रभु परमात्मा होने पर भी जो प्रतिक्षणमें वहां परिणमन चल रहा है शुद्ध परिणमन चल रहा है। शुद्ध परिणमन शुद्ध

होने पर भी मैं सहजस्वरूप उस परिणमनरूप नहीं हु, किन्तु शाश्वत एक ज्ञानस्वभाव हू।

मोहमें आत्मा और पुद्गलके अनमेल मेलका प्रयास—अब देखिये कहां तो मेरा यह पावन सहजज्ञान स्वरूप और कहां चिपकाव लगाया गया है इस दुर्गन्धमय अशुचि भिन्न देहमे, यह कैसा अनमेल मेल है ? बाहरमे यदि किसी एक गाड़ीमे हाथी और बकरा जोते जाये तो लोग इसको बेवकूफी कहेंगे। कैसा अनमेलमेल किया जा रहा है और यहां कैसा अनमेल मेल बनाया जा रह है इसपर दृष्टि नहीं रखते। तो यह शरीर अत्यन्त अशुचि है, ऐसा जान कर इससे विरक्त होनेमें ही लाभ है। यह देह रमने योग्य नहीं है। देहरमणके प्रसंगमे पुण्योदयवश मनमे एक स्वच्छन्दता जगती है, कायरता जगती है, ये वैभव सुहावने लगते हैं किन्तु यह स्वप्न तो थोडे ही समयका है, इसका फल बहुत कठिन भोगना पडेगा। कुछ मन मिला है, पुण्य मिला है, तो ठीक है, खूब खाओ अभक्ष्य पदार्थ, खूब भोग भोग लो, खूब मनचाही स्वच्छन्द वृत्तिया कर लो, आज तो ये सब चीजे बड़ी सस्ती लग रही हैं लेकिन इन परिणामोमे जो कर्मबंध होता है उसका फल भोगने कौन दूसरा आयेगा ? यहाँसे मरण करके कीट पतगे, पेड़ पौधा आदि बन गए तो फिर कहा ये सारी स्वच्छन्द वृत्तिया चल सकेगी। स्वच्छन्दता वहा भी है, मगर अपने अपने पर्यायके अनुकूल हैं। तो थोडे ही वर्षोंका यह विषय भोग जो इस ही जीवनमे पीछे नीरस लगने लगता है, ऐसे भोगोमे, ऐसे अशुचि देहोंमे जो पुरुष अनुरक्त होता है वह अपने आपको इन ससारकी विडम्बनाओं में फसा लेता है।

देहानुरागके साधनोकी असारता—देहके अनुरागका एक साधन लोगोंने माना है ब्रह्मचर्यका घात। पर लोक दृष्टिसे देखो तो ब्रह्मचर्यके घातमे यह पुरुष प्रथम तो देहका बल खोकर आनन्द मानता है, जो देहवीर्य ४० दिन तक भोजन करने पर थोड़ासा बन पाता है उस वीर्यको कामी पुरुष अपने आप निर्दय होकर यों ही खो देता है। फिर उस शरीरके अनुरागमे यह जीव अपने को कितना कायर बना लेता है ? दूसरेको प्रसन्न रखनेके लिए उसे कितना दीन बनना पड़ता है, ये सब बाते उसके मन पर ही बीतती है ? देहके अनुरागका साधन सभी विषयोका उपभोग है। देहको निरखकर यह जीव कितना मुग्ध होता, यह ही मै हू, यह ही सर्वस्व है। यह पता नही कि अनन्तानन्त देह पाये, इससे भी सुहावने, देव भवके भी देह पाये, पर उन सब देहोंको त्यागना पड़ा और जैसे-जैसे बन्ध किया उसके माफिक अन्य अन्य देहोंको धारण करना पड़ा। शान्तिके इच्छुकको सर्वप्रथम तो यह निर्णय करना होगा कि जन्म लेना ही एक महान् विपदा है, इस भवके बाद अगले भवमे भी जन्म होगा ना, लेकिन जो अगले भवमे जन्म होगा उसकी सुध अभी तो नहीं है, पता नहीं अगले भवमे कहाँ होंगे, कैसे समागम प्राप्त होंगे। एक भव छोडने पर दूसरी जगह जन्म लेने पर नये नये सयोग मिलते है, नये-नये समागम प्राप्त होते है, नई-नई आकाक्षाये बनती है, अनेक यत्न करने होते हैं, सारा जीवन कष्ट भोगते भोगते ही व्यतीत होता है। यह जन्म ही जीवकी एक बडी विपदा है। मरण तो जीवके उद्धारका कारण है और जन्म जीवको विपत्तिमे लगानेका कारण है। तो यह देह अशुचि है। यह रमनेके लायक नहीं है।

त्रिविध भोगसाधक—भैया! इस देहको अशुचि जानकर इससे विरक्त होनेमें ही लाभ है। लेकिन ये मोही जीव इस देहमे इतना आसक्त है कि प्रकट घिनावना सब कुछ नजर भी आ रहा है लेकिन उससे प्रीति नहीं छोड़ सकते। एक बार किन्ही तीन मनुष्योंको एक भंगिन सुन्दर तौलियासे ढका हुआ टोकना लिए जाते हुए दिखी। वे तीनो पुरुष उस भगिनके पीछे लग गए, यह सोचकर कि इस टोकनेमे यह कोई सुन्दर चीज लिए जा रही है। भगिन उनको अपने पीछे लगा हुआ देखकर बोली—तुम लोग हमारे पीछे क्यों लगे हो ? तो वे पुरुष बोले—हम यह जानना चाहते है कि तुम इस टोकनेमें क्या चीज लिए जा रही हो ? हमें लगता है कि इसमे कोई सुन्दर चीज होगी। तो भगिन बोली—अरे इस टोकनेमें विष्टा

है। उस भंगिनकी बात सुनकर उनमे से एक पुरुष वापिस लौट गया। दो पुरुष अभी भी उस भंगिनके पीछे लगे रहे। भगिन फिर बोली— आप लोग क्यों हमारे पीछे लगे हैं ? तो वे दोनो पुरुष बोले— हमे तो इसे खोलकर दिखा दो, जब सही सही जान जायेगे तब लौटेंगे। भंगिनने उस तौलिया को हटाकर दिखा दिया तो उसे देखकर उन दोनो पुरुषोमे एक पुरुष वापिस लौट गया। एक पुरुष अभी भी उस भंगिनके पीछे लगा रहा। तो भगिन फिर बोली, भाई तुम क्यों हमारे पीछे लगे हो ? तो वह पुरुष बोला—तुमने तो हमे यों ही दूरसे दिखाकर बहका दिया है। हम तो यों न मानेंगे। हम तो खूब भलीभाँति सूँघ साँघकर जब सही रूपसे परीक्षा कर लेगे तब लौटेंगे। उस भगिन ने तौलिया अलग कर दिया। उस पुरुषने सूँघसाँघकर अच्छी तरह परीक्षा करली, मन भर लिया तब वापिस लौटा। तो ऐसे ही यहा भी तीन प्रकारके भोग साधक पुरुष पाये जाते हैं। कोई पुरुष तो भोगोकी असारताकी जरासी ही बात सुनकर भोगोसे अपना मुख मोड़ लेते हैं, कुछ लोग भोगोको देख सुनकर भोगोमे पड़कर कुछ विशेष जानकारी होने पर उन भोगोंसे निवृत्त होते है और कुछ लोग ऐसे होते हैं जो मरते दम तक इन भोगोसे निवृत्त नही होना चाहते। अन्तमे मरण हो जानेके कारण ही विवश होकर उन्हें उन भोगोको छोड़ना पड़ता है, वे अपनी इच्छासे छोडना नहीं चाहते।

शान्ति और सकट पानेके उपायका मर्म—संकट और शान्ति पानेके उपायका इतना ही तो मर्म है। परको भिन्न जानकर उससे उपेक्षा करके अपने आपमे रुचि जगाना, ज्ञानस्वरूपमे उपयोग लगाना, यही तृप्त रहना यह तो शान्तिका मार्ग है और अपने आपके स्वरूपकी सुध छोड़कर बाह्यकी ओर उन्मुख होकर इन बाह्य पदार्थोंमे लगना यह सकट पाने का उपाय है। भीतर ही ज्ञानभावके पैतरेसे शान्ति व संकटका काम बनता है। अन्दर और कुछ करने की बात नहीं है। श्रद्धा मिथ्या हो तो संसार बनेगा, श्रद्धा समीचीन हो, अपने सहजस्वरूपमे, यह मै हू, इस प्रकारके अनुभवनेकी श्रद्धा हो, तो ससारजाल कटने लगा। सारी बात जब यहां ही निहित है, बाहरमें कुछ निर्भर नहीं है तो हम यही अपने आपमे ही रहकर इस ही गुप्त उपायको गुप्तविधिसे कर क्यो नही लेते ? अनन्तकालके लिए समस्त सकट मिट जाने का एक यही उपाय है, ऐसा तो है अपना अंतस्तत्त्व और कहां लगा रखा है जीवोने ऐसे अशुचि देहसे सम्बन्ध ? तो इस अशुचि देहमे अनुराग न करके अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि रखना, इससे ही इस दुर्लभ मानव जीवनकी सफलता है। यही मात्र एक निर्णय रखिये कि मै जीवित हू तो एक अपने आपके स्वभावकी उपासनाके लिए ही जीवित हू। अन्तस्तत्त्वकी उपासनाके अतिरिक्त अन्य कुछ इस जीवनका निश्चयतः मेरा प्रोग्राम नही है।

मणुयाण असुइमयं विहिणा देह विणिम्मिय जाणा।
तेसिं विरमण—कज्जे ते पुण तत्थेव अणुरत्ता ॥८५॥

नरदेहरचनाके प्रयोजनकी कल्पना—भाग्यने तो मनुष्योंका यह अपवित्र शरीर इसलिए बनाया मानो कि यह मनुष्य वैराग्यके कार्यमें लग जाय, यह मनुष्य इस अशुचि देहको निरखकर इससे विरक्त हो और मोक्षके मार्गमे लग जाय, मानो इसीलिए ही भाग्यने मनुष्यका ऐसा गदा शरीर बनाया। गंदा ही नहीं, किन्तु सारहीन भी, लोकमे किसीके कुछ भी काम न आने वाला ऐसा असार अपवित्र शरीर तो वैराग्य कार्यमे लगाने को बनाया, लेकिन यह मानव इस ही अशुचि शरीरमें अनुरक्त होता है। जिस क्षेत्रमे इष्ट पदार्थका समागम रहता है, जहां इष्टवियोग होता ही नहीं वहांसे मुक्ति नहीं होती, जैसे भोगभूमियाका क्षेत्र। वहां स्त्री पुरुष हमेशा रहते है, उनके कभी वियोग नही होता और जब उनके सतान होती है तो वे भी जुगलिया होते है। दोनो बच्चा बच्ची उत्पन्न हुए कि तत्काल ही पुरुष और स्त्री एक साथ मर जाते हैं। न सतानने माता पिताको देखा, न माता पिता ने सतानको देखा। उन सतानोको माता पिताके न

होनेका कोई क्लेश नहीं है क्योंकि प्रकृत्या वहां पैरोंका अंगूठा चूम चूसकर वे पुष्ट होते हैं फिर कल्पपादप के भोग भोगते हैं और ४६ दिनमे ही वे पूर्ण युवा हो जाते हैं, उनको किसी प्रकारका इष्टवियोग नहीं है। जब संयोग हो और फिर न रहे उसका ही तो नाम वियोग है। माता पिताको सतानका सयोग होता नही, सतान माता पिताको देखती नहीं तो इष्टवियोग तो नहीं है। जहां इष्टवियोग नहीं ऐसे क्षेत्रसे कभी इष्टका वियोग देव और देवीको तो कुछ ही क्षण वाद उस ही गद्दीपर, उस ही नियोगमे देव देवी उत्पन्न हो जाते है, वहांसे भी मुक्ति नहीं है, शरीर भी वहासे भी मुक्ति नहीं है, शरीर भी वहां गन्दे नहीं। कर्मभूमिका क्षेत्र इष्टवियोग अनिष्ट सयोग, शरीर व्याधि आदिक अनेक दुःखोंसे भरा हुआ है, तभी कर्मभूमिके मनुष्य मुक्ति प्राप्त करते है। तो यह अपवित्र शरीर इस भाग्यने कर्मोदयसे मानो इस प्रकार बनाया है कि यह विरक्त हो जाय, लेकिन ये मोही प्राणी इतना प्रबल आरूक्त हैं कि ऐसे अपवित्र शरीर मे भी अनुरक्त होते हैं।

असार अशुचि भिन्न विनाशीक देहमे अज्ञानसे जबरदस्तीका मोह--देखिये यह मनुष्य कह रहा है मानो कि मान न मान मै तेरा मेहमान ये कोई संयोग इस जीवको मानते नहीं। जब देह ही ने इसे न माना तो अन्यकी तो बात ही क्या, लेकिन यह मोही यह कहता है कि कोई पदार्थ मुझे अंगीकार करे या न करे, हम तो इनके ही है, हम तो इनमे ही अनुरक्त रहेंगे। तो यहां खेदके साथ आचार्य कह रहे है कि मानों विधिने तो वैराग्यके लिये अशुचि शरीर बनाया और यह इसीमे अनुरक्त होता है। जैसे किसीने किसीको चदनका वन पुरस्कारमें दे दिया और वह उस चन्दनके वनको काटकर सुखाकर भस्म करके वर्तन मांजनेके काममे लाये तो वह कितनी खेदकी बात है। तो यो ही समझिये कि जो रत्न (मानव देह) हमने ससार संकटोंसे सदाके लिए मुक्ति पानेके लिए पाया था उस रत्नको यदि यों ही गँवा दिया तो यह बडे खेदकी बात है। समस्तभवोंमे इस मनुष्यभवमे ही यह जीव एक तिरनेका सीधा और सत्य उपाय बना सकता है, पर यहां ही यह अनुरक्त हो गया तो इसके मोहका फल यही तो भोगेगा। हर तरहसे विवेक करके सोचना है कि आजका पाया हुआ समागम मेरे लिए कितना लाभकर बन सकता है। भव भवमें कुटुम्ब पाये, भव-भवमे मोह किया, पर उन सब भव भवोके मोहसे आज क्या पूरा पड़ा ? उनका ध्यान भी नहो हैं। लेकिन उन भवोमे मोह करके जो पाप बांधा है उसकी वासनाका फल अब तक मिल रहा है, जो जन्म करते हैं और मरण करते है। एक थोडेसे दिनोंका यदि तपश्चरण कर लिया जाय, तपश्चरण भी क्या कि परको पर जानकर उससे उपेक्षा कर ली जाय और निजको ज्ञानानन्दका धाम समझकर अपने आपमे रत हो लिया जाय, एक उपाय बना लिया जाय तो अनन्तकालके सकट मिट जायेगे।

सम्यक्त्वकी पारमार्थिकवैभवस्वरूपता--सम्यक्त्वके समान वैभव और कुछ नहीं बताया गया। यही कल्याणकर है, मिथ्यात्वके समान हानि और कुछ भी नहीं बतायी गई। यह जीव जरासे अनुकूल प्रतिकूल संयोगमे हानि और लाभका निर्णय कर लेता है। यह न हुआ निकट तो अपनी हानि समझ लिया, यह हो गया निकट तो अपना लाभ समझ लिया, पर इस ओर दृष्टि नहीं देता कि मेरे यदि ममत्व बसा है तो सारी हानि ही हानि है। मिथ्यात्वके रहनेपर चाहे कितना ही राजपाट मिल जाय, उससे क्या प्रयोजन है ? क्या फायदा होगा ? ससारमे रुलना और विकल्प करके आकुलित होना इसका विपाक है। और एक सम्यक्त्व भाव जग गया है, कुछ भी नही है निकट, फिर भी यह आत्माराम अकेला ही अपने आपमें इस सहज परमात्मतत्त्वको निरखकर तृप्त रहा करता है। सम्यक्त्वके समान कुछ वैभव नही है, मिथ्यात्वके समान कोई विपदा नहीं है। आज यह शरीर जन्म जरा मरण वाला प्राप्त किया है अशुचि, अपवित्र, दुर्गन्धित जिसमें अनेक व्याधियाँ भरी है। घृणास्पद यह शरीर पाया है तो यह निरखिये कि इस

अवस्थामे यह मै ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा अपने आपके अन्तरङ्गका कितना बड़ा कार्य साध सकता हूं? यह कितना ऊँचा लाभ मिला? इस लाभको देव प्राप्त नही कर सकते। इसको भोगभूमिया मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकते। तो इस समागमसे हमे यह लाभ उठाना चाहिए कि हम अपनेको पहिचानें, जानें और आत्मामें रत होकर सदाके लिए हम सकटोसे मुक्त होनेका अमोघ उपाय बना ले।

एव विह पि देहं पिच्छंता वि य कुणंति अणुरायं।
सेवंति आयरेण व अलद्ध-पुव्वं ति मण्णंता ॥८६॥

अशुचि, असार अनित्य शरीरको अशुचि सारहीन देखकर भी इसमे अनुराग करनेका प्राणीका व्यामोह--यह मानव शरीरको ऐसा अपवित्र सारहीन देख रहा है तिस पर भी इस ही में अनुराग कर रहा है और इस तरह अनुराग कर रहा, ऐसी लम्पटताके साथ इस देहमें ममता कर रहा कि मानो इससे पहिले कभी शरीर पाया ही न हो। आसक्तिपूर्वक विषय उपभोगमे तब होते है जब यह मोही चित्तमे यह समझता है कि ऐसा विषय, ऐसा प्रसंग तो हमने अब तक नही पाया, यह अपूर्व है। किसी भी वस्तुको अपूर्व जानकर ही उसमे तीव्र अनुराग किया जाता है। तो यह मानव देहसे इस तरहसे आसक्त होता है कि मानो वह यह निश्चय किए हुए है कि मैंने यह शरीर कभी नहीं प्राप्त किया, ऐसा समझकर बड़े आदरसे इस देहकी रक्षा करता है। देहोकी अवगाहना जघन्य बतायी गई है अगुलके असंख्यातवे भागप्रमाण अब आप समझिये कि एक अगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण कितना बड़ा हिस्सा होगा। इतने अत्यन्त सूक्ष्म परिमाण वाले जीव होते हैं निगोदियालब्धपर्याप्तक और, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट काय है एक हजार योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन मोटा, इतने प्रमाणका जीव, वह है महामत्स्य जो कि स्वयंभूरमण समुद्रमे पड़ा रहता है। अब इस जघन्य प्रमाणके शरीरसे लेकर उत्कृष्ट प्रमाण तक एक एक प्रदेश बढा-बढ़ाकर आप अदाज करे कि कितनी तरहके भेदकी अवगाहनाके शरीर होगे? जैसे कोई वस्तु १ अंगुल की है और वैसी ही वस्तु कोई १००० अंगुलकी है तो एक एक अगुल बढा बढाकर भीतरकी वस्तुओंको देखो तो एक कम १००० तरहकी अवगाहनाके हुए ना, तो इसी तरह सूक्ष्म निगोद लब्धपर्याप्तके जघन्य शरीरमे एक प्रदेश बढकर कोई अवगाहना है, उससे एक प्रदेश बढकर कोई अवगाहना है, यों एक—एक प्रदेश बढा बढाकर उत्कृष्ट प्रमाण शरीर तक ले जाइये, इतनी अवगाहना तकके देह हम आपने अनन्त बार पाये होगे, लेकिन यह जीव आजके इस शरीरको पाकर मानता है कि हमने अपूर्व वस्तु पायी और ऐसा ही समझकर इसमें आदर करता है।

मोहका अशुचि देहमे आत्मीयताका व्यर्थ व्यामोह--यह बात प्रयोगमे बहुतायतसे आती ही रहती है कि शरीर कितना गदा है? कहीं रक्तप्रवाहमे बाधा आये तो वहाँ फोड़ा फुसी हो जाते हैं, वे पकते है और वहाँसे पीप निकलती है। उसे देखा नही जाता है। प्रियसे प्रिय हो कोई तो वे भी लोग देखनेमे घृणा करते हैं। तो यह सारा शरीर ही ऐसा बना हुआ है। केवल इसपर चामकी चादर मढ़ी है सो ये सब गदगियाँ ढकी है। अगर इस शरीरके ऊपरकी चामकी चादर हट जाय तो इस शरीरकी सारी अपवित्रतायें स्पष्ट विदित हो जाये। यह शरीर महा अपवित्र है, ऐसा जानकर इस शरीरके भीतरकी गदगीको परखकर दूसरेके शरीरसे अनुराग, काम भावनाका त्याग कर दे। जब भी किसी शरीरको देखें तो जैसे ऊपरसे चाम दिखता है तो भीतरकी गदगियोंका भी तो ज्ञान बनाये कि ऐसा यह गंदा शरीर है। यह मानव किससे प्रेम करता है पहिले तो इसको यही निर्णय नहीं है। शरीरसे प्रेम करता होता तो जीवके मर जाने पर याने दूसरे भवमें चले जाने पर इस मृत शरीरसे क्यों अनुराग नही करता? जीवसे अनुराग नहीं करता? जीवसे अनुराग करनेकी बात तो बिल्कुल ही झूठ है। कौन यह निरखता है कि इसमे अमूर्त चैतन्यमात्र जो आत्मा है उस आत्मासे मै प्रीति करता हू? अरे ऐसा आत्मा तो सब जीवोमे

समानरूपसे हैं, फिर अन्य सारे अनन्त जीवोको छोड़कर उस एक ही जीवमे अनुराग क्यों ? तो यह मनुष्य जीवसे प्रेम नहीं करता, शरीरसे भी प्रेम नहीं करना, लेकिन कल्पनामें ऐसा मुग्ध हुआ है कि इन भवमूर्तियोमें अनुराग किए बिना रह नहीं पाता। यह एक मनुष्य जन्मको व्यर्थ गँवानेकी बात है। देहमे आत्मबुद्धि छूट जाय तो उसका सब मार्ग साफ हो जायेगा।

आत्माके स्वरूपमे गरीबी व दु खोका अभाव—दु.ख क्या है, इसका निर्णय करें तो उत्तर मिलेगा कि किसीको कोई दु ख नहीं है, कोई मानता है कि मैं गरीब हू, मुझे बड़ा दु'ख है, अरे तुम अमूर्त आत्मा जरा सिद्ध भगवानको तो देखो—अरहत भगवानको तो देखो, सिद्ध परमेष्ठीके आत्माको तो निरखो, वह आत्मा कितना सबसे निराला है, केवल है, अकेला है। बाह्य पदार्थ न रहने से आत्मा यदि गरीब माना जाता होता तो सिद्धको क्या कहोगे ? साधुवोको क्या कहोगे ? बाह्य पदार्थोके न होने पर बाह्य पदार्थोंकी लालसा करनेको गरीबी कहते है। बाह्यपदार्थोंके न होनेका नाम गरीबी नहीं है, किन्तु बाह्य पदार्थों की लालसा, आशा, तृष्णा होनेका नाम गरीबी है। अब इस गरीबीकी व्याख्या व्यापकरूपसे देखे तो जगतमे जिन-जिनके तृष्णा है वे सभी गरीब है। अमीर तो वे हैं जिन्होने तृष्णापर विजय प्राप्त किया और अपने आपको प्रभु परमात्माकी तरह शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूपमे निरखा। मैं कहा गरीब हू ? तृष्णा ही गरीबीका साधन है, बाह्यवस्तु न होना इसको गरीबी नहीं कहा गया है।

गरीबीका एक उदाहरण—एक बार किसी फकीरको रास्तेमें एक पैसा मिला तो उसने उठा तो लिया पर सोचा कि यह पैसा किसको दिया जाय ? जो अधिकसे अधिक गरीब हो उसको पैसा दिया जाय। अब जब सबसे गरीबकी छाटके लिए चला तो उसे कोई ज्यादा गरीब न नजर आया। क्योकि-गरीब लोग कुछ धन वैभवमें कम होने पर भी सन्तोषका आश्रय ज्यादा रखते है, तो उसे अधिकांश लोग सन्तुष्ट दिखे, ज्यादासे ज्यादा गरीब कोई न दिखा। एक बार कोई बादशाह अपनी सेना सजाकर खुद हाथी पर बैठा हुआ किसी दूसरे छोटे राजाका राज्य हड़पने के लिए चढाई करने जा रहा था। फकीरने किसी व्यक्तिसे पूछा कि यह कौन जा रहा है ? उत्तर मिला—बादशाह। किसलिए जा रहा है ? किसी राजाका राज्य छीननेके लिए। अब उस फकीर ने सोचा कि इससे अधिक गरीब और कौन मिलेगा ? इसीको यह पैसा दे देना चाहिए। फकीरने वह पैसा बादशाहकी गोदमे डाल दिया। बादशाहकी नाकमे भी वह पैसा लग गया। बादशाह उस फकीर पर कुछ गुस्सा सा हुआ और पूछा—क्यो फकीर यह तुमने क्या किया ? तो वह फकीर बोला कि हमे यह पैसा रास्तेमे मिला था। हमने सोचा था कि यह पैसा उसे देंगे जो अत्यन्त गरीब होगा। आप हमें अत्यन्त गरीब दिखे इसलिए हमने यह पैसा आपको दिया। तो बादशाह बोला—हम गरीब कैसे ? हम तो बहुत बडे राजपाटके स्वामी है, हमारे पास बहुत बड़ी सेना है, बड़ा वैभव है। तो फकीर ने कहा महाराज, यदि आप गरीब न होते तो किसी छोटे राजाका राज्य छीनने क्यों जाते ? आपने यह अनुभव किया है कि मेरे पास वैभव कम है आपको वैभवकी तृष्णा है सो आप गरीब ही तो है। फकीरकी यह बात बादशाहके मनमें समा गयी और उसी समय सारी सेना को वापिस लौट चलनेका आदेश दिया। तो तात्पर्य यह है कि धन न होनेका नाम गरीबी नहीं, किन्तु बाह्य पदार्थोंसे तृष्णा बढाने का नाम गरीबी है।

गरीबी व गरीबी मिटनेका उपाय—तृष्णामयी गरीबीके मिटनेका उपाय बाहरमें कोई नहीं है। आज हजार है तो लाख होनेकी तृष्णा करता, लाख हैं तो करोड़की और करोड़ है तो अरबकी तृष्णा करता है। इस तृष्णाका अन्त तो एक सम्यग्ज्ञान ही कर सकता है। जहा निरखा किमैं देहसे भी न्यारा ज्ञानमात्र अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत्, विषयमे ही अपने को करने वाला, अपने मे ही अपने को भोगने वाला यह मैं आत्मा स्वतत्र सबसे पृथक हू। मेरा मैं ही मात्र हू। जो मेरा है वह मेरे से बाहर कभी नहीं

जा सकता। जो मेरा नहीं है वह कभी भी मेरेमें नहीं आ सकता। ऐसा निर्णय रखने वाला सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही तृष्णासे मुक्त हो सकता है। तो तृष्णाका नाम गरीबी है, बाह्य वस्तुवोंके कम होनेका नाम गरीबी नहीं है। तो यह मनुष्य अपने को गरीब हो तो अनुभव कर रहा है जो विषयोंमें शरीरका अनुराग बनाये हुए है। मै ज्ञानानन्दस्वरूप हू, मुझे कुछ आवश्यकता ही नही। मै अपने मे सर्वस्व हूं। सम्पन्न हू, यह दृष्टि न होने से इस जीवको ऐसे अपवित्र शरीरोंमें अनुराग बनता है। सो जो शरीर एक मुक्तिके लाभका उपाय बनानेके लिए मिला था उसे यह मोही विषयोंमें प्रीति करके नष्ट कर देता है।

मानवजीवनका दुरुपयोग व सदुपयोग––एक दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे गन्ना (ईख) होता है, उसके नीचेके कुछ पोर जिनमें जड़े होती हैं, जो बहुत कडे भी होते है वे खाने योग्य नहीं होते, गन्नेके ऊपरके कुछ पोर नीरस होनेसे खाने योग्य नहीं होते और उस गन्नेके बीचके हिस्सेमे कीड़ा लग जाय, तो जैसे वह सारा गन्ना खाने योग्य नहीं रहता। कोई विवेकी पुरुष उस गन्ने को कुछ खाकर यो ही फेंक देनेके बजाय उसको जमीनमें बो देता है तो उससे वह अनेक गन्ने प्राप्त कर सकता है। किन्तु रसासक्त पुरुष उस काने गन्नेको चीथकर अपनी व गन्नेकी बरबादी कर देता है। ठीक इसी प्रकार इस मानवजीवनका बाल्यकाल भी अज्ञानतामें ही व्यतीत हो जाता है। बाल्यकालमे तो यह मानव धर्म-बुद्धि नहीं जागृत करता है और वृद्धावस्था भी बिल्कुल मृतकके समान है। शरीर वृद्धावस्थामे समर्थ नहीं रहता है और इस जीवनके बीचकी जो युवावस्था है उसे यह मानव भोगविषयोंमे रत होकर व्यतीत कर देता है। यो इस मानवजीवनको यह मोही प्राणी व्यर्थ ही खो देता है। कोई विवेकी पुरुष इस जीवन को व्यर्थमे न खोकर इसका सदुपयोग करले, कुछ धर्मसाधना बनाले, ज्ञानार्जन, तत्त्वचिन्तन आदि करके अपने आत्माका पोषण करले तो इसके भव-भवके पूर्वबद्ध कर्मोकी निर्जरा होगी, पुण्यबध होगा, जिससे उसका भविष्य अच्छा बनेगा, धर्मके समागम प्राप्त होगे और निकट कालमे ही श्रेष्ठ मनुष्य भव पाकर मुनि होकर, निर्ग्रन्थ होकर अपने आपमें स्वरूपाचरणको बनाकर मुक्ति प्राप्त कर लेगा। इसमे तो विवेक है, पर काने गन्नेकी भांति यों ही विषयभोगोमे देहको लगानेमे कोई बुद्धिमानी नही है।

जो परदेहविरत्तो णिय-देहे ण य करेदि अणुराम।
अप्प सरूव-सुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स ॥८७॥

अशुचित्वानुप्रेक्षणका फलाधिकारी––यह अशुचिभावनाकी अन्तिम गाथा है। यहां आचार्य कहते हैं जो दूसरेके देहसे विरक्त है और जो अपने देहमे भी अनुराग नहीं करते हैं वे आत्माके स्वरूपमें रुचिवान होते है उनको ही अशुचि भावना सफल है। यह देह गंदा है ऐसा परिज्ञान कर लेनेसे लाभ क्या मिला? लाभ यही मिला कि देहकी अशुचिताको, असारताको जानकर प्रथम तो यह दूसरेके देहोसे विरक्त हो, उन अशुचि देहोमे क्या रमना? और फिर अपने देहमे भी यह अनुराग नहीं करे, इस मरे मिटे देहका क्या अनुराग करना? यह तो पालते पोषते हुए भी रहता नहीं है, किसी दिन मिटेगा। कुछ दिनोंमे मिटे या अभी जल्दी ही मिट जाय, मिटेगा अवश्य। तो इस मिट जाने वाले देहमे क्या अनुराग करना? तो परदेहसे विरक्ति हो। इस अशुचि भावना भाने वाले ज्ञानी पुरुषने अपने देहमे अनुराग नहीं किया तब यह आत्माके स्वरूपमे लीन हुआ। उपयोग कहीं तो जायेगा ही, कही तो लीन होगा हो। अब परदेहमें तो यह अनुरक्त होता नहीं, क्योकि यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हुआ है, अपने देहमे भी अनुराग करता नहीं, तो उपयोग कहा जायेगा? सन्देह ही अपने आपके स्वरूपमें लगेगा। तो जो इस प्रकार परदेहोंसे विरक्त होकर और निजदेहमे भी विरक्ति करके अपने आपके स्वरूपके उपयोगमे लगता है उसकी ही अशुचि भावना सफल है, लेकिन जो अशुचिपनेका चिन्तवन करते हुए भी अपने शरीरमे और परशरीरमें

अनुरक्त होता है उसकी अशुचि भावना भाना केवल विडम्बना है। इस भावनाको यदि हार्दिक भावोसे भाया जाय तो इसका फल बताया है कि इसका चिन्तवन करने से समता सुख जगता है। जैसे कि हवा के लगनेसे अग्नि ज्वलित होती है। बहुत सीधे उपायोंमे यह उपाय सुगम है कि हम बारह भावनाओंका ठीक स्वरूप जाने और इनके आधारसे हम वस्तुस्वरूपकी परीक्षा करते जाये तो इस भावनाके बलसे हम आप अपने आत्मस्वरूपके दर्शन करेंगे और जहां ही अपने सत्य ज्ञानानन्दस्वरूप एव परसे हममें अमीरी आयी और गरीबी मिटी।

मण-वयण-काय-जोया जीव-पएसाण फंदण-विसेसा।
मोहोदएण जुत्ता विजुदा वि य आसवा होंति ।।८८।।

ज्ञानानन्दस्वभावी जीवकी विडम्बनाका कारण प्रतिपक्ष परकी उपाधिका संसर्ग––जीवका स्वरूप तो ज्ञान और आनन्द है, जैसे बाहरी पदार्थोंमे देखते है ना—चौकीका क्या स्वरूप है ? जो यह दिखने मे आया, उठाने मे आया यही तो इस चौकीका स्वरूप है। ऐसे ही जीवका क्या स्वरूप है ? जीव एक आकाशकी तरह अमूर्त पदार्थ है, उसमे ज्ञान और आनन्द स्वभाव पडा हुआ है। यह कह लीजिए कि ज्ञान और आनन्दके होनेका ही नाम जीव है। तो ऐसे ज्ञानानन्दस्वभावी जीवमे अपने आप कोई क्लेश नहीं। कोई दु:खका कारण नहीं, कोई विडम्बना नहीं, लेकिन आज देख रहे हैं कि जीवोंकी विडम्बनायें तो बहुत है, कैसे कैसे देहोमे जन्म लेना, कैसी कैसी विचित्र कषाये उत्पन्न होना, ये सब विडम्बनाये जीवमे बहुत हैं। ये सब विडम्बनाये हो कैसे गई ? इसका उत्तर वह है कि जीवके साथ अनादिकालसे कोई दूसरी वस्तु लगी हुई है उसीके कारण इसकी विडम्बनाये हो रही है। एक यह नियम है कि जो भी चीज है वह अपने आप अकेले अपनी विडम्बना नहीं बना सकता। जैसे जल गर्म किया गया, खौल गया तो यह बात किसी दूसरे जीवके सम्बन्धसे ही तो हुई है। जलमे अगर किसी दूसरी वस्तुका सम्बन्ध न हो तो जल न रंगीन बने न गर्म बने। जलके जो अनेक विचित्र परिणमन बनते है वे किसी दूसरेके सम्बन्धसे ही बनते है तो यो ही समझिये कि जीवकी जो विचित्र विडम्बनाये बन रही हैं वे भी किसी दूसरेके सम्बन्धसे बनती है। हालांकि जीवकी विडम्बना जीवमे ही है, दूसरेमें नहीं, लेकिन पर उपाधिके बिना विडम्बना नहीं बनती। जैसे स्फटिकमणि अपने आप लाल पीली आदि रूप नहीं बनती। वह तो स्वच्छ है, अपने ही स्वभावकी ओरसे केवल अपने ही कारणसे दूसरेका सम्बन्ध मिले बिना वह लाल पीला आदि नहीं होता। जिस रंगका आवरण उस स्फटिकके सामने आता है उस तरहका रंग उसमे हो जाता है। तो यह बात समझनेकी है और यह अपने बडे कामकी बात है।

जीवस्वरूप, जीवविडम्बनाहेतुकी परख––इस जीवकी अपने आप विडम्बना नहीं हो रही है, इसके साथ किसी दूसरी चीजका सम्बन्ध है तब विडम्बना हो रही है, ऐसा निर्णय करने से पहिले यह जाने कि अपने आपका निजी स्वरूप क्या है ? जब यह जाननेकी इच्छा हो गई तो समझिये कि अब हमारा कल्याण शुरू हो गया। शरीर बिना, कर्मबिना, उस कर्मके प्रभाव बिना अपने आप स्वयं मै क्या हूं, वही मेरा सत्यस्वरूप है। अपने उस सहज स्वरूपके जाननेकी इच्छा बना लूँ, रुचि बना लूँ तो यह कल्याण का प्रारम्भ समझिये। प्रकरणमे यहाँ कहा जा रहा कि जीवमे अपने आप अपनी ही ओरसे कोई विडम्बना नहीं है। इसके साथ कोई उपाधि लगी है जिससे ये विडम्बनाये होती हैं। जैसे स्फटिक पाषाणमें कोई विकार नहीं है लेकिन किसी कागज आदिकका सम्बन्ध होने से उसमे अनेक रंग उतरते है। इसी प्रकार जीवके साथ भी कोई द्रव्य बाहर लगा अवश्य है। इस बातको यो भी परख सकते है कि यहां जब निरखते है कि कोई श्रीमान है, कोई दरिद्र है, कोई बुद्धिमान है, कोई मूर्ख है ऐसे जो नाना भेद जीवमे देखे जा रहे है तो किसी भी जातिमे भेद किसी परके सम्बन्धसे ही होता है तो इसका कारण कोई है

परद्रव्य, जिसके सम्बन्धमे ये नानाभेद हो गए । जीव जीव तो सब समान हैं। जीव केवल ज्ञानानन्दस्वरूप है लेकिन यह क्या विडम्बना हो रही है कि कोई पेड़के शरीरमे बधा हुआ है, कोई कीड़ा मकौड़ाके शरीरमे बधा है, हम आप मनुष्य देहमे बंधे हैं। पशुपक्षी आदिक कितने विचित्र देह हैं जिनमे यह जीव बंधा है। ऐसा बन्धन होना, ऐसे न्यारे न्यारे विभिन्न देह पाना यह जीवमें अपने आपकी ओरसे ही स्वय नही हैं।

जीवविडम्बनाहेतुभूत उपाधिके विशेषस्वरूपका निर्णय—किसी परद्रव्यका सम्बन्ध है इसका निर्णय करनेके बाद फिर आगे और बढिये कि वह परद्रव्य क्या हो सकता है ? वह चौकी, भींत आदिककी तरह ऐसा एकदम दृश्यपिण्ड तो है नही। और है मुझसे कोई भिन्न जातिका ही पदार्थ। एक जातिके पदार्थसे याने जैसा मै जीव हू ऐसा मेरे साथ कोई शुद्ध जीव लगा हो, उससे वहां विडम्बना नही है। मै हू अमूर्त तो वह उपाधि है मूर्त। मै हूं चेतन, तो वह उपाधि है अचेतन। वह द्रव्य है कर्म, जीवके साथ अनादि से ये कर्म लगे आ रहे हैं इसीसे इसकी विडम्बनायें है। इस आस्रवानुप्रेक्षामे यह बात बतलाते है कि ये कर्म जीवमे आते क्यों हैं ? कर्मोंके आनेका कारण क्या है ? कर्मोंका आना दुःखकारी है। कर्मोंका उदय होना क्लेशका कारण है। ससारकी जितनी विडम्बनायें है वे सब कर्मके सम्बन्धसे ही तो है। तो इन कर्मोंका हटाना बहुत आवश्यक है। हम जिन अरहंत, सिद्ध प्रभुको पूजते है वे और है क्या ?-कर्मरहित ही तो हैं, इसी कारण वे पूज्य हैं। और पूज्य होनेसे बड़प्पन नहीं किन्तु बड़प्पनके कारण पूज्य हैं। वह बड़प्पन यों है कि शुद्धज्ञान और शुद्ध आनन्द उनके प्रकट हुआ है। हम आप सब ज्ञान और आनन्दके ही तो अभिलाषी हैं, सबकी चाह है कि हमारा ज्ञान बढ़े और आनन्द मिले। तो जिन पुरुषोंको शुद्ध ज्ञान, शुद्ध आनन्द परिपूर्ण प्राप्त है वे हमारे बडे हैं, पूज्य हैं, हम उनके स्वरूपको निहारकर, उनकी विधि को जानकर कौनसी विधि है जिससे वे ऐसे महान हैं, उसपर हम चलते हैं तो हम भी सुखी शान्त रह सकते हैं। हॉ तो जिन कर्मोंके नाश हुए बिना जीवको शान्ति न मिलेगी, वे कर्म जीवमे आते क्यों हैं, किस कारणसे आते हैं, यह जानना यों आवश्यक है कि हम उन कारणोंको न करें तो कर्म न आयेंगे।

मनोयोग, वचनयोगसे व काययोगसे कर्मोंका आस्रवण—इस गाथामे कह रहे है कि जीवमे कर्मोंके आने का कारण है योग—मन, वचन, काय इनका हलन चलन। हम जो मनसे बहुत यहा वहा चित्त डुलाते हैं, यश तृष्णा राग, अनुराग मोह आदिकमे इस चित्तको फँसाये रहते हैं तो चित्तकी यह स्वच्छन्दता कर्मों का आस्रव करती है। वचन हम अधिक बोलते है, बिना अवसरके बोलते है, बोलते रहते है या बोलते ही है तो वचन बोलनेमें जो परिस्पद होता है उससे कर्म आते हैं। इसी प्रकार शरीरके चलनेकी प्रवृत्तिसे कर्म आते हैं। ये कर्मोंके आनेके साधारण कारण है। यद्यपि इस समय हम आप मन, वचन, कायको बिल्कुल रोकनेमे समर्थ नहीं हैं, फिर भी यह ध्यान मे तो आये कि मनोयोगसे कर्मोंका आस्रव होता है तो हम इस मनकी स्वच्छन्दताको मिटायें, इस मनको हम शुभ कार्योंमे लगायें, शुद्ध तत्त्वके चिन्तनमे लगायें जिससे पापकर्मोंका तो आस्रव न हो। हम वचन बोलें तो हित, मित, प्रिय, सत्य वचन बोलें ताकि पाप कर्म न आये, शरीरकी प्रवृत्ति हमारी दूसरोंकी रक्षाके लिए हो तो पापकर्मका आस्राव तो न हो। यह योग ही जीवके प्रदेशमे कर्मोंका आस्रव करता है। यह योग मोहनीय कर्मके उदयसे सहित भी होता है और रहित भी होता है। दसवे गुणस्थान तक जहां तक सराग अवस्था है वहां तक योग है ही, किन्तु वीतमोह ११वे, १२वे, १३वे गुणस्थानमें भी योग है। सो १०वे गुणस्थान तक साम्परायिक आस्रव है व ११वे, १२वे, १३ वे मे ईर्यापथ आस्रव है।

गुणस्थान १४ प्रकारके कहे गए हैं। मिथ्यात्व, सासदन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली

अयोगकेवली । मिथ्यात्व इन सबमें प्रथम गुणस्थान है अर्थात नीचा गुणस्थान है । जहां मोह ममता बसी है, देहमें आत्मबुद्धि की जा रही है, आत्माकी रंचमात्र भी सुध नहीं है उसे कहते हैं मिथ्यात्व भाव । सारा संसार मिथ्यात्वभावमें ग्रस्त है, इस मिथ्यात्वभावसे लाभ कुछ नहीं मिलता । जैसे स्वप्नमें सोना चाँदी, रत्न आदिकी ढली प्राप्त की तो यह अपनेको बड़ा लाभ वाला समझता है, मुझे बड़ा वैभव मिला, उस समय वह यह नहीं समझ पाता कि यह तो स्वप्नकी बात है, झूठ है, हमें मिला कुछ नहीं है । वह तो सही जानता है कि मुझे मिला ही तो है । ऐसे ही मोहके उदयमें जो इस लोकमें समागम प्राप्त हुए हैं उनको देखकर यह समझता है कि मुझे यह लाभ मिला, मैं इस कारणसे बड़ा हूं, यों समझते हैं लेकिन है कुछ नहीं । जब जीवस्वरूप पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट नजर आयेगा कि मेरा तो केवल मैं ही हूं । मेरेसे बात ऐसी है लेकिन जिसके मिथ्यात्वका उदय है उसके अभिप्रायमें यह बात नहीं समा सकती । जब तक इन वैषयिक सुखोंसे विलक्षण अलौकिक आनन्दकी झलक न आये तब तक इन सुखोंको छोड़ने की कौन इच्छा करेगा ?

अलौकिक स्वाधीन सहज आनन्दके दिग्दर्शन हुए बिना मोही अहितकी विषयोंमें आसक्ति—एक कथा वेदान्त की जागदीशी टीकामें लिखी है कि दो चींटियाँ थीं, एक रहती थी नमककी दुकानमें और एक रहती थी शक्कर की दुकानमें । एक बार शक्करकी दुकानमें रहने वाली चींटी नमककी दुकानमें रहने वाली चींटी के पास जाकर बोली—बहिन तुम रोज-रोज यहा खारी खाना क्यों खाया करती हो ? मैं तो रोज रोज मीठा-मीठा खाना खाती रहती हूं । तुम मेरे साथ चलो, तुमको रोज रोज खूब मीठा खाना खिलाऊँगी । उस नमककी दुकानमें रहने वाली चींटीको पहिले तो विश्वास न हुआ पर बहुत-बहुत कहने पर चलनेको तैयार हो गई । वह चली मुखमें एक नमककी डली दाबकर इसलिए कि कहीं वहाँ जाकर भूखों न मरना पड़े । जब शक्करकी दुकानमें पहुंचकर शक्कर खाया तो शक्करकी दुकानमें रहने वाली चींटीने पूछा—कहो बहिन कुछ मीठा स्वाद आया या नहीं ? तो नमककी दुकानमें रहने वाली चींटी बोली—हमें मीठा स्वाद तो नहीं आया । हमें तो वैसा ही खारी स्वाद आया । अरे अपनी चोंचमें कुछ दबाये तो नहीं हो ? हाँ एक दिनका कलेवा साथमें ले आई थी वह दबाये हूं । अरे इस डली को मुखसे बाहर निकाल, फिर स्वाद ले । तब देख स्वाद आता है कि नहीं ? उसने वैसा ही किया । नमककी डली को मुखसे निकाला स्वाद लिया तो बड़ा मधुर स्वाद आया । फिर वही नमककी डलीमें रहने वाली चींटी पूछती है—बहिन तुम इस प्रकारका मधुर स्वाद कबसे ले रही हो ? यह तो बहुत ही मीठा है । तो इस कथाका प्रयोजन यह है कि जब तक इस जीवको विलक्षण आत्मीय स्वाधीन ज्ञानोपयोग द्वारा साम्य आनन्द प्राप्त नहीं होता तब तक यह जीव वैषयिक सुखोंको कैसे छोड़ सकता है ? यह जीव सारे जीवनभर वैषयिक सुखोंमें ही रत रहना, बढ़िया बढ़िया भोजनका स्वाद लेनेकी प्रवृत्ति रखना, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र आदिक समस्त इन्द्रिय विषयोंमें रत रहनेमें मस्त रहना, लेकिन अन्तमें इसे लाभ क्या मिलता ? हे आत्मन् ! इन बाहरी बाहरी बातोंमें ही पड़कर अपने जीवनका बहुतसा समय व्यर्थ ही बिताया, अब तो इस रहे सहे थोड़े से जीवनको ज्ञानवासनामें ढाल करके तो देखो कि यहा भी कोई विलक्षण आनन्द है अथवा नहीं । तो इस प्रकरणमें बात यह चल रही है कि मिथ्यात्वगुणस्थानमें यह जीव वैषयिक सुखोंको ही सुख मानता है, अपने आपमें स्वयं यह आनन्दस्वभावी है इसकी उसे श्रद्धा ही नहीं है । यह हुआ मिथ्यात्व गुणस्थान ।

अविरतसम्यक्त्व नामक चतुर्थगुणस्थानकी तथा द्वितीय तृतीय गुणस्थानकी उत्पत्ति—अब निकट संसारी मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानका अभ्यास करके तत्त्वचिन्तन, तत्त्वचर्चाके द्वारा कुछ तत्त्वस्वरूपमें उपयोग

लगाता है तो जब यथार्थस्वरूपका ज्ञान बनता है तो यह परवस्तुओंसे निवृत्ति पाता है और तब अपने आपमें सहज एक ऐसा विश्राम मिलता है कि उस विषयमें ही उसे अपने आत्माका अनुभव बनता है सो इसके सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है। तो मिथ्यात्व गुणस्थानका प्रतिपक्ष है सम्यक्त्व वाला गुणस्थान। जिसे अभी अविरत सम्यक्त्व हुआ है, इसे चौथा गुणस्थान कहते हैं। व्रत तो नहीं है पर सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनका ऐसा प्रताप है कि यह जीव निराकुल हो जाता है, इसे चिन्ता नहीं रहती। घर गिर गया तो क्या हुआ, परद्रव्यका परिणमन है, उसकी दृष्टिमें यह बना रहता है। धन कम हो गया तो क्या हुआ ? वह भी परद्रव्यकी बात है। देहमें कुछ बाधा आये तो क्या हुआ ? यह भी परद्रव्यकी बात है। मैं आत्मा तो इन समस्त परद्रव्योंसे निराला स्वयं ही आनन्दस्वरूप हूं। इस प्रतीतिका सम्यग्दृष्टिको इतना महान बल है कि वह किसी भी स्थितिमें व्याकुल नहीं होता। यह अविरत सम्यक्त्व नामक चौथा गुणस्थान है। यह अविरत सम्यक्त्व तो पशु, पक्षी, नारकी, देव आदि सभी गतियोंमें हो जाता है। अब आप अंदाज कर लीजिए कि नारकियोंके सम्यक्त्व हो जाय, ७वें नरकके नारकीको भी सम्यक्त्व हो जाय लेकिन मनुष्य सम्यक्त्व न प्राप्त करे तो इसमें बाधा क्या आ पड़ी ? प्रत्यक्ष बाधा यह है कि ये मोही प्राणी इन विषयसुखोंमें आनन्द समझते हैं, अपने जीवनके उद्देश्यकी समाप्ति इसीमें समझते हैं। धन खूब कमाये, भोगोपभोगके आरामके साधन खूब बनाये, दुनियावी यश खूब लूटे आदि बातोंमें ही अपना उपयोग रखा, अतएव आत्माकी सुध न हो सकी। तभी किसी कविने सुखसे भी बढ़कर दुःखको कहा है। दुःखमें प्रभुकी याद तो रहती है। सुखमें दिल मस्त रहता है, फिर प्रभुकी याद रखनेका मौका कम मिलता है। बिरले ही पुण्यात्मा जीव ऐसे हैं जो सुखसाधन पाकर भी अपने आत्माकी सही सुध बनाये हुए हैं। पर बहुधा सुख पाकर जीवोंको आत्माकी सुध नहीं रहती। इसी ग्रन्थमें आगे आयेगा कि पुण्यने कराया क्या ? पुण्यसे मिले वैभव, सुखके साधन मिले और उनमें हो गया यह जीव मुग्ध तो उससे नरक आयु भी बंध सकती और अन्य अन्य खोटी आयु भी बंध सकती। तो पुण्य भला नहीं है। पुण्यके उदयकालमें उससे जीवको सुबुद्धि जगे और रत्नत्रयके लाभकी बात बनाये तो यह उसके लिए लाभकी बात है। चतुर्थ गुणस्थान है अविरत सम्यक्त्व। अभी बीचमें दो गुणस्थान छोड़ दिए हैं-- दूसरा और तीसरा। तीसरा गुणस्थान कहलाता है मिश्र। अर्थात् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मिलेजुले हों। जैसे दही और शक्कर मिलकर उसमें स्वाद क्या बनता है ? न तो दहीका ही स्वाद रहता और न गुड़का, किन्तु विलक्षण कोई तृतीय स्वाद है। ऐसे ही मिथ्यात्व और सम्यक्त्वके मिले होनेमें कोई तृतीय ही बात है। यह कहलाता है सम्यग्मिथ्यात्व। दूसरा है सासादन गुणस्थान अर्थात् जिस किसी उपशम सम्यग्दृष्टिका सम्यक्त्व छूटा और मिथ्यात्वमें न आ पाया, उस भावको कहते हैं सासादन गुणस्थान। यहाँ तक तो अविरत असंयमी जीव हैं।

पञ्चम गुणस्थानसे तेरहवें गुणस्थान तक का संक्षिप्त विवरण व उनमें योगनिमित्तक आस्रवका कथन— जब अणुव्रतका भाव होता है, पापोंसे एकदेश विरक्ति होती है तो वह कहलाता है देशविरत गुणस्थान। इसके बाद परिणाम और निर्मल हुआ तो एकदम ७वां गुणस्थान होता है, उस अप्रमत्त गुणस्थानसे पहिले परिणामोंकी निर्मलताके कालमें वह मुनिदीक्षा विधि कर लेता है। ७वें गुणस्थानके बाद जब ६वे गुणस्थानमें आया तो यहां पूर्ण महाव्रत है ही। यहां हिंसा आदिक पापोंका परिपूर्णरूपसे त्याग हो गया। यों छठे से ७ वें, से ६ वे गुणमें असंख्यातों बार परिवर्तित होते रहते हैं। जब अप्रमत्तविरत गुणस्थान वाले मुनि आत्मध्यानमें विशेष रत रहते हैं, जब ही उनका उत्कृष्ट अप्रमत्त विरतमें निर्विकल्प ध्यान रहे तो वे श्रेणी माड़ते हैं। उपशम और क्षपक ये दो श्रेणियाँ हैं। इनमें उपशम श्रेणी वाले तो

गिर जाते हैं नीचे गुणस्थानोंमें, सो ऊपरकी बात समझनेके लिये क्षपक श्रेणीकी बात लो। यह जीव क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करके श्रेणी पर चढता है तो ८वें ९वे, १०वे गुणस्थानमें जाकर अन्तमें मोहनीय कर्मोंका पूर्णतया नाश कर देता है। १०वें गुणस्थानके बाद १२वें गुणस्थानमें पहुचता है तो वहा मोह नही रहता पर कर्मका आस्रव है तो देखो यहां मोहके बिना भी योगके कारण कर्मोका आस्रव होता है, लेकिन है वह केवल सातावेदनीयका आस्रव जो आया और गया, स्थिति नहीं बॉध सकता। १३वे गुणस्थानमे अरहंत सकलपरमात्मा होते हैं, जिनकी मूर्ति बनाकर हम आप पूजते हैं। १३वें गुणस्थानमें यह जीव परमात्मा रहकर करोड़ो, अरबों, खरबों, असंख्याते वर्षों तक भी रह जाता है, उस समय के जीवोंका कितना अधिक उदय है कि अरहत भगवान विहार करते हुए समवशरणमे विराजमान हुए गंधकुटीपर विराजे हुए लोगोको मिलते हैं, लोग उनके दर्शन करते हैं, अपने परिणाम निर्मल करते हैं। आजकल तो हम आप उन अरहंतदेवका चिन्तवन करके पुण्य लाभ लेते हैं, धर्मदृष्टि करते हैं। तो वे हैं १३वे गुणस्थानवर्ती सकलपरमात्मा। इनके अपने आप ही बाकी बचे हुए चार अघातियाकर्म भी दूर होते हैं। वे सिद्ध भगवान बन जाते हैं। सिद्ध होनेसे पहिले व १३वे गुणस्थानके बाद उनके १४वां गुणस्थान प्रकट होता है। चौदहवें अयोगकेवली नामक गुणस्थानमें आस्रव रंच भी नहीं है और सिद्ध भगवानके भी आस्रव रंच भी नहीं है। वीतमोहमें याने उपशान्तमोह, क्षीणमोह व सयोगकेवली गुणस्थान आस्रव केवल सातावेदनीयका है और वह भी स्थितिबंध व अनुभागबध बिना है। आस्रव होता है योगके कारण, जब इस जीवके साथ कषाय लगी है तब तो वहा स्थिति व अनुभागका भी बंध होता है, किन्तु जहा कषाय नहीं है, केवल योग है वहा न स्थितिबंध है, न अनुभागबंध है इस तरह मन, वचन, कायकी हलन चलनसे क्रोध, मान, माया, लोभ कषायके परिणमनसे कर्म आते हैं, बँधते हैं, और जब इनका उदय आता है तब इसको विडम्बनायें भोगनी पड़ती हैं। अत विडम्बनाये न मिलें, ऐसा यदि मनमे सकल्प बने तो यह चाहिए कि इन कषायोंपर विजय प्राप्त करें और मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियोंको क्रमसे कम करे।

मोह-विवाग-वसादो जे परिणामा हवंति जीवस्स।
ते आसवामुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेय-विहा ॥८९॥

कर्मबन्धहेतुभूत मिथ्यात्वभावका सक्षिप्त विवरण— मोहनीय कर्मके उदयसे जीवके जो अनेक तरहके मिथ्यात्व आदिक परिणाम होते हैं उनको आस्रव मानों। उन आस्रवभावोंसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका आस्रव होता है सो मोहपरिणतिके संसर्गसे उनका बध हो जाता है यहां आस्रव और आस्रवसे बढकर बधके बारेमे विचार कर रहे हैं। बधके ५ कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। मिथ्यात्व तो ५ प्रकारके है—अज्ञान मिथ्यात्व, जो सब जीवोंमें पड़ा हुआ है। चाहे संज्ञी हो, असज्ञी हो, एकेन्द्रिय हो, पेड़ पृथ्वी आदिक हो, सबमे मिथ्यात्व पड़ा हुआ है। इसके अलावा जो मन वाले जीव हैं, जो समझदार हैं, जो कुछ विचार सकते हैं उनके अन्य प्रकारके भी मिथ्यात्व पडे हैं। संस्कारमे सभीमें मिथ्यात्व पड़ा समझिये। पहिला मिथ्यात्व है एकान्त मिथ्यात्व। वस्तुमे धर्म अनन्त हैं उनमे से एक ही धर्मका आग्रह कर लेना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे बतलावो—जीव नित्य है या अनित्य? द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है, जीव सदा रहता है। अनादिसे जीव था, अनादिसे है और अनन्त काल तक रहेगा। ससारमे यह जीव है तो ससारी है, कर्मोंसे छूट गया, सिद्धभगवान हो गया, देहसे भी मुक्त हो गया तो वह कहलाता है मुक्त जीव। किसी भी अवस्थामें रहे पर जीव रहता है सदा। द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है, पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य हैं। जो पर्याय मिली वह पर्याय सदा नहीं रहती। कषाय जगी, क्रोध जगा तो फिर वह क्रोध मिट जाता है, मान कषाय जगी तो वह भी मिट जाती है। यों माया, लोभ आदि

सभी कषायोंके परिवर्तन होते रहते हैं। जो भी पर्याय जीव पाता है वह पर्याय भी मिटती है, सदा नहीं रहती। ये पर्यायें हैं विशेप औपाधिक, लेकिन जहां स्वाभाविक पर्यायें हैं, सिद्ध प्रभु हो गए, अब ऐसे कारण नहीं रहे कि वे सिद्ध मिटकर संसारी बन जायें, लेकिन उस सिद्ध अवस्थामें भी सूक्ष्मदृष्टिसे देखो तो प्रतिक्षण नयी नयी पर्यायें उत्पन्न होती रहती हैं। जैसे दीपक जलता है तो उसमें दीपककी नयी नयी बूँद पहुंच पहुचकर जलती रहती है। जो दीपक किसी समय जला तबसे वहीका वही नहीं जलता रहता है, उसमें पर्यायें बदलती रहती हैं। इसी प्रकार इस जीवकी भी निरन्तर पर्यायें बदलती रहती हैं। यह जीव द्रव्यदृष्टिसे तो नित्य है और पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। तो नित्यानित्य होनेपर भी कोई एकान्त हठ करे कि जीव नित्य ही है या जीव अनित्य ही है तो यह हुआ एकान्त मिथ्यात्व। अब विपरीत मिथ्यात्वका स्वरूप निरखिये--चीज तो है और प्रकार, मानते हैं और प्रकार। जैसे यह देह मेरा है नहीं और मानते हैं कि यह देह मेरा है, तो वस्तु जैसी नहीं है वैसी मानना, वह है विपरीत मिथ्यात्व। एक है संशयमिथ्यात्व। संशय करना कि जीव सचमुच है या नहीं, परमात्मा भी है या नहीं, आत्मा भी कोई चीज है या नहीं, आदि बातोंका संशय करना सो संशयमिथ्यात्व है। एक है विनयमिथ्यात्व। देव कुदेव की पहिचान भली भाँति किए बिना ही कोई यह सोचकर उनकी विनयभक्ति करे कि हमारे लिए तो बराबर हैं, हमसे तो अच्छे ही हैं। तो इस प्रकार की विनय करना सो विनय मिथ्यात्व है। इन सभी मिथ्यात्वों के कारण कर्मोंका विशेप आस्रव होता है, बंध होता है। स्थिति अनुभाग भी विकट पड़ा करते हैं।

बन्धहेतुभूत अविरतिभावका संक्षिप्त विवरण--अविरतिके परिणाम १२ प्रकारके हैं--स्पर्शनइन्द्रियके विषयोंसे विरक्त न होना तथा रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र आदिकके विषयोंसे विरक्त न होना, ये ६ तो हैं विषय अविरति और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति आदिक ६ कायके जीवोंकी हिंसासे विरक्त न होना ये ६ हैं कायअविरति। ये सब अविरतिके परिणाम हैं। कषायें २५ तरहकी होती हैं-- अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ--जो मिथ्यात्वको पुष्ट करें वे अनन्तानुबंधी कषायें हैं। किसी किसीको तो धर्मके नाम पर भी क्रोध बना रहता है जरा-जरा सी बातोंमें अनुकूल प्रतिकूल मानकर भीतर ही भीतर क्रोध बनाये रहना सो अनन्तानुबंधी क्रोध है। इस अनन्तानुबंधी क्रोधके उदयमें इस जीवको अपने आपकी सुध नहीं हो सकती। यों ही मान कषाय धर्मके नामपर भी किन्हीं किन्हींके चला करती है। लोग घमंडमें आकर धर्मकी आड़ लेकर अपना अभिमान पुष्ट करते हैं तो यह कहलाता है अनन्तानुबंधी मान। इसी तरहसे अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुबंधी लोभकषायें भी इस जीवको बहुत हैरान कर रही हैं। इन समस्त कषायोंका फल बड़ा कटुक है। इनके फलमें जीवको दुर्गतियोंमें जन्म लेना पड़ता है। जिन्हें ऐसे पापास्रवोंसे बचनेका भाव है उनका यह कर्तव्य है कि इन अनन्तानुबंधी जैसी कषायोंसे बचें और सम्यक्त्वके कारणभूत जो ज्ञानाभ्यास है, तत्त्वचिन्तन है उसमें अपना उपयोग लगायें।

कषायोंका वैचित्र्य--जीवमें कषायोंकी बड़ी विचित्रता है और इसी कारण कषायोंके दर्जेके स्थान असंख्याते हैं। इनमें अप्रत्याख्यानावरणकषायके उदय होनेपर अणुव्रत भी ग्रहण करनेका भाव नहीं होता है। अनन्तानुबंधीके उपशम या क्षय या उदयाभावी क्षय होने पर सम्यक्त्व तो हो जाता है, किन्तु यदि अप्रत्याख्यानावरणका उदय हो तो जीवमें अणुव्रत पालनेका भाव नहीं हो सकता है। अप्रत्याख्यानावरण नहीं रहा, किन्तु प्रत्याख्यानावरण का उदय हो तो इस जीवके महाव्रत पालनेका भाव नहीं हो सकता। संज्वलन कषाय भी जब तीव्र उदयमें होती है तब जीवमें प्रमाद रहता है। संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्रको नहीं होने देती। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरणके उदयमें और संज्वलन कषायके तीव्र उदयमें प्रमाद होता है। तो प्रमाद भी बंधका कारण है, किन्तु प्रमाद इन

कषायोंमे गर्भित है। इसके अतिरिक्त ऐसे ऐसे भी कर्म होते हैं कि किसी किसी कर्ममें जीवको हँसी मजाक करनेका भाव होता है। किसी कर्मके उदयमे प्रेम, कभी द्वेष, कभी रंज, कभी डर, कभी ग्लानि होती है। और कभी कामविषयक भावनायें जागृत होती हैं, ये सब मोहकर्मके ही प्रसाद हैं।

कर्मोंमे स्थिति व अनुभागका बन्ध--कषायसे बँधनेके कारण इन कर्मोंमे स्थिति बधती है। जैसे कोई भोजन किया, अब भोजन करने के बाद आपका कुछ वश नहीं है, जैसी जठराग्निमे योग्यता है उसके माफिक उसमें विभाग हो जाते हैं। भोजनके कुछ अंश रुधिररूप बनते हैं, कोई हड्डीरूप, कोई वीर्यरूप, कोई पसीनारूप, कोई मल मूत्रादिकरूप बनते हैं। अब जो अंश वीर्यरूप बना उसकी स्थिति शरीरमे बहुत ज्यादा रहेगी। जो पसीना रूप बना वह थोडे समय रहेगा, जो रुधिर रूप बना वह कुछ और अधिक रहेगा। तो जैसा भोजन खाया गया उसके अनुसार यह सब अलग-अलग व्यवस्था हो जाती है। ऐसे ही जब कर्मबन्ध होता है तो उन बँधी हुई कर्मप्रकृतियोमे यह स्थिति बँध जाती है कि ये निषेक इतने दिन शरीरमे रहेंगे, ये इतने दिन तक शरीरमे रहेंगे। आपने समझा होगा कि खाये हुए भोजनका जो अंश बहुत जल्दी निकल जाता है उसमें शक्ति कम होती है, जो अश बहुत दिनों तक रहेगा उसमे शक्ति अधिक होती है। जैसे मल मूत्रमें कुछ बल नहीं है, रुधिरमें कुछ बल है, वीर्यमें सर्वाधिक बल है। तो जो जितने अधिक दिन तक टिक सकेगा उसमें उतने ही अनुभाग अधिक हैं। ऐसी ही बात कर्मोंमे है कि एक पुरुषमे जितनी कर्मप्रकृतियां बँधी हैं उनके निषेकोमे जो निषेक जल्दी खिरेंगे उनमें अनुभाग कम हैं और जो बहुत अधिक समय बाद खिरेंगे उनका अनुभाग अधिक है। तो यह सब व्यवस्था कर्मोंके निमित्तनैमित्तिक भावसे बनती है। उसका बनाने वाला कोई प्रभु, ईश्वर आदिक नही है।

योग और कषायोमे कुछ ज्ञातव्य—अन्तिम कारण बताया है कर्मोंके आस्रवका योग। योग कहते हैं आत्माके प्रदेशके हलनचलनको। यह हलनचलन होती है मन, वचन, कायके निमित्तसे। योगके तीन भेद किए गए हैं–मनोयोग, वचनयोग और काययोग। ये सबके सब शुभ भी होते हैं–अशुभ भी होते हैं। कषाय शुभ भी हैं, अशुभ भी हैं। द्वेष तो सभी अशुभ है। रागमे ये दो प्रकार कल्पित होते हैं। अविरत भावमें भी कोई परिणाम मद कषायमे चलता है कोई तीव्र कषायमें भी अविरत चलता है। मिथ्यात्व तो अशुभ ही है, फिर भी कहीं मद मोह हुआ कहीं तीव्र, इस तरह आस्रवभाव नाना प्रकारके हैं, ये सब मोहनीय कर्मके उदयसे हैं। हिंदी भावनामें कहा है कि मोह नींदके जोर जगवासी घूमें सदा। ये जगतवासी संसारी प्राणी मोह निद्राके वश होकर घूम रहे हैं। अब बताओ हम आप जीव इस ससारमे यात्रा करते हुए आज यहाँ उत्पन्न हुए हैं, यहाके समागमोंमें आये हैं, तो जब अनादिकालकी यात्रामें पाये हुए समागम मेरे न रह सके तो ये कुछ वर्षोंके समागम ये अपने हो जायेंगे क्या? ये स्वरूपतः भिन्न हैं और मोटेरूपसे विचार करें तब भी भिन्न नजर आते हैं। कुछ दिनोंका समागम है लेकिन इनमे जो अज्ञान मोह बसा लिया जाता है इससे जीवको भविष्यमें भी भ्रमण करनेका बध हो जाता है। तो विवेक यह है कि अपने आप अपने भीतर गुप्त ही गुप्त ज्ञानप्रकाश पैदा करना है। मै मैं हू, मै देहरूप नहीं, मैं मेरा हूं, मेरे सिवाय बाहरमें अन्यत्र मेरा कहीं कुछ नहीं। यह ज्ञानप्रकाश किया जाय तो यही हम आपका शरण होगा। यह ज्ञानप्रकाश न हो तो हम आपका कोई शरण नहीं है अतः इस ज्ञानप्रकाशमें अपने सहज स्वरूपपर दृष्टि देकर कषायों और योगोंसे निवृत्त होनेका पुरुषार्थ करो।

वस्तुस्वातन्त्र्य जानकर परमे लगाव न रखते हुए आस्रवोंके परिहार करनेका अनुरोध--प्रत्येक पदार्थोंमें स्वयंमे स्वयसे स्वयके लिये परिणमन होते रहना वस्तुस्वरूप है, इसे कोई मेट नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वभावसे अपनेमें उत्पाद व्यय कर रहे हैं। हम आप भी अपने आपमें अकेलेमें अपने आपकी कल्पनाये बनाते और सुख दुःखकी अनुभूति किया करते हैं। तो ऐसा अपने को अकेला जानकर हमें

अपने ही परिणामसे अपनी भलाई बुराई जानकर कुछ अपनी ओर आना चाहिए। मोह ममत्वके अज्ञान परिणामोंक अब तिरस्कार करना चाहिए। इस ममत्व परिणामने इस जीवको अब तक बहुत दुःखी किया। इस जीवमें किसी प्रकारका विकार स्वभावसे पड़ा ही नहीं है; लेकिन इन विभाव भावोंके उदयसे इस आत्मतत्त्वकी ऐसी विडम्बना बन रही है। अब इन विभावभावोंका आदर न करे। अपने आपका जो स्वभाव है विशुद्ध पावन, उसका आदर करे। इस मोहभावको दूर करने के लिए और आत्माके स्वभावमे लगनेके लिए एक साहस बनाना होगा, अन्यथा जैसे इस संसारमे रुलते आये वैसा ही रुलना बना रहेगा। इस मोहभावके कारण जीवकी कितनी कठिन जन्ममरणकी परम्परा लगी हुई है ? इसका कुछ निश्चय नहीं कि आज तो हम मनुष्य हैं और मरकर फिर मनुष्य ही बनेंगे। मनुष्य मरकर सब प्रकारके देहोंमें पैदा हो सकते हैं, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पशु, पक्षी, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदि सभी जगह ये मनुष्य उत्पन्न हो सकते है। तो यहांसे मरकर अगर स्थावर, तिर्यञ्च आदि हो गए तो फिर यहाँके समागमोंसे क्या सम्बन्ध रहेगा ? ये सारे मायाजाल हैं, इनसे प्रीति न करे, इस ही मे अपनी भलाई है तो ये आस्रव भाव ऐसे घोर दुःखके ही कारण है ऐसा जानकर हे बुद्धिमंतो ! इन आस्रवभावोंका परिहार करो।

कम्मं पुण्णं पाव हेउ तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मंद-कसाया सच्छा तिव्व-कसाया असच्छा हु ॥९०॥

प्रशस्त व अप्रशस्त कर्मोंके विवरणमे सज्वलन क्रोधकी मदकषायताका कथन—कर्म दो प्रकारके है—पुण्य और पाप और उसके हेतु भी दो प्रकारके हैं—पुण्य और पापभाव। पुण्यभावको शुभ कहा, पापभावको अशुभ कहा। पुण्यकर्मका कारण शुभ आस्रव है, पाप कर्मका कारण अशुभ आस्रव है, याने मदकषाय होनेसे जो आस्रव होता है वह तो शुभ आस्रव है, तीव्र कषाय होनेसे जो आस्रव होता है वह अशुभ आस्रव है। इसका सक्षिप्त विवरण यह है कि कषाये होती है ४ प्रकारकी क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्येक कषायकी चार-चार जातिया होती है। अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। जैसे जलमें रेखा कर दी गई तो वह रेखा कितनी देर रहती है तुरन्त ही मिट जाती है, तो ऐसे ही समझिये कि ऐसा मंद होता है सज्वलन क्रोध मुनिजनोंका, तो वह कितनी देर रहेगा ? क्रोध आया कि वहीं तरग समाप्त हो जाती है। जैसे बहुतसे मनुष्य किसी पर ऐसा क्रोध करते है कि उस क्रोधको जीवन भर भी नहीं छोड़ते। यद्यपि क्रोध कोई जीवन भर कर नहीं सकता, मगर वासना तो रख सकता है। और कितने ही, जीव तो अगले भवमें भी क्रोधकी वासना ले जाते हैं। जैसे कमठके जीवने कई भवों तक अपनी क्रोध वासना निभाई और वह भी एकदम कितना इकतरफा कि मरुभूति तो गया था मरुभूति की स्त्रीके साथ ही अन्याय करने वाले कमठको समझाने कि कमठ मेरा बड़ा भाई है, यह हमसे अप्रसन्न न रहे, लेकिन कमठ तामसी बनकर एक बहुत बड़ी शिला अपने हाथपर उठाये हुए कुतप कर रहा था। मरुभूति ने विनय किया और चरणोंमे गिर गया लेकिन कमठका क्रोध शान्त न हुआ और क्रोधमें आकर उस शिलाको मरुभूति पर पटक दिया। यों ही कमठके जीवने मरुभूतिके जीव पर अनेक भवोंमे अनेक उपद्रव ढाये, यहां तक कि मरुभूतिका जीव जो पार्श्वनाथ भगवानका जीव बना। उस समय भी मुनि अवस्थामे कमठके जीवने उपद्रव ढाया, इतने पर भी मरुभूतिके जीवने कमठसे बदला लेने की बात कभी नहीं सोची। तो यह क्रोधभाव भव-भवमें जाता है, पर साधुजनोंके सज्वलन क्रोध अन्तर्मुहूर्तसे आगे नहीं ठहरता, क्षणमात्रमें ही नष्ट हो जाता है—जैसे कि जलकी रेखा।

प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण व अनतानुबंधीमे कषायवासनाकी उत्तरोत्तर अधिकता—संज्वलन क्रोधसे बढ़कर क्रोध है प्रत्याख्यानावरण क्रोध। कच्चे मार्गमें जैसे बैलगाड़ी निकलती है तो बैलगाड़ीके

तो बैलगाडीके पहियेकी रेखा बन जाती है। अब बतलावो वह पहियेकी रेखा कितने दिन टिकेगी? अधिकसे अधिक १०—५ दिन। हवा चलनेसे या अपने आप ही किसी कारणसे वह मिट जाती है, ऐसे ही प्रत्याख्यानावरण क्रोध होता है जो कि श्रावकोंमे होता है। ज्यादा ज्यादा श्रावकोंमें क्रोध होगा तो उसकी वासना करीब १५ दिनों तक रहेगी। १५ दिनोंसे ऊपर अगर किसीके प्रति वैर विरोधकी वासना बनती है तो समझिये कि इसके अणुव्रत नहीं है। इससे बढकर रेखा है खेतमें हल चलाये जानेकी। वह रेखा खेतमें दो चार महीने तक रह सकती है। फिर वह रेखा अपने आप चुर जायेगी। ऐसे ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोध उस पृथ्वीरेखाकी तरह ज्यादासे ज्यादा ६ माह तक रहेगी, इससे अधिक नहीं रह सकती। तो जो जीव सम्यग्दृष्टि है और अव्रती है उसके जिस किसी भी विषयमे क्रोधकी वासना उत्पन्न हुई है वह वासना ६ माहसे अधिक नहीं चलती। लेकिन अनन्तानुबधी क्रोधकी वासना ६ माहसे अधिक चलती है, भव-भव तक चलती है। जैसे पत्थरमें रेखा करदी जाय तो वह रेखा बहुत वर्षों तक रहती है। इस तरह कषाये भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। एक श्रीरामचन्द्रजी का कथन आया है कि वे मृतक लक्ष्मण शरीरको लिए हुए ६ महीने तक फिरे। लेकिन ६ महीनेके बाद वे न रख सके। उनके सम्यक्त्व था, इस बातकी सिद्धि इस तरह होती है कि वे यदि भूले रहे, उनमें लोभकी वासना रही तो ६ महीने तक रही। यह लोभ वासनाका दृष्टान्त है। जैसे क्रोध वासना ४ प्रकारकी बतायी है अन्तर्मुहूर्त, एक पक्ष, ६ महीना और बहुत काल। ऐसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ इनकी भी वासना इन चार प्रकारोंमे है। वे श्रीराम अविरत सम्यग्दृष्टि थे। वे अपनी इस वासनाको ६ महीनेसे अधिक नहीं चला सके। आखिर योग मिला और उनको चेत हुआ। तो ये कषायें इस प्रकार चार-चार प्रकारसे समझना चाहिए।

कषायोंकी मन्दता और तीव्रता पर कुछ प्रकाश—अब इन चार कषायोंमे से अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण इनको तो तीव्र कषाय समझ लीजिए और प्रत्याख्यानावरण व सज्वलन इनको मद कषाय समझ लीजिये। यह भेद यों किया है कि श्रावक और मुनि इनको पुण्यस्राव बहुत अधिक होता है और फिर चार कषायोमे भी यह बात लगा सकते कि किसीके अनन्तानुबधी भी रहे और मद रहे, किन्तु अनन्तानुबधी चूँकि ससारका कारण है अतएव हर स्थितिमे वह वस्तुत तीव्र कषाय है। अनेक द्रव्यलिङ्गी मुनि अपने परिणामोंमे इतनी मदकषायता रखते है कि किसीको कोल्हूमें भी पेल दिया जाय तो भी वे शत्रुसे बदला लेनेका भाव नहीं करते। और इतना कष्ट सहने पर भी उन मुनियोंके मिथ्यात्व रह सकता है, यह मिथ्यात्व किस बलपर रहा? पर्याय बुद्धिके बलपर मिथ्यात्वका लक्षण है पर्यायबुद्धि है। जो जिस पर्यायमे है उसी पर्यायमें यह मै हू, इस ही पर्यायरूप मैं हू, मै यह हू, इस तरहसे पर्यायको अपनाना, इस पर्यायको ही आत्मा समझना यह मिथ्यात्वकी प्रकृति है। तो उस मुनिने उस समय क्या किया? जो द्रव्यलिङ्गी मुनि है, मिथ्यादृष्टि मुनि है और मद कषाय है उसने अपने आपमें यह निर्णय रखा है कि यह मै मुनि हू। शरीरके आकारको शरीरके निर्ग्रन्थ भेषको उस पर्यायको मान रहा कि यह मै हू और मै बन क्या गया? मुनि। जैसे धनिक लोग अनुभव करते कि मैं धनिक हू, पर क्या यह आत्मा धनिक है। आत्मा तो अमूर्त ज्ञानमात्र है, वह धनी नहीं है। इसी प्रकार द्रव्यलिङ्गी मुनिने यह अनुभव किया कि मैं मुनि हूं, तो क्या आत्मा मुनि है? आत्मा मुनि नहीं है। आत्मा तो अमूर्त ज्ञानमात्र है, पर उस द्रव्यलिङ्गी साधुने यह प्रत्यय किया कि मै मुनि हू। तो मैं मुनि हू, मुझे शत्रु मित्रको बराबर मानना चाहिये, यह मेरा कर्तव्य है, इस नातेसे मैं बड़ा हू। तो कषाय तो उसकी मद हुई लेकिन मिथ्यात्व नही गया। तो अनन्तानुबधी कषाय रहते हुए भी उस द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि मुनिने शत्रु पर रोष तो नहीं किया और निश्चयसे देखा जाय तो उसने शत्रु पर तो रोष नहीं किया लेकिन अपने आत्मदेव पर तो महान रोष किया। आत्मदेव पर यही रोष कहलाया कि आत्माको यथार्थरूपसे न परख कर अनात्म-

रूपमे परखा, यही आत्मदेव पर अन्याय है। तो मंद कषाय भी अनेक ऐसी होती हैं कि जिनमे मिथ्यात्व बसा हुआ है और अकल्याण चलता है, पर वस्तुतः वह भी तीव्र कषाय ही है।

कर्मोंकी पुण्यपापरूपताका कारण--तीव्र कषायसहित योग होनेसे जो कर्मोंका आस्रव होता है वह अशुभ आस्रव है और मदकषाय योगसे जो आस्रव होता है वह शुभ आश्रव कहलाता है। कर्मोंकी प्रकृतिया १४८ है, उनमेसे सम्यक्त्वप्रकृति व मिश्र प्रकृतिका बध न होने से बध योग्य १४६ है, जिनको यथोचित कुछ गर्भित करके १२० रूपोमे कहा है। जैसे वर्ण रस गंध स्पर्श नाम कर्मके २० भेद है उन्हे ४ मूलमे ले लिये सो १६ ये कम किये तथा शरीर, सघात व बंधन नाम कर्मके एकसे ५-५ भेद है उनमेसे एक पांच ले लिये सो १० ये कम हुए, यो १४६ मे २० कम होने से कुल बधनयोग्य १२० है। उनमे से ४२ प्रकृतियां तो पुण्यरूप है और ८२ प्रकृतियां पापरूप है। वर्णगन्ध रस और स्पर्श नाम कर्म पुण्यरूप भी है और पाप रूप भी है, अत: इन चार प्रकृतियोको पुण्यरूप व पापरूप दोनो प्रकारके माने है। यह कथन स्थितिबध व अनुभाग बधकी अधिकताकी प्रधानतासे है। साधारणतया तो शुभ अशुभ दोनो आस्रवोसे पुण्य व पाप दोनों प्रकारके कर्म बधते हैं। उनमे घातिया कर्म तो सब पापरूप हैं। तो यह समझना चाहिए कि हमारे जितने भी रागद्वेष हैं वे वस्तुतः पापरूप है। हम मोह रागद्वेष करते हैं तो हम अपने आपका कितना अधिक बिगाड़ कर रहे है ? ऐसा उत्तम कुल, उत्तम धर्म, उत्तम सुयोग पाकर भी यदि हमने अनात्मतत्त्वसे हटकर आत्माके स्वरूपमे रुचि बनानेका काम न किया तो लौकिक बड़प्पन सब बेकार है। यह लौकिक बड़प्पन साथ न देगा, मरण अवश्य होगा। मरणके बाद क्या स्थिति होगी, सो लौकिक बड़प्पनके हिसाबसे बात न बनेगी किन्तु भीतरमे जैसे परिणाम किये उसके अनुसार बात बनेगी। तो यह कर्तव्य है कि अपने परिणामोकी सभाल अधिकाधिक करनी चाहिए। अब मद कषायके दृष्टान्त देते है।

सव्वथ वि पिय-वयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खम-करणं।
सव्वेसि गुण-गहणं मंद-कसायाण दिट्ठंता ॥६१॥

मदकषायकी प्रमुख तीन पद्धतिया--सब जीवोंमे प्रिय वचन बोलना यह मंद कषायका उदाहरण है। अब परख कर लीजिये कि जिस जीवके तीव्र कषाय भरी है वह वचन बोलेगा तो कैसे प्रिय बोल सकता है। क्योंकि मूल आधार ही उसका बुरा है। वहां पुण्यभाव ही नहीं है तो प्रिय वचन कैसे बोल सकता है ? कषाय मद हो तब ही उसके मुखसे वचन प्रिय निकल सकते है। तो सब जीवोमें प्रिय वचन बोलना यह मद कषाय है और कोई दुर्वचन भी बोले तब भी उसको क्षमा करना, सोचना कि यह अज्ञानी जीव है, कषायोंसे घिरा हुआ है, इसकी ऐसी ही चेष्टा हुई है। वस्तुस्वरूपको निरखे, उसके उपादान निमित्तको देखे और यो सत्य जानकर उस पर भी क्षमा करे, यह मद कषाय वाले बुद्धिमान पुरुषोसे ही बन सकता है। कोई पुरुष दुर्जन है, अनेक बार उसने अपकार भी किया है फिर भी क्षमा कर देना यह मद कषायका दृष्टान्त है। देखो कमठके जीवने अनेक भवोमें मरुभूतिके जीवको सताया था, लेकिन मरुभूतिके जीवने किसी भी भवमें उस कमठके जीवसे बदला लेनेका भाव नहीं किया। उस मरुभूतिके जीव की कषाये मंद थीं। दुर्जन पुरुषोपर भी क्षमा कर देना यह मंद कषायकी बात है। तीसरा उदाहरण है--सभी जीवोंके गुणोंको ग्रहण करना। जो मंदकषाय पुरुष है उसमें ही ऐसी क्षमता है कि दूसरे जीवोके गुणोंको ग्रहण कर सकता है। जो पक्षपाती है, द्वेषी है, तीव्रकषायी है उसको तो दोष ही दोष नजर आयेगे। किसीमे गुण नजर न आयेंगे, गुण ग्रहण करने की तो बात ही जाने दो। जब मनमे अभिप्राय बुरा है तो बाहरमें उसे खराबिया ही खराबियां दिखेगी और यदि अपना अभिप्राय भला है तो बाहरमे उसे भला ही भला दीखेगा। तो जो मदकषायी पुरुष है उसमे यह क्षमता है कि दूसरेके गुणोका ग्रहण कर सकता है।

दृष्टिकी अभिप्रायानुसारिता--जैसे यहां यह बात देखी जाती कि जो पुरुष खुद दु खी है उसे बाहर मे सभी लोग दु'खी नजर आते हैं और अगर स्वयं सुखी है तो बाहरमें भी उसे सब सुखी नजर आते हैं। तो जैसी अपनी दृष्टि बनायी उसके अनुसार हीं बाहरमे दिखता है। जो पुरुप सज्जन है उसे बाहरमें भी याने अन्य पुरुषोंमे भी सज्जनता ही नजर आती है और जो लोग दुर्जन हैं उन्हें बाहरमे याने अन्य पुरुषोमें भी प्राय' दुर्जनता ही नजर आती है। तो जो मंद कषाय वाले पुरुप हैं उनको ही दूसरे पुरुषोंमें गुण दीखा करते हैं और वही पुरुप दूसरे के गुणका ग्रहण करते हैं। बालकमें भी गुण हों तो उसके गुण ग्रहण करना चाहिए। बालक भी यदि भली शिक्षाकी बात कह रहा हो तो उसकी शिक्षाकी बात मान लेनी चाहिए। यह प्रकृति मंद कषाय वाले सज्जन पुरुषोंमें ही हो सकती है। एक छोटा सा कथानक है कि एक नाई बादशाहकी हजामत बनाया करता था। तो बादशाहने उस नाईसे कहा—खवास जी यह बताओ कि आजकल हमारी प्रजाके क्या हाल है? तो नाई बोला—महाराज आजकल आपकी प्रजा बहुत मजेमे है। घी दूधकी तो आजकल नदियों बह रही हैं। सभी लोगोंका जीवन बड़ा सुखमय है। बादशाहने सोचा कि यह नाई खुद मजेमें है सो दूसरोंको भी वैसा ही समझ रहा है। सो क्या किया बादशाहने कि उस नाई पर कोई झूठा मूठा अपराध लगाकर सिपाहियोंको हुक्म दिया कि इसके सभी गाय, बैल, भैंस आदि जानवर यहा ले आवो। सिपाहियोने वैसा ही किया। अब कुछ दिन बादमे फिर वही नाई बादशाहकी हजामत बनाने गया तो बादशाहने फिर उसी प्रकार पूछा कि खवास जी, यह बताओ कि आजकल हमारी प्रजाका क्या हाल है? तो खवास बोला—महाराज आजकल आपकी प्रजा बड़ी दु खी है। आजकल तो किसीको दूध घीके दर्शन ही नहीं हो रहे हैं तो जिसकी जैसी दृष्टि बनती है उसे बाहर में वैसा ही दीखता है।

ज्ञानीका निजका एकत्वविषयक ज्ञानप्रकाश व मदकषायके दृष्टान्तोका उपसहार--जिसका जैसा परिणाम है उसके अनुसार उसे बाहरमें दिखता है। मदकषाय वाले पुरुषोंमें चूँकि गुणोंकी रुचि है और सम्यग्दृष्टि पुरुषगुण रुचि होनेके कारण मंद कषाय रहा करते हैं। उनको निरन्तर यह ज्ञानप्रकाश रहता है कि मैं तो ज्ञानमात्र हू, ज्ञानको ही करता हू, ज्ञानको ही भोगता हू। मै बोल रहा हू तो इस वक्त मै बोलनेका कर्ता नहीं, किन्तु भीतरमे जो ज्ञान चल रहा है उस ज्ञानभावका ही करने वाला हूं। जब जब भी मै सुख दु ख भोगता हू उस वक्त मैं उन बाहरी चीजोको नही भोगता हू, जैसे भोजन किया तो लोग अनुभव करते है कि मै भोजनको भोग रहा हू, परतु वस्तुत' सोचिये तो मै भोजनको नहीं भोग रहा, भोजनके विषयमे मै जो ज्ञान कर रहा हू, जो चीज ज्ञानमे है उस सम्बन्धमे ज्ञान कर रहा हू और साथ ही मे लगा हुआ है राग। तो उस रागके कारण ज्ञानकी उस वृत्तिको मैं भोग रहा हूं। जैसे कहा 'कल्पना' कल्पना ज्ञानके साथ चारित्रके विकार होने पर बना करती है। कल्पना क्या चीज है? ज्ञानका ही तो परिणमन है, लेकिन साथमें रागद्वेष की पुट लगी हुई है। इस कारण वह कल्पनाका रूप बना है। तो मै कल्पनाको भोगता हूं, बाह्यपदार्थको नही भोगता, इस तरह बाह्य पदार्थका कर्तापन, बाह्यपदार्थका भोक्तापन जब मेरे आसयमे नहीं है और केवल अपने आपके अतस्तत्त्वसे ही मैंने अपने आपका निर्णय बनाया है तो मुझे जगतमे कोई अपना विरोधी और कोई अपने अनुकूल नहीं नजर आता। मै विरोधीको अपनाऊँ याने अपना विरोधी मानूँ तो मै हो अपना बिगाड़ कर रहा हू, मै अनुकूलको अपनाऊँ तो मैं ही अपना बिगाड़ कर रहा हू। वे दोनोके दोनो इस मुझ अंतस्तत्त्वसे भिन्न है, ऐसे परभावोसे अत्यन्त विभक्त निज के स्वरूपमात्र अपने आपके स्वरूपका अनुभव कर लेने वाले सम्यग्दृष्टि पुरुषके तीव्र कषाय नही जगती। तो ये जो तीन उदाहरण दिये है ये मंद कषायके दृष्टान्त है और ये तीन बाते सम्यग्दृष्टि पुरुषमे तो पायी ही जाती है; सब जीवोसे प्रिय बोलना, दुर्जन पुरुषोंकी प्रतिकूल चेष्टा होने पर भी उनको क्षमा कर

देना और सभी जीवोंके गुण ग्रहण करना, ऐसी मंदकषायकी परिणतियोंसे पुण्यप्रकृतिका आस्रव होता है।

अप्प-पसंसण-करणं पुज्जेसुवि दोस-गहण-सीलत्तं।
वेर धरणं च सुइरं तिव्व-कसायाण लिंगाणि ॥६२॥

तीव्रकषाय वालोंके चिह्नोंमे से आत्मप्रशंसाकरणनामक प्रथम चिह्नका वर्णन—अब इस गाथामें तीव्र कषाय करने वालोंके चिन्ह बताते हैं। अपने आपकी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषोंमें भी दोष निकालनेका स्वभाव होना और बहुत काल तक वैरका धारण करना, ये तीव्र कषाय वाले जीवों के चिन्ह हैं। अपने आपकी प्रशंसा करना यह पर्यायबुद्धि और कषायकी तीव्रता हुए बिना नहीं हो सकता, क्योंकि यह आत्मा है अमूर्त ज्ञानमात्र, उसको दृष्टिमे रख करके तो यह भाव न बनेगा कि लोकमें मेरी प्रशंसा बढ़े। उसका तो भाव ज्ञानमात्र निजस्वरूपमे लीन रहनेका होगा। जब अपने स्वभावसे दृष्टि गिर जाती है और देहमे 'यह मैं हूं' इस प्रकारकी ममता और अहता बनती है तभी यह भाव बनता है कि लोकमे मेरी ख्याति बढ़े। लोग हमे कुछ समझे ऐसा ख्याल रखकर ही तो अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करते की विडम्बना बनती है। तो अपने गुणोंकी प्रशसा करना यह तीव्र कषाय वाले पुरुषोंका चिह्न है। यद्यपि ऐसा लगता है कि यह भाई किसीका बिगाड़ नहीं कर रहा, किसीसे झगड़ता नही, किन्तु इसकी एक इच्छा है, अपने आपकी खुद प्रशसा कर रहा है तो इसमें तीव्र कषायकी क्या बात हुई ? लेकिन अन्तःदृष्टि करके देखो तो वह अपने आत्मदेवको भूला हुआ है और इसी कारण बाह्यमें नाना विकल्प बना रहा है। तो उसका वह अपने आपके प्रति तीव्र कषाय कहलाया ना ? तीव्र कषायका अर्थ केवल द्वेष नहीं है। तीव्र राग होने से भी तीव्रकषाय होती है क्योंकि कषायके दो भेद हैं राग और द्वेष। जैसे कोई पुरुष अपने घरमें बड़े आरामसे रहता है, उसकी आमदनी भी नियत है, उसका किराया, ब्याज आदि आसानीसे घर बैठे ही लोग दे जाते हैं। वह लोगोंसे असद्व्यवहार भी नहीं करता, अपने घरमे मौजसे रहता है, अपनी स्त्री पुत्रादिकमें आसक्त रहता है, वह यदि सोचे कि मै किसीका कुछ बिगाड़ नहीं कर रहा, तो क्या उसकी कषायें कम हो गयीं ? एक अपने आपको भूल जाना यह सबसे बड़ा पाप है। जिसे सैद्धान्तिक शब्दोंमे मिथ्यात्व कहते हैं। मोह सबसे बड़ा पाप है। इस मोहके रहते हुए जो जो भी करनी है चाहे धर्मके नाम पर हों, चाहे शान्ति समताके नामपर हों, वे सब मिथ्या हैं। तो मोहमे ही यह जीव अपने आपकी प्रशंसा कर रहा है। अपने आपकी प्रशसा करना यह तीव्र कषाय है।

तीव्रकषाय वालोंका द्वितीय व तृतीय चिह्न--पूज्य पुरुषोंमे दोष ग्रहण करनेका स्वभाव होना, यह भी तीव्रकषायका चिह्न है। अपने गुरुजन हैं, जिनसे विद्याभ्यास किया, जिनसे कोई चारित्र संयमकी शिक्षा ग्रहण की जाती, जिनसे रत्नत्रयके भावोंमे बढनेकी मदद मिलती है ऐसे गुरु आदिक पूज्य पुरुषोंमें दोष ग्रहण करनेका स्वभाव होना यह भी तीव्र कषायका चिन्ह है। कहाँ तो चाहिये था उपकारी और पूज्य पुरुषोंके गुणोंपर दृष्टि देकर अपने आपको गुणवृद्धिमे बढाना और कहां किया जा रहा है इसके विपरीत कि उनमें गुण भी है तो भी उन पर दृष्टि न होकर दोषग्रहण करनेका ही स्वभाव होता है। तीसरा चिह्न बताया जा रहा कि बहुत काल तक वैर धारण करना। यह तो स्पष्ट ही तीव्र कषाय है। जीवन भर या भव-भवमें किसीके प्रति वैर विरोधका भाव रखना यह तीव्र कषायका ही तो चिह्न है। पुराणोंमें जैसे बहुत से कथानक आते हैं और इस जीवनमे भी देखा जाता है कि कितने ही पुरुष तो ऐसा वैरग्रहणका स्वभाव रखते हैं कि प्रतीक्षा करते रहते हैं, अभी हमारी कमजोरी है। अभी हम कुछ कर नहीं सकते, यों बीसों वर्षों तक वे वैर विरोधका उसके विनाश करने तकका भाव मनमें रखा करते हैं। इस तरहके वैर धारण करने वाले पुरुष अब भी कहीं कहीं पाये जाते हैं। इसे तो कृष्णलेश्याका लक्षण कहा है। कितने ही सुख साधन जुटाये जायें, कितना ही उपकार किया जाय फिर भी जो तीव्र कषायकी प्रकृति वाले पुरुष हैं वे

बैर विरोधको नहीं छोड़ते। मरुभूतिके जीवने कमठपर क्या उपसर्ग किया, बल्कि सुवचन ही कहा, तिस पर भी कमठने मरुभूति पर शिला पटक दी। ऐसे ही अनेक दृष्टान्त हैं। सज्जन पुरुष अपनी सज्जनता न छोड़कर उस दुर्जनका उपकार और हित करनेका ही यत्न करते हैं, लेकिन दुर्जन पुरुष वहां दूसरेके अवगुण ही ग्रहण करते हैं और वैरको नहीं छोड़ते।

एव जाणतो वि हु परिचयणीए वि जो ण परिहरइ।
तस्सासवाणुवेक्खा सव्वा वि णिरत्थया होदि ।।६३।।

हेयपरिहारसे आस्रवानुप्रेक्षाकी सार्थकता—ऐसा जानते हुए भी लोग जो छोड़ने योग्य बात है उसको छोड़ते नहीं हैं, ऐसे लोग आस्रवभावना का पाठ भी कर जायें तो उनका यह पाठ निरर्थक है। कुछ भी बात जानकर स्वाध्यायमें, भावनामें, चिन्तवनमें सबको अपने आपपर घटित करना चाहिए। हम शास्त्रोंमे जीवो की अवगाहना पढते हैं— ऐसी ऐसी अवगाहना वाले जीव हैं। उत्कृष्ट आवगाहना महामत्स्यकी हैं इस बात को जानकर हमे शिक्षा यह लेना है कि एक आत्मस्वरूपके परिचय बिना पर्यायबुद्धि करने के कारण ऐसे ऐसे भवोंमे जन्म लेना पडता है। तब ऐसे खोटे कार्य न करे, अज्ञानवृत्ति न बनायें, अपने आपके स्वरूपका बोध रखे तो इन पर्यायोकी विडम्बनासे बच जायेंगे। जब लोकका विस्तार पढते हैं--कि यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है। एक राजू और वह भी विस्ताररूपमें, नानारूपो मे, किन्तु एक फैलाव मात्रमें इतना बड़ा है कि जिसमें असख्याते द्वीप समुद्र समाये हुए हैं और वे भी कितने विस्तार वाले, सबसे बीचमें जम्बूद्वीप है, वह है एक लाख योजनका, उसे घेरकर लवणसमुद्र एक तरफ दो लाख योजनका, उसे घेरकर द्वीप, उससे दूना समुद्र, इस तरह दूने दूने विस्तार वाले असख्याते द्वीप समुद्र जितने विस्तारमें है वह सब क्षेत्र अब भी एक राजूसे कुछ कम है। तो ऐसे ३४३ घनराजू प्रमाण लोक है, यह जानकर हमे क्या शिक्षा लेना है? एक तो यह कि इस लोकमें ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा जिस प्रदेश पर हम अनन्ते बार जन्मे न हो और अनन्ते बार मरे न हों। तब जिस जगह आज हम पैदा हुए यहा तो अनन्त बार जन्म ले चुके, यह कोई नया क्षेत्र नहीं, कोई नई बात नहीं। यहाँ मोहके योग्य कोई अवसर नही। दूसरी बात यह निरखना है कि जब लोक इतना बडा है और उसमें इतना परिचित क्षेत्र जो है, वह बहुत बडे समुद्रके सामने एक बिन्दु बराबर है। तो इतनेसे क्षेत्रमे हमने कुछ अपना बड़प्पन चाह लिया, यश कीर्ति बनाली तो बचा हुआ जो इससे अनगिनते गुना क्षेत्र है उसमे तो हमारा कुछ यश न रहा। तो जब इतने बडे क्षेत्रमें हमारे बूमने वाला कोई नही है तो थोडेसे स्वार्थवश बूझ लेने वाले लोग मिल गए तो यह मेरे लिए कुछ बड़प्पनकी बात नहीं है। यों हम जो कुछ भी अध्ययन करे उसका अपने आप पर जैसे हितमार्गमे अपनेको चलानेके लिए प्रभाव आये वैसी बात गुजरना चाहिए। यहा आस्रवानुप्रेक्षाका चिंतन चल रहा है। इस भावनामे बताया है कि मिथ्यात्व कषायके कारण इस जीवमें कर्म बँधते है, उनकी स्थिति, उनका अनुभाग बँधता है जिनके उदयकालमे जीवको ऐसी विडम्बनाये सहनी पडती है। वे कर्म दो प्रकारके है--शुभ और अशुभ। शुभभाव करनेसे शुभकर्म बँधता है, अशुभभाव करनेसे अशुभ कर्म बँधता है। तब कर्तव्य यह है कि सर्वप्रथम, अशुभभावोंका परित्याग करे जिससे हमारा पापकर्ममें फसाव न रहे और शुभभाव करके उसमे भी तत्त्वचिन्तन, धर्मदृष्टि आदिक करे और दृष्टि यह बनाये कि पुण्य और पाप ये दोनो ही संसारके हेतुभूत है, इन दोनोसे मुक्त होकर हमें अपने आपके स्वरूपमे आनेकी बात पड़ी हुई है। निरास्रव अपने आपके स्वरूपको तकना यह आस्रवानुप्रेक्षाका प्रयोजन है। जीवमे कर्म आते हैं, बधते है, लेकिन जीव स्वय किस स्वभावका है? निरास्रव, जिसमें शुभ अशुभ किसी भी प्रकारके विकारका स्वभाव नहीं है। जो केवल अपनी ओरसे अपने सत्त्वके कारण सहज ज्ञानानन्द स्वभावरूप है, ऐसे निरास्रव निज अन्तस्तत्व भावना बने तो वह

आस्रवानुप्रेक्षाका प्रयोजन है।

आस्रवानुप्रेक्षणमें सबके प्रति प्रिय वचन बोलने और क्षमा धारनेकी शिक्षा—मोटे रूपसे जो अभी ऊपर की दो गाथाओंमे बताया है कि मंदकषायकी ये बुद्धियाँ है और तीव्र कषायकी ये बुद्धियाँ हैं। अधिक नही तो इतना तो व्यवहारमे लाना ही चाहिए कि तीव्र कषायकी बुद्धियाँ मिटे और मंदकषायकी वृत्तियाँ जगे। मंदकषायकी वृत्तियोमे बताया है कि सबके प्रति प्रिय वचन बोलना। अब बतलावो सबके प्रति प्रिय वचन बोलनेमें क्या बिगड़ता है? कौनसी हानि होती है? लाभ अनेक है। दूसरेकी दृष्टिमे भले रहने से विपदाओंका कम अवसर है, खुद भी शान्त रहता है और दूसरे भी शान्त रहते हैं। किसीके प्रति खोटे वचन बोलनेके लिए पहिले अपने आत्मामे सक्लेश करना पड़ता है, फिर उस कषायकी तीव्रतामें दुर्वचन बोले जाते हैं। तो ऐसे वचन बोलनेका भाव ही क्यों करना कि खुद भी हैरान हो जाय और दूसरोको भी हैरान किया जाय। तो सब जीवोमे प्रिय वचन बोलनेकी जीवनमे वृत्ति बने। अपनी सामर्थ्यभर दूसरेके दुर्वचन (प्रतिकूल वचन) होनेपर भी क्षमा करनेकी प्रकृति बने। यह संसार है, अनन्त जीव है, सब अपनी-अपनी कषाय चेष्टाके अनुसार अपनी क्रिया करते है इस बेचारेसे मेरा क्या सम्बंध? यह क्षमापात्र है, यह बेचारा अज्ञान विपदासे ग्रस्त है, स्वयं दुःखी है तभी तो यह अनुचित चेष्टा कर रहा है। इसपर क्या रोष करना? ऐसा जानकर सभी पुरुषो पर, दुर्वचन बोलने वालोपर क्षमा करना।

आस्रवानुप्रेक्षणमे परगुणग्रहण करनेकी शिक्षा—मंदकषायके दृष्टान्तमे तीसरी बात कही गई कि सबके गुण ग्रहण करना। हमको गुणदृष्टिमे लाभ है, दोषदृष्टिमे लाभ नही हैं। दोषदृष्टि करनेमे प्रथम तो यह बात आ गई कि इसको दोष रुच गए। इसे दोष प्यारे है तभी तो इसे बहुत जल्दी दूसरेके दोष दृष्टिमे आते हैं। यदि इसे गुणोमे रुचि होती तो दूसरोके गुण इसके ध्यानमें आते। सभी जीवोंमे गुण और दोष ये दोनो पाये जाते है। चाहे कोई बहुत ही गुणवान हो उसमें भी कोई न कोई दोष पाया जाता हैं। (यहाँके मनुष्योकी बात कह रहे हैं) यहाँके सभी लोग गुण और दोषोसे भरे है। अब उनमेंसे हमारी दृष्टि गुणोंपर जाय तो इसका कारण यह है कि हमे गुणोंसे अधिक प्रेम है और दोषों पर दृष्टि जाय तो इसका कारण यह है कि हमे दोषोंसे अधिक प्रेम है। तो हमारी वृत्ति कैसी बने? हम स्वयं अपने आपमें बसे हुए गुणोके विकासका पुरुषार्थ करे, अपने वास्तविक गुणों पर दृष्टि दें। पर्यायके गुणो पर दृष्टि देनेका नाम तो अभिमान है, लेकिन आत्मामे जो सहज गुण है, ज्ञानस्वभाव, आनन्दस्वभाव, उस ज्योतिपर दृष्टि दे तो वह कला आयेगी अपने आपमे कि दूसरो को भी ति र कर दृष्टि जायगी तो गुणों पर जायगी, दोषों पर आकर्षण न होगा। ऐसी वृत्ति हमारे जीवनमे बने तो आस्रवानुप्रेक्षाका भाना सफल है।

परित्यजनीय भावोके परिहार कर देनेमे ही आस्रवानुप्रेक्षणकी सफलता—और भी देखिये—जो तीव्र कषायके चिह्न बताये गए हैं उनसे दूर रहें। ऐसा पुरुषार्थ करनेसे ही आस्रव भावना सफल है। प्रथम चिह्न बताया है तीव्रकषायीका अपनी प्रशसा करना। इसमें प्रथम तो यह देखिये कि जो पुरुष खुद अपने आपकी प्रशंसा करता है उसका बड़प्पन दूसरे सुनने वाले लोग नही देते। भले ही किसी कारणवश तत्काल हां मे हाँ मिला दें लेकिन उनका दिल कहता है और वे परोक्षमें कहते भी है कि देखो यह कैसा अभिमानी है, अपने मुखसे अपनी प्रशसा करता है। तो जिस बातमे तत्काल भी हानि है, भविष्यमे भी हानि है ऐसी वृत्ति क्यो बनाते? तीव्रकषायीका द्वितीय चिह्न है—पूज्य पुरुषोमें दोष ग्रहण करनेका स्वभाव होना। यह प्रवृत्ति दोषमय बनानेका कारण है अत. पूज्य पुरुषोमे दोष ग्रहण करने का स्वभाव न रखा जाय। जगतमें सभी जीव हैं, हम भी जीव हैं, कर्मोंके प्रेरे है। कर्मोदयवश दोष आ पड़ते है पर

उन दोषोंको दोष समझना, उन दोषोंसे हटनेकी भावना रखना यह भी एक गुण है। इसमें गुणग्रहणका स्वभाव बने तो सभीमें और पूज्य पुरुषोंके गुणोंके ग्रहणमें रुचि जगेगी। इसी तरह किसीके प्रति द्वेषकी भावना चित्तमें न बसायें। यह द्वेषभाव कालान्तरमें खुदका ही बड़ा अनर्थ कर देगा। यों खोटे भावोंसे हटकर शुभ भावोंमें आना, ऐसी वृत्ति बने तो आस्रवानुप्रेक्षा सफल है। लेकिन जो जानबूझकर भी परिहार किए जाने योग्य चीजोंको छोड़ता नहीं, उसका आस्रवभावना भाना निरर्थक है।

एद मोहय-भावा जो परिवज्जेइ उवसमें लीणो।
हेयं ति मण्णमाणो आसव--अणुवेहण तस्स ॥६४॥

मोहभावको हेय जानकर दूर करनेमें ही वास्तविकी आस्रवानुप्रेक्षा--जो मुनि साम्यभावमें लीन होता हुआ मोहके उदयसे होने वाले इन भावोंको त्याग देता है, यह समझकर कि ये सब भाव हेय है, ऐसे ही मुनिकी आस्रवानुप्रेक्षा वास्तविक है। अपने आपको निरखिये कि हम केवल अपने ही स्वरूपमें हैं। जो कुछ करते है अपने आपको ही करते हैं, भोगते हैं तो अपने आपको ही भोगते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें ही अपना उत्पाद और व्यय करते हैं। यदि किसी इष्ट पुरुषको समझाने के लिए, उसका दुःख मटानेके लिए कोई सम्बन्धी भी साथ ही साथ रोने लगे, उसके इष्टवियोग आदिक दुःखोंमें सहानुभूति प्रकट करने लगे, तो दोनों दुःखी हो रहे, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे दोनों मिलकर दुःखी हो रहे, वे दोनों तो अलग-अलग दुःखी हो रहे, किसी प्रसंगमें वे दोनों मिलकर सुखी हो रहे हों तो वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि वे दोनों मिलकर सुखी हो रहे। अरे वे दोनों अलग अलग अपने-अपनेमें सुखी होते हैं। तो जब प्रत्येक पदार्थका अपने आपमें ही अपना सब कुछ है तो मैं भी एक सत् पदार्थ हू मेरा जो स्वरूप है वह केवल मुझमें है। मेरा जो परिणमन है वह भी केवल मुझमें ही है। तब बतलावो कि मेरा मेरेसे बाहर क्या है और जब कुछ नहीं है मेरा बाहर तो किसी परसे मेरा क्या सम्बन्ध है? जब सम्बन्ध नहीं तो उनके बारेमें सोचना, विकल्प करना, आशा करना, मोह राग करना, ये विकल्प रखना क्या कोई भली बात है? ये विकल्प तो इस जीवको बरबाद ही करने वाले हैं। तो ये हेय हैं। अपने आपमें जो भाव आगतुक हैं, कर्मोदयसे हुए हैं, परवस्तुके आश्रयसे हुए हैं वे भाव हेय हैं और जो भाव मुझमे मेरे स्वभावसे मेरे ही कारण मेरे स्वरूपमें प्रकट हुए हैं वे भाव उपादेय हैं। तो जो ज्ञानभाव है, स्वाधीन आनन्द है वह तो उपादेय है और जो वैषयिक सुख हैं, विकल्प हैं, रागद्वेष हैं, वे सब हेय चीजें हैं।

ज्ञानीमें ससारहेतुक दुर्भावोंका अभाव--अध्यात्म शास्त्रोंमें बताया है कि जीवके अध्यवसानके दो प्रकारके परिणाम होते हैं—एक तो ससारहेतुक और एक सुखदुःखहेतुक। जो सुख दुःख मात्रसे सम्बन्ध रख रहे है ऐसे भाव संसार बढानेके कारण नहीं है और जो रागद्वेष भाव है वे ससार बढानेके कारण है। जैसे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि भी सासारिक सुख दुःख पा रहा है लेकिन उसके भाव संसार बढानेके कारण नही बन पाते। यदि भावमे रागद्वेष भाव जगे तो सम्यक्त्व मिटेगा और वे ससारके कारण बनेगे किन्तु एक बार सम्यक्त्व जग जानेके चिरससारवृद्धि तब भी न होगी, निकट कालमे सम्यक्त्व जगेगा। रागद्वेष मोहके मायने अपने रागमें राग करना, यह तो है अज्ञानीका राग और द्वेष। अपने रागविरोधक पदार्थमें द्वेष करना यह है अज्ञानीका द्वेष। जैसे कोई रईस आप भी कभी बीमार हो जाय तो उसके आरामके बडे साधन जुटाये जाते है, सजा कमरा, कोमल पलग, नौकर, चाकर बढा दिये जाते है। सहानुभूति प्रकट करने वाले बहुतसे लोग आते हैं। दूरसे देखो तो बड़ा आराम दिखता है लेकिन उस रोगीको भीतरसे उस आरामकी चाह नही है, ऊपरसे चाह अवश्य है, क्योकि वह अपनेको रोगवश आशक्तताके कारण कष्टमे नहीं रख सकता, लेकिन उसका अन्तरङ्ग यह कहता कि यह मेरा रोग कब मिटे और मैं रोज दो

चार मील घूमने चलने लायक बन जाऊँ। तो ज्ञानी जीव भी एक अपनी परिस्थितिके अनुसार आराम चाह रहा है लेकिन उसे उस आराममे राग नहीं है। वह यह नही सोचता कि ऐसा ही आराम मुझे सदा मिलता रहे। उसकी तो भावना है कि यह सब विडम्बना है। इन सब विडम्बनाओं से मुझे मुक्ति मिले।

ज्ञानीका वास्तविक वैभवमे सतोष—स्वजनसमागम हुआ तो क्या हुआ? उन अनन्त जीवोंमे से कुछ जीव आ गए, यहाँ इकट्ठे मिल गए तो इनसे क्या मेरा पूरा पड़ जायेगा? ये न आते और कोई जीव आ जाते तो क्या आ नहीं सकते थे? तब इनसे मेरा क्या खास सम्बन्ध रहा? यह समझ कर ज्ञानी स्वजनमें आसक्त नहीं होता। वैभवको जानता है कि यह अचेतन है, पौद्गलिक है, यह स्वयं अपने परिणमनसे परिणमता है, रहता है, जाता है। इससे मेरा क्या सम्बन्ध है? अरे अरहंत सिद्ध प्रभुके स्वरूपको तो देखो—वे तो उत्कृष्ट वैभववान हैं ना? जिनके चरणोंमें १०० इन्द्र नमस्कार करते हैं। जिनके चरणोंमे तीनों लोक पड़ गये है। वे तो सबसे बडे उपासनीय हैं। क्या है उनमें वैभव? उनका वैभव है—दोष जरा भी न रहे और गुण पूरे विकसित हो गए। तो यह सब वैभव मेरे स्वभावमें पड़ा हुआ है, यह प्रकट हो तो हम सच्चे वैभववान है। निर्दोषता और गुणविकास यदि नहीं बनता है तो इन पौद्गलिक ढेरोंके समागमसे क्या तत्त्व निकलेगा? इस अनादि अनन्त कालके सामने ये १०-२०-५० वर्ष क्या गिनती रखते है जिनमे हम भोगविषयोका आराम चाह रहे है? यह समय भी झट निकल जायेगा और पाप जो भोगने पड़ेगे वह काल निकट आ जायेगा। तो ऐसा जानकर निर्णय करे कि मेरे में रागद्वेषभाव, आस्रवभाव, कषायभाव, ये सब हेय है और अपने आपका जो सहज ज्ञानज्योति स्वरूप है वह मेरा उपादेयभाव है, स्वरूप है। किसी भी पदार्थका स्वरूप उस पदार्थके बिगाडके लिए नहीं होता। मेरा स्वरूप ज्ञानानन्द है, वह मेरे बिगाड़के लिए न होगा, प्रत्युत मेरे आनन्दानुभवके लिए ही होगा। ऐसा जानकर मुनिजन समताभावमें लीन होते हैं और विभावोंको हेय मानकर उन विभावोंका त्याग कर देते है और अपने को निरास्रव तक कर उस ही ज्ञानस्वभावमें लीन बनाना चाहते हैं, उनकी आस्रवानुप्रेक्षा भाना सफल है।

संवर भावना—

सम्मत्तं देस-वय महव्वयं तह जओ कसायाणं।
एदे सवर-णामा जोगाभावो तहा चेव ॥९५॥

मोक्षमार्गमे मूलभूत संवरतत्त्वकी अनुप्रेक्षा—जीवके साथ जो संकट लगे हैं उनका निमित्त कारण है, कर्म का उदय। कर्मोदय तब आता है जब कर्म बधे हुए हों और कर्मबन्ध तब होता है जब कि उनका आस्रव हो। तो सर्वसंकटोंका मूल आस्रव कहलाता है। वह आस्रव है क्या? अन्तरङ्ग दृष्टिसे तो आत्माके मोह रागद्वेषपरिणामका नाम है और बहिरङ्ग दृष्टिसे ज्ञानावरण आदिक अष्टकर्मोंका नाम है। आस्रव रुके तो जीवको विश्राम मिले। अब आस्रव किस प्रकार रुके इसकी भावना इस संवरानुप्रेक्षामे की गई है। आस्रव रुकनेसे सवर है। कर्मोंका आना बद हो गया, आत्मामे राग द्वेष मोहभाव न आयें इसका नाम संवर है। संवर ही जीवको सुखका कारण है। अब तक अज्ञानमें अनेक भवोंमें करोड़ों बार तपस्यायें भी की होंगी और कठिनसे कठिन तपश्चरण किये होंगे, द्रव्यलिङ्ग धारण करके भी, निर्ग्रन्थ भेष धारण करके भी ऊँचेसे ऊँचे तपश्चरण भी किए गए होंगे, किन्तु यह जीव संसार सकटोंसे मुक्त न हो सका। इसका कारण यह है कि आस्रव तो रुका ही नहीं। आस्रवके रुकनेका नाम सवर है और यह संवर जीवके लिए अहितकारी है। मोक्षमार्गका प्रारम्भ सवरतत्त्वके विकाससे होता है। जैसे किसी नदीमे नाव जा रही है। उस नावमे छिद्र होनेसे पानी आ रहा है। अब पानी आता रहे, छिद्र न बद करें तो वह तो उस नाव के डूबनेका ही कारण है। नावको डुबाने से बचानेके लिये मल्लाह क्या करता है कि सर्वप्रथम तो उस

छिद्रमें, कपड़ा आदिक लगाकर छिद्रको बन्द करता है ताकि नया पानी न आ सके क्योंकि पहिले छिद्र को बन्द न करे, पानी आता रहे और उस पानीको ही वह मल्लाह अपने हाथोंसे उलीचता रहे तो क्या पानीका आना रुक जायेगा ? नहीं रुकेगा। तो कुशल मल्लाह क्या करता है कि सर्वप्रथम पानी आने वाले छिद्रको बन्द कर देता है, फिर वह उस आये हुए पानीको उलीचता है। जब नावमे पानी बिल्कुल नहीं रहता है तो नाव अच्छी तरहसे पार हो जाती है। इसी प्रकार इस आत्मामें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके छिद्र हैं, जिन वृत्तियोंके कारण आत्मामे कर्म आते हैं, बधते हैं, वे वृत्तियां छिद्ररूप ही तो हैं। तो कुशल मोक्षमार्गी पुरुष सर्वप्रथम क्या करता है कि इन आस्रवोंको रोकता है। संवरभाव करता है, फिर बधे हुए कर्मोंकी निर्जरा करता है। तो कर्मोंका आना रुका और आये हुए कर्मों का निर्जरण किया तो एक समय वह आता है कि कर्मोंसे सदाके लिए यह जीव मुक्त हो जाता है। तो ऐसे महोउपकारी सवर तत्त्वकी यहा भावना की जा रही है।

सवरभावोमे मूलभूत सम्यक्त्वभावका निर्देश--अब परखिये सवरभाव कौनसे है ? इनको सवर नाम दे करके इस गाथामें कहा है। सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायोंका विजय और योगका अभाव इनको संवर कहते हैं। सर्वप्रथम सवरभावके नामोंमें सम्यक्त्व कहा गया है। जब तक सम्यक्त्व नहीं होता तब तक संवरका प्रारम्भ नहीं है। भले ही अनेककर्म बधनेसे रुक जाते हैं। तब ही बंधापकर्षणका सम्बन्ध होता है। अभव्य जीव भी प्रायोग्यलब्धि तक प्राप्त कर लेते हैं, करणलब्धि नहीं मिलती, जिस करणलब्धिसे नियमसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता ही है। सम्यक्त्वसे संवरका प्रारम्भ माना है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबधी कषाय इनका उपशम होने पर सम्यक्त्वभाव प्रकट होता है। प्रथम बार अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके इन ५ प्रकृतियोंके उपशमसे उपशमसम्यक्त्व होता है। उपशमसम्यक्त्व होते ही मिथ्यात्वके खण्ड हो जाते हैं सो उस दबी हुई हालतमे दो प्रकृतियाँ और बन जाती हैं, खण्ड हो करके सम्यक्प्रकृति और मिश्रप्रकृति। फिर इसके बाद इन ७ का क्षयोपशम हुआ, फिर क्षय हुआ तो इस विधि से यह जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर फिर सदाके लिए अबाधित हो जाता है। उसके सम्यक्त्वमें न मल पैदा होता, न कभी सम्यक्त्वके विनाशकी सम्भावना है। तो सम्यग्दर्शनसे सवरका प्रारम्भ है।

सम्यग्दृष्टिके अविरत अवस्थामे भी ४१ प्रकृतियोका सवर—जिस जीवको सम्यक्त्व हुआ अर्थात् आत्मा के सहजस्वरूपका अनुभव हुआ—मैं केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हू, इस प्रकार सहज ज्ञानानन्दमे अपना जिसने पता पा लिया ऐसे पुरुषको फिर बाह्यविषयोमे, सगोंमे आसक्ति नही रहती। उसका निरन्तर यह ध्यान रहता है कि मै तो सहज ज्ञानानन्दमात्र हू। मेरा सर्वस्व मुझमे है। मेरा किसी अन्यसे सम्बन्ध नहीं है, ऐसे विविध निज एकत्वस्वरूपको दृष्टिमे लेने वाले सम्यग्दृष्टिके ४१ प्रकृतियोंका संवर रहा करता है। कर्मोंकी १४८ प्रकृतियोंमे यथोचित कुछको गर्भित करके १२० कहा है बंध योग्य, उनमे से ज्ञानी के ४१ प्रकृतियाँ बधने से रुक जाती हैं। ये ४१ प्रकृतियां बहुत कठिन-कठिन दुःखके कारणभूत प्रकृतिया हैं।

सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्वहेतुक सोलह प्रकृतियोका सवर--सम्यग्दृष्टि जीवमें मिथ्यात्व प्रकृतिका बध नही होता। ससारकी समस्त विडम्बनाओंका कारण यह मिथ्यात्वभाव है। ज्ञानी जीवके हुडक सस्थानका बंध नही होता, जिससे बडे बुरे पृथ्वी जल अग्नि वायु वनस्पति विकलत्रिक नारक आदिक ऊटपट शरीर मिला करते हैं। ज्ञानी जीव असप्राप्तसृपाटिका सहनन प्रकृतिका बध नही करता। एकेन्द्रिय व स्थावर प्रकृतिका बंध ज्ञानीके नहीं हो सकता। आताप जिसका कि उदय सूर्यके पृथ्वीकायिक जीवोंमे होता है सम्यग्दृष्टिके बध नहीं है। सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, ऐसी ऐसी कठिन प्रकृतियोका बध नही होता। सूक्ष्मप्रकृति नामकर्मके उदयसे जीव ऐसे शरीरको ग्रहण करता जो आँखो नहीं दिख सकता और किसी पदार्थसे रुक

नही सकता। सूक्ष्मनिगोदिया जीव सर्वत्र भरे पडे हैं। जहां अग्नि जल रही है वहां भी सूक्ष्म निगोदिया शरीर है और वे अग्निके कारण जलते नही किन्तु एक श्वासमें १८ बार जन्म मरण उनका होता ही रहता है। इस पद्धतिसे उनका मरण होता रहता है। अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे यह जीव लब्ध्यपर्याप्त होता है। जैसे ही देहको धारण किया, देह पर्याप्ति बन भी नही पाती, देहमे पूरा बनने की शक्ति तक भी नहीं आ पाती कि वे जीव मर जाते है। यह लब्ध्यपर्याप्तक जीवोका स्वभाव है। साधारण प्रकृतिके उदयमे ऐसी व्यवस्था रहती है कि एक शरीर और उसके स्वामी अनन्त जीव। जैसे यहां हम आप एक एक शरीरके एक एक जीव स्वामी है, ऐसा साधारणप्रकृतिके उदय वाले जीवोमें नही है। साधारण जीवोमे शरीर तो एक है और उसके अधिकारी अनन्त जीव हैं और वे सब एक साथ मरते हैं, एक साथ जन्म लेते हैं। हॉ यह बात अवश्य है कि उन सभी जीवोंका कार्माणशरीर, तैजस शरीर भिन्न-भिन्न है। तो ऐसी कठिन प्रकृतियों का बध सम्यग्दर्शन होने पर रुक जाता है। इससे आप यह भी अदाज करले कि सम्यग्दर्शन न होने पर मिथ्यादृष्टि रहने पर ऐसे ऐसे खोटे भवोमे इसकी उत्पत्ति होती है। और ऐसे खोटे भवोमे उत्पन्न होनेके लिए कठिन-कठिन कर्मोका बध होता है। ज्ञानी जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय प्रकृतियोका बध नहीं करता, सो जब विकलत्रयकी प्रकृति ही नहीं बँधती तो उन भवोंमे जन्म कैसे होगा? नरक गति नरकगत्यानुपूर्वी नरकआयु इनका भी सम्यक्त्वमे बध नही होता। ये १६ प्रकृतियॉ दूसरे गुणस्थानमे रहने वाले जीवके भी नही बधतीं और इसके ऊपर भी किसी भी गुणस्थानमे जीवके ये १६ प्रकृतियां नहीं बंधती।

ज्ञानी जीवके अनन्तानुबन्धीहेतुक २५ प्रकृतियोका सवर--अब सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबंधीहेतुक २५ प्रकृतियोका भी बध नहीं होता। तीसरे गुणस्थानमें भी उनका बंध नही है और चौथे आदि ऊपरके किसी भी गुणस्थानमे उनका बध नही है। जैसे—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, ये बहुत तीव्र कषाय हैं, ऐसी तीव्र कषाय वाले कर्मोका बध ज्ञानी जीवके नही होता। स्त्यानगृद्धि— जिसके उदयमे ऐसी निद्रा आती है कि कोई जीव नींदमे ही कुछ काम कर डाले और फिर सो जाय, सोया तो तब भी था स्त्यान गृद्धिमे, लेकिन जगने पर उसे पता न पडेगा कि मैंने कोई काम किया था। निद्रा निद्रा प्रकृतिमे ऐसा है कि नींद आयी, उसे जगा दिया गया, फिर नींद आ गयी। तो ऐसी कठिन प्रकृतियोका बंध ज्ञानी जीवके नही होता। प्रचला-प्रचला प्रकृति भी बहुत कठिन पाप प्रकृति है। इसके उदयमें सोते हुएमे भी यह जीव मुँह चलाये, अग चलाये, बड़बड़ाये, मुखसे लार बहे आदि भी चेष्टाये हो जाती हैं। ऐसी कठिन प्रकृतियोका बंध ज्ञानी पुरुषके नही होता। दुर्भग—जिससे कि दूसरे लोग प्रीति नही करते, दुस्वर—जिससे कि बड़ा बुरा स्वर उत्पन्न होता है, अनादेय—जिससे शरीरमे कोई कान्ति नहीं रहती और बीचके चार संस्थान, बीचके चार सहनन जिनसे अटपट शरीर रचना होती है तथा दुर्गमन जैसे ऊट गधा आदि खोटी चालसे चलते है, ऐसी चाल जिस प्रकृतिके उदयसे आती है, ऐसी अप्रशस्त प्रकृतिका बंध नहीं होता। ज्ञानी जीव के सम्यग्दर्शन होने पर वह चाहे अभी स्त्री पर्यायमे हो अथवा पुरुष पर्यायमे हो उस जीवके फिर स्त्री वेदका बध नहीं होता। नीच गोत्र, तिर्यंचगति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, तिर्यगायु जैसी कठिन गतियोंका बन्ध रुक जाता है। सम्यक्त्वके उत्पन्न होने पर अविरत सम्यक्त्वमें और १० प्रकृतियोका भी संवर हो जाता है। तो आप यह परखिये कि सम्यक्त्वका मोक्षमार्गमे कितना महान् योगदान है और और ऊँचे संवरभाव भी तब ही हो सकेंगे जब कि पहिले सम्यक्त्व जग जाय।

सम्यक्त्वोपपत्तिके योग्य सक्षिप्त ज्ञानविवरण—सम्यग्दर्शन उत्पन्न करनेके लिए पुरुषार्थ इस प्रकारका करना चाहिए कि पहिले वस्तुस्वरूपका कुछ ज्ञान करे, अभ्यास करे। पदार्थ किस स्वरूप है? जैन शासन मे पदार्थोंका स्वरूप भली भॉति बताया है, जिसे समझने के पहिले यह जान लीजिये कि ससारमें पदार्थ

कितने हैं ? जब हम एक एक पदार्थको जान पायेंगे कि एक पदार्थ इतना होता है तब तो हम उसका स्वरूप निरखन कर सकेंगे। तो पदार्थ लोकमें अनन्तानन्त हैं। जैसे एक हम आप अलग-अलग बैठे हैं ऐसे ही अनन्तानन्त जीव हैं, सबका अनुभव अपने आपमे है। सुख दुःख होता है तो सबको अपने आपमें होता है। इससे सिद्ध है कि प्रत्येक जीव अपने स्वरूपमें अकेला है। ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं और उन जीवोंसे अनन्तानन्तगुने पुद्गल हैं, इसको कैसे जाना जाये ? तो सुनिये— अब तक जितने जीव मुक्त हुए हैं उनकी सख्या इतनी है कि वे एक निगोद शरीरमें जितने अनन्त जीव होते हैं उनके अनन्तवें भाग हैं अर्थात् उनसे अनन्तगुने ससारमे एक निगोदशरीरमे जीव हैं। और एक जीवके पीछे कितने परमाणु लगे हैं ऐसा ध्यानमे लाये। जैसे आप ही एक जीव हैं, आपके साथ कितने पुद्गल चिपके हुए हैं सो ध्यानमे दीजिए। यह जो शरीर है जिसके बन्धनमे पडे हैं इस शरीरमे अनन्त परमाणु हैं। सख्याते और असंख्याते परमाणुवोंका पिण्ड जो आंखोंसे भी दिखनेमें नहीं आता। एक छोटा से छोटा कण अथवा पिसे हुए आटेका एक दाना जो आखों दिख सकता है उसमें अनन्त परमाणु पडे हुए हैं। तो इस शरीरमें जितने परमाणु हैं वे सब अनन्तपरमाणु हैं। और उससे अनन्तानन्तगुणे परमाणु तैजस शरीरमे हैं और उससे भी अनन्तगुणे परमाणु कार्माण शरीरमें हैं। जो कर्म आखों नहीं दिखते, इस जीवके साथ बधे हुए हैं वे परमाणु इन सबसे अनन्तगुने हैं। फिर अनन्ते ही इनके विस्रसोपचयके परमाणु हैं तो इतने पुद्गल एक जीवके साथ लगे हुए हैं। और फिर है अनन्तानन्त जीव। तो कितने पुद्गल हो गए ? जीवोंसे अनन्तानन्तगुणे पुद्गल परमाणु हैं। एक धर्मद्रव्य— जो जीव और पुद्गल चलें तो उनके चलने मे सहायक होता है। एक अधर्मद्रव्य जो लोकभरमे व्यापा है, चलते हुए जीव पुद्गल ठहरें तो उनके ठहरने मे सहकारी होते है। एक आकाशद्रव्य, एक असंख्यात कालद्रव्य। ये समस्त पदार्थ अनन्त हैं। इनमे प्रत्येक एक पदार्थ अपने स्वरूपसे सत् है। सबमें अपना अपना स्वभाव पडा हुआ है। जैसे जीवोंमें चैतन्य स्वभाव है, पुद्गलमे रूप, रस, गध, स्पर्श होना याने मूर्तिकला होना स्वभाव पड़ा है। प्रत्येक पदार्थमे अपना-अपना लक्षण है, ये सभी पदार्थ केवल अपने आपमें ही परिणमन करते हैं, अपने आपमें ही अपने परिणमनका अनुभवन करते हैं, अतएव किसी पदार्थका किसी अन्य पदार्थके साथ रच भी सम्बन्ध नहीं है। मै एक जीव हू, मेरा शरीरके परमाणुके साथ अणुमात्र भी सम्बन्ध नही क्योंकि स्वरूप निराला है।

देहसे भिन्न, अमूर्त, ज्ञानमात्र अन्तस्तत्वके आलम्बनमे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति— यद्यपि इस समय ऐसी कठिन परिस्थिति है जो कि हमने अपने भावोंके आधार पर निर्माण की है कि रोग हो तो व्यथा हो जाती है, क्षुधा तृषा हो तो क्षोभ हो जाता है। इस शरीरका कितना घनिष्ट सम्बंध बना लिया है लेकिन स्वरूपदृष्टिसे देखो तो इस शरीरके साथ हमारा रचमात्र भी सम्बध नहीं है। मैं हू अमूर्त चेतन और यह शरीर है अचेतन और पौद्गलिक जब वस्तुके स्वरूप पर दृष्टि देते है तो यह समझमे आता है कि एक वस्तुका किसी अन्य वस्तुके साथ सम्बध नहीं। इस परिज्ञानका अभ्यास बनाते-बनाते और इन वस्तुओंके स्वरूपके सम्बधमे ज्यादा जानकारी और चिन्तवन करते-करते कोई समय ऐसा आता है कि जब मेरा किसी परपदार्थके साथ सम्बध ही नहीं है तो किसीका क्या बिगाड करना ? स्वयं विकल्प हटते है और विकल्प हटनेपर अपने आपमे विश्राम, तृप्ति, सतोष होता है। उस समय जो स्वाधीन सहज आनन्द है वह जगता है। बस यह अनुभूति हुई कि सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इस जीवने अपनी शान्ति सुखकी प्राप्तिके लिए अनेक प्रयास किये, लेकिन यह प्रयास नही किया। सम्यक्त्वका प्रयास किया हो, सम्यक्त्व जगा हो तो फिर इस जीवको संसारके संकट नही रहते। अनाकुल तो तत्काल ही अनेक अशों मे हो जाता है। तो सवरोंमे सबसे मुख्य कारण है सम्यक्त्व।

सम्यक्त्वनामक सवरभावके लाभके अनन्तर होने वाले अन्य महान् सवरभाव—सम्यक्त्व होने के बाद या

सम्यक्त्वके साथ ही साथ देशव्रत हो जाय, जहां बारह व्रतोंका पालन है, तो अणुव्रतकी स्थितिमे आंशिक स्थिरता जग जाती है, कषायें मंद हो जाती हैं, अप्रत्याख्यानावरण कषाय वहां नही रहती और इसके सवर ४ प्रकृतियोका और भी हो जाता है। उससे और निर्मल परिणाम है महाव्रतका। जहां हिसा आदिक ५ प्रकारके पापोका सर्वदेश त्याग है उसे महाव्रत कहते हैं। यहां ६ प्रकृतियोंका संवर और बढ जाता है व अप्रमत्तविरतमे देवायुका भी संवर हो जाता है। इसके बाद क्षपकश्रेणीमे ८ वॉ, ९वां, १० वाँ, १२ वां गुणस्थान होता है उपशमश्रेणीमे ८ वां, ९ वां, १० वां, ११ वां गुणस्थान होता है। इन सबमे उत्तरोत्तर कषायोका विजय और कर्मोंका संवर बढता जाता है। जहां कषायोपर पूर्ण विजय होती है, कषाये नहीं रहती हैं, सब नष्ट हो जाती हैं वहां उपशमश्रेणीमे तो ११ वां उपशान्तमोह गुणस्थान बनता है, किन्तु चारित्रमोहका उपशम होनेके कारण यह गुणस्थान बनता है सो उपशम काल समाप्त होते ही यह गिर जाता है। क्षपकश्रेणीमे क्षीणमोह नामका १२ वा गुणस्थान बनता है। यहां यह पर्यायरूपसे कारणपरमात्मा कहलाने लगता है। यहां तक ३६, ५ व १६ प्रकृतियोका और संवर हो जाता है याने ११९ प्रकृतियोंका संवर हो चुकता है। इसके बाद अब शीघ्र ही १३वां गुणस्थान होगा अरहंत भगवान होगा। तो कषायोंका विजय होना यह संवर है। अन्तमे योग रह जाता है। कषायोका विजय हो चुकने के बाद अर्थात् निर्मोह, क्षीणमोह बनने के बाद १३वें गुणस्थानमे और १२वें गुणस्थान मे भी योग रहता है। उस योगसे आस्रव तो होता है लेकिन सातावेदनीयका और वह भी एक समयकी स्थितिका, याने वहां स्थितिबन्ध व अनुभागबध उसके भी नही है। आत्मामे इस योगका जब अभाव हो जाता तब जीवमे पूर्णरूपसे सवरभाव प्रकट होता है। इस तरह संवरभावके कारणभूत ये भाव हैं। इन भावो पर जिनकी दृष्टि हो और उनमें सर्वप्रथम हम सम्यक्त्व भावके लिए यत्न करे तो वे भी संवरके अधिकारी होंगे, और सवरके प्रसादसे कभी कर्मकलंकोंसे निर्भार होंगे, हमारी वास्तविक उन्नति होगी, हम मुक्तिके निकट पहुचेंगे।

गुत्ती समिदी धम्मो अणुवेक्खा तह य परिसह जओ वि।
उक्किकट्ठ चारित्त सवर-हेदू विसेसेण ॥६६॥

संवर भावोमे गुप्ति समिति व धर्म भावरूप सवर तत्त्वका वर्णन--गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषहजय और उत्कृष्ट चारित्र, ये विशेप रूपसे संवरके कारण है। गुप्ति नाम है रक्षा करनेका। वशमे करना सो गुप्ति है। मनोगुप्ति मनको वशमें करना सो मनोगुप्ति, वचनगुप्ति वचनको वशमे करना सो वचनगुप्ति, कायगुप्ति—कायको वशमे करना सो कायगुप्ति। मनोगुप्ति का अर्थ है इस मनको तत्त्व-चिन्तनमे लगाये, यहां वहांके रागद्वेषविषयक विकल्प न जगे। वचनगुप्तिका अर्थ है मौनसे रहें और जब कभी वचनोका प्रयोग करना पड़े तो बडे विचारपूर्वक जिससे अपना अहित न हो, पारमार्थिक हानि न हो इस तरहके वचनोका प्रयोग करना वचनगुप्ति है। कायगुप्तिका अर्थ है शरीरको वशमे करना, हलन चलन क्रिया न बढे और कुछ क्रियायें करनी पड़े तो प्रभुभक्ति आदिक शुभकार्योंमें करें। समिति नाम है जो कुछ प्रवृत्ति करें सो देखभाल कर करे, जिसमें जीवहिसा न हो, अविवेकपूर्वक कोई बात न बने। धर्म नाम है ऐसे उपायका कि जो दु खके कारणोंसे छुटाकर सुखमे पहुचा दे। ऐसी बात क्या है ? तो सर्व प्रथम तो सम्यक्त्व है। विपरीत अभिप्राय नष्ट हो, सन्मार्गका दर्शन हो तो उसे सम्यक्त्व कहते हैं। फिर क्षमाभाव करना, मनमे क्रोध न बसाये रहना क्योंकि क्रोध रहेगा तो खुदके ही गुण जलेंगे। क्रोधी पुरुष दूसरेका अपकार कर सके यह नियम तो नहीं है खुद की बरबादी जरूर हो जाती है। जैसे किसी पुरुष ने किसी को मारने के लिए हाथमे अंगार उठाया तो उससे दूसरे पुरुषका शरीर जल पाये या न जल पाये, वह तो उसके भाग्यकी बात है पर जिसने अगार उठाया उसका खुदका हाथ तो अवश्य ही जल

जायेगा, ऐसे ही क्रोधी पुरुष जिसपर क्रोध करेगा उसका चाहे कुछ भी बिगाड़ न हो सके, पर क्रोध करने वालेका तो सारा ही बिगाड़ हो जाता है। तो जब इस अमूर्त पावन परमात्मतत्त्वमें अज्ञानवश क्रोधभाव जगता है तो ये सारे प्रदेश क्रोधसे मलिन हो जाते हैं। इस क्रोधके प्रसगमे यह जीव अपने गुणों को जला देता है। क्रोध बहुत विलक्षण अग्नि है, जिससे उदारता, संयम, सद्बुद्धि आदिक सारे गुण जल जाते है। यह क्रोधभाव न हो तो यही उत्तम क्षमा है। मान न जगे तो उत्तम मार्दव है। मान कषायमें भी खुद ही खुदमे कुछ कल्पनायें करता है। कोई उसे बड़ा मानता है, कोई नहीं मानता। अव्वल तो कोई किसीको मानने वाला नहीं है। और कोई मानता है, चेष्टा करता है सो खुद अपने आपमें अपना ही काम करता है। यह अज्ञानी जीव खुदमें शेखचिल्ली बनकर मदमें मुँह फुलाये रहता है, किन्तु देखने वाले छोटे बडे सभी लोग इसे बेवकूफ ही समझते है। मदके अभावको मार्दव कहते हैं। छल कपटके अभावको आर्जव कहते है और लोभके अभावको शौचधर्म कहते है। जब जीवमें चार कषायें न हों तो सत्य धर्म है जिसके प्रतापसे यथार्थरूपमें इन्द्रियसयम व प्राणिसयमरूप वृत्ति जगती है। सयमी ज्ञानी पुरुषका तपश्चरण उत्तम तप है, उसके समस्त हेय भावोका त्याग होता है और वहां उत्तम आकिञ्चन्य धर्म होता है, सर्व परभावसे विविक्त अमूर्त ज्ञानज्योतिमात्र निज अन्तस्तत्त्वका उपयोग रहता है। इस धर्मके प्रसाद से जीव निजब्रह्मस्वरूपमें रमकर उत्तम ब्रह्मचर्यका पूर्ण अधिकारी होता है।

अनित्य अशरण व ससारभावनाकी सवररूपता--जीवको शान्ति सवरभावमें है। सवर भावके विरुद्ध किसी भी भावमे, विकल्पमे किसी भी जीवको शान्ति नहीं मिलती। उस सवरभावमे यहा अनुप्रेक्षाओंका वर्णन चल रहा है। बारह भावनाओंका तो प्रतिपादन करने वाला यह ग्रन्थ ही है, उस ही मे संवरके प्रकरणमे बारह भावनाओंको कर्मोंका स्वर बताने वाला कहा है। जब अनित्यभावना भाते है कि ससार के प्रत्येक पदार्थ विनाशीक है। विनाशीक पदार्थोंमे रुचि न करना, किन्तु अविनाशी जो अपना आनन्द स्वभाव ज्ञानस्वरूप है उसमें रुचि करना। तो अनित्य भावना भाकर जो निज अंतस्तत्त्वकी रुचिकी प्रेरणा मिलती है वह सवर भाव ही तो है। अशरण भावनामे यह भावना की जाती है कि दल, बल, वैभव, माता पिता आदिक सभी मेरे लिए अशरण हैं। मृत्युसे बचाने वाला भी कोई नहीं है और जब कभी दु:ख आता है तो उन समयोंमे भी कोई शरण नहीं है। यो बाहरी पदार्थोंसे तो उपेक्षा करायी गयी और अन्तः यह देखिये कि निर्मल परिणामोंसे रहने वाला मै ही मेरे लिए शरण हू, मेरा जो सहज स्वरूप है उसका आलम्बन उसका अनुभव ही मेरे लिए वास्तविक शरण है। यो अशरण भावनासे हमको पारमार्थिक शरणभूत निजस्वभावकी दृष्टि जगती है। वह संवर भाव है। ससारभावनामे यह ज्ञान किया है कि ससारमे सर्वत्र दु:ख है। प्रत्येक पर्यायोमे कष्ट ही कष्ट विदित हो रहे है। कभी मनोवाञ्छित वैभव आदिक भी मिले लेकिन सतोष उसमे कौन करता है? और कुछ सन्तोष भी करे तो उससे कुछ पूरा तो नहीं पड़ता। वह मिटेगा। ये पुण्य पाप सब अस्थायीभाव है, इनके फलमें हर्ष विषाद माननेका कोई अधिकार नहीं है। तो इस दु:खमय ससारमे किसी भी स्थितिमे दृष्टि न थमे, इन सब सासारिक दशाओं से उपेक्षा जगे और जो अपना स्वरूप है ससाररहित जिसमे रागादिक विकारोका स्वभाव नहीं पडा है। केवल विशुद्ध ज्ञानानन्दका ही स्वभाव है। ऐसे निःससार आत्मतत्त्वकी दृष्टि जगती है तो यह सवरभाव ही तो है।

एकत्व, अन्यत्व व अशुचिभावनाकी सवररूपता--एकत्वभावनामें यह निरखा जाता है कि यह जीव सब दशाओंमे अकेला है। अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, जो जो भी इस पर पर्यायें गुजरती है उन सबका अनुभव भी यह अकेला ही करता है। ऐसा जानकर किसीको अपना सहयोगी न मानकर सबसे उपेक्षा रखना, जहा ये बाह्य लौकिक प्रेरणायें मिली है वहा यह भी प्रेरणा मिलती है कि मै अपने

आपके सहज शुद्ध एकत्वस्वरूपमें हूं। मै वह हूं जो शाश्वत एक रूप रहता हूं, जिसके आधार पर एक ज्ञान और आनन्दकी व्यक्त पर्यायें चला करती हैं, मै ऐसा शुद्ध ज्ञानानन्दमात्र हूं। ऐसे अपने एकत्वकी सुध हुई तो ऐसे अपने स्वरूपमें रहनेका भाव संवरभाव ही तो है। अन्यत्व भावनामें यह भाया जाता है कि ये सब मुझसे निराले हैं। परिजन, मित्रजन, वैभव और की तो बात क्या, यह देह भी मुझसे भिन्न है। तो जो भिन्न है, जिस पर मेरा अधिकार नही है उसमे क्या रुचि करना ? जहा व इसमें एक ऐसी प्रेरणा मिलती है वहां अतः यह भी प्रेरणा मिलती है कि मेरेमे उठने वाले ये रागद्वेषादिक भाव भी मेरे स्वरूप नही है। जैसे दर्पणमे किसी चीजकी छाया प्रतिबिम्बित हुई तो वह प्रतिबिम्ब दर्पणमें दर्पणकी ओरसे दर्पणकी निजी चीज नही है। वह वस्तु सामनेसे हट जाय तो उसका प्रतिबिम्ब भी हट गया। यों ही मेरेमे जो रागद्वेषादिक परिणमन होते हैं वे मेरे स्वभावसे मेरे नही है, वे उठे हुए हैं, आगंतुक हैं, परभाव हैं, वे भी मुझसे जुदे हैं। मैं तो शुद्ध सहज ज्ञानानन्द स्वरूप हू। इस प्रकारके विभावमे भी परत्व की निश्चिति कराकर यह अन्यत्वभावना स्वभावमें लीन कराने की प्रेरणा करती है। तो यह भाव संवर ही तो है। अशुचिभावनामें यह परिज्ञान किया कि देह अत्यन्त अशुचि पदार्थ है। इस देहमे भीतरसे लेकर बार तक सभी पदार्थ अशुचि ही है। खून, मांस, मज्जा, रोम, नख आदिक सभी अपवित्र पदार्थ हैं लेकिन यह भी साथमे दृष्टि जगती है कि मै आत्मा अमूर्त ज्ञानानन्दमात्र स्वय स्वभावतः पवित्र हू। सब द्रव्योंमें सार एक यही आत्मतत्त्व है। जो ज्ञाता है, विश्वकी व्यवस्था समझ सकने वाला है ऐसा यह मै ज्ञानमात्र पदार्थ शुचि हूं। इस भावनासे अशुचि पदार्थोंसे हटकर परमपावन निज अन्तस्तत्त्वका आलम्बन प्राप्त होता है। यह सवर भाव है।

आस्रव, सवर, निर्जरा व लोकभावनाकी संवररूपता—आस्रव भावनामे रागादि भावोको अहित समझ कर उससे हटकर निरास्रव सहज अन्तस्तत्त्वमे उपयुक्त होनेका पौरुष होता है यो आस्रवभावना भी संवररूप है। संवरभावनामे तो यह सब वर्णन चल ही रहा है। वह तो प्रत्यक्ष संवररूप है ही। निर्जराभावनामें यह जीव चिन्तन करता है कि इस जीवके क्लेशके कारणभूत कर्म हैं। जब तक कर्म दूर न हो तब तक जीवको कोई पारमार्थिक आरामका मार्ग न मिल सकेगा। भले ही विषयोंमें मौज माने, लेकिन वहां भी वध मार्ग है। तो कर्म कैसे झडें, उसका उपाय समझा कि अपने उपयोगभूमिसे कषायोको हटायें, इच्छाओंको दूर करें और अपने सहज ज्ञानानन्द स्वभावकी दृष्टि रखे तो कर्म झड़ते हैं। निर्जरा भावना मे कर्म झड़ानेकी दृष्टिका जो एक आश्रय है उसके दर्शन होने से संवरभाव बनता है। लोकभावनामे ज्ञानीने चिन्तन किया कि यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है। इस लोकमें कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहां यह जीव अनन्तबार उत्पन्न न हुआ हो और मरा न हो। इस लोकमे कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं बचा जिसको इस जीवने अनन्त बार भोगा न हो। तो सभी क्षेत्र, सभी पदार्थ अनेक बार समझे हुए हैं, भोगे हुए है तो इन पदार्थोंमें क्यो रुचि करना ? जीवके भटकनेका कारण तो यही है कि यह परपदार्थोंमें रुचि करता है। जैसा स्वरूप है वैसा यह जानना नही चाहता। असत, विपरीत, मिथ्या जाननेमें ही इसको मौज आती रहती है। यह सबसे बड़ी भारी विपदा है। भला सत्य बात जानने मे कोई दोष तो नहीं है। बोते कुछ भी, हम कर सकें या न कर सके, मगर सत्य बात जाननेका प्रमाद क्यो ? सत्यस्वरूप जाननेमे जो एक प्रमाद जगता है, अरुचि जगती है, यह जीव पर सबसे बड़ा अंधकार है। तो इन्ही अज्ञानभावोके कारण यह जीव लोकमें सर्वत्र जन्मा और मरा। वह अज्ञान दूर हो तब सम्यक्त्व सूर्य प्रकट होता है और यह समस्त संकट भाग जाता है। होता क्या है वहां अपने आपका जो मैं सहज शुद्ध हू, उसका आलम्बन ही तो लिया जाता है? कितना सुगम काम है। बाहरसे जिन पदार्थोंके जुटाने, रक्षा करने आदि का अधिकार नहीं उनपर तो यह जीव रुचिया बन रहा है और जो निजका तत्त्व है, स्वयंका स्वरूप है

ज्ञानमय, उस ज्ञानमय सुगम स्वरूपके जाननेके प्रमादी बन रहे है तो यह तो बड़प्पनके खिलाफ बात है। अपने आपके स्वरूपका दर्शन हो तो सवरभाव है।

बोधिदुर्लभभावनाकी धर्मभावनाकी सवररूपता--बोधिदुर्लभभावनामें ज्ञानी चिन्तन करता है कि देखिये यह मैं कितनी घाटियोंको पार करके, कितनी विपदाओंसे निकलकर आज कैसी उच्च स्थितिमे आया हू ? जीवका आदिस्थान निगोद है। निगोदमें अनादिसे यह जीव रहा आया। वहासे निकलना ही कठिन था। खैर वहांसे यह जीव निकला तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्येकवनस्पति एकेन्द्रिय हुआ। वहां पर भी स्थावर ही रहा। वहांसे निकलकर यह जीव दो इन्द्रिय हुआ। अब यहाँ रसना इन्द्रियका विकास हुआ। अब तक तो मरे हुए जैसे ही भवोंमें बने आये थे। अब कुछ हलनचलनकी, स्वादकी बात जगी, वहासे निकलकर तीनइन्द्रिय हुआ, चौइन्द्रिय हुआ, पञ्चेन्द्रिय हुआ। पञ्चेन्द्रिय भी हुआ तो मनरहित हुआ। वहा भी कोई काम नहीं बनाया जा सका। मन वाला (सिहादिक क्रूर पशु) भी हुआ तो वहा भी यह जीव क्या लाभ उठा सकता ? तिर्यञ्च गतिके असह्य दु ख वहा भी इस जीवने सहन किये, धर्मबुद्धि वहां भी यह जीव न कर सका। किसी प्रकारसे इन सब घाटियोंको पार कर यह जीव आज मनुष्यगतिमे आया, उत्तमदेश, उत्तम क्षेत्र, उत्तम कुल आदि प्राप्त किये। इन्द्रियाँ भी समर्थ हैं, शरीरमें निरोगता भी है, आयु भी पर्याप्त मिली हुई है, साधुजनोंका ससर्ग भी मिल रहा है, जिनवाणीका पठन एवं श्रवण करनेका सामर्थ्य भी प्राप्त है। इससे बढ़कर हित प्राप्त करनेकी और कौनसी स्थिति हो सकती है सो तो बताओ ? ऐसे उत्तम अवसरको पाकर हम आपको यों ही नहीं गँवा देना है। इन विषय कषायों से विरक्त होकर विशुद्ध चैतन्यस्वभाव अतस्तत्त्व का आश्रय लेकर, इसही आत्माके ध्यानमे रहकर इसकी ही प्रतीति रखकर अपने आपमे मग्न होनेका पौरुष करना है। रत्नत्रयका लाभ हो अति दुर्लभ उपादेय तत्त्व है। इस मानवजीवनमे अन्य कुछ काम नहीं, बोधिलाभसे इस मानवजीवनको सफल करना है। कुछ इस ज्ञानस्वरूप पर दृष्टि किया तो यह संवरभाव ही तो है। धर्मभावनामे धर्मस्वरूपका विचार चलना है। धर्म किसे कहते है ? वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं, आत्माके स्वभावको आत्माका धर्म कहते है। आत्माका स्वभाव है जानन देखन। रागद्वेष करना आत्माका धर्म नहीं। तो जिस किसी उपायसे, वह उपाय भी अन्य नहीं, किन्तु अपने आपमे शुद्धदर्शन ज्ञान, चारित्रके उपायसे रागद्वेष हटाना और खालिस ज्ञाताद्रष्टा रहना यही धर्म है। इस धर्मके प्रसादसे ही ससारके सारे सकट दूर होते है। तो यह धर्मभाव ही संवरभाव है।

परीषहजयकी आवश्यकता--अब यहा संवरभावोमे परीषहविजय नामक सवरकी बात कहते हैं। परीषह क्यो जीतना चाहिए ? शान्तिके मार्गसे च्युत न हो सके और कर्मोंकी निर्जरा कर सके इस भाव से परीषहोंका जीतना बताया गया है। हम आप सभीको आरामतलबीकी आदत छोड देनी चाहिये। उपदेश तो यों किया गया कि अपनी शक्ति माफिक इस देहको कुछ कुछ कष्टमे लगाये रहना चाहिए। इसका कारण बताया है कि बिना कष्टके आराममे कुछ ज्ञान भी हासिल कर लिया जाय, लेकिन बिना कष्टके आराममें ही उपार्जित किया हुआ यह ज्ञान कष्ट आने पर नष्ट हो सकता है फिर वहा सुध बुध भूली जा सकती है। कष्टका अभ्यास होगा तो कोई मौका आये कष्टका तो वहा हम अपने ज्ञानको सही सुरक्षित तो रख सकते है। इसलिए उपवास आदिकका अभ्यास करना चाहिए। कहां तो ऐसा कर्तव्य करना चाहिए था और कहा ऐसी स्वच्छन्दता लोगोमे आयी है कि दिन और रातका भी भेद न कर रातमे भी भोजन करना, ऐसी आदत बना ली है, तो बताओ रात्रिभोजनकी क्या आवश्यकता थी ? जीवन चलानेके लिए तो एक या दो बार भोजन करनेकी आवश्यकता थी, उसके लिए दिन काफी है, रात्रिको भोजन करनेकी आवश्यकता नहीं है, फिर भी लोग जानकर स्वच्छदतासे व्यर्थ ही रात्रिभोजनमे रुचि

रखते हैं। तो इस देहको शक्ति अनुसार कुछ न कुछ कष्टमे, तपश्चरणमें लगाये रहना चाहिए जिससे कभी पापका उदय आने पर कोई उपसर्ग भी आ जाय तो भी हम उस स्थितिमे अपने ज्ञानको न भूले। इसके लिए परीषहोंके विजयका अभ्यास बताया गया है।

क्षुधापरीषहजय, तृषापरीषहजय और कष्टसहनका उत्साह—वे परीषह विजय २२ हैं। क्षुधापरीषहजय मुनिजन अनेक दिनोंके उपवाससे भी हो और चर्याके लिए पारणाके लिए गए हो, और वहां विधि न मिले, आहार न मिले तो उनकी ऐसी विशुद्ध दृष्टि होती है, आत्माकी ओर ऐसा लगाव होता है कि वे उस अलाभको बड़ा लाभ मानते है। वे आहार न मिलने पर भी आत्माकी ओर दृष्टि करके उत्साहित रहते हैं। यही उनका क्षुधापरीषह जय है। तृषापरीषहजय—अनेक उपवास गर्मी ऋतुकी बाधा आदिके कारण तृषा जगी है उसके निवारणकी विधि न बने तो भी साम्यसुधारस पान करके तृषा परीषहका जीतना तृषा-तृषापरीषह जय ज्ञान द्वारा साध्य है। यहा भी हम आप अनुभव करते हैं कि कोई कष्ट आ जाय, परीषहजय है। यह क्षुधा जरा दिलको ढीला किया और उसे कष्टरूप महसूस करने लगे तो कष्ट बढ़ जाता है और जैसे ही प्रथम ही प्रथम अपने मनको काबूमे किया, ज्ञानबलसे जाना कि यह कष्ट क्या है? ये तो ससारके बाहरी समागम हैं। कोई किसी प्रकार चलता है कोई किसी प्रकार, उससे मेरा क्या बिगाड़? जरा ही दिलको मजबूत बनाया कि वहा यह दुःख अनुभव नही करता। जैसे धन हानिके प्रसंग में ही किसी धनिकको कुछ धन हानि हुई और उसकी धुन उस धनहानिमें लग गयी, इष्टवियोगका अनुभव करने लगा तो उसका वह दुःख बढ जायेगा और बढ बढकर फिर समझाया जाने पर भी मिटाना कठिन है। अभी १०-२०, ५० वर्ष पहिले तो उसके पास कुछ भी न था, अब उसका धन बढ गया था, उसमे से कुछ कम हो गया तो वह बड़ा दुःख मानता है। कदाचित् वह अपना ज्ञानबल बढाये, उसका दिल काबू हो, तो उसके एक ऐसी विशुद्धि बढती है कि उसे हर स्थितियोमे आनन्द ही आनन्द प्राप्त होगा। तो ऐसे हो इन सब कष्टोका मानने की सामर्थ्य ज्ञानबलमे है।

कष्टसहनशीलता प्राप्त करनेकी प्रार्थना—हम आप यहां प्रभुसे प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! मेरे कोई दुःख न आये, पर आपका इस बात पर कोई अधिकार है क्या? पापका उदय आयेगा तो दुःख आयेगे ही। प्रभु भी क्या करें और हम आप भी क्या करे? उस परवस्तु पर आपका अधिकार नहीं है। तब प्रभुसे यह बात चाहे कि हे प्रभो! मुझे कष्ट न आये, मुझे खूब धन मिले, ये सब व्यर्थकी बातें हैं। इसकी चाह न करे, प्रभुसे प्रार्थना करे तो यह कि हे प्रभो! मुझमे वह ज्ञानप्रकाश हो कि कष्टोके सहन करनेकी पूरी शक्ति आ जाय। एक पुरुष कष्टसे घबड़ाता है चाहे कष्ट भी नहीं आता है और एक पुरुष कितने ही कष्ट आये उन सबको समतासे सह लेता है तो बताओ कष्ट दूसरे पर हुआ क्या? कष्ट आये और उसे कष्ट ही न माने तो कष्ट ही क्या रहा? तो उस ज्ञानस्वरूप भगवानकी उपासना करके चाह यह करनी चाहिये कि हे प्रभो! मुझमें ऐसा ज्ञानबल बढ़े कि कष्ट आये तो उनको हम समतासे सहन कर सके। हम आपमें कष्ट सहन करने की शक्ति है। यह कोई गप्पकी बात नहीं है। उसका कारण यह है कि कष्ट तो कुछ जीव पर है ही नही। वस्तुतः देखो तो जीव तो अपने स्वरूपमें ज्ञानानन्द स्वरूप है। विकारोके स्वभावसे दूर है। उस पर कष्ट क्या? खुद ही कल्पनाये करता है। बाह्यपदार्थ कैसा ही परिणाम रहे हैं, उसे हम कष्ट मानते है। जैसे एक बालक २० हाथ दूर खड़ा हुआ, अपने हाथकी अगुलियां अथवा जीभ मटकाता है तो २० हाथ दूर बैठा हुआ दूसरा बालक अपने आपमे ऐसी कल्पनायें करता है कि यह तो हमे चिढा रहा है। लो यो कल्पनाये करके वह दुःखी होता है। उसका यह दुःख मिटे कैसे? वह अपने आपमे कुछ गहरे उतर कर सोचे कि मै तो स्वभावतः कष्टरहित हू। मेरा स्वरूप तो

प्रभुके स्वरूपके समान है। मेरे आत्मामें तो कष्टोंका नाम नहीं है। मैं व्यर्थ ही कल्पनायें करके दुःखी हो रहा हू। यों कष्टोको कष्ट ही न माने और उन्हें समतासे सह लें। यह केवल बात ही बात नहीं है किन्तु यह बात हम आपमे सुगमतासे आ सकती है। एक अपने स्वरूपको संभालने भरका ही तो पुरुषार्थ करना है। तो प्रभुसे यह चाहें कि हे प्रभु! मुझमे वह ज्ञानबल प्रकट हो जैसा कि आपमे प्रकट हुआ, जिसके सामर्थ्यसे कष्टोको समतासे सह सकें। यह संसार कष्टमय है। मुझपर कष्ट न आये, संसारमे रहते हुए यह चाहें तो यह चाह तो पूरी न होगी। यहां तो एक कष्ट दूर हुआ कि दूसरा कष्ट सामने आया। तो इस कष्ट भरे ससारमे कष्टोसे छूटने की भीख माँगना, यह तो अच्छी बात नहीं है, किन्तु इन कष्टोको समतासे सहनेकी सामर्थ्य प्रकट हो, यह बात चाहें। यह बात बन जायेगी। सो परीषहजय ऐसे ही ज्ञानबलके आधार पर बनता है।

शीत उष्ण आदि सभी परीषहोके जयमे संवरपना—ठड गर्मीका परीषह सहना अथवा नग्न परीषह सहना ऐसी अविककारता कि जिनके चित्तमे रंच मात्र भी विकार नही है, जो निष्परिग्रह है, जिनके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनो प्रकारके परिग्रह अत्यन्त दूर हो गए है, ऐसे साधुजनोके नग्न परीषह जय होता है। अब यह समझिये कि इन परीषहोमे कितनी विशुद्धता है, जिसके प्रसादसे कर्म वहा बहुत ही झडते है। किसी अनिष्ट पदार्थका मेल रहने पर उसमें द्वेष न करना, कहीं स्त्री देवागना आदिक सामने आने पर रंचमात्र विकारभाव न करना, चलते हुएमे कोई पैरोमे ककड़ आदिक चुभ जाय तो भी शरीरमे ममत्व उत्पन्न न करना, उस परीषहको समतासे सहना, बैठनेमें एक करवट, सोनेमे ककरीली जमीनमें बैठकर सो रहे है, वहा भी कष्टका अनुभव न करना, उसमे सहनशीलता बनाये रखना, कोई गाली देता है तो उसका भी बुरा न मानना, उसको भी समतासे सहन कर लेना आदि ऐसे अनेक परीषहोको साधुजन सहन किया करते है। उन परीषहोके सहनेमे करना क्या है? उत्कृष्ट बात तो यह है कि उसकी ओर दृष्टि ही न रखे। कुछ ज्ञानबल आ जाय तो उस ज्ञानका मद न करना। कोई बहुत तपश्चरण करने पर भी ज्ञान प्रकट नहीं हो रहा तो अपनी श्रद्धाको न बिगाड़ना। ग्रन्थोंमे तो बताया है कि ऐसे तपश्चरणके बाद अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान जैसे चमत्कार पाये जाते हैं। यहां तो कुछ चमत्कार ही नहीं हुआ, ऐसी शका मनमे न लाना यह परीषहविजय है। शरीर पर बहुत मल लगा हुआ है, हिंसाके त्यागके अभिप्रायसे जिन्होने स्नानका त्याग किया। ऐसे निर्ग्रन्थ साधुजन इसमे भी ग्लानि नहीं करते। ये कैसे आदर्श कष्ट-सहिष्णु हैं। उनपर सम्मान अपमान आदिके कैसे ही कष्ट आये, उन सब स्थितियोंमें उन मुनियोको अपने आत्मस्वरूपका ध्यान रहता है। सबसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र मैं आत्मा हू। इस स्वभावकी दृष्टि करके जो निरन्तर तृप्त रहा करते हैं ऐसे साधुओंके ये परीषहविजय होते है। तो परीषहविजयमे आत्माकी ओर झुकाव प्रसिद्ध रूपसे बढ़ता है। कवियोने तो यह कहा कि जिनपर हुए है उन्हें झट केवलज्ञान हुआ तो इसमे यह भी उपसर्ग कारण है। न होता तो विलम्बसे केवलज्ञान होता आदिक सम्भावनाये अलकार रूपसे कही हैं। तो उपद्रव मेरे लिए कोई दुःखकी (बुरी) चीज नहीं है किन्तु उनमे जो ममता जगती है और वहा कुछ कल्पनाये बनाते है वे कल्पनाये दुःखकी चीज है। ये कल्पनायें दूर हों और कष्ट सहने की हममे शक्ति प्रकट हो, ऐसी भावना हमें बनानी चाहिये।

गुत्ती जोग-णिरोहो समिदी य पमाद-वज्जणं चेव।
धम्मो दया-पहाणो सुतत्त-चिंता अणुप्पेहा ॥९७॥

गुप्ति और ईर्यासमितिका स्वरूप—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहविजय—ये संवरभाव कहे गए है। इनमे गुप्तिका अर्थ है योगोंका निरोध करना। मन, वचन, काय जो हम आपके साथ लगे हुए है, जिनका हलनचलन होता है और उस निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमे भी हलनचलन होता है। तो उन

योगोंका निरोध करना गुप्ति है। प्रमादके त्याग करनेका नाम समिति है। बिहार करना पड़ रहा है। चातुर्मास्यके अतिरिक्त एक नगरमें बहुत दिनों तक रहने की शास्त्राज्ञा नहीं है, क्योंकि एक जगह बहुत काल रहने पर राग, प्रमाद, मोह उत्पन्न हो सकते हैं। तब विहार करना ही है। विहार करनेमें शरीरके हलनचलनकी प्रवृत्ति होगी ही। तो उस शरीरके हलनचलन प्रवृत्तिमें प्रमाद न रहना, इसका नाम समिति है। तभी तो ईर्यासमितिमें ४ हाथ आगे जमीन देखकर सूर्यके प्रकाशमें उत्तम भावसे अच्छे कामके लिए विहार किया जाता है। ईर्यासमितिका अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना। उसमें चार बातें होनी चाहिए। सूर्यके प्रकाशमें, और अच्छे कामके लिए, अच्छा भाव रखते हुए चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना। यदि कोई साधु चार हाथ आगे जमीन तो देखता है, पर रात्रिमें या संध्याओंमें देखता है तो वह ईर्यासमिति नहीं। कोई दिनमें भी चार हाथ आगे जमीन देखकर चल रहा है लेकिन बुरे कामके लिए जा रहा है। कोई अच्छे कार्यके लिए गमन नहीं कर रहा तो वह ईर्या-समिति नहीं कहलाता। कोई साधु यात्रा आदिक कामके लिए भी जाय, दिनमें भी जाय, ४ हाथ आगे जमीन देखकर भी जाय और क्रोधसे विहार करे। जैसे किसी गॉवमें ठहरे हुए थे, वहां कोई प्रसंग ऐसा आ गया कि इसे क्रोध उत्पन्न हो गया और उस रोषमें आकर वह भाग रहा है तो अच्छे परिणामपूर्वक तो नहीं जा रहा तो ईर्यासमिति नहीं है। तो अन्तरङ्ग प्रमाद न रहे, बहिरङ्ग प्रमाद न रहे, यह बात समितिसे बनती है।

भाषासमिति व ऐषणासमितिका स्वरूप--दूसरी समिति है भाषासमिति। भाषासमितिमें हित, मित, प्रिय वचन बोलना। ये तीन विशेषतायें होनी चाहिये। जो भी हम बात कहें वह दूसरेके लिए हितकारी हो। बात तो कहें जैसी की तैसी, किन्तु उससे होता हो दूसरेका अहित तो उसे भाषासमितिमें शामिल नहीं किया गया है। जनताका या धर्मका जिन वचनोंसे वस्तुतः अहित होता हो वे वचन सत्य नहीं हैं, वहॉ भाषासमिति नहीं है। इसी प्रकार कहे तो हम दूसरे के भलेकी बात लेकिन अप्रिय बोले, डाट डपट कर, गाली गलौच देकर बोले तो वह समितिमें शामिल नहीं है और फिर हितकारी भी वचन बोलें और प्रिय भी बोले, मगर खूब बोलते चले जायें, तो यह भी समितिमें शामिल नहीं है। तो हित, मित, प्रिय वचन बोलना सो भाषासमिति है। तीसरी है एषणासमिति। आहारकी एषणाके लिये जब साधु चलते हैं तबसे विधिसमाप्ति पर्यन्त जो निष्प्रमाद प्रवर्तन है उसका नाम है ऐषणासमिति। एषणा मायने खोज करना। अपने योग्य आहारकी खोज करना। जहां विधिपूर्वक हो, दाताकी भक्तिसे हो वहां निर्दोष शुद्ध आहार लेना। तो इसमें भी अनेक बातें परखी जाती हैं। दातारका भाव शुद्ध होना चाहिए। भोजन शुद्ध होना चाहिए। इन सब बातों को ठीक परखकर साधुजन आहार लेते हैं, यह एषणा समिति है।

आदाननिक्षेपण समिति व प्रतिष्ठापना समितिका स्वरूप—चौथी समिति है आदाननिक्षेपण समिति। पिछी, कमण्डलु पुस्तक आदि उपकरणोंको खूब देखभालकर धरना उठाना ताकि किसी कीड़ा मकोड़ा आदिक जीवोंकी हिंसा न हो जाय। यों ही बिना देखे भाले जहॉ चाहे उठाने रखनेमें हिंसाका दोष है। इसी तरह जमीनमें किसी वस्तुको बिना देखे भाले थोड़ा बहुत घसीट लेनेमें भी दोष है। तो वस्तुवोंको देख भालकर धरना उठाना सो आदाननिक्षेपण समिति है। ५ वीं है प्रतिष्ठापना समिति। थूक, कफ, मल, मूत्रादि को जहॉ चाहे न गिराकर अथवा न फैंक कर उन्हें प्रासुक जमीन देख कर ही निक्षिप्त करना सो प्रतिष्ठापनासमिति है। जैसे कोई साधु ऊपरकी मंजिलमें बैठा है तो वह खिड़कीसे न थूक सकेगा। जब तक कि वह उस जमीनको खूब देखभाल न ले तब तक वह थूक न सकेगा। यह है प्रतिष्ठापना समिति। इन सब समितियोंमें प्रमादका परिहार बताया गया है। आलस्य न रहे और भीतरमें अपनी कषायबुद्धि बनाये रहें तो यह संवरभाव ही तो हुआ।

क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौचधर्मके धारणमे अपने आत्माकी पारमार्थिक दया— दस लक्षण धर्ममें सवरभाव कहा गया है। उन समस्त भावोंमे दयाकी वृत्तियां हैं। वाह्य दया भी है और अन्तरङ्ग दया तो प्रधान है ही। कोई जीव क्रोध कर रहा है तो किसपर क्रोध कर रहा है ? अपने पर क्रोध कर रहा है। किसकी बरबादी कर रहा है ? अपनी। किसे जला रहा है ? अपने आपको। अपने आपमें यदि क्षमाभाव धारण किया तो किस पर दया की ? अपने आपपर दया की। अपने को सन्तोषमें सुखमें रख सका, यह उसने अपने पर बड़ी दया की। कोई पुरुष मान (घमंड) कर रहा तो वह किसका अनर्थ कर रहा ? किसी दूसरे का तो वह अनर्थ कर नही सकता। वह तो अपने आपका ही अनर्थ कर रहा है। अपने आपका ही बिगाड़ कर रहा है क्योंकि उस घमंड परिणामके कारण उसे अपने आपके स्वरूपकी सुध नहीं रहती। अभिमानमें वह अपने आपके स्वरूपको तक नहीं सकता। अगर उसने अभिमान करना छोड़ दिया तो किस पर दया की, किसे बचाया, किसकी रक्षा की ? अपने आपकी। तो इन धर्मोंमे अपने आपकी दया प्रधान बन रही है। कोई पुरुष छल कपट कर रहा है तो छल कपट करके यह किसका बिगाड़ कर रहा ? दूसरेका। अगर पापका उदय है तो भले ही उसकी किसी हानिमे यह कपटी पुरुष मित्र बन जाय उसका नियम तो नहीं लेकिन छल कपट करने वाले पुरुषने अपने आपकी बरबादी की। छल कपट छोड़ता है तो किसकी रक्षा की ? उसने अपने आपकी रक्षा की। जो पुरुषसरल चित्त होते हैं धर्म उनके ही हृदयमें ठहरता है। कपटी पुरुषके हृदयमें धर्मका अंकुर नहीं उत्पन्न होता। इसी प्रकार लोभ कषाय कोई कर रहा है—तो उसमें भी वह किसपर अन्याय कर रहा है ? अपने आप पर। वाह्यवैभव तो ऐसे हैं कि आप इनका उचित भोग करें, उचित त्याग करें तब भी ये कम नहीं होते और जब कम होने होंगे तो ये कम हो ही जायगे। आप न भी उनका भोग करें, न भी त्याग करें. केवल उनके संचयकी ही बुद्धि बनाये रहें तब भी पापोदय आनेसे हानि हो जायेगी और जब तक पुण्यका उदय है तब तक भोग और दानसे धन हानि नहीं होती। तो लोभ करके इस जीवने बाहर मे किसीका कुछ नही बिगाड़ा, किन्तु अपने आपका बिगाड किया। यदि उसने लोभ छोड दिया तो रक्षा किसकी की ? अपने आपकी। तो लोभ त्यागमें शौचधर्मके पालनमे भी अपनी दयाकी बात आयी।

सत्य सयम तप और त्यागमे आत्मकृपा—सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य, इन सब धर्मों मे अपने आपकी रक्षा प्रधान है। न सच्चाईसे रहे तो किसकी बरबादी की ? अपने आपकी। सच्चाई का जीवन रखे तो अपने आपपर दया की। असयमसे रहे, कोई पुरुष हिसा, झूठ, चोरी, पाप आदिका त्याग न करे, प्राणियोकी रक्षा न करे, विषयोंका लोलुपी रहे तो असयम करके उसने किस पर अन्याय किया ? अपने आपपर। अपना जो सहज परमात्मदेव है उसका विकास न हो सका और नरक निगोद पशु आदिक दुर्गतियोमे भटकते रहे तो यह अपने पर कम अन्याय है क्या ? कोई सयम प्रकट करले तो उसने किसकी रक्षा की ? अपने आपकी। इच्छानिरोधका नाम तप है। लोग इच्छायें अटपट बढाते रहते हैं। पुण्यका उदय है। कुछ धनका बल है, मनका बल है, तनका बल है तो अपनी अनेक इच्छायें बढाते हैं, पर इच्छाओंको बढाकर किसी ने अपनी भलाई कर पायी क्या ? बडे बडे तीर्थकरोने इच्छाओं का, परिग्रहोका त्याग करके उन्होने मुक्ति प्राप्त की है। तो इच्छाये बढाकर हम अपने आपपर अन्याय करते हैं। कोई इच्छानिरोध करे, तपश्चरण करे तो उसने किसपर दया की ? अपने आपपर। किसकी रक्षाकी? अपने आपकी। दशलक्षणधर्म आत्मरक्षा करने वाला दयाप्रधान धर्म है। जिस आत्माने चतुर्गति ससारमे भ्रमण करनेसे मुक्ति प्राप्त करली तो उसने किन चीजोका त्याग किया था ? रागद्वेष मोह भावो का और इनके आश्रयभूत पदार्थोंका भी त्याग किया तो उसने किसपर दया की ? अपने आप पर। तो उत्तम त्यागधर्ममे भी अपने आपकी दया बसी हुई है।

आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य धर्ममें अन्तस्तत्त्वकी रक्षा—कोई पुरुष सब कुछ अपना मान रहा है, यह भी मेरा, यह भी मेरा, धन वैभव इज्जत पोजीशन सम्पदा ये सब मेरे हैं ऐसा मानता है तो वह पागलकी भाँति है। कहीं उसके माननेसे वे सब परपदार्थ उसके न बन जायेंगे। जैसे कोई पागल किसी मार्गके पास कुवेके निकट बैठा रहता है, अब उस मार्गसे अनेकों मुसाफिर रिक्शा, मोटर, ताँगा, साइकिल आदि लेकर निकलते है, थोडासा रुककर, कुवेसे पानी निकालकर, पीकर अपने अपने निर्दिष्ट स्थानपर चले जाते हैं, वह बेचारा पागल मनुष्य उन रिक्शा, मोटर, साइकिल, ताँगा आदिको अपने मान लेता है और वे मुसाफिर तो पानी पीकर अपनी अपनी सवारियाँ लेकर चले जाते है। वह पागल पुरुष उस जगह रोता है, दुःखी होता है—हाय हमारी मोटर चली गई, हमारी साइकिल चली गई आदि। तो ऐसे ही ये मोही प्राणी अपने ज्ञानमात्र निजस्वरूपको छोड़कर बाह्ममे कुछ भी तो अपना नहीं है, यह देह भी अपना नही है और यह मोही प्राणी धन वैभव, घर द्वार, कुटुम्ब परिजन आदि परपदार्थोंको अपना मान लेता है। उनके नष्ट हो जानेपर अथवा विछोह हो जाने पर मोही प्राणी दुःख मानते है कि हाय मेरा धन मिट गया, मेरा यह वियोग हो गया आदि। तो बाह्यमे कुछ भी अपना नहीं है लेकिन परवस्तुओं के प्रति ये मोही प्राणी यह भाव कर रहे है कि ये मेरे हैं, तो इस मान्यतासे अन्यायसे अन्याय किसपर किया? अपने आपपर। बरबादी किसकी? अपने आपकी। किसी जीवके अगर ज्ञानसूर्य प्रकट हो जाय और वह यह निर्णय करले कि एक इस ज्ञानस्वरूपके सिवाय मेरा तृणमात्र भी नहीं है तो उसके इस अकिञ्चन भावसे कितनी शान्ति समृद्धि होगी? तो अकिञ्चन भाव करने से, निष्परिग्रहका भाव होने से इस जीवने अपने आप पर ही दया की। ब्रह्मचर्यभाव-यह परम उत्तम भाव है। आत्माका जैसा सहज स्वरूप है विशुद्ध ज्ञानानन्दरूप उसमें मग्न रहना सो ब्रह्मचर्य है। जब यह जीव अपने स्वरूपकी सुध भी नहीं रख रहा और बाह्य परिग्रहोमे लीन हो रहा, चारो गतियोंमे जन्म मरण कर रहा तो यह अपने आपकी बरबादी ही तो है। कोई पुरुष ब्रह्मचर्यभावका आदर करे और अपने इस शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूपमे लीन हो तो उसने किस पर दया की? अपने आपपर दया की, अपनी ही रक्षा की। तो इन दशलक्षण धर्मोंमे भी दयाकी प्रधानता है। जहा अपने आपपर वास्तविक दया की जा रही है वहां दूसरोंपर कृपा स्वतः ही होती जाती है।

अनुप्रेक्षादि धर्मधारणसे आत्माकी भलाई—संवरभावोमें अनुप्रेक्षाको भी कहा है। इससे मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्वोंके चिन्तनकी प्रधानता है। इससे सांसारिक बातोंकी चिन्तना नहीं होती है। वह तो चिन्ताका रूप है और अपनी भलाईके विषयमे जो विचार चलते है उसे चिन्तन अथवा चिन्तवन कहते हैं। तो बारह भावनाओंमें जो कुछ ज्ञान और वैराग्यवर्द्धक तत्त्वका चिन्तन चला उस चिन्तनसे इस जीवने अपने आपका ही तो कल्याण किया। धर्मके जितने भी भाव है, प्रयत्न हैं, पौरुष है, उन सबसे इस जीवकी भलाई होती है और उसके विरुद्ध अधर्म पाप कुछ भी मनमें आये तो उससे जीवका अहित होता है। सुख शान्तिका कारण धर्मका प्रसंग ही है, इसमे रच सन्देह नहीं। जो लोग आज कुछ सुख सुविधाये पाये हुए है, कुछ अच्छा वातावरण पाये हुए है तो वह किसका फल है? यह पूर्वसमयमें किए गए धर्मके साथ जो पुण्यभाव बना उस पुण्य भावका फल है। पुण्य भी एक धर्मका किसी दृष्टिमे आंशिक रूप है। अशुभ परिणामकी अपेक्षा शुभ परिणाम तो अच्छा ही है और पुण्य बनता है शुभ परिणामसे ही। अशुभ परिणामसे पुण्यका बन्ध नही होता। अज्ञानी जीव भी जब कभी पुण्य बाँध पाता है तो जब उसका अशुभ परिणाम मंद होता है, शुभ परिणाम कषायका मंदपना बनता है तब पुण्यका बंध कर पाता है। तो यह लौकिक सुख शान्ति भी धर्मके प्रसादसे प्राप्त होती है। सत्य बात तो यह है कि धर्मके प्रसादसे सदाके लिए संकट छूट जाते हैं।

सो वि परीसह-विजओ छुहादि-पीडाण अइ-रउद्दाणं।
सवणाणं च मुणीणं उवसम—भावेण जं सहणं ॥९८॥

मुनिराजोंका परीषहविजयरूप संवरभाव—इस गाथामें यह बताया है कि साधुवोंका परीषहविजय भी संवर भाव है। क्षुधा तृषा आदिक पीड़ायें जो अति विकराल हैं, जिनके सम्बन्धमें लोग परिचित ही हैं। जब तीव्र क्षुधा होती है तो उसे कुछ नहीं सूझता। कुत्ता, बिल्ली आदि जानवर तो जब क्षुधासे अति पीड़ित होते हैं, जब कि कई दिनोंके भूखे होते हैं, पेटका एक भाग दूसरे भागसे मिल जाता है, तो ऐसी कठिन क्षुधाकी वेदनामें वे अपने बच्चोंको भी मारकर खा जाते हैं। उन जानवरोंकी तो बात जाने दो—कोई कोई देश ऐसे भी हैं कि जहां मनुष्य मनुष्यको मारकर भी खा जाते हैं। तो ये क्षुधा तृषा आदिक वेदनाएँ अति रौद्र हैं। लेकिन क्षुधा तृषादि भयंकर पीड़ावोंको भी साधुजन समताभावसे सह लेते हैं और समता परिणामरूप अमृतके पानसे वे अपने आपमें संतुष्ट रहा करते हैं। इन मुनियोंका यही परीषह विजय है और इस परीषहविजयके प्रसादसे वे भव-भवके बांधे हुए कर्मोंको भी ध्वस्त कर देते हैं। कर्म आये हैं कषायें करनेसे। तो कर्म मिटेंगे कषायें न करनेसे। सीधा उपाय है यह कषाय न करे ऐसा किसीका संकल्प बने, ऐसा कोई प्रयत्न करना चाहे तो उसे कष्टसहिष्णु अवश्य बनना पड़ेगा। जो पुरुष कष्टसहिष्णु नहीं है, आरामतलबीमें ही करता है उसके परीषहविजय नहीं बन सकता और समय-समयपर वह अपने सन्मार्गसे च्युत हो जाया करेगा। इस कारण यह चाहिए कि हम धर्मबुद्धिसे कष्ट-सहिष्णु बनें। दुःख न मानते हुए, संक्लेश न करते हुए, राग विरोध न मचाते हुए हम कष्टसहिष्णु बनें तो हममें ऐसा उत्साह जग सकता है कि उपद्रव आने पर भी हम धर्मसे न चिगें। यही परीषहविजयका प्रयोजन है और तत्काल फल भी यही है। भयंकर उपद्रवोंमें भी मुनिजन स्वात्म आकुलता प्राप्त नहीं हुई और उन्होंने सदाके लिए संसार संकटोंसे छुटकारा पाया, निर्वाण पाया। इस प्रकार संवरभावोंमें जो ५ भाव मुख्य बताये हैं उनका वर्णन यहां समाप्त हुआ।

अप्प-सरूवं वत्थुं चत्तं रायादिएहि दोसेहि।
सज्झाणम्मि णिलीणं जाणसु उत्तमं चरणं॥९९॥

उत्तमचारित्ररूप परमसंवरका स्वरूप—ऐसे आत्मस्वरूपको ही उत्तम चारित्र जानो जो रागद्वेष विषय कषाय आदिक सब अवगुणोंसे परे है, उत्तम स्वतत्त्वके ध्यानमें लीन है। आत्मा एक अभेदरूप है, उसकी जानकारीके लिए भेद करके गुण बताये गए हैं कि आत्मामें दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, ये सब भेद एक व्यवहार चलानेके लिए किए गए हैं। अन्यथा लोग कैसे समझें कि आत्माका क्या स्वरूप है? यदि इतना ही कहते जायें किसीको आत्मा, आत्मा, आत्मा, तो इतने मात्रसे लोगों को क्या मालूम पड़े? तब आत्मामें जो शक्तियां समझमें आ रही हैं उन शक्तियोंका नामकरण करके लोगोंको समझायें तो समझ जायेंगे, आत्मा उसे कहते हैं जिसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र आनन्दगुण पाये जायें। तो इस तरह समझानेके लिए, तीर्थ प्रवृत्तिके लिए भेदव्यवहार करके गुणोंको बताया गया है। जब यह कहा जाय कि ज्ञान क्या है बताओ? तो साधा आत्माको ही बताना चाहिये। यह है ज्ञान। तो चारित्र क्या है सो बताओ? तो वहां भी आत्मा ही बताया जायेगा कि यह है चारित्र। चारित्रकी जो शुद्ध वृत्तियां हैं, एक साम्यभाव अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमें मग्न रहना, केवल जानन देखनहार रहना, शुद्ध कार्य होना, यह ही तो है उत्तमचारित्र, सो ऐसा उत्तम चारित्र है क्या? यही आत्माका स्वरूप इसका विवरण करके समझा जाय तो यों कहो कि रागद्वेषादिक भाव आत्मामें नहीं उठें, तो वह है उत्तम चारित्र।

अन्तस्तत्त्वके परिचयसे ही वास्तविक बड़प्पन—भैया! अपने आपके भीतरके स्वरूपको पहिचानिये। बड़प्पन इसीमें है। बाहरी पौद्गलिक धन वैभव आदिकके कारण जीवका बड़प्पन नहीं है। ये तो संसार

की घटनाये है। कई बार इससे करोड़ों गुना वैभव मिला वह भी न रहा और कई बार देव बनकर भी पृथ्वी जल पेड़ वगैरह होना पड़ा होगा। कहां उत्कृष्ट बात और कहा खोटे भवोमे जन्म। तो इस सम्पदा का, समागमका, इज्जत पोजीशनका क्या मूल्य है? यह तो संसार है। जैसे स्वप्नमे देखे गए राज्यपाट वैभवका क्या मूल्य है? वह तो काल्पनिक है। इस ही तरह यहा भी तो कल्पना ही बनायी जा रही हैं। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपमात्र है। अपने स्वरूपसे बाहर वस्तुका न द्रव्य है, न गुण है न पर्याय है। मै भी अपने स्वरूपमात्र हूं, मेरा द्रव्य, मेरा गुण, मेरी पर्याय मुझमे ही समाप्त है। मुझसे बाहर नही। तब मैं बाहरसे कुछ करतब ही नहीं कर सकता। बाहरी किसी पदार्थका अनुभव कर ही नहीं सकता। तो ऐसा यह मै आत्मा अपने स्वरूपमात्र हू। ऐसा ज्ञान जब न हुआ तब संसारमे भटकना पड़ा। तो सबसे बड़ी सम्पदा, सबसे बड़ा शान्तिका साधन एकमात्र शरण अपने आपके शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूपका दर्शन करना है। इसमे प्रमाद नही करना है। अन्य बातोंमे प्रमाद हो उससे हानि नही। धन कमानेमे प्रमाद हो गया, अव्वल तो प्रमादसे धनकी हानि नही होती, पापके उदयसे धनकी हानि होती है, अन्यथा कुछ लोग दुकान पर कभी जाते ही नही है फिर भी अनेक वैभव आते रहते है। तो प्रमाद और निष्प्रमादका लोक मे कोई प्रभाव नही। यहा तो पुण्य पापका प्रभाव है, लेकिन आत्माके ज्ञान और चारित्रके सम्बन्धमे हम प्रमाद करे तो इसका फल ससारमे भटकना है। सोचिए कहां तो मेरा ऐसा पावन स्वरूप जो अरहंत सिद्ध आत्माकी तरह ही अन्त आत्मस्वरूप बसा हुआ है और कहा बाह्यपदार्थोंमे ममता दृष्टि करके उसके लगावसे अपने आपका अनर्थ किया जा रहा हैं। वह तो भैया! बडे अधकारमे है जो मोह ममता करके, धन संचय करके अपने को चतुर समझते है सो तो चतुराई नही वह तो एक व्यामोहकी बात है। चतुराई तो अपने आपके स्वरूपका निर्णय करनेमे है। बाहरी बातें चाहे रहें चाहे आये, चाहे किसी भी स्थितिको प्राप्त हों, उससे कुछ अपने उद्धारमे फर्क न आयेगा। किन्तु हम स्वय अपने आपको न परख सके तो अन्तर आ जायेगा। तो चारित्र क्या है इस सम्बन्धमे कह रहे हैं कि जो रागद्वेषादिक स्वरूपसे रहित है ऐसे आत्मस्वरूप आत्माका अनुभवन, आत्माका विशुद्ध परिणमन, इस ही को चारित्र कहते है।

आत्मरमणमे ही साररूपता—स्थूलदृष्टिसे भी देखो तो अनगिनते योजनों प्रमाण इस सारी दुनियामें जितनी जगहमे हम आपका कुछ प्रभाव है, परिचय है, परिचय भी क्या केवल मोहमयी कल्पनायें। वह क्षेत्र कितनासा है, इतने से क्षेत्रमे यदि कुछ कल्पनाये करके अपनी शान बना ली तो इससे आत्माका क्या पूरा पड़ेगा? इस जीवनका कितना समय है? कुछ ही वर्षोका। तो इन कुछ दहाई वर्षोके समयमे यदि अपने को विकल्प करके मौजमे रख लिया कि मेरा तो बड़ा बड़प्पन है तो इससे आत्माका क्या पूरा पडेगा? बताओ जीव कितने है? अनन्तानन्त। उन अनन्तानन्त जीवोंके समक्ष ये हजार ५०० लोग कुछ गिनतीमें भी हैं क्या? तो जब अनन्तानन्त जीवोके लिए हम बड़े न कहला सके तो इन हजार ५०० जीवोंके लिए हम कुछ बड़े कहलाये ऐसा विकल्प करके अपने इस परमात्मदेवपर अन्याय क्यों किया जा रहा है? सर्वोत्कृष्ट वैभव पुरुषार्थ तो अपने आत्माके शुद्ध चैतन्यस्वरूपमे लीन होनेका है। यह दृष्टि रखिये, निर्णय रखिये, बाकी सब बातोंका महत्त्व न दीजिए। हम आप लोगोंके बीच रहते है, अनेक प्रकारके लोगोंसे व्यवहार होता है। कोई कुछ कहता है, कोई कैसी ही प्रवृत्ति करता है सब अपनी अपनी कषायके अनुसार अपने मे अपनी कसरत किया करते हैं, सो हमारा कुछ नही करते। हर्ष क्षोभ न लाये। किसी भी परिस्थितिमे ऐसा ज्ञानबल बढाये, आत्मस्वरूपकी समझ बनाकर आत्मामे लीन और तृप्त रहा करे। तो रागादिक दोषोसे रहित अपने ध्यानमे लीन जो आत्मस्वरूप है, उसे उत्तम चारित्र जाने। ऐसे उत्तम चारित्रसे कर्मोंका आना रुकता है जिससे निकट कालमे हम मुक्ति प्राप्त कर लेंगे।

एदे संवर-हेदू वियारमाणो वि जो ण आयरइ।
सो भमइ चिरं काले ससारे दुक्ख-संतत्तो ॥१००॥

आचरणरहित सवरहेतुविचारकका भी ससारमें चिरपरिभ्रमण—इस सवर अनुप्रेक्षामें सवरके हेतुवोंका वर्णन करा गया है कि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा परीषहजय, चारित्र, इनके द्वारा कर्मोंका संवर होता है। जिन महापुरुषोंमें, पावन आत्माओंमें यह भाव होता है, ऐसी वृत्ति होती है, बस उसे ही संवरका अधिकारी समझिये। यहा यह परखिये कि सवरके जो कारण कहे गए हैं उन कारणोंमें सबसे अन्त मे जो भाव बताया है उत्तमचारित्र आत्मस्वरूप, रागादिक दोषरहित आत्मस्वरूपमें लीनता ये उत्तम चारित्र तो परमज्ञानी जीवमें सदा रहेंगे। अरहंतोंमें, सिद्धोंमें सदा काल पाया जा रहा और यही कारण है कि सिद्ध होनेसे फिर कर्म नहीं आते। कर्मोंका न आना सो संवर है, तो यह संवर तत्त्व सिद्धमें भी बना हुआ है। अगर न होता संवर तत्त्व तो कर्म आ धमकते। देखो आस्रव, बध निर्जरा ये सब निकल गए। मोक्ष तो मिल ही गया। अब मिला हुआ मोक्ष क्या बार बार बनेगा? संसारसकट तो छूट गया सो छूट ही गया। तो अन्य तत्त्वकी बात तो अब नहीं रही है किन्तु सवर तत्त्व सवर परिणाम, निर्दोष स्वलीन आत्मस्वरूप लक्षण वाला उत्तम चारित्र उस शुद्ध आत्मामें सदा रहेगा। हाँ जो कुछ इस उत्तम चारित्ररूप संवरसे कम गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, आदिक भाव हैं वे नहीं रहे, पर यह उत्तम चारित्र सिद्धमें अनन्तकाल तक रहेगा और यही कारण है कि अनन्तकाल तक सवर रहेगा। मुक्तात्मा अब कभी भी संसारमें न आ सकेगा। तो ये संवरके कारण बताये गये हैं, इसके लिए कोई विचार भी करता है। इसका प्रतिपादन भी करता है। फिर भी जो पुरुष इस रूप अपना आचरण नहीं करता वह ससारमें चिरकाल तक भ्रमता है और दुःख सहता है।

उपदेशपर अमल किये बिना केवल कथनमात्रसे कर्मास्रवनिरोधकी अशक्यता—प्रभुका उपदेश है कि कषायें मत करो। बस यों वचन ही रह गए और भीतरमें ऐसा पुरुषार्थ नहीं जगाया कि कषायें न हों, ज्ञानभावमें रमनेका पुरुषार्थ नहीं बनाया तो फल तो न मिल जायेगा। जैसे कोई पुरुष किसी मिठाईका नाम लेता जाय रटता जाय तो उससे कहीं स्वाद तो न आ जायेगा, या उदरपूर्ति तो न हो जायेगी। हां कभी आप ऐसा कह सकते हैं कि कभी कभी मिठाईका नाम लेनेसे भी मुँहमें मधुर पानी आ जाता है तो वह नाम लेनेसे नहीं आया, किन्तु पहिले उस मिठाईको खाया था, उसका स्मरण आया और उस स्मरणसे उस तरहका स्मृतिरूप ज्ञान बना, उससे भले ही थोड़ा मौज मान लिया, परिज्ञान हो गया स्वादका स्मृतिरूपमें, लेकिन नाम लेनेसे तो सिद्धि नहीं होती। जिन पुरुषोंने आत्माका अनुभव किया है उनको आत्मानुभवके प्रसाद का स्मरण होने से भी आंशिक स्वाधीन सदा आनन्द रहता है। तो एक नाममात्रसे तो काम नहीं बनता। उसका आचरण करना चाहिए तब जीव शुद्ध होता है अन्यथा संसारमें तो भ्रमण करता ही रहेगा।

मात्र रटत बोलचालकी व्यर्थता—सुवाबत्तीसीमें बताया है कि किसी बडे अच्छे पिंजडेमें पले हुए तोते को उसके मालिकने रटा दिया—तोते! नलनी पर कभी न बैठना। नलनी होता है एक इस तरहका यन्त्र कि जिसके नीचे कुछ चावल वगैरह डाल दिए जाये, सो तोता उस नलनी पर बैठता है दाने चुगनेके लिए, उस प्रयत्नमें वह औंधा लटक जाता है। औंधा लटकने पर वह उसे इसलिए मजबूतीसे पकडे रहता है कि उसे भय रहता है कि कहीं मैं गिर न जाऊँ। आखिर उसे लटका हुआ देखकर शिकारी उस तोतेको पकड़ लेता है। तो ऐसी नलनीके बारेमें कह रहे हैं कि तोते को उसके मालिकने रटा दिया कि ऐ तोते तू पिंजडे से उड़कर कहीं मत जाना, जाना तो नलनीपर मत बैठना, नलनी पर बैठ भी जाना तो दाने चुगनेकी कोशिश न करना, दाने भी चुगना तो उलट न जाना, उलट भी जाना तो उसे पकडे न रहना, उसे छोड़ कर उड़ जाना आदि। वही तोता एक दिन मौका पाकर पिंजडेसे बाहर निकल गया, नलनीपर जाकर

बैठ गया, दाने चुगनेकी कोशिश करने लगा, उलट भी गया, पर उसे मजबूतीसे पकडे रहा, इस डरसे कि कहीं मैं नीचे न गिर जाऊँ। ये सारी क्रियायें तो वह तोता करता रहा, पर पाठ वही पढता रहा जो याद कर रखा था। उस तोतेने पाठ तो याद कर लिया था, पर उसका अर्थ वह नहीं समझ रहा था। बहुतसे तोतों को तो राम नामका पाठ भी रटा दिया जाता है, दोहा भी वे तोते पढ जाते हैं पर उन्हें कुछ भाव भासना भी है क्या ? तो यों ही रटंतकी तरह हम शास्त्रोंका अध्ययन करें, चर्चा करें, बात कहें और अपने आपके एकत्त्वस्वरूपको न जानें और अपने स्वरूपमें ही रमनेका प्रयोजन न रखें, न रम सकें तो वे सब बातें बिल्कुल व्यर्थ हैं।

ज्ञानार्जन करने व उसका आचरण करनेका कर्तव्य--ज्ञानार्जन करना बुरा नहीं है, उसपर भी न अमल कर सके, तो भी लाभ संभावनाका थोड़ा फायदा अवश्य है। जैसे कोई धनी कंजूस होता है उसके प्रति लोग कहते हैं कि इसका धन होनो ना न होना बराबर है। इसका धन कहां किसीके काम आया ? न खुद भोग कर सका, न दान कर सका। तो यद्यपि लगता है इस समय कि उस कृपण धनीका धन व्यर्थ है लेकिन धन तो है। आज भाव कृपणताका है, कल भाव बदल जाय तो उसका उपभोग कर सकता है, दान कर सकता है। इतनी दृष्टिसे कृपण धनीके पास धन होना कुछ कार्यकर है, ऐसे ही जिसने इन विद्याओंका अर्जन किया, जानकारी बनायी, धर्मशास्त्रोका ज्ञान किया, पर आचरण नहीं किया, लोग उसे कहते हैं कि इसका ज्ञान सब बेकार है क्योंकि उससे फायदा क्या ? इसमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें भी ज्यादा हैं, जिसके कि ज्ञान है। तो लग रहा है ऐसा और बात भी सही है इस समय, लेकिन, जिसने ज्ञान किया है, वस्तुस्वरूपका कुछ लक्षण जाना है तो ज्ञान तो अर्जित है। किसी समय उसकी दृष्टि बदल जाय और अपने आपके उद्धारके लिए तड़फ जाय, उद्धारका उद्देश्य बना ले तो वे सब ज्ञान इसके काममे आ जायेंगे। इतनी बातमें तो ठीक है, पर ज्ञान कोई कर रहा है और उसपर आचरण कर नहीं सकता तो समझिये कि वह संसारमें चिरकाल तक भ्रमेगा। अतः कर्तव्य यह है कि वस्तुस्वरूप का ज्ञान करे और यथाशक्ति उसका अमल करे। अब कहते हैं कि जो पुरुष विषयविरक्त है, इन्द्रियविषय-विजयी है उसके अवश्य ही संवरतत्त्व होता है—

जो पुण विसय-विरत्तो अप्पाणं सव्वदो वि संवरइ।
मणहर-विसएहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि॥ १०१॥

विषयविरक्त एवं इन्द्रियविजयी आत्माका संवरतत्त्वपर अधिकार- यह संवरभावनाकी अन्तिम गाथा है। इसमें आचार्य कहते हैं कि जो मुनि विषयोंसे विरक्त होकर अपने को दूर रखता है उसके निश्चयसे संवर होता है। दो ही तो करनेके काम हैं—अपने स्वरूपका ज्ञान रखना, और परपदार्थोंमें रागद्वेष न करना अर्थात परपदार्थोंसे हटाना और अपनेमें लगाना। यही उपाय करना है। कर्मोंका आना इस ही उपायसे रुकता है। कर्मोंका निर्जरण भी इसही उपायसे होता है। संसारमें यह जीव जो कुछ भी इष्ट वियोग, अनिष्टसंयोग, जन्म, मरण आदिक जो कुछ भी हो रहा है वह सब कर्मोदयका निमित्त पाकर पा रहा है। तब ये ससारकी विडम्बनाये हैं ना। इन्हें दूर करना है तो क्या करना होगा कि कर्मबन्धके कारणभूत् जो उपाय है। उन उपायोसे हटना होगा। बंध होता है परवस्तुओंका लगाव रखनेसे, कर्मबन्ध होता है अपने आपके स्वरूपकी भूल रखने से। सो भाई इस जीवनमें जो बीते सो बीतने दो, उनको महत्व न दो, होंगे वे सब अनायास हमारे थोडे ही पुरुषार्थसे। जैसे होते हों हों, लेकिन महत्त्व दीजिये इस बात का कि इस अनादि संसारमे भ्रमते-भ्रमते आज बडे सुयोगसे मानवजीवन पाया, जिसमे बुद्धि श्रेष्ठ, कुल श्रेष्ठ, जैनशासनका समागम, अहिंसामय वातावरण, जो कि इस जीवके उद्धारके कारण हैं वे सब साधन प्राप्त हुए हैं तो अपने आपके स्वरूपदर्शनका खूब लाभ लूट ले अर्थात् हमें अपने आपके स्वरूपके

बराबर दर्शन हों, क्षणमात्रको भी उसकी दृष्टिसे न हटे, ऐसी मनमें उत्सुकता बनाये प्रभुध्यान करके आत्मस्वरूपका चिन्तन करके।

आत्मरमणमे सतुष्ट होनेकी सहजवृत्ति पानेका उपाय बना लेनेका अनुरोध—हे मुमुक्षु आत्मन्! सदाके लिये सकटमुक्ति चाहते हो तो अपने आपको ऐसा दृढ बनालें कि अपने आपमें रमकर सन्तुष्ट होनेकी प्रकृति बन जाय। परसे हटना और अपने आपके स्वरूपमें लगना यही उपाय कर्मोंके रुकनेका वास्तविक है। संवरभावनाके वर्णनको सुनकर इतना तो मान ही लीजिये कि मुझे अपने आपके स्वरूपका निर्णय करना है, जानना है और जानकर उसही के निकट रहना है। वही मेरे लिए शरण है, अन्य कुछ मेरे लिए शरण है, अन्य कुछ मेरे लिए शरण नही हो सकता। ऐसा भाव रखकर इस आत्मदेवकी शरण गहो। प्रभुशरण पाकर इस आत्मदेवकी उपासना करो। देखिये ज्ञान इतना विशिष्ट तो पा ही लिया है कि चाहे इस ज्ञान द्वारा बिभिन्न विशिष्ट विशिष्ट बाह्य अर्थोंको जाननेका उद्यम कर ले और चाहे एकस्वरूप अविशिष्ट निज अन्तस्तत्त्वमें उपयुक्त होनेका पौरुष कर ले। अब विवेक करके सुनिश्चय कर लो कि कैसा ज्ञान बनाये रहनेमे आत्मलाभ है। ध्रुव ज्ञानज्योतिस्वरूप सहज निज अन्तस्तत्त्वमे उपयोग रमाने मे ही श्रेयोलाभ है। अतः एतदर्थ भेदविज्ञानपरक सहजस्वतत्त्वसंस्पर्शी सुतत्त्वचिन्तनका पौरुष करना चाहिये।

निर्जरानुप्रेक्षा—

बारस-विहेण तवसा णियाण रहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्ग-भावणादो णिरहं कारस्स णाणिस्स॥१०२॥

ज्ञानी आत्मामे मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत निर्जराकी पात्रता—बारह प्रकारके तपोके द्वारा निदानरहित ज्ञानी पुरुषके वैराग्यभावके कारण कर्मोंकी निर्जरा होती ही है। इस जीवको दुःखके हेतु कर्मोदय है। दुःख न चाहने वाले पुरुषों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे कि कर्मोंकी निर्जरा हो जाय। प्रथम तो यह प्रयत्न होना ही आवश्यक है कि नये कर्म न आ सकें, इसके लिए सवर भावनामे विशेषरूपसे वर्णन किया गया है। अब सवर भावको प्राप्त ज्ञानी जीव बँधे हुए कर्मोंकी निर्जरा भी करता है, इसका वर्णन इस निर्जरा अनुप्रेक्षामें किया जा रहा है। निर्जरा होती है ज्ञानी पुरुषके। जिसको कर्मरहित अमूर्त केवल सहज चैतन्यस्वरूप अन्तस्तत्त्वका परिचय है ऐसा पुरुष ही कर्मोंकी निर्जरा कर सकता है, क्योंकि निर्जरा के मायने है कर्मोंका आत्मासे अलग हटाना। तो जब तक इस जीवका परिणाम परद्रव्योंके साथ लगाव का है तब तक इसमे न कर्मोंका संवर है और न कर्मोंकी निर्जरा सम्भव है। यद्यपि कर्म उदयमें आयें और झड़ गए, इसका नाम भी निर्जरा है, किन्तु इस निर्जराको भावनाका यह प्रयोजन नहीं है, ऐसी निर्जरा तो सभी ससारी जीवोंकी हो ही रही है। कर्म उदयमें आते हैं और फल देकर झड जाते हैं, लेकिन इस निर्जरासे तो इस जीवका पूरा क्या पड़ा? यह हानिमे ही रहा। उससे और कर्मोका इसने बधकर लिया। तो जो मोक्षमार्गमे प्रयोजनभूत है उस निर्जरासे यहा सम्बन्ध है और उस ही निर्जराकी यह भावना चल रही है। ज्ञानी पुरुष जिसने कर्मरहित, कर्मोंके विपाकसे रहित शुद्ध चैतन्यमात्र अपने आपके स्वरूपका निर्णय किया है—मै तो यह हूं, इस तरह निर्णय करने वाले ज्ञानी पुरुषके कर्मोंकी निर्जरा होती है। तो इस गाथामें 'णाणिस्स' यह शब्द कहकर निर्जराका पात्र अथवा अधिकारी बताया है।

निरहंकार ज्ञानी जीवमे मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत निर्जराकी पात्रता—वह ज्ञानी पुरुष कैसा होना चाहिए जिसके कर्मोंकी निर्जरा विशेषरूपसे हो सके? उसके लिए कह रहे है कि वह निरहंकार होना चाहिये। अहकाररहित। निरहंकार शब्दसे दो स्थितियोंपर दृष्टि पहुचती है, प्रथम तो यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव के निर्जरा नहीं होती मिथ्यादृष्टि जीव अहकारी है, परद्रव्योमे, परभावोमे अहरूपसे जिसकी बुद्धि है

उसे अहंकारी कहते हैं। तो अज्ञानीके तो निर्जरा मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत सम्भव ही नहीं है। तब वह निरहंकार होना चाहिए। निरहंकार शब्दसे दूसरी दृष्टि यह बनती है कि ८ प्रकारके मदोंमें से यदि कोई मद रहता है—किसीको जाति अच्छी मिलनेके कारण वह जातिका अभिमान करता है, कुल अच्छा मिलनेसे कुलका अभिमान करता है, कुछ विद्यायें सीख लीं, ज्ञानार्जन कर लिया तो उस विद्याका ज्ञानका ज्ञानका गर्व करता है, तो कोई बलका गर्व करता है, कोई वैभवका गर्व करता है, किसीने कुछ व्यवहार धर्ममें प्रगतिकी, व्यवहारधर्मका पालन करता है तो वह अपने तपश्चरणका मद करता है, किसीको अपनी सुन्दरता पर अभिमान है, ऐसा अभिमानमें जिसका परिणाम लगा है उस पुरुषके निर्जरा नहीं होती है। अपने आपमें यह अनुभव करना चाहिये कि मैं समस्त पर और परभावोंसे रहित केवल चैतन्यस्वरूप हूं, मुझमें परका प्रवेश ही नहीं है, ऐसा केवल निज अंतरतत्त्वमय, अपने आपकी श्रद्धा इस निर्जराका मूल है तो जो पुरुष ज्ञानी है और अहंकाररहित है उसके निर्जरा होती है।

निदानरहित ज्ञानी आत्मामें मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत निर्जराकी पात्रता—निर्जराके अधिकारी ज्ञानी जीवका एक विशेषण दिया गया है कि जो निदानरहित हो उसके निर्जरा होती है। निदान कहते हैं भविष्यकालमें भोगोंकी प्राप्तिकी इच्छा करनेको। मैं देव बनूँ, इन्द्र बनूँ, राजा बनूँ आदि इस प्रकारके भोगोंकी इच्छा करनेको निदान कहते हैं। जो जीव निदानका परिणाम रखता है उसकी बुद्धि ही स्वच्छ नहीं है। अरे यह जीव जो सहज अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्दका स्वरूप रख रहा है वह बाहरी विषयभोगादिसे अपने आपकी शान्ति माने तो यह उसका अधेरा है। निदान सहित पुरुषमें न तो संवरकी पात्रता है, न निर्जराकी पात्रता है। साथ ही इस विशेषणसे यह भी दूसरी दृष्टि लेना कि सूक्ष्मरूपसे ऐसा निदान भी न हो जिसे प्रशस्त निदान कहते हैं, तो उस श्रमणके विशेषरूप से कर्मोंकी निर्जरा होती है। आजके प्रोग्रामकी ही कुछ बात नहीं, निकटमें भी कुछ चाहकी बात नहीं, समय पर जो हो सो हो, उसके ज्ञाताद्रष्टा रहे, ऐसी ऊँची एक अन्तरतत्त्वके स्पर्शकी वृत्ति जिनकी है उनके विशेषरूपसे कर्मोंकी निर्जरा होती है।

मोक्षमार्गकी प्रयोजनभूत निर्जराका कारण वैराग्यभावका अनुभवन—यह सब निर्जरा वैराग्यभावसे हो रही है। चूँकि ज्ञानी जीवमें रागभाव नहीं रहा तब कर्म कैसे टिक सके? जैसे कोई मेहमान आपके घर आया और आप उसको आदर न दें, उसकी प्रीति न रखें तो वह मेहमान घर कब तक टिका रहेगा? उसे तो जल्दी भागना होगा। वैसे भी भागना और जब रुचि न दीखी मालिककी, उस गृहस्थकी तो मेहमान कब तक टिक सकता है? तो चूँकि वह मेहमान पहिले किए हुए रागके कारण आया था लेकिन वर्तमानमें राग नहीं है तो वह कब तक टिक सकेगा? ऐसे ही ये कर्म पहिले किये हुए रागभावसे आये थे, किन्तु अब रागभाव न रहा तो ये कर्म कैसे टिक सकेंगे? इनकी निर्जरा होगी, इनकी उथल पुथल मचेगी। तो निर्जराका साधन है सही वैराग्य भाव। संसार, शरीर, भोगोंसे वैराग्यकी भावना है। अनुभवन है अथवा वस्तुस्वरूपका, आत्मस्वरूपका यथार्थ श्रद्धान है, तो इस वैराग्य और भावनाके बलसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। यह सब निर्जरा हुई वैराग्यके अनुभवनसे। अब इसका बुद्धिगत उपाय क्या है? इसपर विचार करिये।

निर्जराका उपायभूत प्रायश्चित्त तप—जिसको हम कुछ जान समझकर प्रारम्भ कर सकें, इस प्रकार का कर्मनिर्जरणका उपाय क्या है? उस उपायको बताया है बारह प्रकारका तप। तप उसे कहते हैं जहां इच्छाओं का निरोध किया जाता है। तपश्चरणमें इच्छावोंका निरोध है। इन बारह प्रकारके तपोंमें कुछ तो हैं अन्तरङ्ग तप और कुछ हैं बहिरङ्ग तप। जो अपने आत्मासे विशेष सम्बन्ध रखता है, जिसकी

जानकारीका बाहरमे कोई नियमित चिन्ह नहीं है वह तो अन्तरङ्ग तप है, जैसे प्रायश्चित्त करना। कोई दोप लगने पर उस दोषका पश्चाताप करना और वह दोप जिस प्रकार अब न लग सके उस प्रकारका अपना परिणाम करना यह है प्रायश्चित्त तप, दोषके परिहाररूपमे कोई प्रायश्चित्त स्वीकार करके उसके भावसे पालन करना। यह प्रायश्चित्त वस्तुत किसी दूसरेके द्वारा निरखा नहीं जा सकती। किसी पुरुष को अपने दोप पर वास्तवमे ग्लानि आयी है इसका निरीक्षण दूसरा क्या करेगा ?

निर्जराका उपायभूत विनय तप--दूसरा तप है विनय। भले ही लोग शरीरकी चेष्टा देखकर अनुमान करले कि यह बहुत विनय करने वाला है, लेकिन विनयका सम्बन्ध तो भावोसे है। किसी प्रयोजनसे, सकोचसे कोई किसीका विनय करता भी हो, लेकिन यह नियम नहीं है कि जो ऊपरसे काय से विनय कर रहा है उसके अन्तरङ्गमें विनयका परिणाम अवश्य है। विनय एक अन्तरङ्गके गुण प्रेम, गुण श्रद्धासे सम्बन्ध रखने वाला भाव है। विनयका अर्थ है नम्रता, झुक जाना। कहाँ झुक जाना ? अपने आपके उपयोगका अपने गुणोंमें झुक जाना यह है वास्तविक विनय। जब कभी हम दूसरे गुणी पुरुषोंका विनय करते हैं तो उनके गुणोंपर दृष्टि देकर हम अपने आपमें ही तो अपने गुणकी ओर आकर्षित होते हैं, जो पुरुष दोषग्राही है, दूसरे पुरुषोंके दोप ग्रहण करता है उसमें गुणग्राहिता न होने से अपने आपके गुणोंकी ओर भी नहीं झुक सकता। जो दूसरेके दोपोपर उपयोग लिए हुए है उसके उपयोगमें तो दोष समाये हुए है, वह अपने आपके गुणोंकी क्या निगाह कर सकेगा ? तो विनय तप अन्तरङ्ग तप है।

निर्जराका उपायभूत वैयावृत्य और स्वाध्याय तप—तीसरा अन्तरङ्ग तप है वैयावृत्य। गुणी जनोंका, तपस्वी धर्मीजनोंका वैयावृत्य करना, सेवा करना वैयावृत्य नामका तप है। सो इस तपको भी दूसरे लोग पहिचान नहीं कर सकते कि इसका सचमुच अतरङ्गमें सेवाका भाव है, क्या गुणकी उपासनाका भाव है। तो यह भी अन्तरङ्ग भावसे सबध रखता है इस कारण यह अन्तरङ्ग तप कहलाता है। इसी बातको पुष्ट करने के लिए शब्द रखा गया है वैयावृत्य। अन्यथा सेवा शुश्रूषा आदिक बहुतसे शब्द थे, पर वैयावृत्य शब्दोमें ही क्यो रखा ? सो सुनिये। वैयावृत्य शब्दमे यह भाव भरा है कि जो वास्तवमे निवृत्त है, ससार के कारणोसे व्यावृत्त है, जो विभावोंसे उपेक्षा किए हुए है ऐसे व्यावृत्त पुरुषोकी जो वृत्ति है उसे वैयावृत्य कहते हैं। चौथा अन्तरङ्ग तप है स्वाध्याय। यद्यपि कुछ बाहरी लक्षणोंसे यह पहिचाना जाता है कि इसने स्वाध्याय किया, इसने नहीं किया, लेकिन वास्तविक स्वाध्यायका कौन पता कर सकेगा ? स्वाध्यायमे दो शब्द है— स्व और अध्याय। स्व अर्थात् निज आत्माका अध्ययन करना, आत्मनिरीक्षण आत्मचिन्तन, आत्मशिक्षण जिस प्रक्रियामें होते रहते है उसे स्वाध्याय कहते है। इसी कारण इन वृत्तियों को भी स्वाध्यायमे माना है कि कोई पुरुष किसी समय बडे भावोंसे यह भी कह देता है कि हे अरहत प्रभु ! अथवा प्रभुकी जय, ऐसे थोडे-थोडे शब्द भी कोई कहता है और भावपूर्वक कह रहा है, जिसका सम्बन्ध अपने भावोंके उत्कर्षसे बना हुआ है तो वह भी स्वाध्याय है। न भी कोई हाथमें पुस्तक लिए है लेकिन जब जब जिन अन्य बाह्य वचनों द्वारा अपने आपके स्वरूपका स्वाध्याय हो रहा, अध्ययन हो रहा उसे भी स्वाध्याय गिना। तो स्वाध्यायका भी कोई दूसरा क्या पता कर सकेगा कि इसने स्वाध्याय किया अथवा नहीं। स्वाध्याय भी अन्तरङ्ग तप है।

निर्जराका उपायभूत व्युत्सर्ग तप--५ वा अन्तरङ्ग तप है, व्युत्सर्ग। व्युत्सर्गका अर्थ है समस्त बाह्य परपदार्थोंका त्याग हो जाना। इसमे देहोत्सर्गकी प्रधानता है, देहकी ममताका भी त्याग हो जाना सो व्युत्सर्ग तप है। जहां देहमे ममताका भी त्याग है वहा अन्य सब पदार्थोंका त्याग है ही। कभी ऐसा लगेगा कि अनेक पुरुष ऐसे भी देखे जाते है कि जो किसी सग्राम आदिकमे युद्ध करके अपने देहका भी बलिदान कर देते है, अपने प्राण भी खो देते है तो उनको देहमे ममता नहीं है, ऐसा कोई सन्देह कर

सकता है, लेकिन वह भी देहकी ममताके कारण ही अपने प्राण गंवाता है। जैसे कुछ दिन पहिले एक एक रिवाजसा बन गया था कि परस्परमें ही लड़ भिड़कर कई लोग कुवेंमे गिरकर अपने प्राण त्याग देते थे तो क्या उनके सम्बन्धमें आप यह कह सकेंगे कि वे निर्मोह थे, उन्हें देहमे ममता न थी। अरे देहकी ममतासे ही तो उन्होने अपने प्राण त्यागे। किस तरह कि वे जो गुस्सा से भरे हुए थे सो देहको आत्मा मानकर ही तो गुस्साकर रहे थे। जैसे इसने मुझे यों कह दिया, ये लोग मुझे यों बोलते हैं, इनमे मेरा अपमान कर दिया आदि। ये सभी बाते देहकी ममताके कारण ही तो उन्होने सोची थी। सो उन्होने अपने आपका अपमान समझा था इस कारण उन्हें क्रोधमे कुछ भी न सूझा और उन्होंने फिर जो उपाय सूझा सो किया। उस उपायके करनेके बाद जब कुवेंमे गिर ही गए तो अब कोई चारा नहीं है। बुरी तरह चोट आये तो तुरन्त भी मर सकते हैं। मरते समय उनकी अक्ल ठिकाने लगती है, ओह मैंने बड़ा गड़बड़ कार्य किया, यों वे बड़ा संक्लेश पाते है, तो उनकी देहकी ममता अब उस रूपमें व्यक्त हुई है। तो जो लोग कभी प्राणोत्सर्ग भी करते है वे देहकी ममतासे करते है। युद्धमे मरने वाले सुभट देहकी ममतासे ही तो नौकरी कर रहे है। युद्धकी नौकरी की, अब वहाँ युद्धका काम करना ही होगा, करते ही हैं। जब ऐसी स्थिति सामने आती है कि दूसरा शत्रु आक्रमण कर रहा है तो इनमे चूंकि वीरता है, कला है, युद्ध करनेका अभ्यास किया है तो ये भी लड़ते हैं और लड़ने मारनेमे बच जाना या मर जाना दोनो ही बातें सम्भव है। तो वे सुभट जो प्राणोत्सर्ग करते हैं वे देहकी ममतासे ही तो करते हैं अथवा कोई पुरुष युद्धमे नौकरी भी नही करते किन्तु देशसेवाके भावसे स्वयं लड़ते है अथवा नौकरी करते हुए भी देशसेवाका भाव रह सकता है। वे देशसेवाके शुद्ध भावसे युद्ध कर रहे हैं तो उस समय भी उनको देहमे ममता है, यह देह मै हूं, यह मेरा देश है, इसकी मुझे रक्षा करनी है, यहा मेरे कुटुम्बीजन हैं, मेरे जातिके देशवासी लोग हैं, वे भली तरह सुरक्षासे रह सके यह बात निभानी है, इस भावसे वे युद्ध करते है। तो मूलमे उन्हें देहमे आत्मत्वकी बुद्धि तो है ही, यह मैं हू और इस मेरेका यह देश उन्नतिशील रहना चाहिए, आजाद रहना चाहिए, इस भावसे भरकर वे प्राणोत्सर्ग करते है। तो देहकी ममताका त्याग होना बड़ा कठिन है। देहममत्व छूटने पर अन्य शेष ममता छूटना आसान है। तभी तो व्युत्सर्ग नामके तपमे देहके ममताके त्यागकी बात प्रधानरूपसे कही है। देहकी ममताका त्याग होना व्युत्सर्ग तप है। यह बात कौन पहिचान सकता है कि इसके देहमे ममता है अथवा नहीं। भीतरके परिणाममें तो यही अनुभव रहा है इसलिए व्युत्सर्ग नामका तप भी अन्तरङ्ग तप है।

निर्जराका उपायभूत ध्यानतप—छठा अन्तरङ्ग तप है ध्यान। ध्यान कहते है चित्तके एक ओर रोक लेनेको। इस लक्षणके हिसाबसे आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान-ये चारों ही ध्यान हैं। चित्तको एक विषयमे रोक लिया। केवल शुक्लध्यानमे जो अन्तिम दो ध्यान हैं—सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती, व्युपरितक्रियानिवृत्ति, इन दो ध्यानोंमे चित्तके निरोधका लक्षण नहीं जाना, लेकिन ध्यानका फल है कर्म-निर्जरा होना, सो कर्मनिर्जराके फलको निहारकर इस तृतीय शुक्लध्यानवर्ती पावन आत्माकी जो वृत्ति है उसको भी ध्यान कहा है और अयोगकेवली की जो स्थिति है उसको भी ध्यान कहा है। तो ध्यानका मुख्य लक्षण है चित्तको एक ओर रोक देना। अब चित्त यदि खोटे विषयमे रुका है तो वह खोटा ध्यान कहलायेगा। चित्त यदि किसी शुद्धभावमें रुका है तो वह उत्तमध्यान कहलायेगा। तो मोक्षमार्गके प्रकरण मे शुद्धतत्त्वकी ओर चित्तके रुकनेका नाम ध्यान है। कोई पुरुष ध्यान कर रहा है अर्थात् ध्यानके जो आसन हैं, ध्यानकी जो स्थिति है उस स्थितिसे ध्यान कर रहा है लेकिन दूसरे को क्या पता कि वह वास्तवमे स्वतत्त्वकी ओर अपने चित्तको रुकाये हुए है। इसी कारण यह ध्यान भी अन्तरङ्ग तप कहलाता है।

कर्मनिर्जरानिमित्त अनशनतप—कर्मोंकी निर्जरा होने में ६ प्रकारके अन्तरङ्ग तप विशेषरूपसे कारण होते हैं और ऐसे ही परिणामोंकी विशुद्धिमें सहकारी हैं ६ बहिरङ्ग तप। अनशन—भोजनका त्याग करना सो अनशन है, इसका दूसरा नाम उपवास भी है। अनशनका अर्थ है भोजनके विकल्पका भी त्याग कर देना और उपवासका अर्थ है अपने आत्माके समीपमें ही बसे रहना तो इन दोनों नामोंसे यह स्पष्ट होता है कि उपवास तप तभी कहलाता है जब खानेका विकल्प भी न बने और आत्माकी ओर उपयोग बसा करे। जैसे किसीने उपवास तो ठाना किन्तु कुछ कल्पनायें बना रहा अथवा ऐसी भी कल्पनायें बना रहा कि आज तो अनन्त चौदश है, आज उपवास है, होने तो दो पूनेका और फिर तो हमारा भोजनका ही सब काम है, ऐसे विकल्प चौदशके दिन कोई करे तो उसके उपवासमें दोष आ गया। तो भोजनके विकल्पका भी न होना जरूरी है, और कोई पुरुष भोजनके विकल्पको तो न करे, मगर समय गुजारनेके लिए कुछ मन बहलावाके काम करे, कोई खेल खेलने ही बैठ जाय अथवा कुछ यहा वहा तफरी करने चला जाय तो वह भी दोष है। उपवास तब ही बनेगा जब खान पान, भोग उपभोग आदि सभी के विकल्पोंका परिहार हो और अपने आत्माके शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें निवास भी बने अथवा निवास करनेका संकल्प रहे तब उपवास है। अनेक साधुजन महीनोंके उपवास करते हैं और महीनों तक भी भोजनके विकल्पसे परे रहते हैं और काम फिर उनका क्या है? किस बल पर वे महीनों निकाल देते हैं? वह बल है अपने आत्मस्वरूपके दर्शन श्रद्धानका। जिसका एक मार्ग निश्चित हो चुका कि मुझे तो इस पद्धतिसे चलना है और इसही में मेरा हित है तो उस पुरुषकी धुन लगन उस ओर ही रह जाती है। तो यही बात उन साधु परमेष्ठीमें है।

अवमौदर्य तप—दूसरा बहिरङ्ग तप है, अवमौदर्य, जिसका दूसरा नाम है ऊनोदर। भूखसे कम खाना, जितनी भूख हो, जितनेसे पेट भरता हो उससे कम भोजन करना यह है अवमौदर्य तप। इस अवमौदर्य तपकी कठिनाई कोई अपने अनुभवसे परख सकता कि जब सामने सब प्रकारका भोजन हाजिर है और भूख भी खूब अच्छी लगी हुई है वहाँ भूखसे कम अथवा आधा भोजन आप करें तो कितना कठिन मालूम होता है? अनशनसे ऊनोदर तप कम नहीं है कि सामने आयी हो चीज और फिर भोगते हुएकी स्थितिमें कुछ ही भोगना और बाकी छोड़ देना ऐसा विचार और पुरुषार्थ भी एक विशुद्धिके बलसे बनता है। अवमौदर्यका अर्थ है अवम औदर्य अर्थात् पूर्ण नहीं, भूखसे कुछ कम भोजन करना, इसका नाम है अवमौदर्य। ऊनोदरका भी अर्थ है ऊन उदर। पेटसे कम खाना अर्थात् जितनी भूख है उससे कम खाना सो ऊनोदर तप है। इस तपश्चरणमें इच्छाका निरोध किया गया, अतएव यहा निर्जरा होती है। यह बहिरङ्ग तप इसलिए कहलाता है कि ऐसा काम तो अज्ञानी भी कर सकता है, अर्थात भूख से कम खाये, अनशन करें यह अन्य जन भी कर सकते हैं और करते हुएमें कोई यह पता नहीं पाड सकता है कि इसका भाव कैसा है? कोई किसी उद्देश्यसे अनशन करे तो इसका कौन पता पाड़ सकता है? जैसे कि जब कभी कोई पुरुष मानो ससुरालमें ही गया तो सास पहिले से ही प्रशसा करने लगे कि ये तो कुछ नही खाते, फूलसा सूँघकर रह जाते। सासकी ऐसी प्रशंसात्मक बातें सुनकर यदि वह बहुत कम खाता है तो क्या यह उसका तप हो गया? लोकमें हमारा धर्मात्मापन प्रकट हो, इस भावसे या किसी भी भाव से कोई अनशन करले तो वह तप तो न हो जायेगा। तो अन व ऊनोदर तप करते हुएमें कोई बाहरसे यह पहिचान नही कर सकता कि इसका परिणाम भी विशुद्ध है अथवा नहीं? इस कारण यह बहिरङ्ग तप कहलाता है।

वृत्तिपरिसख्यान तप—तीसरा बहिरङ्ग तप है वृत्तिपरिसख्यान। भोजनके समयमें कोई अटपट नियम ले लेना और उसकी पूर्ति होनेपर ही आहार करना, अन्यथा नही इस प्रकारका संकल्प और प्रवर्तनवृत्ति-

परिसंख्यान कहलाता है। जैसे मैं इस गलीसे जाऊँगा, और वहाँ कोई विधि मिलेगी तो आहार करूँगा अथवा इस तरह भ्रमण करते हुएमे इतने गृहोको छोड़कर आहार मिलेगा तो आहार करूँगा, या जैसे कथानक प्रसिद्ध है कि एक मुनिने यह नियम किया कि हमको सामनेसे ऐसा बैल नजर आये कि जिसकी सींगमे गुड़की भेली छिदी हो तब हम आहार लेगे। कुछ दिन बीत गए ऐसे, अचानक एक दिन क्या हुआ कि एक बैल किसी बनिये की दुकानमे अनाज खाने लगा, मालिकने उसे भगाया सो जल्दी जल्दीमे उस बैलकी सीगमें कोई गुडकी भेली छिद गई, तथा वह भाग गया। वह बैल आता हुआ दिख गया मुनिराजको, मुनिराजकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई तब आहार लिया। तो ऐसी अटपट आखिड़ी क्यो ली जाती है और कौन लेता है, इन दोनो बातोपर विचार करो। ये अटपट आखिड़ी इस कारण ली जाती है कि वे मुनिजन अपने अन्तराय कर्मका परीक्षण करते हैं। किस ढगके कर्म अब है इस तरहका परीक्षण करते है। और इस वृत्तिपरिसख्यानमे लीन कौन है? जो पुरुष अपने आत्माका ध्यान करने मे संतुष्ट रहते हैं, जिन्हें और कुछ बातकी वाञ्छा ही नही है, जिनमे इतना बल है कि बिना आहार लिए ही अपने आत्माको निरख-निरखकर सतुष्ट रह सकते हैं ऐसे पुरुष वृत्तिपरिसंख्यानके पात्र है अन्यथा एक किसी तरह नियम तो ले लिया कठिन और आहार न मिलने पर संक्लेश हो जाय तो या तो वह छल कपट करेगा या नियमकी परवाह न करके भोजन करेगा या सक्लेश यो करता ही रहेगा। तो इसका अधिकारी कोई प्रबल ज्ञानी पुरुष ही हो सकता है।

रसपरित्याग तप—चौथा बहिरङ्ग तप है रसपरित्याग। एक रस, दो रस, कुछ रसोंका या सब रसों का परित्याग करना, सो रसपरित्याग है। रस मायने क्या है? जैसे नमक, मीठा, घी, दूध, दही, तेल इन ६ रसोमेसे एकका या सबका परित्याग करना, सो रसपरित्याग है। रसपरित्याग तप भी बहिरङ्ग तप है। इसका कारण यह है कि रसपरित्याग कोई भी कर सकता है चाहे ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी हो, पाखण्डी हो अथवा समीचीन भावका हो। दूसरा पुरुष इस तपश्चरणको समझ सकता है अथवा ज्ञानी अज्ञानी सभी कर सकते है इस कारण यह बहिरङ्ग तप है। रसपरित्याग करते हुए भी यह निर्णय नही हो पाता कि विशुद्धभावसे यह त्याग कर रहा है या क्रोधभावसे। कभी क्रोध भी इस प्रकारका आ जावे कि बहुतसी चीजोंको छोड़ देते हैं तो यह कोई नियमित चिन्ह न रहा भीतरके विशुद्ध भावका इस कारण बहिरङ्ग तप है और तप इसलिए कहलाता है कि इस त्यागमे कुछ अन्तरङ्गमे उत्कर्ष बढनेकी सम्भावना है।

विविक्तशय्यासन तप—५ वा बहिरङ्ग तप है विविक्तशय्यासन। एकान्त स्थानमे उठना बैठना, ध्यान करना, रहना आदिक ये विविक्तशय्यासन तप हैं, जीवमे रागद्वेष न उत्पन्न हों, उनके साधनसे दूर रहे, इस भावसे ज्ञानीने विविक्त शय्यासन तप अंगीकार किया है। ये रागद्वेषके परिणाम किस प्रकारसे आया करते है, उसमे कर्मोंका उदय तो निमित्तकारण है और ये रूपादिमान पुद्गलविषय आश्रयभूत कारण हैं, जैसे किसी पुरुषने मिठाई खानेमे राग किया, मिठाई खाते समय वह मौज मान रहा है तो उस मौजका काम किस तरह बना कि सातावेदनीयका उदय, अन्तरायका क्षयोपशम, तदनुकूल अन्य कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर और उस भोजनका आश्रय पाकर इस जीवने मौज माना और रागभावना कैसे, कि राग प्रकृतिका उदय हुआ और किसी बाह्यपदार्थका उपचार हुआ या साक्षात्कार हुआ तो उसका आश्रय करके राग बनता है। तो ये रागद्वेषादिक विकार न बने, इसके लिए इस ज्ञानी पुरुषने बाह्य साधनोका परिहार किया है। तो यह विविक्त शय्यासन भी एक बहिरङ्ग तप है। बहिरङ्ग तप इसलिए कहलाता है कि ऐसा विविक्त शय्यासन अज्ञानी भी कर सकता है अथवा कभी कोई कषायवश घरसे भाग जाय और कहीं अकेला बर्तने लगे तो ये अनेक प्रकारके लोग इस प्रकार कर सकते हैं—इस कारण

इसे वहिरङ्ग तप कहा है, लेकिन तप यो है कि कोई विशुद्ध उद्देश्यको लेकर विविक्तशय्यासन तप अगीकार करे तो वह अपनी आत्मसाधनामे बहुत ही सुगमतया सफल हो सकता है।

कायक्लेश तप—छठा वहिरङ्ग तप है कायक्लेश। कायक्लेशका अर्थ है कायको क्लिश करना। काय को क्लिश करनेका अर्थ कष्ट देना नही किन्तु कायको क्लिश करनेका अर्थ है। अपने निर्मल परिणाम रखनेसे काय यदि क्षीण (क्लिश) होती है तो होने दो, उसकी कोई परवाह न करके यह पुरुष अपनी आत्मसाधनामें लगता है। वहाँ जो कायकी क्षीणता होती है वह कायक्लेशतप है। अब कायक्लिश होनेके और कारण क्या है सो सोचिये? अनशन, अवमौदर्य आदिकको तो अलगसे तप बताया है। इसके अतिरिक्त और कौनसे उपाय है जिनसे कायक्लिश होता है? गर्मीमें, सर्दीमें, धूप आदिमें तप करना आदि अनेक प्रकारके वाहरी तप है, इनको लोग कष्ट कहा करते हैं, ऐसे कायक्लेश नामके तप भी बहिरङ्ग तप कहलाते हैं। कारण यह है कि ये कायक्लेश तो जैसे ज्ञानी करता है वैसे ही अज्ञानी भी कर सकता है और कायक्लेश करके भीतरमें यह परख नही वनायी जा सकती है कि यह ज्ञानी पुरुष है। भले ही उद्देश्यसे गिर रहा है तभी तो अनेक कुतप है ऐसे पचाग्नितप अथवा खडे ही खडे किसी भींत या पेड़ वगैरहकी टेक लेकरके सोना आदिक अनेक प्रकारके कायक्लेश है, लेकिन उन सब क्लेशोंमें विशुद्ध भावका नियम तो नही है इस कारण यह कायक्लेश तप वहिरङ्ग तप कहलाता है। कमठके जीवने यह कायक्लेश तप अगीकार ही तो किया था। संन्यासी बनकर अपने हाथोंपर एक वहुत वडी शिला उठा कर तप करने लगा। वह तप क्रोधवश ही तो कर रहा था। क्योंकि राजाके द्वारा अपमान हुआ और उस अपमानका कारण मरुभूतिको वह उसकी पत्निको ही समझा। मरुभूति सज्जन पुरुष था और वह आया था कमठको समझाने के लिए ही, अन्याय किया कमठने मरुभूति पर और मरुभूतिकी स्त्रीपर, तिसपर भी बडा भाई जानकर मरुभूति समझाने आया लेकिन उसका वह तप तो क्रोधवश था। मरुभूति को यह विश्वास बना कि जब यह हमारा बड़ा भाई इतना कठिन तप कर रहा है तो अब तो यह महात्मा ही हो गया। वडे विनय भावसे मरुभूति कमठके पास गया, लेकिन कमठने मरुभूतिपर वह शिला पटक दी। तो कायक्लेश अनेक प्रकारके अनेक लोग कर सकते है किन्तु काय क्लेश तप उनका ही वास्तवमे तप कहलायेगा जिनमें शरीररहित ज्ञानमात्र अपने आत्मस्वरूपकी प्रतीति जगी है और वहाँ ही जिनका चित्त रमता है, उनका अगर काय क्लिश होता है तो वह कायक्लेश तप वास्तविक है। यो १२ प्रकारके तपोके द्वारा इस निदानरहित निरहकार ज्ञानी जीवके वैराग्य भावनासे कर्मोंकी निर्जरा होती है।

सव्वेसि कम्माणं सत्ति-विवाओ हवेइ अणुभाओ।
तदणंतर तु सडण कम्माडं णिज्जरा जाण ॥१०३॥

कर्मनिर्जरणका दिग्दर्शन—इसमे निर्जराका लक्षण कहा गया है। सभी कर्मोमे विपाकशक्ति है, नाम है अनुभाग। जो कर्म इस जीवने बांधे है तो जिस कालमे बाँधे है उस ही कालमे कर्मोमे स्थिति पड़ जाती है और अनुभाग भी वध जाता है। स्थिति पड़नेके मायने यह है कि यह कर्म कितने दिनो तक उस आत्मामे वद्ध रहेगा, यह भी नियत हो जाता है और इस कर्ममे कितनी डिग्रीका फल देनेकी शक्ति है, यह भी नियत हो जाता है। तो उन कर्मोके उदयकालमे उनकी शक्तिका उदय होता है। वही है अनुभाग। तो उस अनुभागका खिर जाना, कर्मोका खिर जाना इसका नाम है कर्मोकी निर्जरा। इसका सामान्य लक्षण बताया गया है यह कि सडनपूर्वक कर्मोंकी निर्जरा होती है। सो पहिले जो सत्ता मे कर्म पडे हुए थे वे उदयमें आते है और उदयमे आकर वे अपना फल देकर झड़ जाते है सो यो झड़ना तथा किसी परिणामके निमित्तसे पहिले या परिवर्तित होकर झड़ना सब निर्जरा है। यह एक निर्जराका

सामान्य लक्षण कहा गया है। अब यहां इतना ही भाव लेना है कि चाहे कोई ज्ञानी निर्जरा कर रहा हो अथवा अज्ञानी, कर्म सामने आकर खिरते ही है। देखिये चाहे वे कर्म दूसरी प्रकृति रूप बनकर खिरे, तो जब खिरे तब उदय ही तो कहलाया, उदीरणा कहलायी। खिरना तो है ही, बस उस खिरने का नाम निर्जरा है। यह सामान्यलक्षण होनेसे यह ज्ञानीकी निर्जरामे भी घटित होगा और अज्ञानीकी निर्जरामे भी घटित होगा।

निर्जरणकी पद्धतिया—निर्जरा तत्त्व दो प्रकारसे निरखा जायगा—एक तो मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत् निर्जरा, दूसरे सब जीवोके होने वाली साधारणनिर्जरा। कर्म बँधे है उदयमे आयेगे, उदयमे आकर खिरेंगे, यह तो है कर्मकी निर्जरा, यह कर्मनिर्जरा सब संसारी जीवोंके हो ही रही है। यदि ऐसी निर्जरा न हो तो जीवको दुःख न आ सकेंगे। क्योंकि जीवको दुःख आते कब है? जो कर्म बँधे हुए हैं। वे उदय मे आये, वे निकलनेका समय पाये तब दुःख हुआ करते हैं। कर्म भरे है जीवमे, भरे रहें, उससे जीव को दुःख नहीं होता। लेकिन जब वे कर्म उदयमे आते है तब दुःख होता है। तो उदयमें आनेका भी नाम निर्जरा है और उन कर्मोंकी शक्ति घटा कर उदयमें लाना, उन कर्मोंकी प्रकृति बदलकर उदयमें लाना, समय से पहिले उदयमे लाना, यह भी सब निर्जरा कहलाती है। ऐसी निर्जरा ज्ञानी पुरुषके होती है। तो निर्जरा का सामान्य स्वरूप है यह कि कर्मोंकी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग सब नष्ट होना, एक देश खिरना, सो निर्जरा कहलाती है। निर्जरामे एक देश खिरनेकी बात है। जब सभी कर्म खिर जाते हैं। कोई कर्म नहीं रहते है तब उसे मोक्ष कहते है अथवा इन कर्मप्रकृतियोंमे भी जिन कर्म प्रकृतियोंकी सत्ताका अभाव हो जाता है उतनी प्रकृतियोका मोक्ष हो गया, किन्तु वह भी सर्वके समक्ष एकदेश निर्जरा है। निर्जरामें बात प्रायः क्या होती है कि कोई एक प्रकृति पूरे रूपसे खिरे नहीं, उसका पूर्ण अभाव हो नही, उसके कुछ निषेक अन्य प्रकृतिरूप बनकर अथवा अन्य स्थितिमे शामिल होकर उसकी फलदान शक्ति क्षीण होकर जो उदयमे आकर खिरते है उसका नाम है निर्जरा। तो कर्मोंके एक देश क्षीण होनेका नाम निर्जरा है। यह निर्जरा भावमे भी घटाइये और द्रव्यकर्ममे भी घटाइये। आत्मामे जो रागद्वेष दोष है वे खिर जाये ऐसी योग्यता वाले कि रागादिक विकार अब उस ढंगसे हो न सके, लो यह है रागकी निर्जरा और कर्ममे जो निषेक है उनका बदला देना, कुछ क्षरा देना यह इन कर्मोंकी निर्जरा है। तो यह सब निर्जरा बने इसका उपाय संक्षेपमें यह है कि हम अपने आत्माको यो निरखें कि यह मैं देहसे न्यारा अमूर्त केवल चैतन्यमात्र हू, मै चैतन्य भावोको ही करता हू और इनको ही भोगता हू। मैं अपने स्वरूपसे अतिरिक्त अन्य किसी बातको भावको न करता हू और न भोगता हू। ऐसा अध्यात्म निर्णय करके परसे उपेक्षा करना और अपने ज्ञानस्वरूपमें रमना, यह उपाय है कर्मोंकी निर्जरा करने का।

सा पुण दुविहा णेया सकाल-पत्ता तवेण कयमाणा।
चादुगदीण पढमा वय-जुत्ताणं हवे विदिया ॥१०४॥

निर्जराका द्वैविध्य—वह निर्जरा दो प्रकारकी होती है—एक स्वकाल प्राप्त और दूसरी तपके द्वारा की जाने वाली। स्वकाल प्राप्त निर्जराका भाव है कि जो कर्म पहिले बाध लिए थे उन कर्मोंमें चारो ही बध पडे थे। प्रकृतिबध अर्थात यह कर्म इस प्रकारका फल देगा।। ज्ञानको ढाके, चारित्र न होने दे, सम्यक्त्व न होने दे, सुखका कारण हो, दुःखका कारण हो, ऐसी भिन्न भिन्न प्रकृतियोंका बध हुआ था और उनमें परमाणु भी बँध गए थे। किसी भी कर्ममे परमाणु तो अनन्त ही बंधते हैं लेकिन उनमें हीनाधिकता होती है और उनमें स्थिति बध भी पड गया था कि ये कर्म इतने समय तक इस जीवके साथ बधे रहेंगे। साथ ही उनमें अनुभाग बध भी हुआ था। यह कर्म इतनी डिग्रीमे फल देगा। तो इस प्रकार चार प्रकार का बन्धन पहिले कर्मबन्धके समय हुआ था। अब जितने समय तकके लिए ये कर्म बधे थे वह काल जब

निदान बांधते रहते हैं, लेकिन ये सब निदान इस जीवको क्लेशके ही कारण है। जरा भी कोई आशा पूरी होती है तो अपने कालमें वे कर्म खिरने लगते है। खिरते समय ही उनका विपाक इस जीवको भोगना पड़ता है अर्थात् अपने समयपर कर्म उदयमे आयें और उससे जीव फल प्राप्त करे उसे स्वकाल प्राप्त निर्जरा कहते हैं इसका दूसरा नाम सविपाक निर्जरा भी है। अपने समयपर अपना फल देकर झड जाने का नाम है सविपाक निर्जरा। कुछ उदीरणा होकर फल भी देकर झड़ते है वह भी सविपाक निर्जरामे शामिल है। और, दूसरी निर्जरा होती है तपश्चरण आदिकके द्वारा की जाने वाली। तत्त्वज्ञान, मद कषाय, अपने आपकी ओरका झुकाव ऐसे विशुद्ध परिणामोंके होनेसे जो निर्जरा की जाती है वह अविपाक निर्जरा है। अपने उस प्रकारके फलको न दे सके। कर्मफलमें या परिवर्तित फलमें या विना ही फल दिए उस कर्मकी निर्जरा हो जाती है।

दोनों निर्जरणोंके अधिकारी--पहिली सविपाक निर्जरा तो चारों गतियोंके जीवोंके होती है जैसे कि पहिले कहा था कि कर्म बँध गए, अब वे बँधे ही रहे, जब तक उनके निकलनेका समय न आये तब तक उन कर्मोंसे कोई विपदा नही आती, समयपर विपदा आती है। तो ऐसी निर्जरा तो सभी जीवोंमे हो रही हैं। उससे मुक्तिका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। पर दूसरी प्रकारकी निर्जरा कि तपश्चरण आदिकसे समय से पहिले खिरा देना यह अविपाक निर्जरा व्रती जीवोंके होती है। सम्यग्दृष्टिके भी निर्जरा है, पर कुछ और विशेषताके साथ कहा जाय तो व्रती अतिविरक्त विशिष्ट शुद्ध परिणामकी ओर झुकने वाले जीवोंके अविपाक निर्जरा विशेषतया होती है। इसका दृष्टान्त यों समझिये कि जैसे कोई केला डालमें ही पक जाता है, तो वह अपने समयपर पका और कच्चे केलेको तोड़कर जैसे कि प्राय लोग करते ही हैं पालमे देकर या कुछ हलके भाड़में रखकर उसे पका देते है तो यह समयसे पहिले पकाने जैसी बात है। तो ऐसे ही जो कर्म जितनी स्थितिको लिए हुए है उस स्थितिके पूर्ण होनेपर झडे वह तो स्वकाल प्राप्त है और तपश्चरणके वलसे उन कर्मोंको पहिले ही झड़ा दे तो वह आत्मपौरुषकृत अविपाक निर्जरा है।

उवसम-भाव-तवाणं जह जह वड्ढी हवेइ साहूण।
तह तह णिज्जर-वड्ढी विसेस-ो धम्म-सुक्कादो ॥१०५॥

कर्मनिर्जरक ध्यानके प्रसगमे, आर्तध्यानमे निर्जरणहेतुताके असभवपनेका कथन— अब यह बतला रहे हैं कि साधुवोंके किस प्रकारसे निर्जरा वढती रहती है? जैसे-जैसे समतापरिणाम मद कषाय, उपशम भाव शुद्ध परिणामका परिणमन, शुद्ध तत्त्वका आलम्बन वढते है तैसे तैसे उन साधुवोंके निर्जराकी वृद्धि होती है और वहाँ धर्म ध्यान व शुक्लध्यानकी विशेषतासे विशेष कर्म निर्जरा होती है। ध्यान १६ प्रकारके कहे गए है- ४ आर्तध्यान, ४ रौद्रध्यान, ४ धर्मध्यान और ४ शुक्लध्यान। आर्तध्यान उसे कहते है जिस ध्यान मे पीडा, वेदना, सक्लेश क्लेशका ही अनुभव हो। जैसे इष्ट वियोगज आर्तध्यान। किसी इष्ट पुरुषका वियोग हो जानेसे जो उसके विषयमें चिन्तन चलता है। कभी मिलेगा ना, कब मिलेगा, कैसे मिलेगा, मर भी जाय कोई इष्ट पुरुष तो भी उसके सम्बधमें ऐसी कल्पनाये बनाता है कि किसी तरह मिल जाय, स्वप्न मे ही दिख जाय अथवा कुछ ऐसा अपना भाव बनाता है कि लो इस गलीसे यह रोज आता था, अब आने वाला होगा, कैसी ही कल्पनाये वनाता और दुखी होता है। अनिष्ट सयोगमे भी वडा क्लेश मानता है यह जीव। जो बात दूसरेको अनिष्ट है उसके सयोग होने पर क्लेश मानता है। उसके बारेमे सोचता हैं कि इसका कब वियोग हो। वेदना प्रभवमे शारीरिक अनेक वेदनाये होनेपर यह बडा क्लेश मानता है। हाय! मेरा, अब क्या होगा, उसे कुछ सूझता नही है। और निदान नामक आर्तध्यानमे तो ये सब चिन्तायें रहती है। भावी फलका निदान बने- यह कैसे प्राप्त हो। व्यवहारधर्मकार्य भी करे अनेक पुरुष तो भाव यह बनाये रहते है कि मुझे स्वर्ग मिले, मै आगे अच्छा राजा बनूँ, सुखी होऊँ, इस प्रकारका

रखे, कुछ भी भोगोकी इच्छा बनाये तो उसीमे कष्ट होता है। तो ये चारो ध्यान दुःखके हेतु हैं, पापबध के कारण हैं, इससे मोक्षमार्गकी निर्जराका तो काम ही नही है।

आर्तध्यानोमे निर्जरणहेतुताका अभाव—चार रौद्रध्यान होते है—हिसानन्द मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द। हिसा करते हुएमे आनन्द मानना, हिंसा करानेमे आनन्द मानना, किसीने हिसा की हो तो उसकी घटना देखकर, बात सुनकर हर्ष मानना ये सब हिंसानन्द रौद्रध्यान हैं। तितलियां उड़ती है, लोग उन्हें पकड़ लेते हैं, वे तड़फती रहती है और उन्हें तड़फता हुआ देखकर लोग हर्ष मानते हैं। अथवा पिजडेमे चूहे जब आ जाते हैं तो उन्हें लोग सीक डाल डालकर सताते है, वे बेचारे चूहे छटपटाते रहते हैं और उन्हें छटपटाता हुआ देखकर लोग खुश होते है। अनेक निर्दयी पुरुष तो उन चूहोंको कुत्तोंके सामने डालकर उन्हें कुत्तोंसे पकड़वाते हैं। कुत्ते उन्हें मार डालते है और वे निर्दयी पुरुप उन्हें देखकर मौज मानते है। ये सब यद्यपि उस समय है मौजरूप लेकिन ये बड़े दुर्ध्यान हैं। इनमें बहुत कठिन गतिका बध होता है। रौद्रध्यान उसे कहते है जहां बड़ा रुद्र, क्रूर, भयानक परिणाम हो। कभी कोई मनुष्य किसीका मजाक करता है और वह कुछ जरा भला सा है, जब सही उत्तर दे नही सकता तो वह दुःखी होता है और यह उसमें मौज मानता है। कोई किसीकी चुगली करने में, किसीको सताने मे दिल दुःखी होता जानकर बड़ा मौज मानता है। अनेक लोग कुतियाके छोटे बच्चों को बड़े कुत्तोंको अथवा मुर्गा, तीतर आदिको परस्परमे लड़ाते है, वे बेचारे एक दूसरेको घायल कर देते हैं और वे क्रूर प्रकृतिके लोग उन्हें देखकर हर्ष मानते हैं। यही है रौद्र ध्यान। तो आप सोचिये कि इस रौद्रध्यानके परिणाममें रहने वाले लोगोंका क्या हाल होगा? एक बार किसी ने प्रश्न किया कि देखो ये मुर्गा मुर्गी इतना तो मारे जाते है लेकिन उनकी सख्या और भी वेसी बढ़ती जा रही है, तो इनके मारनेसे नुक्सान क्या हुआ अथवा इसमे पापकी क्या बात हुई? प्रश्न तो अटपट है। अब उसका समाधान यों दिया उसकी बुद्धिमें उस समय कुछ लगे यह दृष्टि रखकर कि देखो भाई जगत्मे जितने पापी जीव है वे पापके उदयमे ऐसे ही देह धारण करते हैं जहां बड़ा कष्ट मिले, सो यों मुर्गा मुर्गी बनते हैं, पर इनके मारने वाले लोग तो झट मरनेपर मुर्गा मुर्गी बन जाते हैं। इससे इन मुर्गा मुर्गियोकी संख्या और भी वेसी बढ़ती जा रही है और तुरन्त तो यह समझ लीजिये कि ऐसे परिणामोंमे उसको स्वय चैन नही है, स्वयं एक अंधेरेमे है। केवल एक मार्ग प्रकाश मिलता है तो उस जीवको जिसने अपने आत्माके स्वरूपको सही तरहसे पहिचाना। क्या क्लेश है? कुछ भी हो दुनियामे। मै तो सबसे निराला ज्ञानमात्र परिपूर्ण हू, इसमे कोई बिगाड़ ही सम्भव नही है। जिसने आत्मस्वरूपका परिचय पाया है वह तो धीर रहता है बाकी ये सब अधेरेमे है और अधीर रहते हैं।

मृषानन्द व चौर्यानन्द नामके रौद्रध्यानसे निजरणहेतुताका अभाव—मृषानन्दरौद्रध्यान कहते है झूठ बोलनेमे आनन्द माननेको। कोई झूठ बोलकर किसीको कष्ट पहुचा रहा तो उसे देखकर यह आनन्द मानता है। झूठ बोलनेकी बातमे वह चतुराई समझता है, झूठ बोलने वालेको शाबासी देता है, यह सब मृषानन्द रौद्रध्यान है। आजकल इन रौद्रध्यानोंकी बड़ी अधिकता चल रही है। झूठ, छल, कपट आदिकमे तो ये अज्ञानी पुरुप अधिकाधिक लग रहे हैं। और की तो बात क्या, ये अज्ञानी पुरुष इस मृषानन्द रौद्रध्यानमे इतने कुशल हो रहे हैं कि कदाचित् अदालतमे पेशी हो रही हो, उस समय जज पूछता है कि इस विषयमें तुम्हारा कोई गवाह है क्या तो वह कहता है—हाँ गवाह है। हमे दो मिनटका अवसर दीजिए अभी हम गवाह बुलाकर लाते है। वह बाहर जाकर किसी पुरुषसे कह देता है कि देखो हम तुम्हें इतने रुपये देंगे, तुम इस बातको यों बोल देना। वह गवाह बन जाता है। तो यह मृषानन्द रौद्रध्यान बड़ा सुगम बन रहा है। लेकिन इन विकल्पो वाले ध्यानमे आत्मा कितना उलझनमे पड़ा रहता

है ? एक झूठ बातको सही सिद्ध करनेके लिए कितनी ही झूठ बातें बोलनी पड़ती हैं। तो इससे आत्मतत्त्वका हनन ही तो होता है। चौर्यानन्द रौद्रध्यान— चोरी करते हुएमें आनन्द मानना सो चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। चोरी करनेका परिणाम बनानेपर निरन्तर संक्लेश बना रहता है। तो यह भी बड़ा भयानक रौद्रध्यान है। चोरी केवल दूसरेकी वस्तु चुरा लेनेको नहीं कहते, वह तो प्रकट चोरी है, पर अपने घरमें जो किसीसे मुँह मोड़कर चुराकर अपने हिस्से से अधिक चीज चुरा ली जाती है वह भी चोरी है। उस चोरीके परिणाममें जीवको निरन्तर संक्लेश रहता है, धर्म उसके अन्दर आ नहीं पाता। तो यह चौर्यानन्द रौद्रध्यान भी इस जीवका भयंकर दुःखका कारण है।

परिग्रहानन्द रौद्रध्यानमें कर्मनिर्जरणहेतुताका अभाव— परिग्रहानन्दरौद्रध्यान। पञ्चेन्द्रियके विषयके जो साधन हैं उन साधनोंकी रक्षा करने आनन्द मानना, परिग्रह जोड़नेमें, परिग्रहका सचय देख देखकर खुश होना, यह परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है। एक चूहेने अपने बिलमें २०) जोड़ रखे थे। वह उन रुपयोंकी एक गिड्डीसी बनाकर उसके चारों तरफ उचक-उचककर खेलता रहता था और उससे वह बड़ा आनन्द मानता था। एक दिन एक किसानने वह दृश्य देख लिया। उसके मनमें उन रुपयोंके किसी तरह पानेकी बात आयी। सो एक दिन वह छुपकर बैठ गया। चूहा एक एक रुपया एक के ऊपर एक रखकर गिड्डी बना रहा था, जब १९ रु० की गिड्डी बन गई, केवल एक रुपया लाना शेष रहा। वह रुपया भी वह चूहा लेने बिलमें चला गया, इतनेमें मौका पाकर किसानने उस १९ रु० की गिड्डीको उठा लिया। जब वह चूहा उस १) को लेकर आया और उस गिड्डीको उस जगह न पाया तो उसे इतना सक्लेश हुआ कि उसी जगह उसने छटपटाकर अपने प्राण त्याग दिये। तो परिग्रहानन्दमें जीवकी ऐसी हालत होती है। इस परिग्रह के पीछे कितने ही जीवोंके प्राण व्यर्थ ही चले जाते हैं। पंजाबका कोई एक किस्सा है कि किसी किसान ने १०००) का गन्ना बेचा। उन रुपयोंकी गिड्डी अपने पास रखे हुए अग्नि ताप रहा था। उन रुपयोंकी गिड्डीसे उसका कोई छोटा बच्चा खेलने लगा, और अग्निमें डाल दिया। वे रुपये अग्निमें जलकर खाक हो गए। (बेचारे बच्चेको उसका ज्ञान ही कहाँ था)। उस समय उस किसानको इतना क्रोध आया कि अपने उस बच्चेको भी उस अग्निमें डालकर फूंक दिया तो यह सब क्या है ? इन दुर्ध्यानोंका ही तो परिणाम है। इन दुर्ध्यानोंसे जीवको कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती, प्रत्युत पापबंध ही होता है।

निर्जरणहेतुभूत आज्ञाविचय धर्मध्यानका निर्देशन—कर्म निर्जराके कारण दो प्रकारके ध्यान हैं— धर्मध्यान और शुक्लध्यान। धर्मध्यानके ४ भेद हैं— आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, और संस्थानविचय। आज्ञाविचय धर्मध्यानमें ऐसा ध्यान रहता है कि प्रभुका जो उपदेश है, उन्होंने जो कर्तव्य बताया देव पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, दान आदिक, और जो जो भी विधियाँ शास्त्रोंमें बतायी गई हैं वे सब पूर्णतया सत्य हैं। यों प्रभुकी आज्ञाको मुख्य मान करके जो धर्ममें आचरण किया जाता है उसका नाम है आज्ञाविचय धर्मध्यान। यद्यपि केवल आज्ञाके ही कारण यह ज्ञानी ऐसी श्रद्धा नहीं रख रहा कि यह सत्य है किन्तु वस्तुस्वरूप भी समझ रहा है। वस्तुस्वरूपका यथार्थ निर्णय करके भी वह ज्ञानी प्रभुके उपदेशका ही महत्त्व देता है। तो यह हुआ आज्ञाविचय धर्मध्यान। मंदिर आना, दर्शन करना, पूजन करना, स्वाध्याय करना, धर्मके कार्योंमें तन, मन, धन, वचन आदि लगाना इन सब वृत्तियोंमें आज्ञाविचयकी प्रधानता है। इसीको कहते हैं आज्ञाविचय धर्मध्यान। देखिये- इन ध्यानोंमें मंद कषाय है ना, और साथ ही इसमें कुछ शुभ भाव भी हो, कुछ शुद्ध उद्देश्यकी भी बात आयी, इस कारण कर्मनिर्जरा होती है।

कर्मनिर्जरणहेतुभूत अपायविचय धर्मध्यान—दूसरा धर्मध्यान है अपायविचय—संसारके हेतुभूत राग द्वेष मोहादिक भाव हैं। इनका कैसे विनाश हो, इनके नाश करनेमें ही भला है। कषायोंसे किसी को

शान्ति प्राप्त नहीं होती। ये कषाये मेरी मिटे, इन विकार भावोके विनाशके सम्बन्धमें चिन्तन करना यह अपायविचय धर्मध्यान है। इसमे इस जीवको कुछ प्रकाश मिला। मैं ज्ञानस्वरूप हू, मुझे ज्ञातादृष्टा रहना चाहिए, मैं केवल जानन देखनहार रहूं, मैं किसी रागविरोधमें न पडूँ, मेरे भावमे विकार न जगे तो इससे मुझे राहत मिलेगी, शान्ति प्राप्त होगी, अतएव ये रागादिक विकार मेरे दूर हों, इसके लिए यत्न भी करना। जितने आवश्यक कर्तव्य बताये है धर्मके प्रसंगमे वे सब विकार न होने देनेके उद्देश्यसे ही तो हैं। तो यह अपायविचय धर्मध्यान है। इसमे भी कर्मनिर्जरा होती है।

निर्जरणहेतुक विपाकविचय धर्मध्यान--तीसरा है विपाकविचय धर्मध्यान। कर्मोंके फलका चिन्तन करना सो विपाकविचय धर्मध्यान है। जो लोग कर्मविपाक पर श्रद्धा नहीं रखते ऐसे अनेक अज्ञानी जीव हैं, उनकी ऐसी वृत्ति है कि क्या होगा आगे, कौन देखता है, इस समय तो खूब मौजसे रहो जो चाहे खूब खाओ पियो, सब प्रकारके मौज लूट लो, उन मौजोमें कर्मो क्यों आने दो, इस प्रकारकी वृत्ति बन जाती है और जिनको यह श्रद्धा है कि जो कर्म बंधे है वे फल दिये बिना न खिरेंगे, उनको उदयकालमे दुःख भोगना पड़ेगा, फिर कोई सहाय न होगा। पापकर्मके उदयमे जब जीव दुःखी होता है, नारकी बनता है, पशु, पक्षी आदि बनता है, बड़े बडे कष्ट भोगता है तो उसकी कौन सहाय कर पाता है? कर्म जो बधे हैं वे फल दिए बिना न खिरेंगे, इस कारण वर्तमानमे अपने परिणामोंकी सावधानी रखनी चाहिए। उससे खोटे कामोंमे प्रवृत्ति नहीं बन पाती है। तो विपाकविचय धर्मध्यानमे भी यह जीव बहुतसे कर्मों की निर्जरा कर लेता है। विपाकविचयके चिन्तनके लिए पुराणोंमें बहुतसे कथानक आये हैं। उनमें यह निरख सकते हैं कि बडे बड़े महापुरुषोको भी पूर्वकृत कर्मके उदयमे दुःखका सामना करना पड़ा उन्होंने कष्ट झेला, सुकुमाल मुनि देहको स्यालिनी ने खाया, सुकौशल मुनिके देहको स्यालिनी ने खाया, सुकौशल मुनिके देहको शेरोंने खाया, श्रीरामको जगलमे रहना पड़ा। कितनी ही तरहके कष्ट झेलने पडे। वे सब कष्ट कर्मोदयमें हुआ करते हैं। तो कर्मविपाकका चिन्तन करने वाला पुरुष पापकर्मोंसे बचता है और कर्मोंकी निर्जरा करता है। यद्यपि वस्तुत पापका उदय आना कल्याणसे भ्रष्ट कर देनेका नियत कारण नहीं, किन्तु पाप परिणामका होना तो खोटी बात है। पापपरिणामका फल ही तो ससारपरम्परा है ऐसा चिन्तन करना जिससे पापकर्मसे निवृत्ति हो तो विपाकविचय नामक धर्मध्यान है।

सस्थानविचयमे लोकविस्तारचिन्तनसे वैराग्य व परमौपेक्षाभावका प्रकाशन--संस्थानविचय नामके धर्मध्यानसे कर्मोंकी विशेष निर्जरा होती है। संस्थानविचयका अर्थ है सस्थानके सम्बन्धमे विचार करना। सस्थान शब्द उपलक्षण है। लोकका आकार चितन करना, कालकी लम्बाई विस्तृतता चिन्तन करना और जीवके संसरणके विस्तारका चिन्तन करना, आत्माके गुणविस्तारका चिन्तन करना आदिक सभी तत्त्वचिन्तन इस संस्थानविचय धर्मध्यानमे आ जाते है। संस्थानविचय धर्मध्यानमे जब लोकके आकार का चिन्तन चलता है, लोक कितने विस्तार वाला है, इसे ३४३ घनराजूप्रमाण कहा है। एक घनराजू एक राजू चौडे, एक राजू लम्बे, एक राजू मोटे सब ओरसे एक-एक राजू होने को एक घनराजू कहते हैं। उसमे से केवल एक तरफके एक राजूका परिमाण भी बहुत बड़ा है। जितना मध्यलोक है चौडाईमें विस्तारमात्र वह एक राजू है। एक राजूमे असंख्याते द्वीप समुद्र समाये हुए है। और वे असंख्याते द्वीप समुद्र ऐसे परिमाणके कि उन सबके मध्यमे है एक जम्बूद्वीप, जो कि एक लाख योजनका चौड़ा है। एक लाख योजन मायने दो हजार कोशका तो एक योजन होता है, ऐसे ऐसे एक लाख योजन प्रमाणका जम्बूद्वीप है। उससे दूना एक तरफ लवण समुद्र है, उससे दूना एक तरफ दूसरा द्वीप है। उससे दूना समुद्र, उससे दूना द्वीप। यह तो एक तरफका विस्तार है, ऐसा ही विस्तार दूसरी ओर है। तो यों असख्याते द्वीप समुद्र जितने विस्तारमे समा जाते हैं उतना क्षेत्र अब भी एक राजूसे कुछ कम रहता है।

अब अंदाज कर लीजिए कि लोकका कितना बड़ा विस्तार है ? जब इतना बड़ा लोकविस्तार जिन साधुवोंके उपयोगमें रहता है उनके यश आदिकके निदान कभी हो ही नहीं सकते। इस विस्तार वाले लोकके सामने यह परिचय वाला क्षेत्र कितनासा है ? स्वयभूरमण समुद्रके समक्ष एक जल विन्दु बराबर भी नहीं है। इतने से क्षेत्रमे क्या यश चाहना, क्या चाहना। यह सब निरीहता साधुजनोंमे इस सस्थानविचयके चिन्तनमे स्वयमेव होती है।

सस्थानविचय धर्मध्यानमे कालविस्तारचिन्तनसे वैराग्य व परमोपेक्षाभावका विकास—क्षेत्रविस्तारके चिन्तनकी तरह जब कालका विचार किया जाता है कि काल कितना बडा है ? अबसे पहिले कितना समय गुजर गया, उस समयकी कोई आदि नहीं है—क्योंकि यदि समयकी कुछ आदि मान ली जाय तो यह प्रश्न सामने आता है कि क्या उस समयसे पहिले कुछ समय ही न था ? समय तो अनादिकालसे है और समय अनन्तकाल तक रहेगा। हम आप भी अनादिसे हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। जीव कभी मूलत नष्ट नहीं होता। लोग व्यर्थ ही भय बनाते कि हाय मैं मरा, हाय मै मिटा, पर कहां मरा, कहां मिटा ? यहा जो भी पदार्थ है वे सदा रहा करते हैं। जीव तो मोहवश जिन पदार्थोंमें मोह पडा हुआ है उन पदार्थोंके छूटनेपर बडी तकलीफ मानते हैं और अपने आपको नष्ट हुआ समझते हैं। लेकिन कोई पदार्थ कभी नष्ट हो ही नही सकता। तो सस्थानविचय धर्मध्यानमें साधु चिन्तन करता है कि इस अनादि अनन्तकालके समक्ष यह १००-५० वर्षका जीवन तो कुछ भी गिनती नहीं रखता। इस इतने से कालके पीछे इस इज्जत पोजीशन आदिकी चाह करना, यह तो अपने आत्मदेव पर महान् अन्याय करना है।

ज्ञानीके शान्तिरसवर्द्धनमे सस्थानविचय धर्मध्यानका सहयोग—ज्ञानी जीवको क्यों शान्ति रहती है ? उसने समझा है कि मैं मैं हू जो किसीके द्वारा जाना नही जाता। यहा पर जो लोग समझते हैं वे किसी अन्यकी मूर्तिको देखकर ही कुछ कहते है, मुझ अमूर्त ज्ञानमात्रको देखकर नही कहते। वहांका यह कुछ दिनोका बड्प्पन तो न कुछ की तरह है। अरे अपना बडप्पन भीतर देखो स्वयं ज्ञानानन्दस्वभाव वाला है। उसका महत्त्व तो ऐसा है कि तीन लोकके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानले। इससे भी मै अपना कुछ महत्त्व नहीं समझता। वह तो एक चेतन पदार्थका स्वभाव है, लेकिन अपने आपमे इस शुद्ध ज्ञानमात्रकी वर्तनाके प्रसादसे जो महत्त्व बनता है उसे तो देखो—कितना निराकुल निस्तरग शान्त मेरा स्वरूप है ? उसका तो घात हो जाय और थोडा काल्पनिक लौकिक यश मिले जिसमें कुछ दम नही है, कोई महत्त्व नही है, ऐसे यशकी चाह करना यह अपने आत्मदेव पर अन्याय करना नहीं है क्या ? ज्ञानी पुरुषको अपना शरण सहज कारणपरमात्मतत्त्व अपनी दृष्टिमे रहता है, इसी कारण अपने आपमें शान्ति वर्तती रहती है। इन बाह्यपदार्थोंसे, जो विनाशीक है, कुछ चाहना, ये मेरे रहे आये, ये मेरे अनुकूल चलें ऐसी कुछ भी चाह करना यह अपने आपपर महान् अन्याय है, इस बातको ज्ञानी पुरुष ही समझ सकते हैं। अज्ञानी जन इस रहस्यको नहीं जान सकते। तो सस्थानविचय धर्मध्यानमे यह ज्ञानी चिन्तन करता है कि इस अनादि अनन्तकालके समक्ष यह थोड़ा सा समय कुछ भी तो गिनती नहीं रखता। इस न कुछ समयमे कुछ भी परवस्तुविषयक चाह करना वेकार है। एक भवका यह क्लेश कितना सा है, जो कि एक स्वप्नवत् है। उसको भी यदि समतासे सह ले, अपने आपके आत्माके स्वरूप का विशुद्ध ज्ञान बना ले तो क्या चीज है यह ? हमने भविष्यका कितना बढ़िया मार्ग बना लिया। यहा क्या है ? कुत्ता भी मरकर देव बन जाता, देव भी मरकर एकेन्द्रिय हो जाता। तो यहाके न कुछ जैसे जरासे बड्प्पनका क्या विश्वास है ? यहा गर्व करने लायक कुछ भी बात नहीं है। बड्प्पन तो मूलमे होना चाहिए कि आत्माके महत्त्वका प्रभाव मुझे अनन्तकाल तक प्राप्त हो।

तो यहां ज्ञानी पुरुष इस अनादि अनन्त कालको निरखकर सहज ही विरक्त है इस जीवनसे। इस थोड़ेसे कालमें क्या चाहना? यो संस्थानविचय धर्मध्यानमे परम वैराग्य समाया रहता है। इसी कारण कर्मोंकी विशेष निर्जरा होती है।

संस्थानविचय धर्मध्यानमे जीवदशाविस्तार चिन्तनसे वैराग्य व परमोपेक्षा भावका विकास—संस्थानविचय धर्मध्यानमे जीवोंका नाना आकार परखा जा रहा है। कितनी तरहकी जीव जातियां हैं, गुणस्थान और मार्गणाओंके परिज्ञानसे स्पष्ट समझमे आता है। जब जीवोंके लाखों करोड़ों प्रकारके जातिके देह विदित हो जाते हैं तब यह जीव सहज ही विरक्त रहता है। देखो—एक आत्माके विशुद्ध चैतन्यस्वरूपके भान बिना जीव ऐसी ऐसी अटपट देहोंमे जन्म लेता है। बेकार है यह देह धारण करना। मुझे इन देहोंसे विरक्त रहना है। संस्थानविचय धर्मध्यान मुनियोंके विशेषतया माना गया है। संस्थानविचय धर्मध्यानके मुख्य अधिकारी मुनिजन हैं, उनको सदा इस लोक, काल, जीवदशा आदिके विस्तारके ज्ञानकी भावना रहती है। जिसको यह ज्ञान है कि लोक इतना बड़ा है, उस लोकके सामने यह कुछ हजार मीलकी पृथ्वी क्या गिनती रखती है, यहाका यह प्राप्त वैभव भी क्या गिनती रखता है? इसमे मोह करनेसे, इसमे आसक्ति करने से इस आत्मदेवका दर्शन नही हो पाता और फिर यह ससार जो कि इतने महाविस्तार वाला है सब प्रदेशोमे इसे जन्म लेना पड़ता है। तो संस्थानविचय धर्मध्यानमें मुनि महाराजके लोक-विस्तार और कालविस्तारका स्पष्ट ज्ञान रहता है। इसी कारण उनके सहज वैराग्य है। यहां बताया जा रहा है कि साधुजनोंके क्यों सहजशान्ति और वैराग्य रहता है उसका कारण यह है किउनको स्पष्ट भान है यह कि जरासी दुनिया यह लोकविस्तारके सामने न कुछ है। इसमे क्या चाहना? यह जरासा जीवन अनादि अनन्तकालके सामने न कुछ है, इतनेमे क्या चाहना? ये थोडेसे जीव जो सामने नजर आते हैं अनन्त जीवोंके समक्ष जो कि भिन्न भिन्नरूपोंमे रहते ये कितने है, इनमे क्या चाहना? ये सब मेरे स्वरूपसे भिन्न हैं, इनका स्वरूप इनमें है, मेरा स्वरूप मेरेमे है, यह बात मुनियोंको स्पष्ट ज्ञानमे बनी रहती है, इस कारण सहज वैराग्य है।

अज्ञानी जनोकी परचिन्ता व वेदना—देखिये यथावत्स्वरूपचिन्तनसे ज्ञानीके सहज वैराग्य है, लेकिन यहाँके अज्ञानी जनोंको ऐसा लगता है कि जो मेरी जिन्दगी है यह ही मेरे लिए पूरी सारभूत बात है। यही तो मेरा सब कुछ है। यहाकी जितनीसी जमीनपर, जितनेसे वैभवपर अधिकार पाया है, अधिकार तो वहां भी नही है पर इस मोहमय संसारमे मोहियोने मोहमें यह व्यवस्था बना ली है। नगरपालिका, जिलामण्डल, प्रान्त आदिक बनाकर रजिस्ट्रेशनकी एक व्यवस्था कर ली है कि यह मेरा है, यह इसका है, है किसीका कुछ नहीं। तो अज्ञानीजन इन बाह्य पदार्थोंमे आत्मबुद्धि करके यह मेरा है इस प्रकारका निर्णय बनाकर दु:खी होते है। मेरा तो कुछ है नहीं, ये तो अपने आप मिटेंगे, रहेंगे, जायेंगे, आयेंगे। इन बाह्य पदार्थोंपर मुझ ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अधिकार कुछ नही है, पर माना जा रहा है अधिकार तो उनके वियोगमे, उनके प्रतिकूल चलनेमें हम दु:ख माना करते हैं, क्योंकि संस्थानविचय धर्मध्यानका हम आश्रय नहीं लेते।

संस्थानविचय धर्म्यध्यानमे पिण्डस्थ चिन्तनमे पार्थिवी व आग्नेयी धारणाका भाव—संस्थानविचय धर्मध्यानमे चार प्रकारसे चिन्तन है पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत। पिण्डस्थ ध्यानमें चार प्रकारकी धारणाये बतायी हैं, पृथ्वी धारणा, आग्नेय धारणा, मारुती धारणा और जलधारणा। यह ज्ञानी जीव इन धारणाओंमे किस तरह अपने मनको माजता है, सो सुनो। पृथ्वी धारणामे यह चिन्तन इस ज्ञानीने बनाया जो कि पद्मासनसे स्थिर होकर शरीरको बिल्कुल सीधा रखकर अपने आपकी ओर दृष्टि लगाकर ध्यान कर रहा है, उसने यह चिन्तन किया है, यह सुहितसाधक कल्पना की है कि यह मैं आकाशमे बहुत

ऊपर एक कमलके ऊपर विराजमान् हूं। देखिये जिस कालमें आप अपनी ओर ऐसी बात ले जायेंगे उस कालमे आपके ये भार, चितायें, विकल्प सब दूर हो जायेंगे। मैं आकाशमें बहुत ऊँचे एक कमलके ऊपर विराजमान हूं। कितने ऊँचे ? मेरुपर्वत बराबर। और नीचे बहुत बड़ा अपार समुद्र है। उस समुद्रके बीच एक बड़ी मेरुदण्ड बराबर ऊँची नाल पर कमल, कर्णिकापर ऊँचे बैठे हुए हैं। उस समय उपयोगमें अन्य किसी पौद्गलिक चीजका परिचय न रहे। उस समय यह ध्यान रहे कि यह मैं शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा है। अब इस पिण्डमे दो कमलोंका विचार किया जा रहा है—एक अपने शरीर भीतर नाभिकमल जो कि ऊपरको पांखुरी करके फूला हुआ है और एक उसके ऊपर औंधा कमल जो नीचे, पांखुरी करके लटका हुआ है, ऐसे दो कमल। नीचेका कमल जो ऊपरको पांखुरी किए हुए है वह गुणोंका समूह है। उसके जैसे अनेक पत्ते है ऐसे अनेक इसमें गुण हैं। और इस कमलके ऊपर जो ८ पांखुरी वाला कमल औंधा है वह अष्टकर्मोंका कमल है। इसने समस्त गुण ढक रखे है और ये मेरे गुण अब प्रकट नहीं हो पाते हैं। चिन्तन कर रहे है अर्हं मंत्रका। अर्हं मन्त्रमें रेफका ऐसा चिन्तन चला, रेफ ज्वालाके आकारका होता है ना। मानो वहासे एक ध्यानअग्नि बहुत जोरसे चली कि प्रज्वलित हो करके उस ध्यान अग्निने इस औंधे कमलको भस्म करना शुरू किया और यह आग इतनी बढी कि उसने समस्त कर्मोंको भस्म किया, और इस देहको भी भस्म किया। लो अब मैं केवल वही गुणोका पिण्ड रह गया।

संस्थानविचय धर्म्यध्यानके पिण्डस्थ चिन्तनमें आग्नेयी, मारुती व वारुणी धारणाका भाव— देखिये-उपयोग अपने आत्माके अन्त स्वरूपपर पहुच रहा है, वहां चिन्तन चिल रहा है ये सब कर्म भस्म हो गए। यह देह भी अवगुणोंका पिण्ड है। यह देह महाकष्टका हेतु है, यह तक भस्म हो गया। इसके बाद बडे जोर से एक ध्यान वायु चली। ऐसी हवा चली कि जो कुछ मल था, (भस्म थी) वह सब उड गया। लो अब, मै मल (भस्म) के भारसे भी दूर हो गया, इसके बाद बहुत ही तीव्र अमृतवर्षा हुई। उस जलवर्षासे रहा सहा चिपका हुआ भस्म (मल) भी धुल गया। और, यह मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हू, इस चिन्तनमे इस ज्ञानीने यह निरखा कि मेरा जो सहजस्वरूप चैतन्यमात्र तत्त्व है उस चैतन्यको गंदला करने वाले जो भी मल है उन सब मलोका सफाया हो गया है और यह मै एक शुद्ध चिन्मात्र हू। लो यही स्वरूप प्रभुका है। अब प्रभुताका चिन्तन चल रहा है। अनन्तचतुष्टय विराजमान यह परमात्मतत्त्व इसका चिंतन करते-करते एक शुद्ध चिन्मात्र अविकार निर्विकल्प ज्ञानमें रहता है। इस तरह यह ज्ञानी इन धारणाओके सहारे अपने आपमें यो उत्कृष्ट चिन्तन करता चला जाता है। यह बात इस संस्थानविचय धर्मध्यानमे है। संस्थानविचयके भले उपयोग मे कर्मोंकी किस प्रकार निर्जरा होती है, सो आप अंदाज करलो कि जिसमे एक शुद्ध चैतन्यमात्र पर इस तरह उपयोग पहुचता है तो वहा कर्म कैसे ठहर सकते है ?

संस्थानविचय धर्मध्यानमे पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत ध्यानोंका प्रभाव—संस्थानविचय धर्मध्यानमे पदोंके सहारे भी ध्यान चलता है। ॐ णमोकार मन्त्र, ॐ नम. सिद्धेभ्य. आदिक जो अनेक मन्त्र है पचपरमेष्ठी के नाम अथवा अरहन्त सिद्ध किसी भी प्रकारसे उन नामोके सहारे जो परमेष्ठी परमात्मा प्रभुके स्वरूपका ध्यान जाता है वह पदस्थ ध्यान है। पहिले बताया गया था पिण्डस्थ, यह हुआ पदस्थ। इसमे दृष्टि गई स्वरूपपर। उस विशुद्ध चैतन्यस्वरूपकी उपासनासे इसका कर्ममल दूर हो जाता है। तीसरा है रूपस्थ। अरहत प्रभुका जैसा स्वरूप है—समवशरणमे विराजमान, इस पृथ्वीसे ५ हजार धनुष ऊपर विराजमान समवशरणकी अद्भुत रचनाके बीच शोभायमान जहा गंधकुटीपर सिहासन, सिंहासनपर कमल और कमलके ऊपर अतरिक्ष विराजमान है। यह सकलपरमात्मा, जिसका चारो ओरसे मुख दिखता है, जिसकी सेवामे जिनके चरणोमे बडे बडे देव देविया नृत्यगान करते हुए आ रहे है, यह है वीतरागसर्वज्ञदेवका ध्यान। यह है रूपस्थध्यान और संस्थानविचयकी अन्तिम पद्धति है रूपातीत ध्यान

की। जिस आत्माको हम किसी मुद्रामें नहीं बाँध सकते। लो अभी रूपस्थध्यानमे अरहंतस्वरूपका एक शान्त दिव्य मूर्तिकी मुद्रामे बांधा था, उसको आकारमें लिया था लेकिन वहां तो जैसे कि सिद्ध प्रभु होते हैं, केवल आत्मा ही आत्मा, वहां द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म, कुछ भी झंझट शेष नहीं रहता है। केवल चिन्मात्र उस चैतन्यस्वरूपका जो ध्यान है वह है रूपातीत ध्यान। इस प्रकार इस संस्थानविचय धर्मध्यान के प्रसादसे भव भवके संचित कर्मोंकी विशेषतया निर्जरा होती है।

मिच्छादो सद्दिट्ठी असंख गुण-कम्म-णिज्जरा होदि।
तत्तो अणुवय-धारी तत्तो य महव्वई णाणी ॥१०६॥
पढम कसाय-चउण्ह विजोजओ तह य खवय-सीलो य।
दंसण-मोह-तियस्स य तत्तो उवसमग चत्तारि ॥१०७॥
खवगो य खीण मोहो सजोइ-णाहो तहा अजोईया।
एदे उवरिं उवरिं असख-गुण-कम्म-णिज्जरया ॥१०८॥

गुणश्रेणिनिर्जराके स्थानोंका वर्णन—इन तीन गाथाओंमें यह बता रहे हैं कि ११ स्थान ऐसे हैं संक्षेप रूपसे कि जिनमें एकसे दूसरेमे असख्यात गुणश्रेणी निर्जरा होती है, जैसे मोटे रूपमे यह समझ लीजिए कि जो अविरत सम्यग्दृष्टि जीव है, जिसे चौथाई गुणस्थान कहा है कि मिथ्यात्व तो है पर व्रत नहीं है तो उस जीवकी जितनी कर्म निर्जरा होगी उससे अधिक अणुव्रती देशविरत पचम गुणस्थान वाले जीवके होगी ना। जितनी कर्मनिर्जरा चौथे गुणस्थानमें होती हो उससे अधिक ५ वे गुणस्थानमें, उससे अधिक छठे गुणस्थानमे ऐसा जँचता है ना। तो इन तीन गाथाओंमे यह बतला रहे हैं कि किस जीवसे किस जीवकी कर्मनिर्जरा अधिक होती है? गुणश्रेणीनिर्जरा उसे कहते हैं कि जैसे कोई जीव पहिले समय में जितनी कर्मनिषेक निर्जरा कर रहा है दूसरे समयमे उससे असंख्यातगुनी कर्मनिषेक निर्जरा कर रहा है। जितने कर्मनिषेक वहाँ खिर रहे हैं उससे असंख्यातगुणे कर्मनिषेक तीसरे स्थानमे खिर रहे हैं, यों उत्तरोत्तर असख्यात असंख्यात गुने कर्मनिषेकोंकी निर्जराका नाम है गुणश्रेणी निर्जरा।

गुणश्रेणिनिर्जराके प्रथम स्थानका गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्य बतानेका अपेक्ष्य स्थान—सबसे पहिले किस जीव को ग्रहण किया कि जिससे असंख्यातगुनी श्रेणी निर्जरा होती है। जो जीव सम्यग्दर्शन करनेके सम्मुख है, जिसको थोडे ही समयमें सम्यग्दर्शन होने वाला है ऐसे जीवके निर्जरा प्रारम्भ है। यद्यपि अभी वह मिथ्यादृष्टि जीव है जिसको सम्यक्त्व होगा, लेकिन अन्तिम मिथ्यादृष्टि है। जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो जायेगा और सम्यक्त्व अब तुरन्त ही होने वाला है, ऐसा मिथ्यादृष्टि है उसे कहते हैं सातिशय मिथ्यादृष्टि। तो जब यह जीव अनादि कालसे मिथ्यात्वमे बसा आ रहा है और इस जीवपर कर्मोंका भार लदा है, अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके पांच कर्म प्रकृतियाँ तो सत्त्वमे नहीं हैं, बाकी १४३ प्रकृतियां सत्तामे हैं। कर्मोंकी सारी प्रकृतियां १४८ हैं, जैसे ज्ञानावरणकी ५, दर्शनावरणकी ९, वेदनीयकी २, मोहनीयकी २८, आयुकी ४, नामकर्मकी ९३, गोत्रकी २, अन्तरायकी ५, ये सब मिलकर १४८ प्रकृतियां है। इनमे से ५ प्रकृतियोका सत्त्व अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके नही है। कौन सी है वे ५ प्रकृतियाँ? एक तो तीर्थंकर प्रकृति। तीर्थंकर प्रकृतिका बध सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है। अनादि मिथ्यादृष्टिके तीर्थंकर प्रकृति कहां से आयी? दूसरे आहारक शरीर, आहारक अगोपाङ्ग जिसके उदयमे छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके मस्तकमे आहारक शरीर पुतला बनता है। जो तत्त्व समाधानके लिए निकलता है और तीर्थंकरके दर्शन करके चाहे वह विदेहक्षेत्रमे तीर्थंकर हो, चाहे किसी स्थानपर हो, वहाँ तीर्थंकर प्रभुके दर्शन करके वापिस मस्तकमे आ जाता है। वह आहारक शरीर आहारक शरीर, नामकर्मके और आहारक अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे बनता है। तो ये दो प्रकृतियां अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके नहीं है। अब सुनिये सम्यक्त्व

को नष्ट करने वाली ७ प्रकृतियां होती हैं। हम आप संसारी जीवोंमे कर्मप्रकृतियोका बोझ लदा है, इनमें जो मिथ्यादृष्टि जीव हैं उनके सम्यक्त्वको घातने वाली ७ प्रकृतियां भी हैं। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, ४ तो ये है, ५ वीं है मिथ्यात्व नामकी प्रकृति, छठी, है सम्यक्मिथ्यात्व नामकी प्रकृति और ७ वी है सम्यक्त्वप्रकृति। सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयमे सम्यक्त्वका नाश तो नहीं होता, किन्तु सम्यग्दर्शनमें चल मलिन अगाढ़ दोप उत्पन्न होता है। यों ७ प्रकृतिया सम्यक्त्वको घातने वाली कही हैं। इनमें से अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति और सम्यक्प्रकृतिकी सत्ता नही है। क्योंकि इन दो प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। किन्तु जब इस मिथ्यादृष्टि जीवके उपशम सम्यक्त्व हो जायेगा तो सम्यक्त्व होनेके ही साथ, उपशम सम्यक्त्वके होते ही दबी हुई जो मिथ्यात्वप्रकृति है उसके दबे ही दबे उस सम्यक्त्वकी चक्कीके चलनेसे तीन टुकडे हो जाते है। एक तो मिथ्यात्व पूराका पूरा रहता है और कुछ भाग सम्यक्त्व बनता है, कुछ सम्यक्प्रकृति बन जाता है। जैसे कोई दरेतीमे चनोको पीसे तो सम्भव है कि कोई चने साबित भी निकल आते है, कुछ चने दो दाल बनकर निकलते है और कुछ चने चूरा भी बनकर निकलते है। तो जैसे चक्कीके दलनेसे उन चनोके तीन भाग हो जाते है इसी प्रकार इस सम्यक्त्व परिणामके होनेसे मिथ्यात्वके तीन भाग हो जाते है। तो उन दो प्रकृतियोंकी सत्ता सम्यक्त्व के तीन भाग हो जाते हैं। तो उन दो प्रकृतियोकी सत्ता सम्यक्त्व होने पर होती है। तो अब अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, जिसके १४३ प्रकृतियों तकका सत्त्व सभव है, उनमे ५ प्रकृतिया सम्यक्त्वघातक है। उनका जब उपशम करने के सम्मुख होता है तो उसके तीन परिणाम होते हैं—अधकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इन परिणामोके बलसे जो उसकी विशुद्धि बढी उस मिथ्यादृष्टि जीवके परिणामों में निर्मलता जगी, उस निर्मलताके कारण आयुकर्मको छोड़कर बाकीके ७ कर्मोंमे जो गुण श्रेणी निर्जरा द्रव्य पडे हुए हैं अर्थात् जितनी गुणश्रेणी निर्जरा होती है उससे असंख्यातगुनी गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे होता है।

गुणस्थान और गुणश्रेणिनिर्जराका आधार—गुणस्थान १४ बताये गए हैं, उनमे मिथ्यात्वगुणस्थानमें कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती। अर्थात् मोक्षमार्गमें लग सके इस तरहकी निर्जरा नहीं है। केवल उस मिथ्यादृष्टिके निर्जरा है जो मिथ्यादृष्टि तुरन्त ही सम्यग्दृष्टि होने वाला है उसे कहते हैं अन्तिम मिथ्यादृष्टि। तो वहाँ भी अनुमान करो कि जिस जीवको सम्यग्दर्शन होने वाला है तो सम्यग्दर्शन होनेसे पहिले है तो वह है मिथ्यादृष्टि, लेकिन कितना निर्मल होगा। निर्मल हुए बिना सम्यग्दर्शन तो न हो सकेगा। तो उसे कहते हैं सातिशय मिथ्यादृष्टि। सातिशय मिथ्यादृष्टि जीवके जितनी गुण श्रेणी निर्जरा चलती हैं अपने ही समयमे उससे असंख्यातगुनी गुण श्रेणी निर्जरा चौथे गुणस्थान वाले सम्यग्दृष्टि के होती है। कर्मनिर्जरा होना मोक्षमें बहुत आवश्यक है। मोक्षके कारण सवर और निर्जरा तत्त्व हैं। मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत अर्थात जिनके जाने बिना, हेय, उपादेय किये बिना मोक्षका मार्ग नहीं बनता। वे ७ तत्त्व है—जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, और मोक्ष। इनमे जीव और अजीव तो सामान्य है। इनके सम्बधसे ही आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा, मोक्ष—ये ५ बाते बतायी गयी है। कैसे कि जब जीवमें अजीव आता है उसका नाम है आस्रव। अजीव मायने कर्म। और, जब जीव मे अजीव बँध जाता है तो उसका नाम है बंध। जब जीवमे अजीव नहीं आते, कर्मोंका आना रुक जाता उसका नाम है सवर। तो जब जीवमे नये कर्म तो आये नहीं और पहिले बँधे हुए कर्म खिर जायें तब ही तो मोक्ष होगा। तो उस ही नियोगकी बात चल रही है।

अविरतसम्यक्त्वसे सकलसयम व अनन्तानुबधी विसयोजनमे उत्तरोत्तर असख्यातगुणी निर्जरा—अब चौथा गुणस्थान, जिसका नाम है अविरत सम्यक्त्व, व्रत नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन है, वहाँ जितने कर्म झडते

हैं उससे असंख्यातगुने कर्मोंका झड़ना पंचम गुणस्थानमे होता है। जब पचम गुणस्थान उत्पन्न होता है उस समय भी अधःकरण और अपूर्वकरण ये दो परिणाम होते हैं। तो वहा भी गुण श्रेणी निर्जरा है। अब जितनी गुण श्रेणी निर्जरा (याने कर्मोंका झड़ना) पचम गुणस्थानके उत्पन्न होते समय हुई, उससे असख्यातगुनी निर्जरा सकलसंयमी मुनिके होती है। इतना तो एक मोटे रूपसे ही जाना जा सकता है कि एक श्रावक जितनी कर्मनिर्जरा करता है उससे मुनिके कर्मनिर्जरा तो अधिक होगी ना। तो उसके अधिकपनेका तारतम्य बताया जा रहा है। जब सकलसंयम प्रकट होता है तो देशसंयमसे असख्याते गुनी कर्मनिर्जरा कहनेसे यह अभिप्राय लेना कि उस प्रकृतिमें बहुतसे निषेकों का क्षय हो जाता है। वह प्रकृतिबंध आदिक बधोंसे रहित हो जाता है। अब जितनी गुणश्रेणी निर्जरा सकलसयमी मुनिके हुई है उससे असंख्यातगुनी गुणश्रेणीनिर्जरा अनन्तानुबधी कषायका विसंयोजन करने वाले जीवके होती है। अनन्तानुबंधीके विसंयोजनका अर्थ है कि अनन्तानुबंधी कषाय कर्म बदल करके अप्रत्याख्यानावरण-रूप हो जाय, ऐसा विसंयोजन करने वाले जीवके उससे असंख्यातगुनी द्रव्यनिर्जरा है।

कषायों और विडम्बनाओंकी सकारणता— जितने भी जीवके कषाय उत्पन्न होते हैं वे सब कषाय बिना कारणके तो नहीं हुए। वे तो जगते ही हैं। जीवमे क्रोधभाव जगा तो किसी कर्मके उदयसे ही तो हुआ। देखिये— कषाये जगनेमे तीन बातों पर ध्यान दीजिये- जिसमें कषाय जगी वह तो है उपादान। और जिस कर्मके उदयसे कषाय जगी वह है निमित्त और जिस चीजमे दिल लगा करके कषाय जगी, जिसका उपयोग बसा करके जगी वह है आश्रय। तो जो आश्रयकी चीज है उसमें पक्का नियम नहीं है कि आश्रय मिले तो कषाय जगे ही जगे। जैसे स्त्री पुत्रादिक जीव एक राग जगनेके आश्रय है। स्त्री पुत्र हुए सामने तो रागभाव जगता ही है ना। तो वे रागद्वेषके आश्रय हुए, लेकिन यह नियम तो नहीं है कि स्त्री, पुत्र आदिक सबको राग जगाये ही जगायें। जब परिग्रह त्याग करके साधु हो जाता है तो उसकी गृहस्थावस्थाकी स्त्री आहार भी दे रही हो, मना तो नही है, कोई भी आहार दे सकता है, लेकिन उस पुरुषके (मुनिके) चित्तमे रचमात्र राग नहीं जगता। तो स्त्री राग जगा ही दे, ऐसा नियम नहीं है क्योंकि वह आश्रयभूत है। फिर आप यह पूछेगे कि गृहस्थको तो स्त्रीके कारण राग बन गया और मुनिको स्त्रीके कारण राग नहीं जगा, क्या कारण है ? तो इसका कारण है भीतरी। गृहस्थके तो उस प्रकारके कर्म पड़े हुए हैं, उदय आ रहे हैं और मुनिके उस जातिके कषाय प्रकृतिका उदय नही है। तो जो भी कषाय जगती है, जो भी इसकी विडम्बना बनती है, भव-भवमें जन्म लेना, पशु पक्षी, कीट पतिगा आदिक बननेकी जो बात बन रही है वह एकसी तो नहीं है। न्यारी न्यारी है। तो जो बात न्यारी न्यारी है, एकसी नहीं है वह बिना कारणके नही हो सकती। बिना कारणके जो भी बात हो सकती है यह एकसी रहेगी। जैसे भगवानका शुद्ध ज्ञान, शुद्ध आनन्द, ये सब अकारण बने हुए हैं। अपने आत्माका ही ज्ञान और आनन्द उमड़ रहा है, किसी इन्द्रिय मनकी सहायतासे नहीं, किसी चीजका उपयोग करनेसे नहीं, किन्तु अपने स्वभावसे ज्ञान और आनन्द प्रभुके उमड़ रहा है इसलिए प्रभुका ज्ञान और आनन्द एक सरीखा हैं और यहां हम आप लोगोके ये ज्ञान, आनन्द, सुख दुःख आदिकके परिणमन एक सरीखे हो रहे हैं क्या ? एकसे तो ये परिणमन नहीं हो रहे हैं। यहा जो हम आपकी अनेक विडम्बनाये बन रही है उनका कारण है कर्मोंका उदय। जिसको ये विडम्बनायें न चाहियें वह कषाय न करे।

मनुष्यभव पाकर कर्तव्यका स्मरण—आज मनुष्य हुए हैं। मनुष्य होकर अब मैं मनुष्य या देव इनसे और हलके भवमे न जाऊँ और शीघ्र ही इन भवोंसे भी मुक्त हो जाऊँ। यदि ऐसी इच्छा है तो यह ध्यान देना होगा कि हमारे ऐसे कर्म न बँधे कि जिनके उदयमें हमें इस पर्यायसे भी नीची पर्यायोंमे जन्म लेना पडे। बड़प्पन इसीमे है, अगर आज यह मानवपर्याय पाया है, श्रावक कुलमे जन्मे हैं, जैनशासन

मिला है तो इसका सदुपयोग यही है कि अपने आपमे ऐसा ज्ञानप्रकाश बनाये कि जिस ज्ञान प्रकाशमें हमारी उन्नति ही उन्नति हो, और यहा कुछ मौज चाह लिया, यहाँके कुछ आरामके साधन बढा लिया, यहाँ परपदार्थोंमें लोभ तृष्णा अशान्ति कर करके अपने आपका जीवन यो ही गुजार दिया तो इसमें कोई भलाई नहीं है। इस जीवका कोई भी दूसरा साथी नहीं है। केवल अपने परिणाम विशुद्ध हो तो इस जीवका भला हो सकता है। अपना भला करनेका अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है। तो ऐसे-ऐसे कर्मोंकी निर्जरा होती हैं और असख्याते गुने निर्जरा होती है उसके ये स्थान बताये जा रहे हैं।

अनन्तानुबन्धी विसयोजकसे दर्शनमोहक्षपक उपशमकत्रयमे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा—जितनी गुणश्रेणी निर्जरा अनन्तानुबंधी कषायका विसयोजन करने वाले आत्माके हुआ है उससे असख्याते गुना गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य दर्शन मोहका क्षय करने वालेके है। सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियां बतायी गयीं थीं ना। अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति। तो जब इनका क्षय होने को होता है तब मिथ्यात्व व मिश्र प्रकृतिका सक्रमणविधिसे क्षय हो जाता है कि सम्यक्त्वप्रकृतिका क्षय होता है जिससे कि क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है, तो दर्शन मोहकी तीन प्रकृतियोंका क्षय करने वाले जीवके बड़ा ही निर्मल परिणाम होता है। ऐसा सम्यक्त्व जिनके प्रकट हो रहा है कि जो सम्यक्त्व अब अनन्त काल तक न मिटेगा तो समझिये कि ऐसा पुरुषार्थ करने वाले आत्माके कितने महान् विशुद्ध परिणाम होते हैं। अब जितनी गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य दर्शन मोहका क्षय करने वाले याने क्षपक सम्यक्त्वको उत्पन्न करने वाले आत्माके होता है उससे असख्यातगुनी गुणश्रेणी निर्जरा उपशम श्रेणीके ८ वें, ९ वें, १०वें गुणस्थानमें होती है। ७ वें गुणस्थानके ऊपर दो श्रेणी बतायी गई हैं। उपशम श्रेणीमें ८ वां, ९ वा, १० वा, ११वा गुणस्थान है, उनमें से ८ वा, ९ वा, १०वा इन तीन गुणस्थानोंमे असख्यात गुणश्रेणी निर्जरा होती है।

उपशमकत्रयसे उपशान्तकषाय गुणस्थानमे असख्यात गुणी निर्जरा—जितनी निर्जरा उपशम श्रेणीके तीन गुणस्थानोंमे है, जिसका नाम है उपशान्त कषाय। उपशान्तकषाय गुणस्थान जीवकी उपशमश्रेणी की सबसे ऊँची स्थितिमे है। कषाये तो उसकी सब १ वे गुणस्थानके अन्तमें दब गई। अब ११वें गुणस्थानमे वह वीतराग मुनि है। रागद्वेष रचमात्र नहीं हैं। केवल एक सातावेदनीय कर्मका ही आस्रव होता है, शेष प्रकृतियोका आस्रव नही है और वह भी एक समयके लिए ईर्यापथ आस्रवरूपमे आता है, इतना निर्मलपरिणाम हो गया ११वे गुणस्थानका, लेकिन कर्मोंको दबाकर चढा था सो दबे हुए कर्म उखड़ने लगते हैं, उदयमे आते हैं तो ११वें गुणस्थानसे भी गिरना पड़ता है। १०वें मे आया, ९वे मे आया, फिर ७ वें मे, इसके बाद छठे मे, फिर कहीं भी पहुच जाय। यदि मरता है इस बीचमें तो चौथे गुणस्थानमे आता है। अब देखिये कि इतना महान पौरुष किया जिस किसी आत्माने भी ११वा गुणस्थान प्राप्त कर लिया। जो वीतराग है, वंदनीय है, फिर भी वहांसे गिरकर मिथ्यादृष्टि तक भी बन सकता है, तब देखिये कि हम आप यदि आज मनुष्य हो गए, कुछ पुण्यका उदय पाया, कुल भला, आराम का साधन पाया तो यह कौनसी बड़ी चीज प्राप्त कर लिया ? देखो कोई आत्मउपशान्त मोह बनकर भी गिर गिरकर मिथ्यात्वमे आ जाता है। तो हमे अपने जीवनके ये समय बहुत सभाल करके बिताना है जिसमें पापकर्म न आये और अपने परिणाम निर्मल बने रहें। इस ही उपायसे हम आपका सच्चा बड़प्पन बनेगा। केवल विषयोकी इच्छानुसार भोगोपभोगोंसे या परपदार्थोंकी तृष्णासंग्रहसे आत्माका पूरा नही पड़नेका। इस असख्याते गुण श्रेणी निर्जराके प्रकरणको सुनकर हमें विशुद्ध परिणाम करनेका उत्साह लाना चाहिये।

उपशान्तकषायसे क्षपकत्रय व क्षीणमोहमे उत्तरोत्तर असख्यातगुणी निर्जरा—११वें गुणस्थानमे जितनी

कर्मनिर्जरा होती है उससे असंख्यातगुणी निर्जरा क्षपकश्रेणीके तीन गुणस्थानोंमे होती है। ७ वे गुणस्थानके बाद जो दो श्रेणिया बतायी हैं उपशम श्रेणीमे ८वां ९वा, १०वां ये तीन और इसके ऊपर है ११ वां उपशान्तमोह। तो उस ११वे गुणस्थान वाले जीवके जितनी कर्मनिर्जरा होती है उससे असंख्यात गुनी क्षपक श्रेणीके ८वें, ९वे १०वे गुणस्थानमें होती है। अब देखिये ११वाँ तो है उपशान्तमोह, जहाँ कषाय रंच भी न रही, सभी कषाये उपशान्त हो चुकी, बीतराग हो गए, रचमात्र रागद्वेष नहीं है और यहां क्षपकश्रेणीके ८वे, ९वे, १०वे गुणस्थानमे अभी सूक्ष्मकषाये हैं। संज्वलन कषायमात्र मौजूद है फिर भी उस ११वे गुणस्थान वाले जीवसे असख्यातगुणी कर्मनिर्जरा इस क्षपक श्रेणीके ८वे, ९वें, १०वें गुणस्थानमें हो जाती है। उसका कारण यह है कि यह क्षपक श्रेणी वाला मोहनीय कर्मको नष्ट करता हुआ चढता जा रहा है और वह मोहनीयकर्मको दबा करके चढा था। अब क्षपकश्रेणीके इन तीन गुणस्थानोमे जितनी कर्मनिर्जरा होती है उससे असंख्यातगुनी कर्मनिर्जरा १२वे गुणस्थानमे होती है। इस क्षीणमोहमे वैसा ही निर्विकार परिणमन है जैसा कि ११वे गुणस्थानमें था, लेकिन वह कर्मों को दबा करके चढा, सो उससे ज्यादा असंख्यातगुनी निर्जरा तो क्षपकश्रेणीमे ८वे ९वे, १०वे गुणस्थानमे है और इससे असख्यातगुणी कर्मनिर्जरा १२वे गुणस्थान मे है। क्षीणमोह जो मुनि हैं वह अरहत भगवानके ही समान है। इतना जरा अन्तर है कि केवलज्ञान नही हुआ पर आत्मामें अविकारता देखिये—जैसी प्रभुमें है वैसी ही १२वे गुणस्थानमे है। रागद्वेष रचमात्र भी नहीं है १२वें गुणस्थानमे यह उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। अब १२वे गुणस्थानमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय—इन तीन शेष घातिया कर्मोंका क्षय हो जाता है तब अरहत भगवान बनते हैं। तो अरहत प्रभु १३वें गुणस्थानमे है।

क्षीणमोहसे स्वस्थानगत सयोगकेवलीके असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा—१२वे गुणस्थानमें जितनी कर्मनिर्जरा है उससे असख्यातगुनी कर्मनिर्जरा १३वे गुणस्थानमे है। अब १३वें गुणस्थानमे अरहंत हुए हैं, जिनका स्वरूप बहुत भली प्रकार समझ ही लेना चाहिये, क्योंकि हम आप सबका शरण अगर कुछ है तो वीतराग सर्वज्ञदेवका स्मरण ही शरण है और निश्चयसे अपने निर्विकार सहज चैतन्यस्वरूपकी उपासना शरण हैं। यह आत्मा जो स्वयं ज्ञान और आनन्द स्वभावसे खूब भरा हुआ है, धन है, किन्तु यह आत्मा केवल इतने अपराधसे कि अपने आत्माको छोड़कर जो अन्य पदार्थ हैं, इन पदार्थोंमे यह मै हूं, यह मेरा है, इस तरहकी जो भीतरमे कल्पनाये जगी है बस इन कल्पनाओंके अपराधसे ही इस जीवको ससारमे जन्म मरण करना पड़ रहा है और, एक कल्पना यह छूट जाय और यथार्थ उपयोग बने कि जैसा जो कुछ बाह्यमें है वह है। मै अपनेमें हू, मेरा किसी भी अन्य पदार्थके साथ रचमात्र सम्बध नही है, ऐसा भीतरमें यदि उजेला बन जाय, ज्ञान प्रकाश हो जाय तो इस जीवको फिर कोई कष्ट नहीं है। ऐसा स्वरूप हमारे ख्यालमे आये इसके लिए आश्रय है अरहंत भगवानकी भक्ति। जो गृहस्थपना त्याग करके मुनिधर्म अंगीकार करके अपने स्वरूपकी साधनामें रहे और जिसके प्रतापसे घातियाकर्म नष्ट हुए, अरहत भगवान हुए उनकी भक्तिके लिए स्वर्गोके देव बडी सख्यामे आते हैं नृत्यज्ञान करते हुए। समवशरणके समयमे स्वर्ग बहुतसा खाली हो जाता है। यद्यपि वे देव आते है तो उनका मूल शरीर नही आता। स्वर्गोंमें जो जिस देवका निवास है, उसका जो असली शरीर है वह स्वर्गोंसे उठकर यहा नहीं आता, पर वे विक्रियासे अपना नया शरीर बनाते हैं और उस नये शरीरके साथ ये आते हैं। भक्ति वंदना करते, लेकिन मन एक है, आत्मा एक है उस शरीरमें और इस शरीरमें इस बीचमे जितनी जगह है स्वर्ग तो है बहुत दूर समवशरण है यहा मध्य लोकमें, तो दोनों शरीरोंके बीच जो जगह है वहा भी आत्मा है और जो शरीर बनाया वहा भी आत्मा है। पर मन एक है, आत्मा वही है। तो यों स्वर्गके बहुसख्यामे देव समवशरणमे आते हैं। भला बतलाओ भगवानसे उन्हें क्या मिल रहा है दुनियावी हिसाबसे ? उन देवोंको

क्या चाहिये ? उन्हें आजीविकाकी कोई चिन्ता नहीं, भोगोपभोग साधन अभीष्ट हैं, शरीरमें कोई बाधा नहीं होगी। उनको अब क्या जरूरत है ? प्रभुकी वीतरागताका इतना प्रभाव है कि सभी जीव जो थोड़ी बहुत धर्मबुद्धि रखते है वे धर्मात्माके संगमे बिना स्वार्थके उनकी सेवामें आया करते हैं, अरहन्त प्रभु धर्ममूर्ति हैं। कोई कहे कि धर्मपालन करो तो धर्मनाम है किसका ? धर्मकी साक्षात्मूर्ति है अरहंत भगवान। वहाँ क्या निरखना है कि आत्मामें जो धर्म है चैतन्य ज्ञानदर्शन शुद्ध आनन्द वह सब पूर्ण प्रकट है। तो प्रभु क्या हैं ? साक्षात् धर्ममूर्ति है। उस धर्मस्वरूप प्रभुके स्मरणमें हमें अपने आपका भी स्पर्श रहता है, हम अपने आपकी भी संभाल करते रहते हैं। तो प्रभुका शरण एक बहुत बड़ा शरण है। यहाँ लोग कुछ मेहनत करके लौकिक लाभ पा लें, तो क्या प्रभुभक्तिके प्रतापसे इससे करोड़ों गुना लाभ स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। जितना जो कुछ इस लोकमें वैभवका लाभ है वह सब धर्मका प्रताप है, पुण्यका प्रताप है। विशिष्ट पुण्य धर्ममय प्रभुकी सेवाभक्ति उपासनासे ही प्रकट होती है। तो ये प्रभु करोड़ों वर्ष भी अपने १३वे गुणस्थानमे रहकर मध्यलोकमें विचरते हैं। जिस तीर्थंकरकी जितनी आयु है, उतनी उस शरीरमें पूरी करनी पड़ेगी। बिना आयु पूरी किए उनकी आयु नष्ट नहीं होती। जैसे किसी तीर्थंकरकी ५० करोड़ वर्षकी आयु है, उसे मान लो १० हजार वर्षकी उम्रमें ही केवलज्ञान हो गया तो १० हजार वर्ष कम ५० करोड़ वर्ष तक वे अरहंत प्रभु १३वे गुणस्थानमें रहते हुए विहार करेंगे, दिव्य-ध्वनि उपदेश होगा, जीवोंको लाभ होगा। तो जितने काल वे अरहंत है उतने काल असंख्यातगुनी कर्मों की निर्जरा होती है।

स्वस्थानगत सयोगकेवलीसे समुद्घातगत सयोगकेवलीके असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा— जब अरहंत भगवानके समुद्घातकी अवस्था है उस समय उससे भी असंख्याते गुने कर्मोंकी निर्जरा होती है। कर्म ८ होते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये तो चार घातियाकर्म हैं जो जीवके गुणोंका घात कर रहे हैं, जीवमे ज्ञानगुण है उसे प्रकट नहीं होने देता ज्ञानावरण। जीवमे दर्शनगुण है। उसका आवरण कर रहा है दर्शनावरण, जीवमे आनन्दगुण है। शुद्ध रहना, अपने आपमें लीन रहना, यह आत्माका एक स्वाभाविक गुण है, लेकिन इसे प्रकट नहीं होने देता मोहनीयकर्म। आत्माका जो अतुल सामर्थ्य है, शक्ति है उसे दबाये हुए है अन्तरात्मा। तो जब चार घातियाकर्म नष्ट हुए तब वे अरहत भगवान हुए। लेकिन अब भी उनके चार अघातियाकर्म शेष हैं। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। वेदनीय कर्मके उदयसे इस जीवका साता और असातारूप परिणाम होता है। सुख दु:खका अनुभव करता है लेकिन भगवानके वेदनीयकर्म तो है, पर मोहनीयका क्षय हो चुकनेके कारण शुद्ध आनन्द होने से सुख दु:खकी बाधा नहीं है। आयुकर्मके उदयसे इस जीवको शरीरमे उतनी स्थिति तक रुकना पड़ता है जितनी कि आयु है। सो वह रुके हुए हैं ही। नामकर्मके उदयसे इस शरीरकी रचना रहती है। अंगोपाङ्ग प्रकट होनेसे आकार रूपादिक शरीरमे बने इन सबका कारण नामकर्म है। गोत्रकर्मके उदयसे जीवका उदयसे जीवका उच्च और नीचकुलमे जन्म होता है। भगवान उच्च कुलके हैं ही। सो ये चार अघातिया कर्म अभी अरहंत भगवानके हैं।

समुद्घातगत सयोगकेवलीका वर्णन—तो जब अरहंत प्रभुकी आयु तो रह जाय अन्तर्मुहूर्त, मायने दो एक मिनट और तीन घातियाकर्म रहें हजार लाख वर्षकी स्थितिके, तो अब यह तो होगा नहीं कि आयुकर्म भगवानका पहिले नष्ट हो जाय और तीन कर्म बादमें नष्ट हो। जब आयु नष्ट हो गयी, जब शरीर न रहा, अकेला वह आत्मा रह गया तो फिर वहा पे उनका क्या हाल होगा ? आयुकर्म नष्ट हो ज वे और तीन कर्म शेष रहें ऐसा नहीं होता है कि जब निर्वाण होता है प्रभुका तो चारो अघातिया कर्म एकसाथ नष्ट होते है। तो अब यह सभव है कि आयुकर्म तो रह गया थोड़ा औरबाकी कर्म है हजार लाख

वर्षके तो एक साथ कैसे नष्ट होंगे ? तो उस समय प्रभुके सहज ही समुद्घात होता है। समुद्घातमे मूल शरीरको न छोड़कर भगवान अरहन्त आत्माके प्रदेश नीचे जहां तक लोक है वातवलयको छोड़कर वहां तक पहुंचते हैं और ऊपर भी वातवलयको छोड़कर उस लोक तक पहुच जाते हैं याने वातवलयके सिवाय १४ राजू प्रमाण दडाकार भगवानके प्रदेश फैल जाते हैं। जैसे एक दडा खड़ा है तो उसकी चौडाई कोई अधिक नहीं है, पर लम्बाई बहुत है। इसी तरहसे इस दंडसमुद्घातमे भगवान आत्माके प्रदेश नीचेसे ऊपर तक शरीर प्रमाण मोटाईमे फैल जाते हैं। यदि उस समय भगवान खड्गासनमे खडे हो तो जितनी शरीरकी चौडाई है उतने ही प्रमाणमें नीचेसे ऊपर तक प्रदेश फैल जाते हैं। यदि प्रभु पद्मासनसे बैठे हैं और उस समय दड समुद्घात होता है तो शरीरकी जो चौड़ाई है उससे तिगुने विस्तारमे मोटे होकर वे प्रदेश नीचेसे ऊपर जायेगे। वे तिगुने भी क्या हुए ? क्योंकि पद्मासनसे विराजे हैं ना तो उस आसन में तिगुने प्रदेश विस्तार बन जाते हैं। खडेमे तो जैसी शरीरकी चौड़ाई है, एक कधेसे लेकर दूसरे कधे तक जितनी चौडाई है उतनी ही है और जब पद्मासनसे बैठेगे तो पैरोंके नीचे घुटने तक हैं दोनो बगल और प्रदेश बनेंगे शरीरके सब अंगोसे, तो उस समय तो कधेसे कंधे तककी चौड़ाईसे तिगुनी चौडाई हो जाती है। यह है उनका दड समुद्घात। यह एक समयमें काम हो जाता है। एक समय कितना होता है कि आख एक बारमे पलक मारे। जैसे आंख हटती है तो पलक मारनेमें जितना समय लगता है उसमे असंख्यातें समय होते हैं। करोड़ो अरबों नहीं, गिनती से परे होते हैं। उसमेंसे एक समय मे यह इतना काम बनता है। इसके बाद फिर उनके कपाटसमुद्घात होता है। कपाटसमुद्घातमें बगलसे प्रदेश फैल जाते हैं। यहाँ आगे पीछे न फैले, अगल बगलसे ही फैले तो किवाड़के आकारका बन गया उन प्रदेशोका फैलना, जैसे किवाड जितनी चौड़ाईको लिए हैं मोटाई तो नहीं है। तो जिस समय वे प्रदेश अगल बगलसे फैलते है तो उस समय कपाट जैसा आकार होता है। वह कपाट समुद्घात भी एक समय मे बन जाता है। इसके बाद फिर आगे पीछे प्रदेश फैलते हैं तब प्रतर बन जाता है। प्रतर मायने चारो ओर फैला हुआ। इतने पर भी अभी प्रभुके प्रदेश वातवलयोमे नहीं फैले। इस सारे लोकके संभाले हुए चारों तरफ बहुत मोटी वायु है। वे तीन तरहकी हवाये है। उन हवाओंके आश्रयसे यह लोक टिका हुआ है। तो अभी तक प्रतर समुद्घातमे उन वातवलयोंमे आत्माके प्रदेश नहीं गए। जब लोकपूरण समुद्घात होता है, जिसमे वातवलयोमे भी प्रदेश फैल जाते हैं। इस प्रभुका आत्मा सारे लोकमे फैला हुआ है। इसके बाद एक ही समयमे सिकुड़नेपर प्रतर समुद्घात बराबर होता है। जैसे पहिले प्रतरमें जितनेमें प्रदेश फैले हुए थे उतनेमे ही थे। उसके बाद एक समयमे और सिकुडकर कपाटके आकार हो जाते हैं। फिर एक समयमे दंडसमुद्घात, फिर एक समयमे अपने शरीरमे ज्योंके त्यो समा जाते हैं। इसमे इन्हें लगते हैं ८ समय। इन ८ समयोमे जो प्रदेश फैले और प्रदेशोके फैलनेके साथ ही साथ कर्म भी फैल गए, क्योकि आत्माके साथ ही कर्म लगे हुए हैं तो कार्माणवर्गणाये भी फैल जानेसे वे कर्म झड़ जाते हैं, सूख जाते हैं और कमसे कम कितने रह जाते हैं जितनी कि आयु है। दो एक मिनटके करीब कर्मपरमाणु रह जाते हैं। और थोड़ी बहुत जो अभी कसर है वह तुरन्त पूरी होती है तब आयुके बराबर उनके तीन अघातिया कर्म हो गए।

समुद्घातगतकेवलीसे अयोगकेवलीके असख्यातगुनी निर्जरा— सयोगकेवली गुणस्थानके बाद फिर प्रभु अयोगकेवली बनते हैं। उनके १४वाँ गुणस्थान होता है। योग उनके सब समाप्त हो जाते है। १४वें गुणस्थानका कितना समय है ? इसे बताया है कि ५ ह्रस्व अक्षरोके बोलनेमे जितना समय लगता है लगता है उतना समय १४वे गुणस्थानका है। ५ ह्रस्व अक्षर हैं अ इ उ ऋ लृ। अ इ उ ऋ लृ इसके बोलनेमे जितना समय लगेगा उतना समय १४वे गुणस्थानमे रहता है। इसके बाद प्रभु उस शरीरको छोड़कर

निर्वाणको प्राप्त होते हैं-और यह शरीर कपूरकी तरह उड़ जाता है। जैसे यहां कोई जीव शरीर छोड़कर चला जाता है तो शरीर यहीं पड़ा रह जाता है। लोग उस शरीरको जला देते हैं, इस तरहसे भगवानका शरीर यहां पड़ा नहीं रहता, वह कपूरकी तरह उड़ जाता है, सिर्फ यहा नख और केश पडे रह जाते है। इन नख और केशोंके ऊपरी भागमें इस समय भी देख लीजिए जीव नही है। इन्हें कैंची आदिसे काट देनेपर कोई कष्ट तो नहीं होता। तो इस तरह ये प्रभु समुद्धात अवस्थामें असख्यातगुणी कर्म निर्जरा करते है। और उससे भी असख्यातगुनी कर्मनिर्जरा १४वें गुणस्थानमें होती है। फिर इसके बाद वे गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान हो जाते हैं। इस प्रकार आत्माके सहज विशुद्ध परिणामोंके वलसे असख्यातगुनश्रेणी निर्जरा इस प्रकार जीवके होती है।

असख्यातगुणश्रेणिनिर्जराके वर्णनमे प्राप्तव्य शिक्षा—इन सब वर्णनोंमें हम आपको शिक्षा ग्रहण करने के लिए क्या मिला? जोवको जब तक सम्यक्त्व नहीं होता तब तक वह मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत निर्जरा नहीं कर सकता है। यद्यपि-इस प्रसंगमें मिथ्यादृष्टिके भी गुणश्रेणी निर्जरा बताया जिसको कि सम्यक्त्व तुरन्त होने वाला है, लेकिन वह तो एक सम्यग्दृष्टिकी ही तरह है। ज्ञान उसका बहुत शुद्ध है और सम्यक्त्व ही होने वाला है। उस सातिशय मिथ्यादृष्टिकी बातको प्रधानतया मिथ्यात्वमें न ले जायें। वह तो सम्यग्दृष्टि तुरन्त ही नियमसे हो रहा है और फिर ऊपर जितनी निर्जरा बतायी है वह सब सम्यग्दृष्टि जीवके ही है। हम आपने अब तक सब कुछ पाया है लेकिन वह सब व्यर्थ रहा। एक कल्पना कर लिया कि मैंने पाया, पर वस्तुत मैंने कुछ नहीं पाया। मैं अपने आपमे अपने स्वरूपसे लखूँ जो कि स्वरूपत. आनन्दमय है। तो उस निराकुल स्वरूपको लखकर जो विशुद्धि बनेगी, जो सहज आनन्द जगेगा, आत्माकी वास्तविक सम्पत्ति तो यही है। बाहरी चीजें तो बाह्य वस्तु हैं। जैसे स्वप्नमें थोड़ा दिखा हुआ वैभव मेरे लिए कुछ नहीं है, केवल ख्याल ही ख्याल है इसी तरह वस्तुस्वरूपका परिचय जब तक नहीं है तब तक जागृत दशा नहीं है और मोहनींदमें सोये हुए हैं तो उस समय भी ये सब ख्याल ही ख्याल हैं। इस जीवका जीवसे बाहर कुछ नही है। किसी भी बाह्यपदार्थसे इस जीवका रच मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। यह जीव व्यर्थ ही आकुलित होता है, अपना मानकर अनुकूल प्रतिकूल समझकर अपने स्वरूपको सभाले तो इसको कहीं भी रच क्लेश नहीं है। स्वरूपदृष्टिमें रह रहा और वह एक शरीर छोड़कर अन्य शरीरमें भी जाता है तो उसका बुरा क्या? उसको कोई नुक्सान नहीं है। और एक आत्मज्ञानसे रहित होकर यहां राज्यपाट भी सभाले तो भी उसको मिला क्या? वह तो अधेरेमें ही है। विकल्प ही कर रहा है। तो इस जीवका शान्तिका साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। यद्यपि आजकल मनुष्योमे यह देखा जा रहा है कि इस रत्नत्रय धर्म और इसके साधनोंके प्रति लोगोंकी प्रीति कम है और विषयभोग विषयपरिग्रह इनमे ही प्रीति अधिक है, लेकिन ससारमे यही तो होगा, जो प्राय जीवोंको हो रहा है। यहा तो केवल एक निजकी ही बात सभालले यह मेरे लिए बड़प्पनकी बात है। दूसरेको निरखकर अपना भी निर्णय वैसा ही बनाना यह विवेक नही है किन्तु अपने देव शास्त्र गुरुके स्वरूपको समझकर अपने आपके स्वरूपको जानकर आत्महितके लिए अपना निर्णय बनाना यह विवेकका मार्ग है। तो यह यत्न होना चाहिए कि हम वस्तुके सही स्वरूपको परखें और अपने आपके स्वरूपको समझकर इस ही के निकट रहकर सन्तुष्ट रहा करें, ऐसी हमारी दृष्टि होनी चाहिए। इससे हम अपने जीवनको सफल बना सकेंगे।

जो विसहदि दुव्वयणं साहम्मिय-हीलणं च उवसग्गं।
जिणिऊण कसाय-रिउं तस्स हवे णिज्जरा विउला ॥१०९॥

कषायविजय करते हुए दुर्वचन साधर्मीहीलन उपसर्गको सहन करनेका वर्णन—जो पुरुष कषाय वैरीको

जीत करके दूसरोंके दुर्वचनोंको सहता है, साधर्मी जनोंके द्वारा किए गए अनादरको सहता है और अन्य जीवोंके द्वारा होने वाले उपसर्गोंको सहता है उस जीवके बहुत कर्मनिर्जरा होती है। इस जीवके साथ जो दूसरे लोग व्यवहार करते हैं तो वह अपने ही कषायोंकी शान्तिके लिए अपनी चेष्टा करते हैं, दूसरे जीव जो यह मान रहे हैं कि इसने मेरी इच्छाके विरुद्ध काम किया, मेरे सतानेके लिए किया, अपना अनिष्ट समझता है। वह उस दूसरे ही पुरुषका स्वयंका अपने पापका फल है। सर्वप्रथम पाप तो यह हुआ कि उस जीवने ऐसा भाव ही क्यों किया, परद्रव्यके सम्बन्धमें कि यह परपदार्थ मेरे प्रतिकूल परिणम रहा है, मुझे सताने के लिए परिणम रहा है। उसने वस्तुस्वरूपसे अपना ज्ञाननेत्र क्यों मूँद लिया? प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें ही परिणमता है। किसीमें किसी दूसरेका परिणमन ही, अधिकार ही नहीं है, इस बातको उसने अपने ज्ञानसे ओझल क्यों किया? पापफल प्रथम तो यह ही है। दूसरी बात यह है कि जो पूर्वजन्ममें पापकर्म बंधे थे उन पापकर्मोंके उदयमें ऐसे ही निमित्त मिलते हैं और इस जीवके दुःखके कारण होते हैं। तो वह पूर्वकृत पापकर्मका ही तो फल है। ऐसा समझकर जो मुनि विवेकी पुरुष दूसरेके दुर्वचनोंको समतासे सह लेते हैं उनके बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा होती है।

इस जीवके भेदविज्ञान साक्षात् जाग्रत हो रहा है। ये जो वचन हैं सो भाषावर्गणा जातिके पुद्गलके परिणमन हैं। यह पुरुष है सो अन्तः यह अपनी योग्यता लिए हुए अपनी ही शान्तिके अर्थ अपनी वैसी चेष्टा करता है। यों कोई चेष्टा कर रहा है, मैं इन सबसे न्यारा अपने ही स्वरूपमें हू, इस प्रकारकी जिसके भेदविज्ञानकी प्रतीति है वही पुरुष तो सही समतापूर्वक दूसरेके दुर्वचनोंको सह सकता है। साथमें रहने पर अनेक साधर्मी पुरुष परस्परमें जो व्यवहार करते हैं तो कितना ही संभाल कर करते हों तिस पर भी अनेक व्यवहार इस जीवको प्रतिकूल जँचने लगते हैं। अथवा मानो किसीने अपने अपराधवश दुर्व्यहार ही किया कोई अनादरकी बात ही कही, फिर भी जो पुरुष साधर्मी जनोंके अनादरके वचनको या असम्मानकी घटनाको समतापूर्वक सह लेता है उस पुरुषके बहुत कर्मनिर्जरा होती है।

समतासे परिषोढव्य उपसर्गोंका विवरण--उपसर्ग ४ प्रकारके होते हैं— देवकृत, तिर्यञ्चकृत, मनुष्यकृत और अचेतनकृत। जो व्यन्तर आदिक देवोंके द्वारा उपसर्ग किया जाता है उसे देवकृत उपसर्ग कहते हैं। जैसे श्री राम लक्ष्मणके समयमें देशभूषण कुलभूषण मुनिपर व्यन्तरने उपसर्ग किया था और राम लक्ष्मण के आते ही उनकी मुनिभक्तिको निरखकर वह देव भागा था। तो व्यन्तर भी मुनिजनोंपर उपसर्ग कर सकते है। जो मुनिराज उन उपसर्गोंको आत्मचिन्तन करके सर्वसंकटोंसे रहित ज्ञानमात्र अपने स्वरूपका चिन्तन करते हुए समतासे सह लेते हैं उनके कर्मनिर्जरा विपुल होती है। दूसरा उपसर्ग है तिर्यञ्चकृत। तिर्यञ्चोंकी प्रकृति मांस खानेकी है, इस कारण भी वे अपनी क्षुधाशान्तिके लिए मुनिराजपर उपसर्ग कर सकते हैं। उन्हें खाये मारें अथवा कोई तिर्यञ्च तो पूर्वभवके वैरका स्मरण करके समझकर क्रोधवश वैर निभानेके लिए भी उपसर्ग करते हैं। जैसे सुकौशल मुनिपर सुकौशलकी मा जो सिंह पर्यायमें उत्पन्न हुई थी उसने उपसर्ग किया था सुकौशल मुनिराजपर बहुत पूर्वभवकी भावज जो स्यालनी बनी थी, उसने उपसर्ग किया था। तो अनेक तिर्यञ्च वैर निभानेके लिए भी मुनिराजपर उपसर्ग किया करते हैं। ऐसे उपसर्गोंको भी मुनिराज समतापूर्वक सहन कर लेते है। उनके कर्मनिर्जरा विपुल होती है। मनुष्यकृत उपसर्ग भी होता है। जैसे पाण्डव मुनिपर कौरव वंशके रिश्तेदार किसी पुरुषने वैर निभानेके लिए उपसर्ग किया था। खूब अग्नि जलाया और उसमें लोहेके कड़े आदि खूब तपाये और उन तप्त लोहेके कड़ों आदि को उन पाण्डव मुनियोंके शरीरके सभी अंगोंमें पहिनाये थे, यह कहकर कि लो तुम्हें हम खूब आभूषणों से सजाते हैं। उस कठिन उपसर्गको उन मुनिराजोंने समतासे सहन किया। गजकुमार मुनिके ससुरने

जब देखा कि इस गजकुमारने अभी एक दिन पहिले तो हमारी लड़कीसे शादी किया और लो आज विरक्त होकर चल दिया तो उसे इतना क्रोध आया कि गजकुमारके शिरपर मिट्टीकी बाड़ बनाकर उसमें अंगीठी जलाया। गजकुमारने उस कठिन उपसर्गको भी समतासे सहन किया था। तो ऐसे कठिन उपसर्गोंको जो मुनि समतासे सहन कर लेते हैं उनके विपुल कर्म निर्जरा होती है। अचेतनकृत भी अनेक उपसर्ग होते हैं। कोई प्रचण्ड तेज वायु चल जाय अथवा कभी बिजली गिर जाय, कहीं कोई वृक्षकी डाल टूट जाय और मुनिराजके शरीर पर गिरे, ऐसे अनेक अचेतनकृत उपसर्ग भी होते हैं, इन उपसर्गोंको भी जो मुनिराज समतापूर्वक सहन कर लेते हैं उनके विपुल कर्मनिर्जरा होती है।

दुर्वचन उपसर्ग आदिको समतापूर्वक सह लेनेका भाव—समतापूर्वक सहन कर लेनेका अर्थ यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें न जगें। लोग उपसर्ग कर रहे हों, तो उनपर क्रोध न आये, उनको सतानेका, उन्हें शाप आदि देनेका परिणाम न जगे अथवा अपनेमें मान कषाय प्रकट न हो, कहां तो मैं ऐसा राजपुत्र, ऐसा राज वैभव छोड़कर आया और कहां यह उपसर्ग हो रहा है, यों अपनी पर्यायका गर्व रंचमात्र भी न ला सके, ऐसी कषायको जीतकर समतासे सहनेकी बात कही जा रही है। मायाचारका भी परिणाम न हो। मैंने ऐसे धर्मभेषको लिया है। अब मैं इस उपसर्गसे भी टल जाऊँगा तो लोग मुझे क्या कहेंगे, इस प्रकारकी वासनायें नहीं होतीं। लोभ भी नहीं होता। अरे शास्त्रोंमें सुना गया है कि मुनि बनकर जो इस-इस तरहके उपसर्ग सहते हैं, उन्हें मुक्ति मिलती है, उन्हें स्वर्ग मिलता है, इसलिए समतासे सह लें तो हमको बड़ा लाभ मिलेगा, इस प्रकार कोई लोभका भाव भी न जगे, किन्तु उस समय क्या चिन्तन रहता है कि मैं एक विकाररहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। मुझमें किसी परपदार्थका प्रवेश ही नहीं। यह मैं तो शाश्वत विशुद्ध चैतन्यमात्र हूं। इस प्रकारकी अन्तःस्वरूपपर दृष्टि बनी हुई है जिस दृष्टिके प्रतापसे ऐसे ऐसे कठिन उपसर्ग भी सह लिए जाते हैं। तो इन चार प्रकारके कषायोंको जीते, और इन उपसर्गोंको भी सहें समतापूर्वक, उस मुनिके कर्मनिर्जरा विपुल होती है।

कर्मनिर्जराके उपायोंमें यथाशक्ति गृहस्थोंका उद्यम—इससे गृहस्थजनोंको भी यह शिक्षा लेनी है कि अपने आपको ऐसा कष्टसहिष्णु बनायें कि शारीरिक, मानसिक और वाचनिक कोई उपद्रव भी आयें तो उसे सहन करनेका बल रहे। गृहस्थ जीवनमें दुर्व्योहारकी घटनाएँ अनेक होती हैं। पड़ौसियोंसे भी दुर्व्योहार बन जाय, ग्राहकोंसे अथवा बाहर रहने वाले पुरुषोंसे दुर्व्योहार बन जानेके बहुत मौके हैं। तो गृहस्थ भी यह विचार करके कि हमने यह मानव जीवन पाया है तो यह आत्मोद्धारके लिए पाया है। जिस प्रकार हो विकाररहित ज्ञानस्वरूप अपने आत्मप्रभुकी प्रतीति रहे इसकी दृष्टि रहे, इसकी उपासनामें ही समय जाय इसके लिए यह मानव जीवन है। पर ऐसा प्रकट और चिरकाल तक कर सकनेके लिए मैं समर्थ हूं। गृहस्थ जीवन धारण किया है तो यहां आजीविका की भी आवश्यकता है। गृहस्थीमें दो प्रयोजन हैं—तात्कालिक तद्भवमें आजीविकाका प्रयोजन। आजीविका सही न हो तो वह गृहस्थ चिन्तित रहेगा और धर्मपालनमें बाधा आयगी। तो आजीविका ठीक रखना और आत्मोद्धारका कार्य करना, इन दो कामोंके सिवाय तीसरा कोई काम करनेको नहीं है। तो जो पुरुष दुर्व्योहार करता है, खोटे वचन कहता है तो कहने दो, उससे मेरा क्या बुरा हो गया? हां यदि मेरी आजीविकापर चोट आती है तो हम उसपर विचार करेंगे। यदि मेरे उद्धारमें कोई बाधा आती है तो हम उसका प्रतिकार करेंगे, किन्तु जब मेरी आजीविकामें कोई बाधा नहीं आती और मेरे उद्धारमें भी कोई विघ्न नहीं होता तब कोई दुर्व्योहार करता है तो करने दो, उसका यह दुर्वचन उसके अनर्थके लिए होगा। लोकमें भी दुर्व्योहारका उत्तर दुर्व्योहारसे देनेमें कोई भलाई नहीं मानी जाती है। इन सब विवेकोंको रख करके जो दूसरेके दुर्वचनोंको सह लेता है उसका आत्मा उज्ज्वल होता है, पुण्यरस बढ़ता है और कर्मनिर्जरा भी विशेष होती है। देखिए—एक

केवल दृष्टिको स्वच्छ बनाने की बात है। काम कितना है? इस प्रकार जो साधर्मीजन हैं, जो समाज के लोग हैं, उस ही धर्मको मानने वाले पुरुष हैं उनके बीच रहकर भी अनेक घटनाएँ ऐसी हो जाया करती है कि जिनमे सम्मान अपमान अथवा कितने ही कलहके अवसर आ सकते हैं, लेकिन उन्हें यह सोचना चाहिए कि क्या है, धर्म क्या चीज है? जो तीर्थंकर की परम्परासे अहिंसामयी प्रवृत्ति, अहिंसामय स्वरूपका ज्ञान और अहिंसामे आचरण होनेका नाम धर्म है, उस ही जैनशासनके पालनेके लिए यथाशक्ति ये साधर्मी लोग लगे हैं और अपनी शक्ति बुद्धि माफिक ये भी इन जैन शास्त्रोंके विचार का भाव रख रहे हैं, मै भी रख रहा हूं। एक ही धर्मके ये सब मानने वाले हैं। कोई किसी प्रकारसे यदि धार्मिक बात रख रहा है चाहे उसमे थोडी गलती भी हो लेकिन साधर्मीजन ही तो है, इन्होंने किसी आवेशमे आकर यदि कुछ दुर्वचन भी कह दिया है तो आखिर साधर्मीजन ही तो हैं और वस्तुतः मेरे आत्मासे भिन्न आत्मा हैं। ये अपनी बुद्धिमाफिक धर्माचरणमें लगे हैं, मैं अपनी बुद्धिके अनुकूल धर्म-मार्गमे लगा हूं। दुर्वचन अनादर यदि कोई समानका व्यक्ति साधर्मी भाई कर देता है तो उसे भी समता पूर्वक सह लेनेकी प्रकृति गृहस्थोको भी बनानी चाहिए। तीसरी बात है उपसर्गकी। गृहस्थोंपर भी उपद्रव अनेक प्रकारके आते रहते हैं। मुनिजनोंपर तो बडा ही कोई उपद्रव कभी आता है पर गृहस्थ-जनों पर साधारणतया छोटे मोटे सब किस्मके उपद्रव रोज ही आते रहते है। उनमे भी यह विचलित न हो, अपने आपके आत्मस्वरूपका यथार्थ चिन्तन रखे तो इसके भी कर्मनिर्जरा बहुत हो सकती है।

रिण मोयणं व मण्णाई जो उवसग्ग परीषहं तिव्वं।
पाव-फल मे एदं मया वि ज संचिद पुव्व ॥११०॥

उपसर्ग परीषह आनेपर ज्ञानीका चिन्तन व अभिप्राय—जब कभी इस विवेकी ज्ञानी साधक पुरुष पर उपसर्ग आता है, तीव्र परीषह आता है तो उस समय वह ऐसा चिन्तन करता है कि मेरे पूर्वजन्ममे कमाये हुए पापका यह फल है। जो मैंने पाप कमाया उसका फल यह स्वयमेव मिल रहा है और फल मिल करके मेरे पाप विदा हो रहे हैं। पापके समयमें घबड़ाने से ही तो नुकसान है। पापके उदय आने पर यदि संक्लेश न हों, अपना ज्ञान जागृत रहे तो उस पापोदयसे हानि कुछ नही है बल्कि उससे लाभ ही है। क्योंकि वे पहिले बँधे हुए पापकर्म जल्दी ही उदयमे आकर निकल रहे हैं, पापका उदय बुरा नहीं है किन्तु पापात्मा होना बुरा है। किसी मुनिराजपर कोई बडा उपसर्ग आये तो उसे ऐसा तो नहीं कोई कहा जा सकता कि इनके पुण्यका उदय है। यही कहा जायेगा कि उन मुनिराजके भी ऐसा पापका उदय आया कि तो पापका उदय आना बुरा नहीं है किन्तु पापात्मा होना बुरा है। पापात्मा कहते हैं अपना परिणाम रागद्वेषसे मलिन होने को। सो रागी द्वेषी, कषायवान् बननेके परिणाममें बुरा है। पापका उदय आये पापका फल मिले इसमे कुछ बुरा नहीं है।

पापोदयमे हानि नहीं, किन्तु पापात्मा होने में हानिका नियम—अब आप समझ लीजिए इस दृष्टिसे कि कोई नारकी नरकमे दुःख सह रहा है, सम्यग्दृष्टि नारकी है, एक तो उसकी स्थिति और एक यहां का पुण्यवान् मनुष्य ऐसा जो कि विषयभोगोमे लीन है और अपने विषय साधनो की वृद्धिके लिए, राजपाट शासनकी वृद्धिके लिए अनेक राजाओ को सताता है, अन्याय करता है और अपने विषयभोगों मे मस्त रहनेकी धुन रखता है, तो इन दो जीवोंमे बुरा कौन है? वह नारकी बुरा नहीं है, उसके तो पापका उदय है पर आत्मा पापी नहीं बन रहा, वह विवेकी है, सम्यग्दृष्टि है, आत्मतत्त्वका चिन्तन करता है। वह पापात्मा नहीं है और यह मनुष्य जो बहुत पुण्यके ठाठमे रहता, अपने विषयसाधनोंके बढानेके लिए अन्याय भी करता है, यह पापका आत्मा है। तो पापात्मा होनेसे हानि है, पापका उदय भोगनेसे हानि नही है।

उपसर्ग परीषहोंके अवसरपर ज्ञानीका ऋणमोचनवत् निर्भार होनेकी मान्यता--सकल तथ्य समझता हुआ यह विवेकी पुरुष यह जान रहा है कि यह तो ऋणमोचन है। जैसे किसी सेठसे कर्ज लिया तो हमें स्वयं उसके घर जाकर उसका कर्ज चुका आना चाहिए और यदि वह स्वय हमारे घर पर आ रहा है लेने के लिए तो यह तो अच्छी ही बात है, हमको उस सेठके घर तक जानेका कष्ट ही न करना पड़ा। मैं उसके घर जाता और समय प्रतीक्षामें लगाता, वह मेरा समय बचा तो यह तो ऋणमोचनकी तरह है, मैं ऋणमोचनसे मुक्त हो रहा हू, इसी प्रकार जब पापके उदयमें ऐसे उपसर्ग परीषहका फल आया तो यह विवेकी चिन्तन करता है कि मुझे तपश्चरण करके इन पापके फलोंको निकालनेका काम था, लेकिन अब ये उपसर्ग परीषह आदि आकर स्वय ही ऐसी घटना मिल रही है कि पूर्वसञ्चित पापकर्म झट निकल जाये, यह तो उसके लाभके लिए ही बात है। ऐसा जानकर यह जीव उपसर्ग और परीषहके सहने में सक्लेश नहीं करता। जिसका ऐसा चिन्तन चलता है, वही पुरुष अपने स्वरूपमें लीन हो सकता है।

सत्य शान्तिके अर्थ आत्मकर्तव्योंके पालनकी अभीसे आवश्यकता--मनुष्योंको जब कभी मरणकालकी बात समझनेपर कुछ अधीरता जगती है तो उन्हीं पुरुषोंको तो अधीरता जगती है जिन्होंने अपने उद्धार का काम नहीं कर पाया। जिन पुरुषोंने आत्मोद्धारका काम कर लिया सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमें यथा शक्ति निष्कपट प्रवृत्ति की उनको मरणकी तो शका नहीं रहती है। मरणकी शका उनको है जिन्होंने आत्मकल्याणका कार्य नहीं कर पाया। ऐसे पुरुष दो प्रकारके होते हैं—एक तो अज्ञानी और एक कोई-कोई कुछ ज्ञानी पुरुष भी। अज्ञानी पुरुष तो मोह ममता करके दुःखी होते हैं—हाय मैंने इतना वैभव कमाया, इतनी सम्पदा जोड़ी, मेरे कैसे पुत्र, कैसी स्त्री, कैसा परिवार कितने ठाठ बाट, पड़ौसी गॉव नगर प्रान्तके लोग भी मुझसे खुश रहते हैं। मैं सबमें एक माना हुआ पुरुष बन गया हू, तो अब मुझे यहाँसे जाना पड रहा है, ये सब छूटे जा रहे हैं, यों अज्ञानसे लोग दुःखी होते हैं और जिन्हें कुछ विवेक मिला है ऐसे पुरुष यह सोचकर थोड़ा कष्ट समझते हैं कि मैंने मनुष्यपर्याय तो प्राप्त किया, लेकिन ऐसे अमूल्य भवको, ऐसे अमूल्य समागमको मैंने उचित उपयोगमे नहीं ला पाया, आत्मकल्याणकी बात नहीं कर पाया। मोहममता छोड़ करके विकल्पजाल विषयवासनाको तज करके मैं अपने इस चैतन्यमात्र निजस्वरूपको ही देखता रहता, इस ही मे अपने उपयोगको बसाता और ऐसा विशुद्ध उपयोग वाला रहकर मै अपने समयको बिताता यह मेरे लिए एक लाभकी बात थी, और इसके लायक मैंने सब कुछ पा लिया था। ज्ञान भी पाया था और सुविधा साधन भी पाया था लेकिन उन सबका मै लाभ न ले पाया और अब यह जन्म यों ही जा रहा, यों सोचकर कोई विवेकी भी दुःखी होते हैं। तो जिनको दुःख न चाहिए उनको अभीसे आत्मकल्याणकी बातकी प्रधानता रखना चाहिए अन्यथा उनका जीवन बुरा बीतेगा और मरण समय कष्ट होगा। इन सब बातोंके लिए हमे विवेक चाहिए और ऐसी कष्ट-सहिष्णुताकी प्रकृति बनाना चाहिए कि इन उपद्रवोंके आने पर हम उन कष्टोंसे विचलित न हो सकें।

जो चिंतेइ सरीरं ममत्त-जणयं विणस्सरं असुइ।
दसण-णाण-चरित्त सुह जणय णिम्मल णिच्चं ॥१११॥

शरीर और आत्माके यथार्थस्वरूपके परिचयीको स्वरूपपरायण होनेका अवसर--जो शरीरको यों विचारता है कि यह ममत्त्वको पैदा करने वाला है, विनश्वर है और अपवित्र है तथा जो अपने आत्माको इस प्रकार समझता है कि यह दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप है यह शुभ अथवा शिवस्वरूप है, कल्याणमय है, हितको उत्पन्न करने वाला है, निर्मल है और अविनाशी है। ऐसा ज्ञानी ही अपने आत्माके स्वरूपमें लीन हो सकता है। कर्मोंकी निर्जरा करनेका उपाय केवल अपने आत्मस्वरूपकी संभाल है, अन्य और कुछ उपाय नहीं। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी उपाय किये जायेंगे उनका सम्बन्ध होगा परपदार्थसे और

परतत्त्वके विषयमे कुछ भी उपयोग लगाये, कुछ भी लगाव रखे तो उसके कर्मबन्ध ही होगा। निर्जराका उपाय नहीं होगा। तो यह आवश्यक है कि इन दु:खोंकी परम्परा बनाने वाले कर्मोंका विनाश करनेके लिए हम अपने आत्मस्वरूपको पहिचानें और इस ही स्वरूपमे लीन रहें। इस कार्यमे जो साक्षात् बाधा देने वाले भाव हैं उनको हटाना है। सबसे अधिक बाधाकर परिणाम है शरीरके लगाव वाला परिणाम। जितना भी जीवका अनर्थ होना है वह सब शरीरके लगावसे होता है।

किसका यश और किसमे यश ?— सबसे अधिक बाधायें हैं लोकमे तो यशकी चाह और कामकी वासना। तो यशकी चाहका सम्बंध शरीरके लगाव होनेपर होता है। जो पुरुष मानता है इस शरीरको कि यह मैं हूं तब इसकी यह वाञ्छा जगती है कि इसका बड़प्पन रहना चाहिए और फिर भी यशोवाञ्छा में बढ़ता ही जाता है, पर यशके सम्बंधमें विचार करे तो यशकी चाह व्यर्थ है और व्यर्थ ही नहीं, किन्तु अनर्थ भी है। व्यर्थ तो यों है कि यशकी बात बताओ— किसका यश ? किसमें यश ? कब तक यश ? कहाँ तक यश ? और यश भी क्या चीज है ? क्रमश: इन ५ बातोंपर विचार करें। मै आत्मा हूं, एक ज्ञानदर्शन सामान्यात्मक चैतन्यपदार्थ कोई इसे जानता ही नहीं है। इसकी कोई चर्चा ही क्या करे, यश ही कोई क्या कर सकता है और इसका यश भी एक इस पद्धतिका है कि इस चैतन्य स्वरूपका यश करने वाला स्वयं अपने आपमे लीन हो जायगा, और फिर भी जिसका कि यश हो, एक सामान्यस्वरूप है, जहां सामान्यस्वरूप है वहां बड़प्पनकी बात नहीं बनती। जैसे किन्हीं मनुष्योंका नाम न होता, वे सब मनुष्य ही मनुष्य कहलाते तो कोई मनुष्य अपने यशकी चाह न करता। जब मनुष्योंके नाम जुदे जुदे रखे गए हैं तब यशकी चाहकी बात चित्तमें आती है। तो अन्त: देखो तो इस आत्माका कोई नाम ही नहीं है। इस आत्माका सामान्यस्वरूप है, उसका यश क्या ? तो यशकी बात बिल्कुल व्यर्थ हुई ना। अब बिचारो किसमे यश ? यह लोगोंका समुदाय जो कि स्वयं कर्मप्रेरित है, स्वयं असहाय है, स्वयं बरबाद हो रहा है, जो कि मरेगा, जन्मेगा, ससारमे दु:ख पायेगा, ऐसा जो यह आजका दिखने वाला लोकसमुदाय है उसमें यशकी चाह की जा रही है, ये कोई मेरे प्रभु हैं क्या इनसे मेरा पूरा पड़ेगा क्या ? तो जिसमें यश चाहा जा रहा है वह समुदाय स्वयं अशरण है, उससे यश होनेसे मेरा किञ्चिन्मात्र भी लाभ नहीं है। तो जिसमें यश चाहा जा रहा है वह लोकसमुदाय भी अपावन है, वे स्वयं बरबाद हो रहे हैं। तो इनमें यश चाहनेकी बात बिल्कुल व्यर्थ है।

कब तक और कहां तक यश ?— अब विचारो कब तक यश ? जो कल्पित भी है और सारहीन है, अवास्तविक है, असत्य है, यह भी यश कितने दिनों तक ठहर सकता है ? कोई कोई ही तो स्वार्थी लोग जब तक कि उस लगावसे स्वार्थ साधता है तब तक ही तो यश गान करेंगे। सो यह काल कितना काल है ? इस अनादि अनन्तकालके सामने न कुछ चीज है। इतने कालके पीछे यशके लिए मरे जाना यह कितनी व्यर्थकी बात है। पहिले बड़े-बड़े पुरुष हुए हैं जिन्होंने बहुत बड़े सांसारिक काम भी किए लेकिन उनका भी नाम न रहा। नाम भी कब तक लिए जायगा ? आखिर समय गुजरेगा, वह बात भी भूली हो जायगी और जो कोई भी नाम लेते हैं, यश करते है तो कोई स्वार्थ सिद्ध होता है तब करते हैं। किसी व्यक्तिके गुजर जानेपर उसके नामकी दुहाईमे भी जब तक कुछ काम बनता है, लोगोंमे कुछ अपने स्वार्थ के लिए बात फूंकी जा सकती है तब तक ही उस ही समय तक कुछ यश भी गा लिया जाता है, लेकिन यह बहुत दिनों तक टिकने वाली बात तो किसीके भी नहीं होती। अनादिकालसे अब तक अनन्ते तीर्थंकर हो गए किन्तु किसका नाम कौन जानता है। तो यश भी कितने दिनोंकी चीज है। यह व्यर्थकी बात है। अब विचारो— कहां तक यश ? लोक है ३४३ घनराजू प्रमाणमे। इस समस्त लोकके सामने यह परिचित दुनिया हम आपकी कितनीसी दुनिया हैं। यह परिचित सम्पदा कितनीसी सम्पदा है। इतनेसे क्षेत्र

में यश चाह लिया तो इससे क्या पूरा पड़ा ? यह भी व्यर्थकी बात है।

क्या यश—यशके स्वरूपपर जब दृष्टि दें तो यह बिलकुल ही सारहीन नजर आता है। यश मायने क्या ? किसी स्वार्थी पुरुषने अपनी स्वार्थसाधनाके हेतु किसी भवमर्तिकी ऐसी प्रशसा कर दी कि जिससे उसकी यह चेष्टा बने कि हम लोगोंको सुख हो, इस प्रकारके भावोंसे किसीका कुछ गुणगान कर दिया। वह गुणगान भी जीवका नही हम आपका नहीं, किन्तु एक मायामय मर्तिका। और यश भी मायामय है, यश क्या चीज है ? एक वचन ही तो है। वह वचन मेरे आत्मासे क्या सम्बंधित है ? किसीने कुछ बात कह दिया, प्रशंसात्मक वचन कह दिया तो उस वचनसे मेरे आत्माको क्या लाभ मिलता है ? भिन्न है। अचेतन है, उसका कुछ मेरेसे सम्बध नहीं है। तो यश भी क्या चीज है ? कल्पित, मायामय, असत्य, जिसमे कुछ शक्ति भी नहीं है, ऐसा एक माना गया यश यह सारहीन बात है। तो ऐसे यशकी चाह करना व्यर्थ ही है ना। व्यर्थ तो है ही, मगर साथ ही साथ अनर्थ भी है।

यशोवाञ्छाकी अनर्थता—बडे सुयोगसे आज मन पाया, मनुष्य हुए, कुछ साधन ठीक जुटे, अब इस समयमे भी हम यशोवाञ्छाके अन्धकारमें रहें तो इसका फल क्या होगा ? जैसे संसारमें त्रसस्थावरके देह हैं, जन्म हैं उनमे रहना पडेगा, जन्म मरण करना पड़ेगा। तब सोचिये कि अनर्थ कितना हुआ है ? ये सब बातें इस शरीरके ममत्वके कारण हैं। देहको आत्मा न माना होता और जैसा कि चैतन्यमात्र मैं हू इस प्रकार अपनी बुद्धिमें लिया होता तो यह यशचाहकी बिडम्बना इसे न सताती और न ससारमे रुलाती। तो ज्ञानी पुरुष इस शरीरके सम्बंधमे चिन्तन करता है कि यह शरीर ममत्वका उत्पन्न करने वाला है। शरीर ममत्वको उत्पन्न नहीं करता किन्तु उपचारसे कहा जा रहा है। अज्ञानी जन शरीरका आश्रय करके शरीरको उपभोगमे रखकर ममत्व किया करते हैं। तो ममत्व तो कर रहे ये अज्ञानी जीव किन्तु विषय है उसका शरीर इस कारण यह कहा जाता है कि शरीर ममत्वको उत्पन्न करता है। ऐसा कहनेकी आवश्यकता यहां यह पड़ी कि शरीरसे जीवका लगाव अधिक है। तो किसी प्रकार शरीरसे इसका लगाव छूटे एतदर्थ शरीर किन-किन अवगुणोंका आश्रय है और हमारी बरबादीका किस प्रकारसे कारण है, यह बताया जा रहा है।

कामवासनाकी व्यर्थता व अनर्थता—ऐसी व्यर्थ और अनर्थकी चीज है कामवासना। कामवासना क्या चीज है ? एक मनकी कल्पनामात्र। जो जीव उस समयके मनकी कल्पनाके वश हो जाते हैं वे अपने काबूमे नहीं रहते और व्यर्थकी चेष्टाये करते है। इसका सम्बंध भी शरीरसे है। सो शरीर कैसा है कि विनश्वर है और अशुचि है। जिस शरीरमे कामी पुरुषकी वासना जगती है वह शरीर क्या है ? अपवित्र, राध, रुधिर, मल सबका यह एक पिण्ड है। ऐसे अपवित्र शरीरको ज्ञानीपुरुष अपवित्र देख रहा है। इसी कारण उसको इस सम्बंधमे वासना नहीं होती। तो यह शरीर विनश्वर है और अपवित्र है। विनश्वरता की बात तो बहुत स्पष्ट है। हम आप देखते ही है कि यह शरीर छूट जाता है, जला दिया जाता है। इसमे कुछ दम तो नहीं है। अशुचिताकी बात यह है कि इसमे जो कुछ भरा है कुछ भी तो ऐसा नहीं है कि जो कुछ पवित्र हो। तो ज्ञानी जीव शरीरको ऐसा विनश्वर और अशुचि निहारता है जिससे आत्मा को इस परतत्त्वसे पृथक कर आत्माके स्वरूपका आश्रय किया जाय।

स्वरूपपरायण होनेके पौरुष वाले ज्ञानीका स्वरूपके सम्बधमे चिन्तन—अब जिस आत्माको देहसे विभक्त करके समझता है उस आत्माके सम्बधमें यह ज्ञानी समझता है कि यह दर्शन, ज्ञान, चारित्रका पिण्ड है, यह आत्मा अमूर्त है इसमे दर्शन श्रद्धान, दर्शन-सामान्य प्रतिभास ज्ञान-जानना, और रमना, आनन्द पाना, निराकुल रहना, ये सब इसके गुण है, ये गुण सुखके जनक है शान्ति उत्पन्न करने वाले हैं, इनसे हित ही हित प्राप्त होता है, और ये सभी गुण आत्माके निर्मल है। आत्मा स्वय अपने आप

जिस स्वरूपमें है वह स्वरूप अविकार है, मल रहित है, वह स्वरूप नित्य है, इसका कभी वियोग नहीं होता। ऐसे पवित्र आत्मस्वरूपको यह ज्ञानी जानता है तभी तो उस शरीरसे हट कर इस परम पावन अमूर्त चैतन्य मात्र हितस्वरूप अपने आत्माके स्वरूपमें लीन होता है। यह अपने गुणोंके वैभवोंको स्पष्ट जान रहा है। सम्यग्दर्शन निर्मल वह है जहाँ किसी प्रकारका मद नहीं, शंका आदिक दोष नहीं। २५ दोषोंसे रहित सम्यक्त्व आत्माका भला करने वाला है। इसी प्रकार निर्दोष ज्ञान आत्माका भला करने वाला है। इस प्रकार राग द्वेष से रहित आत्माके ज्ञानस्वरूपमें रमण करना यह अपना शुद्ध सहज आचरण आत्माका भला करने वाला है और यह स्वरूप नित्य है, शाश्वत है। ऐसा अपने आत्माको हितमय आनन्दमय पवित्र निहारता है, इसी कारण वह परसे हट कर अपने आपमें लगाये हुए है। भव-भवके संचित किए हुए कर्म झड़ सकते हैं तो स्वभावके आश्रयसे ही झड़ सकते हैं। इसका अन्य कोई उपाय नहीं है।

अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेइ बहुमाणं।
मण इंदियाण विजई स सरूव-परायणो होउ ॥११२॥

आत्मनिन्दन करने वाले ज्ञानीकी स्वरूपपरायण पात्रता—ऐसा ही जीव अपने आनन्दमय स्वरूपमें लीन हो सकता है जो अपने आपकी निन्दा करता है अर्थात् जैसे पर्याय रूपमें यह आत्मा चलता रहा है वह इस समय अपने स्वाभाव शील पर जमा हुआ नहीं है। यह विषयोंमें, कषायोंमें, विकल्पोंमें चल रहा है तो यह इसका अपराध है। आत्माका अपराध क्या है? आत्मा अपने स्वभाव दर्शनसे चिग जाय और बाह्य पदार्थोंमें स्नेह मोह उत्पन्न करे तो यह उसका अपराध है। इस अपराधकी वह निन्दा करता है। आत्माका अहित करने वाले जो विषय कषाय हैं, इनकी वह निन्दा करता है, इन्हें बुरा समझता है। निन्दा तब होती है जब दृष्टिमें भली बात भी चल रही हो। अपने पापकी निन्दा कौन कर सकेगा, जिस की दृष्टिमें यह झलक होगी कि आत्मा तो पापरहित स्वरूप वाला है। आत्मा पाप न करे तो इसका बड़ा उत्कृष्ट स्थान है। मुझे पाप न करना चाहिए, इस बातका जिसके बोध हो वही पुरुष तो पापकी निन्दा कर सकता है। तो ज्ञानी पुरुष अपने आपकी निन्दा करता है। अपने आपकी निन्दा करनेका अर्थ है आपके द्वारा किये गये विषय कषाय इच्छा आदिकके परिणामोंकी निन्दा करता है। जो पाप परिणामोंकी निन्दा करता है वही उन परिणामोंसे हट कर शुद्ध आत्मस्वभावमें लीन हो सकेगा।

गुणवंतोंका बहुमान करने वाले ज्ञानीकी स्वरूपपरायण पात्रता—ज्ञानी पुरुष गुणवन्तोंका बहुत मान करता है। जिसको गुणोंकी चाह है, अपने गुणविकाससे प्रेम है वह जहां भी गुण विकास देखेगा उससे वह प्रीति करेगा, उनका बहुमान करेगा। लोकमें ऐसी रीति ही है नीति ही है—जो जिसका अर्थी है वह उसके आधारोंसे प्रीति करता है। और इस ज्ञानीको गुणग्रहणमें प्रेम उपजा है। गुण हैं आत्माके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। सम्यग्दर्शन—अपने आत्माके सहज स्वरूपके श्रद्धान होनेको कहते हैं। जैसे—कोई चीज होती है तो वह चीज अपने आप अपना कुछ स्वरूप तो रखती ही है अन्यथा चीज ही क्या। मैं अपने आपमें सहज अपना स्वरूप तो कुछ रख ही रहा हूं, जो मेरे सत्त्वके कारण ही मेरेमें स्वयं प्राप्त है। ऐसा सहजस्वरूप क्या है? वह सहज स्वरूप है चैतन्य, ज्ञानदर्शन, रूप, रस गंध स्पर्शसे रहित यह चैतन्यस्वरूप, यही मेरा स्वरूप है, स्वभाव है, इसकी दृष्टिमें जो लगता है उस को उन सब गुणवानोंमें प्रेम जगेगा ही जिन जिनने अपने ऐसे आत्मस्वरूपमें लगाव लगाया है। जो पुरुष ज्ञानका अर्थी है वह ज्ञानमें बढ़े हुए पुरुषोंसे प्रीति करेगा ही, उनका बहुमान करेगा ही। जो ज्ञान के रसिया नहीं हैं, अज्ञान अंधकारमें डूबे हुए हैं, जिन्होंने गुणोंका स्वाद ही न जाना, वे गुणवंतोंका बहुमान कर ही क्या सकते हैं? पर जो गुणके अर्थी हैं, गुणका रहस्य जान चुके हैं वे गुणवन्तोंका

बहुमान करते हैं। जो पुरुष गुणवन्तोंका बहुमान करते हैं वे अपना ही वास्तविक सम्मान करते हैं। वे ही अपने विशुद्धस्वरूपमे लीन हो सकनेके पात्र हैं। गुण कहलाते हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इनमें अपनी प्रीति होनी चाहिए और सम्यक्त्व चारित्रवान पुरुषोंमें अपनी भक्ति उपासना होनी चाहिए। तो जो पुरुष गुणवन्तोंका बहुमान करते हैं वे अपने स्वरूपमे परायण हो सकते हैं।

मन और इन्द्रियके विजयी ज्ञानी जीवकी स्वरूपपरायणपात्रता—अब कहते हैं कि मन और इन्द्रियका विजयी पुरुष ही अपने आत्माके स्वरूपमें लीन हो सकता है। मन और इन्द्रिय क्या है? ये आत्माके वैभव नहीं आत्माके स्वरूप नहीं, किन्तु फंसे हैं शरीरमें और फंसे हैं कर्मबन्धनमें, तो ये मन और इन्द्रिय एक खिड़की जैसा काम कर रहे हैं। जैसे कमरेमें खड़ा हुआ पुरुष खिड़कियोंसे बाहरकी बातोंको देख लेता है, लेकिन क्या उस खिड़कीसे इस पुरुषका कुछ सम्बन्ध है? खिड़की भी इस पुरुषकी कुछ चीज है क्या? अथवा खिड़की ही देख रही है क्या? नहीं। इस बन्धनमें चूँकि वह कमरे के भीतर है, उस पुरुषकी परिस्थिति ऐसी है कि वह खिड़कीमे ही जान सकेगा। इसी प्रकार यह जीव आज शरीरके बन्धनमे है, अज्ञान दशामे है, कर्म फसावमे है सो यह ऐसी परिस्थितिमें है कि इन इन्द्रिय और मनकी खिड़कियोंमे जान और देख सकते हैं, लेकिन इनका सम्बन्ध नहीं है आत्मासे और न ये इन्द्रिय मन ही स्वयं जान रहे हैं। यह तो एक कलंक है। जब तक इन्द्रिय और मनका सम्बन्ध है, उपयोग है तब तक जीवको केवलज्ञकी प्राप्ति नहीं होती, यह सर्वज्ञ नहीं बन सकता। ये मन और इन्द्रिय अपने विषयोंमें लग रही हैं, यह व्यर्थ भी है और अनर्थ भी है। इन इन्द्रिय और मनकी प्रेरणासे ही ये जीव संसारमें भटकते हैं, कर्मबन्ध करते हैं और नाना देहोंमे जन्म लेते फिरते हैं। तो जो अपने आत्माके रहस्यको जान चुके हैं कि यह आत्मा सहज ज्ञानानन्द स्वरूप है, वे मन और इन्द्रिय पर विजय करते हैं और ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी भावना करके अपने स्वरूपमें लीन होते हैं। इस तरह परसे हटकर स्वरूपमें लीन होने वाले पुरुषोंके विपुल कर्मनिर्जरा होती है।

तस्स य सहलो जम्मो तस्स य पावस्स णिज्जरा होदि।
तस्स य पुण्णं वड्ढदि तस्स वि सोक्खं परं होदि ॥११३॥

स्वरूपपरायणके श्रेयोलाभके प्रकरणमे मूलप्राप्त भेदविज्ञानकी वार्ताका प्रारम्भ—उसका जन्म सफल है और उसही के पापकी निर्जरा होती है और उसके ही पुण्य बढ़ता है और उसके ही उत्तम सुख होता है जो मुनि परभावसे हट कर अपने स्वरूपमे लीन होता है। जिस जीवने तत्त्वनिर्णय करके हेय और उपादेय का विवेक किया है। हेय क्या है, उपादेय क्या है? हेय हैं समस्त परभाव और उपादेय है स्वभाव, उस स्वभावकी दृष्टिके लिए जिसने अपना अन्त पौरुष किया है और समझा है कि दृश्यमान यह सब जो लौकिक दृष्टिसे भी असंबन्धित प्रकट भिन्न द्रव्य है वह तो अलग है ही, किन्तु जिन्हें अपनी कल्पना मे मान रखा है ऐसे घर परिवार वैभव ये भी प्रकट भिन्न हैं और जिस देहसे इस जीवका एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, जहा आत्मप्रदेश वहाँ देह स्कध, जहाँ देह स्कध वहा आत्मप्रदेश, इस प्रकारका जहा एक-क्षेत्रावगाह बन्धन है ऐसे शरीरसे भी मैं आत्मा न्यारा हू और इससे और अन्तरङ्गमें पहुंचकर चिन्तन करता है कि यह कार्माण शरीर जो कर्मोंका पिण्ड है उससे भी मैं निराला हू, कर्म अचेतन हैं, मैं चेतन हू। यद्यपि इन कर्मोंका ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है जीव परिणामके साथ कि क्रोधादिक कषायोंका उदय आया तो जीवमे कषाये जगे, ज्ञानावरण आदिक का क्षयोपशम हो, उसके अनुसार जीवके ज्ञान कुछ प्रकट हुआ। ज्ञानका वहाँ पूर्ण विकास होता है जहाँ ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय हो जाता है, जितने अंशोंमे ज्ञानावरणका उदय है उतने अंशोंमें जीवके अज्ञानभाव है। सातावेदनीय असातावेदनीय आदिक पुण्य पाप प्रकृतियोंका उदय आने पर उस प्रकार जीवमे शुभ अशुभ सुख दु ख आदिक परिणाम उत्पन्न होते

है। ऐसे कर्मोंके साथ जीव परिणामका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी जीव इन कर्मोंसे अत्यन्त पृथक् है। तो त्रिकालमे भी कर्म अणुवोंका जीवस्वरूपसे मिलान नहीं होता। यों कर्मोंसे भी यह मै आत्मा न्यारा हूं।

आत्मामे उत्पन्न हुए परिणामोसे विविक्तत्वकी दृष्टि——अब तक अचेतन और अचेतनके परिणमनोसे विविक्तताकी बात कही, अब उससे और अन्तरङ्ग भावपर पहुचे तो देखा कि कर्मोके उदयका निमित्त पाकर जीवमें जो सुख दु:ख शुभ अशुभ रागद्वेषादिक भाव उत्पन्न होते हैं, यद्यपि उन भावोंरूप परिणमता यह जीव ही, तथापि ये जीवके स्वरूप नहीं हैं, जीवके निजि भाव नहीं है। हैं यद्यपि रागादि जीवके ही भाव लेकिन औपाधिक भाव हैं, परपदार्थका निमित्त पाकर हुए हैं इस कारण ये परभाव हैं, ऐसा जानकर उन रागद्वेषादिक भावोसे अपनेको न्यारा समझना है। इससे और अन्तरङ्ग दृष्टि पहुंची, वहां यह चिन्तन करता है कि ज्ञानावरणके क्षयोपशम और रुचिके अनुसार जो आत्मामे कल्पनायें, विकल्प, छुटपुट ज्ञान जगते हैं ये भी यद्यपि हैं जीवके परिणामक किन्तु ये नैमित्तिक हैं, ये भी यद्यपि हैं जीवके परिणमन किन्तु ये नैमित्तिक है। कर्मोंकी स्थितिका निमित्त पाकर ये हुए हैं अतएव ये भी मैं नहीं हू। इस तरह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिकके ज्ञानविकल्पोंसे भी अपनेको न्यारा देख रहा है। इससे और अन्त:दृष्टिमें पहुंचनेपर यह निरखता है कि जो यह विशुद्ध ज्ञान है, जिसमें रागका मिश्रण भी नहीं है अथवा जो रागप्रेरित भी नहीं है ऐसे तत्त्वके सम्बंधमे वस्तुविषयक जो कुछ ज्ञान चल रहा है वह ज्ञान भी चूँकि ऐसा जाननमात्र मेरा स्वभाव नहीं है, यह अधूरा ज्ञान है, ऐसा अपूर्ण ज्ञान होना मेरा स्वभाव नहीं है क्योंकि मै अपूर्ण नहीं। तो यह भी मैं नहीं हूं। मै इससे न्यारा हूं। अन्त और दृष्टिमे गए वहां पर यह एक कल्पना जगी, यह प्रकाश हुआ कि चलो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिक ज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है, तो न रहो, लेकिन केवलज्ञान तो जो समस्त विश्वका जाननहार है वह तो स्वरूप होगा। अन्त:दृष्टिमे पहुंचे हुए ज्ञानीके यह अनुभव हो रहा है कि परिपूर्ण समस्त लोक अलोकवर्ती पदार्थोंका जाननहार ज्ञान परिणमन भी मेरा स्वरूप नहीं है। यद्यपि स्वरूपके अनकूल ही यह शुद्ध परिणमन है जो कि आत्माके स्वरूपका समर्थन करता है, स्वरूपका दर्शन करानेमें अधिक सहयोगी बनता है तेसा यह केवल ज्ञान भी चूँकि पर्याय है, तथापि यह प्रतिक्षणमें नया-नया स्वभाविक एक समान ज्ञानपरिणमन होता रहता है इस कारण यह ज्ञान भी मेरा स्वरूप नहीं है। तब मै क्या हूं? मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन: पर्ययज्ञान और केवलज्ञान, इन समस्त ज्ञानपर्यायोंमे विविक्त किन्तु इन ज्ञानपरिणतियोंका आधारभूत जो एक शाश्वत ज्ञानस्वभाव है, सहज ज्ञान है वह मैं हू, इस प्रकार ज्ञानी अन्त:दृष्टिमें चिन्तन कर रहा है। इस समय भी यदि कोई यह कहे कि चलो यह ज्ञानस्वभाव मेरा स्वरूप नहीं, तब यह एक ज्ञानस्वभाव तो मेरा स्वरूप है इस अन्त: दृष्टिमे जो समाया है उसका लक्ष्य करके उत्तर दिया जाता है कि जिस स्वभावके सम्बंधमें यह एक मेरा स्वभाव है ऐसे एक रूपसे भी जिसको बांधा जाय तो ऐसी सीमा निरखकर जो उसका क्षेत्र केन्द्रित किया गया, इस प्रकारका केन्द्र एक रूप एक सख्यामें बद्ध भी मै नहीं हू किन्तु एक अनेक समस्त विकल्पजालोसे रहित जो चैतन्य मात्र हूं वह मैं हू इस प्रकारका जिसने अनुभव कर लिया ऐसा जीव सर्वत्र समताभाव धारण कर रहा है।

ज्ञानीपुरुषके समताका पौरुष——कोई दुर्वचन कहता है तो क्या, साधर्मी जनोंसे अपमान हो रहा है तो क्या, ज्ञानी तो कषायवैरियोंको जीतकर अपने स्वरूपमें परायण हो रहा है। कैसा ही कर्मफल आया तो क्या है? जो पहिले पूर्वपाप कमाया है वे निकल रहे हैं। भला है, मै उन पापोसे अब रहित बन रहा हूं, निर्भार हो रहा हू। किसी भी विपत्ति उपसर्ग आदिकमे ज्ञानी पुरुष अधीर नहीं होता। उसकी निरन्तर प्रतीति है कि मैं देह आदिकसे भिन्न ज्ञान, दर्शन, चारित्र स्वरूप निर्मल नित्य चैतन्य ज्योति हूं। कभी

अपने आपमें ऐसी दुर्बलता पाता है कि कोई दृष्टिसे चलित होकर किन्हीं बाह्य वृत्तियोंमें लगता है वह प्राय: शुभ भी होता, अशुभ तो होता नहीं। कभी परोपकार आदिकके भावसे कोई शुभवृत्तियां भी जगे तो उन वृत्तियोंपर भी अपनी निन्दा करता है क्योंकि यह आत्मा स्वरूपसे हटकर परकी ओर लगानेको अपराध मानता इस तरह जो अपने अपराधकी निन्दा करता है और ऐसे शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिमे निरत रहने वाले गुणवन्तोंका बहुमान करता है वह अपने स्वरूपमे परायण होता है। ऐसे स्वरूपपरायण वाले जीवका जन्म सफल है।

ज्ञानभावके अङ्गीकारमें सर्वदा लाभ—यह मनुष्यभव मिला है जिसमें बहुत कुछ समझनेकी योग्यता है। इस समय हम चाहें तो अपने स्वरूपका यथार्थ निर्णय करके स्वरूपमे लीन होनेका पौरुष बना सकते है। यदि इस मौकेको भी खो दिया और अनेक भवोंकी भाँति परिजनोंमें, परतत्त्वोंमें स्नेह मोह ममत्व करके यह समय गँवा दिया तो इस भूलकी पूर्ति होनी कठिन है, इस समय यह कर्तव्य है कि यथार्थ आत्मस्वरूपको जानकर इसमे ही नेह लगाये, इसके ही ध्यानमें रहें तो कर्मनिर्जरा होगी और उसका जीवन सफल है, ऐसी वृत्ति करते हुएमे जो शुभ भाव होते हैं उन शुभ भावोंके कारण पुण्यरसकी वृद्धि होती है। लोकमें सबसे अधिक पुण्यवान महाभाग वैभववान यदि कोई हो सकता है तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष ही हो सकता है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टिको चक्री तीर्थंकर जैसा वैभव प्राप्त नहीं होता और ज्ञान धर्म की साधना हुए विना तो कोई जीव नारायण आदिक जैसे भवोंको भी प्राप्त नहीं कर सकता। भले ही पूर्वजन्ममें ज्ञान प्राप्त किया हो और उसके फलमें अब नारायण प्रतिनारायण होकर चाहे सम्यक्त्व न रहे, चाहे शुद्ध अभिप्राय न रहे, लेकिन विशिष्ट ज्ञान ध्यान हुए विना इस लोकमे माना गया वैभव नहीं मिलता है तो धर्मका तो बहु और प्रताप है। भीतर कर्मकी निर्जरा हो रही है, मुक्तिके मार्गमें प्रगति हो रही है और जब तक ससारमे रहना होता है तब तक बडे वैभव और पुण्य ठाठ बाटके साथ ज्ञानीका संसारमें वास रहता है। यों इस ज्ञानी जीवके पुण्यकी वृद्धि होती है और उत्तम सुख जो मोक्ष सुख है वह भी अपने स्वरूपमे लीन होने वाले पुरुषोंको ही प्राप्त होता है।

जो सम-सोक्ख-णिलीणो वारवार सरेइ अप्पाणं।
इंदिय कसाय-विजई तस्स हवे णिज्जरा परमो ॥११४॥

निर्जराका फल अधिकार आदि जानकर अपने कर्तव्यके पालनका अनुरोध—जो समताके सुखमे लीन होता हुआ बार बार आत्माका स्मरण करता है—वह इन्द्रिय कषाय पर विजय करने वाला महाभाग भव्य जीव शान्तिका अनुभव करता हुआ उत्कृष्ट निर्जराको करता है। इस जीवने पहिले कषाय और योगके कारण अनेक कर्मबन्ध किया था। आजके समयमे हम आपके जीवके साथ या जगतके किसी भी जीवके साथ कितने भवोंके कर्म बँधे हुए लगे हैं इसका उत्तर हजार लाख भव तकके कहने मे भी नहीं बनाता। अनगिनते भवों तकके भी बँधे हुए कर्म इस जीवके साथ लगे हुए हैं। उन उदय प्राप्त अनेक निषेकोंका उदय तो आ रहा है एक साथ और जिनका उदय आ रहा है वे कर्म करोड़ों वर्षोंके बँधे हुए है, तब जीव पर कषायोंका बडा आक्रमण है निमित्त दृष्टिसे कर्मोंका और उस समय जीव जो अपने स्वरूपसे च्युत होकर परभावोंमे लगता है यह आक्रमण इस जीवपर इस आत्मदेव पर कितना भयकर आक्रमण है जो ससारमे जन्ममरण करानेका कारण बनता है। तो उन कर्मोंकी निर्जरा किए विना हम आपका भला नही हो सकता। यहाँ चार दिनकी यह चाँदनी दिख रही है, कुछ वैभव प्रसग आ रहे हैं जिनमें अपने मनको स्वच्छन्द बनाया जा रहा है, हठकी जा रही है ऐसा यह समय तो स्वप्नवत हो जायेगा यहाके किए हुए पापके फलमें इसे जन्म मरणकी परम्परामें बहना होगा। तो कर्तव्य यह नहीं है कि जैसा मनने चाहा वैसी ही हठ करके अपना मन खुश रखना। कर्तव्य यह है कि ऐसे सुकृत करना जिन

कार्योंसे ये कर्मोंके निपेक निर्जीर्ण हों।

कर्मनिर्जराके कर्तव्यपालनमे—ये कर्म खिर रहे हैं। ये कर्म अभी थे और अब नही हैं, ये कर्म यों जा रहे है, इस बातको हम आप तो नही परख सकते लेकिन विशिष्ट मुनि जिनके विशिष्ट अवधिज्ञान है ऐसे उत्कृष्ट अवधिज्ञानके धारी मुनि इस बातको साक्षात समझ रहे हैं, ओह ये कर्म खिरे, इनकी निर्जरा हुई, इस तरहसे दूर हुए, इस तरह उन रूपी सूक्ष्म कार्माण स्कंधोंका ज्ञान उन विशुद्ध हृदय वाले उत्कृष्ट मुनिजनोके उत्कृष्ट अवधिज्ञानमें संभव है। इन कर्मोंकी निर्जरा होने का हमें ज्ञान हो अथवा न हो। मतलब तो कामसे है। देखने और गिननेसे क्या मतलब है? जो जीव परभावोंसे विरक्त होकर अपने स्वरूप मे लीन होता है वह चाहे शास्त्रोंका विशेष ज्ञाता भी नहीं है, किन्तु प्रयोजनभूत आत्मीय शुद्ध तत्त्वका ज्ञाता है और अष्टप्रवचनमालिकाकी उपासना करने वाला है, ऐसा जीव इन कर्मोंसे छूटता है और मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

ज्ञानीके अकर्ता अभोक्त संसारमोक्षकल्पनासे विविक्त अन्तस्तत्त्वका चिन्तन—भैया! सब प्रकारकी अशान्तियाँ दूर करनेके लिए कर्तव्य है आत्मस्वरूपके अवलोकनका। सब कुछ काम कर रहे हैं। काम कुछ नहीं करते, केवल कल्पनायें ही बनाते हैं। जीव कितना है यदि उतने स्वरूपको निरखकर निर्णय करें तो आप स्वय समझ लेंगे कि यह मैं आत्मा केवल अपने आपमे अपने भाव करता हूं। मैं अपने भावोमे इच्छा बनाता हूं और जो इच्छाके कारण मेरे आत्मप्रदेश क्षुब्ध होते हैं, इनका परिस्पद होता है। यो योग, इच्छा, ज्ञान इनके तो हम करने वाले हो सके, पर इनके बाहर मै कुछ भी कर सकने वाला नहीं हू। अन्यकी तो बात जाने दो। मै अपने इस हाथको इस चौकीके खूँटसे उठाकर दूसरे खूँटपर रख दूँ, सो भी नहीं कर पाता, यद्यपि देख रहे हैं लोग ऐसा कि हाथ यहाँसे उठाकर वहां रख दिया। तिसपर भी मै इस हाथके रखनेका कर्ता नहीं हू। जो अन्तःअमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा है उस आत्मामें यह कर्तव्य न हो पायगा कि इस हाथको इधरसे उठाकर उधर रख दे, किन्तु हो तो रहा है ऐसा। हां हो रहा है, लेकिन किस प्रकार हो रहा है उसे तो जानो। यह सब निमित्तनैमित्तिक भावोंसे हो रहा है, न कि आत्मा सीधा इस हाथको उठाकर दूसरी जगह रखता है। हुआ क्या कि आत्माने तो एक इच्छा उत्पन्न की कि मैं यहांसे हाथ उठाकर यहां रखूँ और उस बलवती इच्छाके कारण आत्माके प्रदेशोमें उस प्रकारका योग हुआ, आत्मप्रदेशोमे परिस्पंद हुआ, उस योगके निमित्तसे चूँकि शरीरका आत्माका एक क्षेत्रावगाहबन्धन है ना तो शरीरमे उस प्रकारका हलन चलन हुआ। शरीरमें हलन चलन होनेका मूल कारण बनता है वायु। उस प्रकार शरीरमें वायु चली और वातके अनुकूल ये अंग चले, तो एक खूँटसे उठकर यह हाथ दूसरे खूँटमें आ गया, पर इस स्थितिमे भी मै जो आत्मा हूं, जिस स्वरूपको लिए हुए हू उस आत्माने हाथको उठाकर यहासे वहां नहीं रखा। अब आप सोचिये कि घर बनाना, धन कमाना और अनेक प्रकारके काम, जिन कार्मोंमें निरन्तर यह जीव विकल्प रखा करता है कुछ काम कर देना क्या इस आत्माका काय है? नहीं है। तो ऐसा परिणाम, ऐसा निर्णय, ऐसा प्रकाश जिस जीवके है तब वह अपनेको अकर्ता और अभोक्ताके रूपमे अनुभव करता है। यहां तक कि ससार और मोक्ष इनके विकल्पोंसे भी रहित केवल शुद्ध चैतन्यमात्र अपने आपका अनुभव करता है। तो इस भव्य जीवके अन्तः पौरुषके प्रतापसे संसार संकट नष्ट हो जाते है।

कर्मोंसे छुटकारा पानेका एकमात्र मूल उपाय—यह भव्य जीव जो दुःखके हेतुभूत कर्मोंका विनाश कर रहा उसका वह मूल उपाय क्या है? वह मूल उपाय एक है, धर्मका स्वरूप एक है, धर्म करनेकी विधि एक है। भले ही कोई धर्मविधिमें आगे बढ़ता है कोई धर्मविधिमें पीछे रह रहा है, लेकिन उन सबकी विधि एक है। बडे-बडे ज्ञानी ध्यानी मुनिजन भी मोक्षमार्गमे जो बढ़ रहे हैं वे एक इस शुद्ध आत्मस्वभावकी

दृष्टिसे ही बढ़ रहे हैं, इस सहज ज्ञानस्वभावके आलम्बनके प्रतापसे ही बढ़ रहे हैं और जो साधारण मुनि मोक्षमार्गमें चल रहे हैं वे भी इस शुद्ध चैतन्यमात्र अतस्तत्त्वके आलम्बनसे ही चल रहे हैं, जो गृहस्थ भी अपनी शक्ति अनुसार मोक्षमार्गमें चल रहे हैं वे भी इस निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यमात्र भावके आलम्बनसे ही चल रहे हैं। मोक्षमार्गमें चलनेकी विधि एक है, धर्म एक है और कर्मनिर्जरा होनेका उपाय भी यह धर्म है, वह एक है, अपने स्वरूपका आलम्बन करना, क्योंकि कर्म आये हैं कषायभावोंका निमित्त पाकर। वे कषायें न जगें तो स्थिति क्या बनेगी? एक कषायरहित। उस स्थितिमें आलम्बन किसका लिए हुए हैं? इस ही अविकार ज्ञानानन्दस्वभाव अन्तस्तत्त्वका। तो जो पुरुष सर्व प्रकारसे तत्त्वनिर्णय करके परभावोंसे हटकर इस ज्ञानानन्द मात्र आत्मस्वरूपमें लगता है उसके परम निर्जरा होती है और निर्जराका फल है मोक्ष। जब नये कर्म न आये, संवरभाव बन गया और संचित कर्म निर्जीर्ण हो गए, कर्मोंसे छुटकारा हो गया यहां अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्रकट होगा, इसही का नाम मोक्ष है। तो सत्य शान्ति प्राप्त करने के लिए यह उद्यम होना ही चाहिये कि हेय उपादेयका ज्ञान करे। हेयसे छूटकर उपादेयभूत सहज ज्ञानमात्र आत्माकी उपासनामें रहा करें।

❀ अनुप्रेक्षा प्रवचन द्वितीय भाग समाप्त ❀

अनुप्रेक्षा प्रवचन तृतीय भाग

लोका अनुप्रेक्षा

सव्वायासमणंतं तस्स य बहु-मज्झ-संठिओ लोओ ।
सो केण वि णेव कओ ण य धरिओ हरि-हरादिहिं ।।११५

लोकानुप्रेक्षामें सर्वप्रथम लोकके स्थानका निर्देश—अब इस अनुप्रेक्षाग्रन्थमें लोकअनुप्रेक्षाका वर्णन किया जा रहा है। लोक क्या है, किस तरहकी उसमें रचना है, कैसे जीव रहते हैं और लोकमें कैसे भ्रमण होता है? इसके सब विषयोंका वर्णन इस भावनामें आया है। तो सर्वप्रथम यह जानना जरूरी है कि लोक है क्या? लोक शब्दका अर्थ है जहां समस्त पदार्थ देखे जाये। जहां जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये छहों द्रव्य पाये जाते हैं उसका नाम है लोक। यह लोक कहां है? यह समस्त आकाशके बीचमें स्थित है। सारा आकाश कितना है? अनन्त। क्या आकाशका कहीं अन्त आ सकता है? जैसे कल्पना करो कि कोई अनगिनते वर्षोंकी उम्र वाला पुरुष हो और बहुत तेजीसे गमन करता हुआ चला जाय तो क्या उसको कोई ऐसा स्थान मिलेगा कि जिसके बाद अब आकाश न हो? आकाश न हो तो क्या होगा? कोई पिण्डभूत चीज। तो पिण्डभूत चीज भी आकाशमे रहती है और उस पिण्डका पिण्ड अन्त है तो उसके बाद भी आकाश है। आकाशका अन्त नहीं आ सकता, मोटे रूपसे भी यो परख लो कि आकाश है एक-पोल जैसी चीज। तो पोलका कहीं अन्त आये तो क्या मिलेगा? कोई ठोस चीज। ठोसका तो नियमसे अन्त होता है, उसके बाद भी पोल आयगा, पर पोलका अन्त नहीं है। एक मोटी बात कह रहे हैं। आकाश कोई अभावात्मक वस्तु नहीं है। किन्तु सद्भावरूप अनन्तप्रदेशात्मक एक पदार्थ है। उस आकाशका अन्त नहीं है। ऐसे अनन्त आकाश के बीच यह लोक है। लोक कहीं भी हो, वह तो आकाशके बीच ही है। चारों ओर आकाश अनन्त पड़ा हुआ है। तो समस्त आकाश अनन्त है और उसके बहुत मध्यममे स्थित लोक है।

लोकका आकार व परिमाण—इस लोकका आकार एक इस तरहका है कि जैसे मानो ७ लड़के एक-सी ऊँचाई वाले हैं, एकके पीछे एक खड़ा हो जाय और वे ७ लड़के पैर पसारकर कमरपर हाथ धरकर खडे हों तो यह लोकका आकार बनता है। उसमें मानो कि एक पैरसे दूसरे पैर तक नीचे जितनी दूर है वह है ७ राजूप्रमाण और नीचेसे लेकर ऊपर सिरकी ग्रीवा तक वहीं तक ही लोक है। उसका परिमाण है १४ राजूप्रमाण। और नीचेसे यह ७ राजू घटते-घटते जो कटिभाग तक घट गया है वहां है एक राजूप्रमाण। फिर इसके ऊपर जो कमरपर हाथ रखनेसे टेहुनियां फैली हुई हैं तो उनका क्षेत्र है ५ राजू प्रमाण। फिर वे टेहुनियां और सिकुड़कर कधे ग्रीवा तक जो क्षेत्र रह गया वह है एक राजूप्रमाण, लेकिन पीछेकी तरफ सब जगह ७-७ राजू हैं, इसलिए ७ लड़कोंका दृष्टान्त बताया है। कमरके पीछे देखो तो ७ राजू हैं, ७ लड़के हैं। पैरके अंगुठेकी तरफ देखो तो ७ राजू हैं। बीचमे कहीं भी निरखो सर्वत्र ७-७ राजू है। इस तरह गणितके अनुसार यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण बन जाता है। अब एक राजू का प्रमाण कितना बड़ा है? जिसको एक मध्यलोकके परिमाणके उदाहरणसे बताया है। यह मध्यलोक जो कि कटि भागपर है नक्शेमें वह मध्यलोक हैं एक राजू प्रमाण सूची वाला, जिसमे कि असख्यातेद्वीप समुद्र समाये हुए हैं। जो एक दूसरेको घेरे हुए हैं। उसमे जो प्रथमद्वीप है जम्बूद्वीप, उससे दूना है समुद्र, उससे दूने विस्तारका है द्वीप, इस तरहसे एक और दूना विस्तार चला गया है। जम्बूद्वीप है एक लाख योजन प्रमाण। तब ध्यानमें लाइये कि एक राजू कितना बड़ा होता है? ऐसे ऐसे ३४३ घनराज प्रमाण लोक है।

पदार्थसमूहकी स्वयंसिद्धता होनेसे लोककी अकृतता—यह लोक क्या है, इस सम्बन्धमें चर्चा चल रही है। तो यहां यह बात हुई कि सारा आकाश अनन्त है, जिसकी सीमा नहीं, कहीं अन्त ही नहीं है, सीमा की कल्पना ही नहीं आ सकती। उस आकाशके बीचमें लोकरचना है। यह लोक एक पुरुषाकार है। ३४३ घनराजू प्रमाण है। इस लोकको किसने रख रखा है? किसने कर रखा है? ये दो प्रश्न प्रायः सबके चित्तमें आते हैं। इस दुनियाको साध किसने रखा है और इस दुनियाको बनाया किसने है? इन दो बातोंके सम्बन्धमें लोगोंकी भिन्न-भिन्न धारणायें हैं और कुछ लोग न समझकर भी कुल परम्परामें चले आये पुराणोंमें लिखा है, इस कारण भी किसी रूप मानते हैं। कोई लोग मानते हैं कि इस लोकको किसी एक ईश्वरने रचा है। यद्यपि आजके समयमें इस तरहकी अदृष्ट अकल्प्य कल्पना करने का रिवाज नहीं है, न प्राय' लोग मानते हैं, फिर भी बहुतसे लोग ईश्वरभक्तिके नाम पर ऐसा सोचते हैं कि इन सारे लोक ईश्वर ने रचा है, जब इस समूचे लोकको ईश्वरने रचा है तो हम कुछ न रहे। हमें ईश्वरकी भक्ति करना चाहिए अन्यथा वह दु'ख देगा, ये सब बातें उनके गर्भमें पड़ी हुई है। ईश्वरने यदि रचा तो मोटी सी इतनी ही बात केवल विचार लीजिये कि उसने रचा क्यों? कारण ही पूछा जाय। क्या उस ईश्वर को कुछ बेचैनी थी जो रचा? क्या उस ईश्वरको जीवों पर दया आयी कि ये रचे जायें और अच्छी तरह रहें। क्या दयाके वश होकर उसने सृष्टि रची या ईश्वरका ऐसा स्वभाव ही है कि वह रचता ही है या ईश्वरको कुछ ऐसा खेल ही मनमें आया कि ऐसा खेल रच डालें कि इस तरहसे दुनियाको बनायें? कुछ भी तो कारण कहो? यदि कहो कि ईश्वरको बेचैनी थी सो अपनी बेचैनी मिटानेके लिए जगतको रचा। तो जिसको बेचैनी हो वह क्या परमात्मा हो सकता है? जिसको बेचैनी है वह तो ससारी जीव है। और रच करके भी चैन क्या पाया होगा? और ज्यादा बेचैनी बढ़ा लिया होगा। जब घरमें कुछ कुटुम्ब बढ़ता है सोचते तो हैं ये मनुष्य पहिले कि मेरे ऐसे बच्चे हों, ऐसा परिवार बढे, बहुत पुत्र हों तो शान्ति प्राप्त हो। पर उतने बच्चे प्राप्त हो जानेके बाद वे बजाय चैनके बेचैनी ज्यादा अनुभव करते हैं। कितने पदार्थ कितने जीव कहां पड़े, क्या कर रहे, सबका हिसाब मनमें सोचते हैं, यह कहां चैनका कारण बन सकता है। यदि कहो कि उसने जीवों पर दया करके जीवोंको बनाया है तो वाह री दया, न बनती यह दया तो ज्यादा अच्छा था। किसी को कुछ कष्ट ही न था। अब दु'खी हैं लोग, दुर्गतिमें पडे हैं, कष्ट पाते हैं और दयाका स्वभाव था तो दया ही अन्त तक निभानी चाहिए। फिर क्यों किसी को दु'खी किया जाता है? यदि कहो कि उस ईश्वरका खेलनेका स्वभाव था, खेल खेलमें उसने यह सारी रचना बनायी, तो ऐसा खेल तो बिलकुल नादान बच्चे किया करते हैं कि उनका तो खेल हो और यहां जीव भाड़में भुने जायें। तो स्वभाव भी प्रभुका ऐसा नहीं कहा जा सकता जो दूसरे के दु खका कारण बने।

ईश्वरका ऐश्वर्य और वैज्ञानिक युक्तिसे लोककी अनादिनिधनता--तथ्य तो यह है कि ईश्वरका ऐश्वर्य इस कारण नहीं है कि वह जगतकी रचना करे और स्वय बेचैन रहे। ईश्वरका ऐश्वर्य तो इस कारण है कि उसका ऐसा शुद्ध स्वरूप है जो कि शुद्ध ज्ञानका विकास है उसमें शुद्ध आनन्द है, पूर्ण निर्मल है, योगीजनोंका ध्येय है, योगी पुरुष उस ज्ञान ज्योतिस्वरूप तत्त्वको निहार कर अपने आपकी ज्योति प्राप्त करते हैं, कर्म नष्ट करते है। तो ईश्वरका आदर्श तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दसे सम्पन्न होनेसे है, न कि यहां वहांके किसी जीवको रचना। अब दूसरी बात दार्शनिक दृष्टिसे देखो जाय तो चीज बननेमें दो कारण हुआ करते हैं—निमित्त और उपादान। देख ही रहे हैं आप। कुम्हार यदि घड़ा बनाता है तो उसमे निमित्त है कुम्हार, दण्ड, चक्र आदिक और उपादान है मिट्टी। उपादान कारण उसे कहते हैं कि जो कार्यरूप बने और निमित्त कारण उसे कहते हैं कि जो

कार्यसे अलग रहे, कुम्हार घडेमें मिला है कि अलग है ? अलग है । दंड, चक्र आदिक घडे से अलग हैं, वे सब निमित्त कारण हैं । उपादान कारण तो मिट्टी है जिसका परिणमन घड़ा बना । तो प्रत्येक कार्यके निष्पन्न होनेमे दो कारण आते हैं--उपादान कारण और निमित्त कारण । सो ईश्वरने यदि यह लोक बनाया तो बतलाओ कि इस सारी दुनियाका वह ईश्वर उपादान कारण है या निमित्त कारण ? उपादान कारण यदि मानते हैं तो उसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर ही लोकरूप बन गया, ईश्वर ही इतने जीवों रूप बन गया । अब ये जीव जो भी पाप करते है तो वह ईश्वरका काम है । यदि दुःख सुख पाते हैं तो ईश्वरका काम है । उपादान कारणकी व्यवस्था नहीं बनती । यदि कहो कि ईश्वर निमित्त कारण है तो यह भी एक बहुत विचारणीय बात है, पर इस सम्बन्धमे इतना ही थोड़ा समझलें कि कोई निमित्त कारण होता है तो हो, पर कार्य बननेमें उपादान अवश्य होना चाहिए । यदि ईश्वर इस समग्र जगतका निमित्त कारण है सो यो कदाचित् मान भी लें लेकिन किस चीजसे जीव बनाया, किस चीजसे पुद्गल बनाया, वह चीज तो अलग ही है ? जैसे घड़ा बनानेमे कुम्हार निमित्त कारण है, लेकिन कुम्हारने अपने आपको ही तो घड़ा नहीं बना दिया । मिट्टी उपादानको ग्रहण करके उस मिट्टीमें ही तो परिणमन किया । इसी प्रकार यदि लोकका निमित्त कारण ईश्वर है तो ये सारे पदार्थ स्वय सिद्ध हो जाते है । ये हैं सब तब तो उनका कोई रूपान्तर किया ईश्वर ने । यह बात सिद्ध हो जायेगी । तो दार्शनिक दृष्टिसे, युक्तियोंसे, अनुभवसे यह बात युक्तिसंगत नहीं बनती कि इस लोकको किसीने भी किया । यह लोक तो अनादिनिधन है, जो है वह अनादिसे है । अनन्त काल तक रहेगा । जो है वह कभी नष्ट नहीं हो सकता । अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवतत्वकी अनादिनिधनता न जान कर व्यर्थ कल्पनायें करके दुःखी होते हैं, हाय मैं तो मर जाऊँगा, नष्ट हो जाऊँगा । अरे जगतमे कोई पदार्थ है भी क्या ऐसा कि जो समूल नष्ट हो जाय ? हो ही नहीं सकता । किसीमे भी सामर्थ्य नहीं है कि अपने या पराये किसीका भी कोई समूल नाश कर सके । तो ये सब पदार्थ अनादिकालसे हैं ।

दुःखहेतुसे हटकर सुखहेतुमे लगनेके लिये लोकस्वरूपके ज्ञानकी अत्यावश्यकता--लोक क्या चीज है ? पदार्थोंके समुदायका नामका लोक है । "लोक्यन्ते अवलोक्यन्ते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स लोकः" । जहाँ पर सारे द्रव्य देखे जाये उसे लोक कहते हैं । कितने हैं पदार्थ ? अनन्तानन्त जीव । अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य । इस प्रकार ६ जातिमें विभक्त ये अनन्तानन्त पदार्थ हैं । पदार्थोंका यह सब परिज्ञान करना यह अपने ज्ञान शान्ति ध्यानके लिए बहुत आवश्यक है, हम आपका इन सब पदार्थोंमे जो मोह लगा हुआ है, रागद्वेष जगता है यह क्या हितरूप है, क्या सत्य है ? यह दुःखरूप है । इससे हटना है । इसका उपाय कौन बतावेगा ? और क्या उपाय है ? सम्यग्ज्ञान । जिससे हटना है उसके कपटका, उसकी भिन्नताका, उसकी अकिञ्चित् कर्ताका जब तक बोध न हो तब तक उससे कोई हट कैसे सकता है ? कोई पुरुष विषपान क्यों नहीं करता ? वह जानता है कि यह विष अहितकर चीज है सो उससे हट जाता है । तो यों ही यदि इन पञ्चेन्द्रियके विषयोंसे हटनेका भाव है तो इन इन्द्रियविषयोंका यथार्थस्वरूप परखना ही होगा, तब इससे हट सकते हैं । यदि सहज परम आनन्दमय निजस्वरूपमे रमने का संकल्प हो तो अपने आपके सहजस्वरूपका ज्ञान करना ही होगा । तब आप अपनेमें रम सकते है । एतदर्थ सर्वपदार्थोंका परिज्ञान करना बहुत आवश्यक है । ये सब पुद्गल है जो रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये इन्द्रियके ५ विषय है । ये सब पौद्गलिक हैं, भिन्न हैं, इनसे मेरे आत्माका सम्बन्ध नहीं है । इनकी प्रीतिमें आत्मा अपने आपके स्वभावदर्शनसे चिग जाता है और संसारमें जन्म मरण प्राप्त करता है ।

विषयोंकी असारताके परिचयमे पदार्थयाथातथ्यके ज्ञानका सहयोग--देखो तो रूप क्या चीज है ? केवल

दूर से आँखोंसे देखने भरकी बात है। उसका और क्या उपयोग हो सकता ? उसे पकड़ नहीं सकते, उसे स्वाद नहीं सकते, उसे किसी अन्य काममें ला नहीं सकते। बस एक दूरसे देखने भरकी चीज है और है भिन्न ही, जिससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं और उसमें यह अज्ञानी जीव रमता है, यों ही सभी विषयोंकी बात समझिये। रस क्या चीज है ? जो एक रसना इन्द्रियके जरासे सम्पर्कसे कुछ स्वाद समझमें आ गया वही तो रसका ज्ञान है। वह रस आत्मामे नहीं आता। आत्मा अमूर्त है, केवल ज्ञान करता है और ज्ञानके साथ उसे लगी है आसक्ति। उसमें है वह मुग्ध, सो कल्पनायें करके आनन्द मानता है कि मुझे बड़ा मौज मिल रहा है। है क्या वहां ? कर्मबन्धन और कहो अपने स्वास्थ्यको भी बिगाड़ ले। तो रस आत्माके किस काम आता है ? यों ही सारी बातें समझ लीजिये। गंधसे आत्माका क्या प्रयोजन निकलता है। लोग कहते हैं कि खूब अधिक सुगंधित वातावरण हो तो स्वास्थ्य अच्छा रहता है लेकिन अनुभव करके परख लोगे और वैद्यक शास्त्रोंमें भी बताया गया है कि कृत्रिम अति सुगंधित वातावरणसे स्वास्थ्य पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि उससे हानि है। लोग तो मौज मानते हैं सुगंधित पदार्थोंके सूँघनेमे, लेकिन नाक पर ही आप इत्रका फुवा धरे रहें तो उससे भी आप ऊब जायेंगे। यह चीज तो बहुत समय तक न मिले, फिर थोड़ी देरको मिले तो वह मौजका कारण बन पाती है सो वह भी कल्पित मौजका लगातार उसका सम्पर्क रहे तो उससे परिकल्पित मौज भी नहीं मिलती। हर एक विषयकी यही बात है। भोजन करते ही रहें, तो उससे भी आप ऊब जायेंगे। बहुत कुछ त्यागके बाद फिर आप थोड़ा ग्रहण करेंगे तो कुछ परिकल्पित सुख पायेंगे, पर ग्रहण किए रहनेमें सुख न पा सकेंगे। यों ही रूपकी बात है। किसकी रूपको आप टपटकी लगाकर निहारते रहें, आपको स्वतंत्रता है, तो आप ऊब जायेंगे। और आपको फिर उसमें मौज न मालूम होगा। न देखें बहुत दिनों तक, कभी-कभी ही देखे तो आपको उसमें सुख मालूम होगा।

त्यागका प्रसाद और वस्तुविज्ञानका प्रताप—देखो भैया ! ये जरा-सी मौजें भी बहुत बडे त्यागके बाद मिल पाती हैं। खानेका मौज भी देख लीजिए ६ घंटे अथवा १२ घंटेके त्यागके बाद मिल पाता है। रागरागनीके शब्द खूब सुनते रहो, चार घंटे, ६ घंटे अथवा रात भर सुनते रहो तो आपको उसमें भी ऊब आ जायगी। आप अधिक समय तक सुनते रहें तो फिर उसमें आपको मौज न मिल पायेगी। बहुत दिनों तक आप उसका त्याग किए रहें, फिर सुने तो आप मौज मानेंगे। तो इन विषयोंका सुख भी त्यागके प्रतापसे मिलता है। यदि कोई पुरुष ज्ञानबलसे इन विषयोंका सदा के लिए त्याग करदे तो उसको तो आत्मीय शुद्ध सहज आनन्द जगेगा। ये सारी बातें हमको इन द्रव्योंके यथार्थ परिज्ञानसे विदित होंगी इस कारण सबका जानना अतिआवश्यक है। लोग यों कह देते हैं कि अजी ! धर्म करने के लिए इतने बड़े ज्ञानकी और इतने बडे शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है ? तो लोग यों ही कह तो डालते हैं और उनसे कहें कि अच्छा आप इनका आलम्बन न लीजिए, इनका आपको ज्ञान नहीं है, आपको कर्तव्य बता दिया जाता है कि धर्म कैसे किया जाता है, कैसे आत्मामें लीन होना, कैसे शान्ति पाना, यह कैसे बनेगी ? आप ही दिखा दीजिये— तो नहीं किया जा सकता। जब पदार्थोंका सर्वतोमुखी ज्ञान होगा तब वह स्पष्टता चित्तमें आयेगी कि मैं सबसे निराला अमूर्त केवल चैतन्यस्वरूप हूं। यह मैं अपने आपमे परिपूर्ण हूं। मेरा मैं ही सर्वस्व हूं। अपने में लीन होने का यत्न करेंगे और कर्मनिर्जरा कर लेंगे, मुक्ति प्राप्त कर लेंगे, शान्तिलाभ ले लेंगे। तो एतदर्थ इस लोकके इस विस्तृत स्वरूपका जानना भी अति आवश्यक है।

लोककी अनादिसिद्धता—इस लोकको किसीने किया नहीं है, क्योंकि लोक नाम है समस्त पदार्थोंके समूहका। जो पदार्थ है वह है, जो नहीं है वह नहीं है। कभी सत्का विनाश नहीं होता और असत्की

उत्पत्ति नही होती, यह बात वस्तुके स्वरूपसे ही सिद्ध है। प्रत्येक पदार्थ सत् है और सत्का यह लक्षण है– उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। जो उत्पादव्ययध्रौव्यसे युक्त हो वह सत् कहलाता है। तो वस्तु है, इस ही नातेसे उसमे उत्पादव्यय पड़ा हुआ है। प्रत्येक पदार्थ इस ही लक्षणके कारण प्रति समयमे नवीन पर्यायों से व्यक्त होता है और पुरानी पर्यायोसे विलीन होता है। और ऐसे उत्पादव्यय निरन्तर होते रहते हुए भी सदा उस वस्तुभूतपदार्थका सत्त्व रहता है। तो जब उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता पदार्थका स्वरूप है तो इससे सिद्ध है कि पदार्थ किसीके द्वारा किए गए नही हैं। इससे उत्पादव्यय ध्रौव्यका विश्लेषण किया जाय तो यों समझना चाहिए कि प्रत्येक पदार्थमें अनन्तशक्ति है और समस्त शक्तियोंका प्रति समय कोई न कोई परिणमन रहता है। ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि मात्रशक्ति हो और उसका व्यक्तरूप कुछ न हो तो जो शक्तिया हैं उनका नाम है गुण और जो शक्तिके व्यक्तपरिणमन हैं उनका नाम है पर्याय। प्रत्येक पदार्थ गुणपर्यायरूप हैं। गुण तो है ध्रुव और पर्याय है अध्रुव। उन गुणोंका जब भेददृष्टिसे दर्शन करे तो उसका नाम है द्रव्य। यह सब भेदकथन समझनेके लिए है। वस्तुत द्रव्य तो अवक्तव्य है, लेकिन द्रव्यभूत उस स्वभावको समझनेके लिए भिन्न-भिन्न शक्तियोके रूपमें व्यवहार है और यह व्यवहार अनुरूप है व इसी कारण तथ्यभूत है।

इस लोकका किसी चेतन, प्रभु, कीली आदिके द्वारा धारण किये जानेका अभाव––इस लोकको किसीने धारण नही किया। जैसे कुछ पुराने लोगोकी मान्यता है कि इस लोकको किसी भगवानने रख रखा है अथवा भगवानका कोई अवतार हुआ, जैसे सूकरका अवतार हुआ, उसने पृथ्वी धारण किया, शेषनाग इस पृथ्वीको धारण किए हुए है ऐसा कुछ लोगोका ध्यान है, और आजके कुछ लोगोंका ऐसा भी ध्यान गया है कि यह पृथ्वी एक कीलीपर टिकी हुई है, लेकिन यह पृथ्वी यों किसीके आधारपर नही है। आधार है पृथ्वीका तो वातवलय आधार है, पर कोई मनुष्य चेतन, अवतार, ईश्वर, ये इस पृथ्वीके अधिकरण नहीं हैं। अब जैसे कुछ लोग कहते है कि इस पृथ्वीको शेषनाग धारण किए हुए है। इस शब्दमे अर्थ यह निकलता है कि पृथ्वी वायुवलयके आधार है। शेषनागका वायु कैसे अर्थ निकला? नागमें तीन शब्द हैं– न-अ-ग, गच्छति इति ग', जो गमन करे, चले उसको ग कहते हैं। तो ग का अर्थ हुआ वायु। हवा ही एक ऐसी है जो चलती रहती है, और न गच्छति इति अग'। जो न चले उसे अग कहते हैं अर्थात् अवायु। और न अग इति नागः अर्थात् अवायु नहीं। तो इसका अर्थ है वायु। शेष मायने बची हुई, या अन्तमें पड़ी हुई अर्थात् सारे लोकमें सर्वत्र हवा भरी हुई है— लेकिन लोकके अन्तमें कोई खास हवा है जिसका नाम वातवलय है। इस पुरुषाकार लोकके चारो ओर घन वातवलय, घनोदधि वातवलय और तनुवातवलय नामकी तीन मोटी हवायें हैं जिनके आधारपर यह लोक टिका हुआ है, पर इसे किसी जीवने अथवा किसी अवतारने धारण किया हो, ऐसी बात नहीं है।

सर्व आकाशके अथवा लोकके मध्यभागका कथन—अब इस लोकका मध्यस्थान कौनसा है? तो लोक है एक पुरुषाकार, जिसके बीचमे है जम्बूद्वीप और उस जम्बूद्वीपके ठीक बीचमें है मेरुपर्वत, जिस पर्वत पर भरत क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र, पूर्वविदेह और पश्चिमविदेहमें उत्पन्न होने वाले तीर्थंकरोंका अभिषेक किया जाता है। अब मेरूपर्वतकी जड़मे उस पर्वतके ठीक नीचे बीचमें, जड़के नीचे ८ प्रदेश ऐसे है जो समस्त लोकका मध्यभाग पड़ता है। यदि ५ अंगुली हैं तो मध्यकी अंगुली एक कहलायी और यदि चार अगुली हैं तो मध्यकी अगुली २ कहलायीं। एक तो नहीं कह सकते। चार अँगुलियोंके बीचमें एक कौन सी अगुली है सो तो बताओ? दो अगुली बोली जायेगी। तो यो समझिये कि जितना यह लोक है, इस लोकमे जितने प्रदेश हैं, प्रदेशके मायने छोटे छोटे स्थान, एक सूईकी नोक कागजपर गड़ा दी जाय तो जितनेमे वह गड्ढा हुआ है उतनेमे अनगिनते प्रदेश हैं। याने स्थानका ऐसा सूक्ष्म हिस्सा कि जो किया

नहीं गया किन्तु कल्पनामे समझा गया, जिसका कि दूसरा विभाग नहीं हो सकता। ऐसे ऐसे आकाशके छोटे प्रदेश एक एक प्रदेशमें उस सुईकी नोकके गड्ढेमें अनगिनते हैं। तो इस तरह लोकमे प्रदेश कितने हैं? अनगिनते। उनकी गिनती नहीं की जा सकती। जब एक अंगुली भर जगहके प्रदेशोंकी गिनती नहीं है तो फिर ३४३ घनराजू प्रमाण लोकके प्रदेशोंकी क्या गिनती हो सकती है? तो गिनती तो नहीं है लेकिन सर्वज्ञ भगवानने यह बताया है कि वे प्रदेश इतने हैं कि यदि दो का भाग दे तो नीचे कुछ न बचेगा। जिसे कहते हैं समसंख्याका भाग पूरा चला जाना। २, ४, ६, ८, १०, १२, ये कहलाये पूरे संख्याके प्रदेश तो ऐसे २-२ बढकर वे प्रवेश हैं अनगिनते, मगर दो सख्यामें उनका भाग होता है। तो ऐसी समान संख्या है चारों ओर। तो जैसे २, ४, ६, ८ ऐसी कोई चीजें रखी हों तो उनका बीच क्या कहलायेगा? उनका बीच १ नहीं हो सकता, २ होंगे। विषम संख्याये हों १, ३, ५, ७, ९ आदि तो उन का बीच एक बन जायेगा। पर समान संख्या हो तो उसके बीच दो बनेंगे। तो अब लोकके चारों तरफ समान संख्या है, जब ऊपरसे नीचे का बीच देखा गया तो क्या पडा? दो प्रदेश। और जब इस ओर पूरबसे पश्चिम देखा गया तो उसका बीच क्या पड़ा? दो प्रदेश। जब दक्षिणसे उत्तरमें देखा गया तो बीच क्या पडा? दो प्रदेश। तो चारो ओरसे जब दो दो प्रदेश बीच पड़ते हैं तो सारे लोकका मध्य ८ प्रदेश होगा। ऐसे बहुमध्यभागमें जब जीवका क्षेत्र परिवर्तन बताया जाना है तो प्रारम्भ किया जाता है। तो जो ८ प्रदेश लोकका मध्य है वही ८ प्रदेश सारे आकाशका मध्य है। अब देखो आकाश अनन्त प्रदेशी है और लोक असंख्यातप्रदेशी है, असख्यातका तो अर्थ है गिनती नहीं, संख्यासे परे, किन्तु अन्त है उसका। और अन्तका यह अर्थ है कि सख्यासे तो परे है ही, मगर कहीं अन्त भी नहीं है। अन्त न होने पर भी आकाशके प्रदेश सम संख्यामें हैं, विषम सख्यामें नहीं हैं, तो ऐसे समस्त आकाशके ठीक बीचमे लोक है।

लोककी स्वयसिद्धताका उपसहार व लोकानुप्रेक्षाकी प्रयोजकता—इस लोकको किसीने धारण नहीं किया। न शेष नाग धारण किए है और न कोई ईश्वरका अवतार धारण किए है। यों न तो किसीने किया है इस लोकको, न किसीने इसका विनाश किया है और न कोई इसको धरे हुए हैं, संभाले हुए हैं, किन्तु पदार्थोंमे स्वयं उत्पादव्ययध्रौव्यका स्वभाव होने से सब पदार्थ व्यवस्थित बने हुए हैं। ऐसे सर्व आकाशके बीच ठहरे हुए लोकका विस्तार आपने जाना होगा ३४३ घनराजू प्रमाण है, जिसमें अनगिनते योजन समाये हुए है। ऐसे महान लोकमें यह जीव प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त बार जन्मा और मरा। इतने बडे लोकमें जो पुद्गल ढेर है यह प्रत्येक जीवने अनन्त बार भोगा और छोडा। यह सब बात बतानेके लिए इस लोकानुप्रेक्षाका वर्णन है, जैसे हिन्दी कवि कहते हैं 'कि किनहू न करे धारेको षट्द्रव्यमयी न हरेको ॥' यह लोक छः द्रव्यमयी है। इसको किसीने किया नहीं और इसे कोई धारण किए हुए नहीं, सो लोक माँहि बिन समता। दुःख सहे जीव नित भ्रमता॥ ऐसे इस लोकमें समताके बिना यह जीव दुःख भोग रहा है। इसमें कैसे-कैसे जीवोंके शरीर हैं, कैसी आयु होती है, किस तरह ये जीव जन्मते हैं, कहाँ कौन रहता है, कहा कौन जा सकता है, इन सब बातोंका इस लोकानुप्रेक्षामें विस्तारपूर्वक वर्णन आयगा।

अण्णोण्ण पवेसेण य दव्वाण अच्छणं हवे लोओ।
दव्वाण णिच्चत्तो लोयस्स वि मुणह णिच्चत्त ॥११६॥

लोकका स्वरूप—द्रव्योका परस्परमे प्रवेश होते हुए अवस्थित रहनेका नाम लोक है। प्रत्येक स्थान पर छहों जातिके द्रव्य पाये जाते है। जैसे लग रहा होगा कि यहाँ इस मकानके आँगनमें जो आकाश पोल दिख रहा है, यहाँ तो कुछ भी अन्य चीज नहीं है, लेकिन इस जगहमें छहों जातिके द्रव्य हैं। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यमें सारे लोकमे तिलमें तैलकी तरह पूर्णतया व्याप्त हैं। कालद्रव्य भी लोकाकाशके

प्रत्येक प्रदेशपर एक एक कालाणुरूप अवस्थित है। आकाश सो यह है ही। अब रही दो द्रव्योंकी बात—जीव और पुद्गल। सो लो स्पष्टरूपसे इस आंगनके आकाश प्रदेशमें कोई जीव नहीं दिखता, न कोई पुद्गल दिखता। हां, यदि कोई मक्खी मच्छर आदि उड़ता हुआ दिख जाय तो कह देंगे कि यहां मक्खी है अथवा मच्छर है, लेकिन व्याप्त तो कुछ नहीं दिखता। अतएव लोग शंका रखते हैं कि इस आंगनमे तो कुछ भी नहीं है, लेकिन यह शंका निर्मूल है और यह उसका उत्तर है कि जैसे कोई घरका आदमी बाहर से आया, घरका दरवाजा भीतरसे बन्द था, बाहरसे आनेपर उस आदमीने दरवाजा खटखटाया तो घर का कोई बालक सांकल खोलनेके लिए आता है तो सांकल खोलनेसे पहिले वह पूछता है कि आप कौन हैं? तो वह कहता है कि कोई नही। खोलो दरवाजा। अरे कैसे कोई नही। वह खुद उस घरका मालिक ही तो है जो दरवाजा खटखटा रहा था। यद्यपि उसके कोई नहीं, ऐसा कहनेका मतलब यह था कि कोई बाहरी गैर आदमी नही है, हम ही हैं पर वह यही शब्द तो बोलता है कि कोई नहीं। तो ऐसे ही समझ लो कि यहा आंगनके इस आकाश प्रदेशमें दिखता क्या है? कुछ भी नही, लेकिन वहां भी अनन्त जीव और पुद्गल ठसाठस भरे हुए हैं। वहां सूक्ष्मनिगोद जीव, सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव जो कि दिखते नही हैं पर ठसाठस भरे हुए है। तो ऐसे ही यह लोक जीवोंसे ठसाठस भरा हुआ है।

लोकमें सर्वत्र अनेक द्रव्योंके अन्योन्यप्रवेशका प्रतिपादन—निगोद दो प्रकारके होते हैं—बादर और सूक्ष्म। निगोद कहते हैं ऐसे जीवोंको जो कि एक श्वासमे १८ बार जन्म मरण करते रहते हैं। उनमें बादर निगोद तो साधार होते हैं जैसे आलू घोइयां, सकरकंदी आदिक इनमें अनन्त निगोद जीव पाये जाते है। कुछ जीव होते हैं निराधार। इस आंगनमे सूक्ष्मनिगोद जीव भरे पडे हैं। अब देखिये कि एक जीवके पीछे एक जीवके साथ कितने पुद्गल लगे हुए है? निगोदका जो एक शरीर है उस एक सूक्ष्म शरीरमे भी अनन्त परमाणु हैं, जिनसे कि उनका शरीर बना है और दिख भी नहीं सकता। उस जीवके साथ शरीरके अणुओंसे भी अनन्तगुने कर्मपरमाणु लगे है जो कि सूक्ष्म है और दिख नहीं सकते। साथ ही तैजस परमाणु और कर्म एव शरीरके विस्रसोपचयपरमाणु जो अभी कर्मरूप तो नहीं हुए, शरीररूप नहीं हुए मगर कर्म और शरीररूप होनेके उम्मीदवार है, इतना विशाल पुद्गल ढेर इस जीवके साथ लगा हुआ है। तब प्रत्येक प्रदेशपर लोकाकाशमें सर्वत्र जीव पुद्गल ठसाठस भरे पड़े है। तो जब ये सब पदार्थ भरे पड़े है तो वहीं जीव है, प्रदेशोंपर पुद्गल है, धर्म है, अधर्म है, आकाश है, काल है, सभी द्रव्य एक दूसरेमे प्रवेश पाये हुए है। लेकिन इस प्रकरणमे यह बात समझ लीजिए कि भले ही यहां एक द्रव्यमे अनेक द्रव्योंका प्रवेश भरा पडा है फिर भी किसी भी द्रव्यके स्वरूपमें किसी भी दूसरे द्रव्यका स्वरूप प्रविष्ट नहीं होता। जैसे घरमें ५-७ जीव रहे है परिवारके लोग और उनका परस्परमें एक दूसरेसे दिल मिला हुआ न हो तो कहते है कि घरमें तो रहते हैं पर न रहनेकी तरह हैं, दिल मिला ही नहीं। तो यों लोकके प्रत्येक प्रदेश पर एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्य भरे पडे हैं, मगर स्वरूप मिलता नहीं। चेतन हमेशा चेतन ही रहेगा, भले ही उस जगहमे ५ जातिके द्रव्य और रखे हैं। पुद्गल सदा अचेतन रहेगा, भले ही पुद्गलके क्षेत्रमे जीव समाये है लेकिन जिसका जो स्वरूप है वह स्वरूप अमिट है। यह किसी भी प्रकार भेदा नहीं जा सकता। तो यों स्वरूपसे तो प्रवेश नही है किन्तु प्रदेशसे एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यका प्रवेश पड़ा हुआ है। यो द्रव्योंका जो रहना है उस ही का नाम है लोक।

लोककी शाश्वतता—अब देखिये द्रव्यमें नित्यपना है ना? कोई भी पदार्थ कभी समूल नष्ट नहीं हो सकता। उसकी पर्यायें बदलती रहेंगी और वह द्रव्य सदा रहेगा। तो द्रव्योंके नित्य होनेके कारण समझिये लोकमे भी नित्यपना है। जब द्रव्योंके समूहका नाम लोक है और द्रव्य है भी नित्य तो इसका अर्थ यह हुआ कि यह लोक भी नित्य है। जो नित्य है, वह न किसीके द्वारा किया गया है और न किसी

के द्वारा धारण किया गया है क्योंकि वह तो स्वयंसिद्ध है, अनादिनिधन है। इस समस्त समुदायको कोई है तो बनायेगा क्या, नहीं है तो बनायेगा क्या ? अगर कुछ चीज नहीं है तो वह बन कैसे सकेगी ? कोई रोटी बनाये तो आटा तो चाहिए। अब न हो आटा तो रोटी बनेगी ही क्या ? तो चीज न हो कुछ और कुछ बन जाय, यह कभी नहीं हो सकता। तो नहीं है तो बन नहीं सकता और है तो बनने का प्रयोजन क्या ? तो यों समस्त पदार्थ अपने स्वरूपमें शाश्वत हैं और उनके समुदायका नाम लोक है, अतः यह सिद्ध है कि लोक भी शाश्वत है, अनादि निधन है।

परिणाम-सहावादो पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि।
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणाम ॥११७॥

लोकके नित्यत्वकी भांति अनित्यत्वकी भी सिद्धि—उक्त गाथामें यह बताया था कि चूँकि समस्त द्रव्य नित्य हैं—याने जो सत् है वह अनादिसे अनन्तकाल तक शाश्वत है और द्रव्यका समुदाय ही लोक कहलाता है, इस कारण लोक भी नित्य है। अब इस गाथामें यह बता रहे हैं कि द्रव्यदृष्टिसे द्रव्योंके सत्त्वके कारण जैसे लोकको नित्य कहा गया है उसी प्रकार पर्यायदृष्टिसे द्रव्योंके अनित्य होनेके कारण अनित्य है। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय परिणामस्वभाव होनेके कारण परिणमते रहते हैं, उनका परिणाम होनेसे लोकका भी परिणाम (परिणमन) जानना चाहिये। परिणमन करना वस्तुका स्वभाव है। अतः प्रत्येक द्रव्य प्रति समय परिणमन करते ही रहते हैं। एक कल्पना करो कि कोई वस्तु तो हो और किसी भी अवस्था रूपमें परिणमन न करे या उसका कोई व्यक्त रूप नहीं है तो उस द्रव्यके अस्तित्वकी कल्पना ही कहां हो सकती है ? मान लो मिट्टी तो है पर न वह छितरी मिट्टी है न पिण्डरूप है, न घड़ा है, न खपरियाँ हैं, व्यक्त रूप कुछ भी नहीं है। फिर वह मिट्टी क्या ? जैसे जीव तो मान लिया कि है, पर वह न नारकी है, न तिर्यञ्च पर्यायमें है, न मनुष्य पर्यायमें है, न देवपर्यायमें और न गतिरहित है, तब फिर उस जीवका अस्तित्व क्या ? अथवा मानो जीव तो है, पर वह न जानता है, न देखता है, न उसमें आनन्दका परिणमन है, कोई गुणपरिणमन नहीं, तब फिर वह जीव क्या ? तो जो भी वस्तु है उसका कोई न कोई व्यक्तरूप अवश्य है। जो व्यक्तरूप है उसीका नाम पर्याय है और वे पर्यायें प्रतिसमयमें नवीन नवीन होती है। तो यों परिणमनकी दृष्टिसे जो भी सत् है वह सब परिणमनशील है, परिणमता रहता है। अतएव अनित्य है। द्रव्य नाम ही उसका है कि जो पर्यायोंके द्वारा प्राप्त किया जाता है या पर्यायोंको प्राप्त करते हैं उन्हें द्रव्य कहते हैं।

द्रव्यपरिमाण व सकलद्रव्योंकी परिणमनशीलता—वे द्रव्य हैं कितने ? तो लोग उत्तर तो यह दे देते हैं अभ्यासके कारण कि द्रव्य ६ हैं लेकिन ये ६, जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये जातियाँ हैं। जातिमें अर्थक्रिया नहीं होती किन्तु व्यक्तिमें अर्थक्रिया होती है। जैसे किसीने कहा कि गायका दूध लावो तो वह न पीली गायका लाये, न सफेदका, न चितकबरीका याने चार पैर वाली गायका दूध न लाये और गौ जातिसे लाना चाहे तो गौ जातिसे दूध कहाँ निकलेगा ? गौ जाति तो अनेक गायोंमें जो एक सदृशता पायी जाती है उस कल्पनासे सर्वसंग्राहक विकल्पका नाम है ना गो जाति। दूध तो गाय देगी, गौ जाति न देगी। तो अर्थक्रिया सद्भूतमें होती है। महासत्ता तो आवान्तर सत्ताओंमें पाया जाने वाला जो एक सत्त्व सामान्य है उसका नाम है। तो द्रव्य अनन्तानन्त है, ६ नहीं। ये ६ जातियाँ हैं। उन अनन्तानन्त द्रव्योंमें प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक जीव प्रत्येक पुद्गल परमाणु धर्म, अधर्म, आकाश और प्रत्येक कालद्रव्य, ये प्रतिसमय परिणमते रहते हैं। इनमें से किन्हींके परिणमनकी बात बुद्धिमें नहीं समा पाती हो तो भी युक्ति सिद्ध है यह बात कि यदि परिणमन नहीं है किसीमें तो वह सत् भी नहीं है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्यका परिणमन कौन समझ पा रहा है कि क्या हो रहा है ? आकाश अब इस क्षण

मे किस रूप परिणाम रहा, पहिले किस रूप परिणमा था ? कौन जानता है ? इसे तो सर्वज्ञ भगवान ही साक्षात् जानते हैं कि शुद्धद्रव्योंमे भी प्रतिक्षण यह परिणमन चल रहा है, लेकिन यह नियम है कि परिणमन न हो तो वस्तु ही नहीं रह सकती। कल्पनामें ही न आयेगी बात कि एक रूप ही कुछ रह सकता हो शाश्वत। रंच मात्र भी जिसमे व्यक्ति न आये, अवस्था न हो तो फिर वह वस्तु ही क्या है ? जीवके सम्बन्धमे हम आपको स्पष्ट समझमे आ रहा कि यह परिणमता रहता है। अभी क्रोधरूप परिणमा था, अब मानरूप हुआ, मायारूप हुआ, अब व्याकुल है, अब शान्त है, अब दुःखी है, अब कुछ मौजमें है। यों बहुतसे परिणमन जीवमे चलते हुए समझमें आते हैं। पसे हम जानते हैं। हम जीव हैं इसलिए जीव की इन परिणतियोको जान जाते हैं अन्यथा जीव तो अमूर्त है। रूप, रस, गंध, स्पर्श है नहीं, तो यह भी इसकी परिणति भी जाननेमें नहीं आ सकती थी। हम स्वयं जीव हैं और हमें इतनी बात अनुभवमें न आये यह हो ही नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थका परिणमन उस पदार्थमें होता ही है। यह मैं हूं ज्ञानमय सो मुझमें परिणमन भी होता और उसको अनुभवता भी जाता हू। तो मुझमें प्रत्येक क्षण बराबर परिणमन होते चले जा रहे हैं।

पर्यायदृष्टिसे सकल पदार्थोंकी अनित्यता--पर्यायदृष्टिसे यह मै नित्य हूं, पुद्गल परमाणु चूँकि वे दिखते ही नहीं, उनका भी परिणमन हम क्या जाने ? लेकिन पुद्गल परमाणुवोका ढेर होने पर उनके पुद्गल स्कंध दशामे जो ये प्रत्यक्ष सामने नजर आ रहे हैं इनका परिणमन तो समझमे आता है। अभी यह कागज है, जल जाय, राख हो गया, यह गेहू है, पिस गया चून हो गया, रोटी बन गई। तो यह परिणमन ठीक समझमे आ रहा ना, यह तो है आकारका परिणमन। अभी गेहू था, आकार बदल गया, चून बन गया, आकार बदल गया, रोटी हो गई। लेकिन इसके अन्दर जो रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि गुण हैं इनका भी परिणमन ज्ञानमे आ जाता है। अब गेहूंका रूप कुछ है, चूनका रूप कुछ है और रसमे भी फर्क है। आटेका रस और है, रोटीका रस और है, गधमें भी अन्तर है, स्पर्शमें भी अन्तर है। तो इन स्कधोके गुणोंके परिणमन और आकारके परिणमन ये समझमें आ रहे हैं। तब इन परमाणुओंके एकत्रित पिण्डमे जो कि दृश्य हो सकता है, परिणमन विदित हो रहे तो उससे भी सिद्ध कर सकते हैं कि प्रत्येक अणुमे भी निरन्तर परिणमन होता है। एक बालक ८ वर्षकी उम्रका है, साल भर बाद देखते हैं तो वह बालक ५-७ अगुल बड़ा हो जाता है। जो वह इतना बड़ा हो गया तो कहीं यह नहीं है कि ११ महीने २६ दिन, २३ घंटे तो वह बढा न था और अतिम २४ वें घंटेमे एकदम बड़ा हो गया। वह प्रत्येक महीने में बढता था, प्रत्येक दिनोंमें बढता था, प्रत्येक घंटेमें बढ़ता था, प्रत्येक मिनटमे बढ़ता था, प्रत्येक सेकेण्डमे बढ़ता था, पर कोई इस एक सेकेण्डका बढावा समझ सकता है क्या ? कल्पना करो कि प्रत्येक सेकेण्डमें वह बालक न बढता था तो उन सेकेण्डोंका समूह है मिनट, तो मिनटमें भी न बढ़ा, उन मिनटोका समूह है घटा, तो घटेमे भी न बढा। अगर प्रति सेकेण्डमे न बढा तो फिर दिन, महीना, साल आदिमे भी कभी नहीं बढ सकता। प्रत्येक पदार्थके प्रति समय परिणमन होते ही रहते हैं। इस दृष्टिसे ये सब पदार्थ अनित्य है।

पदार्थोंके परिणमनका रहस्य--पदार्थोंके परिणमनका रहस्य भी अद्भुत है। जैसे अभी अंगुली टेढ़ी है और यह हो गयी सीधी तो अगुली सीधी होनेपर टेढ़ापन तो मिट गया ना कि टेढ़ापन भी अब अंगुली मे है ? अब यदि सीधी है तो यह बतलाओ कि वह टेढ़ापन गया किधर ? वहाँ टेढापन नजर नहीं आता तो वह टेढापन कहाँ गया ? पूर्वमे पश्चिममें, कहाँ गया ? देखो वहां हुआ क्या, कि वह पूर्वपर्याय आगिलीपर्यायमें विलीन हो गई। यह विलीनता भी एक बडे रहस्य जैसी बात हुई जिसे व्यय भी कह दो या उसके टेढ़ापनकी परिणति अगुलीमे तिरोहित हो गई, ऐसा भी कह दो, अब जो जिस दृष्टिको लेकर

देखेगा उसे वैसा समझ आयगा। एक बुढियाका रँहटा था। सूत कातनेमें उसका तकुवा टेढ़ा हो गया। तो वह लोहारके पास गई, बोली— मेरे तकुवाकी टेढ निकाल दीजिये.. दो टका लेंगे।.. हां देंगे। उसने ठीक कर दिया और कहा लावो दो टके। हमने टेढ निकाल दिया है। तो बुढिया कहती है कि तुमने जो टेढ निकाल दी वह मुझे दे दो तब अपने दो टके ले लो। लोहार बड़ा हैरान हो गया कि टेढ निकाल दिया, अब इसे वह टेढ दू कहांसे? अगर वह लोहार तकुवा टेढा करके बताता है कि यह है तेरे तकुवेकी टेढ तो फिर वह दो टके क्यो दे, क्योंकि टेढ निकालनेके ही तो उसने दो टके देनेको कहा था। और टेढ निकलती है तो टेढ़ मिलती कहा? अब इस बातको एक सिद्धान्त तो यो निरखता है कि वह टेढी क्रिया नष्ट हो गयी अब सीधी क्रिया उत्पन्न हो गई और कोई दार्शनिक यों निरखता है कि उस तकुवामें सब बाते हमेशा रहती हैं। अब इस समय तकुवामे टेढापन तिरोहित है और सीधापन प्रकट है तो उस उत्पादव्ययके सम्बधमें लोग अपनी-अपनी दृष्टिसे निरखते हैं। स्याद्वाद, जैन शासन उन सब दार्शनिकोंका समाधान करता है— भाई सब दृष्टिसे विदित होनेकी बात है। तो इन सब द्रव्योमें पूर्व-पूर्व पर्याय तो नष्ट होती है और उत्तर-उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है और उनमे रहने वाला द्रव्यत्व सदा रहता है। जैसे अंगुलीमें टेढापन नष्ट हुआ, सीधापन प्रकट हुआ और अगुली द्रव्यवस्तु वह जो पहिले थी सो अब भी है, वह सदा रहती है, इसी प्रकार भूत भविष्य वर्तमान कालमें कितनी पर्यायें हो गईं किसी भी पदार्थकी। प्रत्येक पदार्थकी अनन्तपर्यायें गुजर चुकीं। कितनी अनन्त गुजर चुकीं जिनका अन्त ही नहीं। जब पदार्थ अनादिसे ही सत है, कोई उसका नियत काल ही नहीं कि यह पदार्थ किस दिनसे है तो उसकी पर्यायोंकी आदि ही क्या हो सकती है? इसी प्रकार भविष्यकाल भी अनन्त है तो प्रत्येक पदार्थकी पर्यायें अनन्त होगी। कितनी अनन्त जिनका कि अन्त भी नहीं है और प्रत्येक वर्तमानमें एक पर्याय रहती है। इस प्रकार अनन्तपर्यायोंरूपसे परिणमता हुआ प्रत्येक द्रव्य है।

परिणमनशीलता पदार्थोंका स्वभाव—परिणमनशीलता होना द्रव्यका स्वभाव है। जो परिणमनशील न होगा वह कभी सत् हो ही नहीं सकता। तब प्रत्येक पदार्थ नित्य होनेवर भी चूँकि उसमें स्वभावपर्याय विभावपर्याय, जिसमे जैसी योग्यता है सदा होते रहते हैं अतएव अनित्य है इनका स्वभाव कहा गया है? उत्पादव्ययध्रौव्यसे युक्त होना यह वस्तुका स्वभाव है। कोई वस्तु किसी अन्यपदार्थको उत्पन्न नहीं करती। हा इसका मेल है निमित्तनैमित्तिक भावसे कि कसा निमित्त मिलनेपर वस्तु किस रूपसे परिणम जाती है। अगका सन्निधान मिलनेपर पानी गरम हो आता है। तो पानीमें जो गरमी आयी उस गर्मीको अगमे नहीं किया, किन्तु ऐसा मेल है कि आगके सामने पानी पड़ जाय किसी लर्तनके आधारमे तो वह पानी अपनी शीत अवस्थाको छोड़कर गरम अवस्थामे आ जाता है। यों ही समझिये कि हम आपमे कर्म कितने बँधे पडे हैं? अनन्तभावोंके बाधे हुए कर्म आज भी पडे हुए है और आज जिनका उदय आ रहा है वे कर्म अनगिनते भवोंके बांध हुए एक साथ उदयमे आ रहे हैं। आ रहे उदयमे, कर्म एक सूक्ष्मस्कंध है। जो आखों नहीं दिखने, विदित भी नहीं होते, लेकिन युक्ति सिद्ध है।

जीवके साथ कर्म उपाधिके रहनेकी सिद्धि—कोई भी पदार्थ एक रूप परिणमता है, पचासों रग ढंग बदलता है तो समझना चाहिए कि इसके साथ दूसरा पदार्थ लगा है। यह नियम है। कोई भी वस्तु यदि एक रूपसे नहीं परिणमती वह भिन्न-भिन्न रूपसे परिणमती है, तो उसके साथ कोई दूसरा पदार्थ लगा है यह निश्चित बात है। जैसे पानी कम गर्म हुआ, उस पानीमें गर्मीकी नाना डिग्रिया बन जाती हैं। तो समझना चाहिए कि पानीमें ये नाना कर्मोंकी डिग्रिया केवल पानी ही हो, दूसरी चीज न लगी हो ऐसा नहीं हो सकता। किसी दूसरी वस्तुका मेल है, सम्बध है, तब उसमें नाना विभिन्न परिणतिया हुईं। ऐसे ही हम आप जीव अनुभव करते हैं कि एक ढंगमें नहीं रह पाते। जैसे सिद्धभगवान एक ढगमें रहते हैं, उनका

ज्ञानपूर्ण प्रकट है। जैसे जाना वह निरन्तर वैसा ही जानते रहते हैं। उसमें अन्तर नहीं आता। वह निरन्तर आनन्दका अनुभवन करते रहते हैं। एक रूपसे अनुभवन कर रहे हैं। जैसा आनन्द उन्होने बहुत समय तक भोगा वैसा ही आनन्द दूसरे समयमें भोगा। अनन्त समयोमें वैसा ही आनन्द भोगते रहते हैं। तो उनमे यह परिणमन एक समान चल रहा है। उनके परिणमनमें विभिन्नता नही है। तो परिणमन तो है, पर एक समान है, परन्तु हमारा परिणमन एक समान तो नहीं है। अभी शान्त हैं, थोड़ी देरमे लोभमें आया, थोड़ी देर क्रोधमे आया, थोड़ी देर काममें आया, थोड़ी देर मानमें आया। अब दुःखी हो गया, कुछ मौजमे आ गया। जैसी कल्पना बना ली उस रूप परिणम गया। अभी कल्पना कर ली कि देखो हमारा धन घट गया तो लो दुःखी हो गया। कल्पना कर ली कि मै पहिले क्या था अब तो उससे हजारगुना हू अथवा मुझसे गरीब लोग कितने ही है, उनसे तो मै बहुत ही अच्छा हूं, लो ऐसी कल्पना बनाते ही सुखी हो गया, तो इस तरहकी जो विचित्र परिणतियां है वे यह सिद्ध करती है कि इस जीवके साथ कोई दूसरी चीज लगी है, जिसके कारण इन नानारूपोमे यह जीव अपना परिणमन किया करता है। जो दूसरी चीज लगी है वस वह हैं कर्म। तो मुझमे प्रतिसमय परिणमन होते रहते हैं ना। तो परिणमन होता रहना वस्तुका स्वभाव है। हां विभावपरिणमन होना वस्तुका स्वभाव नहीं, किन्तु परिणमनमात्र होते रहना यह वस्तुका स्वभाव है। तो यों जब समस्त पदार्थ परिणामी सिद्ध हो गए, अनित्य हो गए तो इन्ही पदार्थोंके समूहका नाम ही तो लोक है। तो यो लोक भी अनित्य हो गया बताया गया है सिद्धान्तमे कि एक पदार्थमें त्रिकाल सम्बंधी जितनी अर्थपर्यायें और व्यञ्जनपर्याये है उतना ही द्रव्य है। इससे यह जाहिर किया है कि पदार्थ परिणमन किए बिना कभी अस्तित्व रख ही नहीं सकता।

पदार्थोंकी नित्यानित्यात्मकतामें अविरोध—यहाँ यह शका नहीं की जा सकती कि जो पदार्थ नित्य है वह अनित्य कैसे हो गया ? जो वस्तु है सो ही है और वह किस प्रकार है ? उसको जब हम द्रव्यदृष्टिसे देखते हैं तो नित्यज्ञानमे आता है, पर्यायदृष्टिसे निरखते हैं तो अनित्यपना ज्ञानमें आता है। उनमे विरोध नहीं है। एक ही वस्तुमें अपेक्षाभेद किए बिना यदि हम उन धर्मोंको मान ले तो विरोध हो सकता है। जैसे एक पुरुष बैठा है और उसका परिचय देवे तो यही कहते है ना कि यह पिता भी है और पुत्र भी है। अब जिसका यह पिता है उस अपेक्षासे तो पिता है और जिसका यह पुत्र है उस अपेक्षासे पुत्र है। तो एक ही पुरुषमें पितापन और पुत्रपन दोनों ही समाये हैं कि नहीं, क्योकि उनमे अपेक्षासे कोई विरोध नहीं आता। तो इसी प्रकार एक ही पदार्थ द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। यों अपेक्षा लगा करके देखते है तो नित्यपने और अनित्यपनेमें भी कोई विरोध नहीं आता। अच्छा यह यह बतलावो कि यह एक अगुली है। यह एक ही समान रहती है या अनेक प्रकार बदल भी सकती है ? अभी सीधी है, कम टेढी है, फिर गोल है, फिर मुट्ठीमें बंधी हुई है, इस अंगुलीके नानारूप हो गए हैं तो कह सकते है कि यह अगुली एक रूप भी है, नानारूप भी है। जिस समयमे यह नानारूप हो रही है उस समयमे भी यह एक रूप है। अगुली तो अगुली ही है, उसकी पर्याये अनेक हैं। तो एक वस्तुकी अपेक्षाभेद करके निरखनेपर उसमे अनेक धर्म दृष्ट होते है।

जैसे एक ही मकानका पूरबका चित्र है, दक्षिणका चित्र है, पश्चिमका चित्र, उत्तरका चित्र है, चार फोटो हैं। जैसे किसीसे कहा गया कि यह किसका फोटो है ? तो बताया कि यह फलानेके मकानका फोटो है। तो उसमें आकारभेद है, फिर भी उसीका ही बताया जा रहा। तो अलग-अलग दिशाओंके फोटो हैं सो नाना हैं पर फोटो है उस एक ही मकानका, यों प्रत्येक पदार्थमें जब हम द्रव्य दृष्टिसे देखते है तो वह नित्य नजर आता है, जब हम परिणतियोंकी दृष्टिसे देखते हैं तो अनित्य ध्यानमें आता है। यों प्रत्येक पदार्थ नित्यानित्यात्मक है और पदार्थका समूह ही लोक कहलाता है, इसलिए यह समस्त

लोक भी नित्यानित्यात्मक है।

पदार्थोंकी सत्ता व वस्तुता—यह लोक षड्द्रव्यात्मक है अर्थात् ६ जातिके द्रव्योंके समूह रूप है। वे ६ जातियां हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव है अनन्तानन्त, पुद्गल है, उनसे भी अनन्तानन्तगुने, धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है और कालद्रव्य असंख्याते हैं। जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य हैं। ये समस्त द्रव्य ६ साधारण गुणमय हैं, अतएव सत् कहलाते हैं। पदार्थ वही है जिसमें ६ साधारण गुण पाये जायें। ६ साधारण गुण है अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व और प्रमेयत्व। अस्तित्व गुणके कारण ये पदार्थ अस्तित्ववान हैं। हैं, इस प्रकार की जो बात है उसका नाम है अस्तित्वगुण। पदार्थ है लेकिन पदार्थ "है" ही है रहे, याने कुछ भी हैं हो जाय तो पदार्थका अस्तित्व नहीं रह सकता। जैसे घड़ा है, वह घड़ा ही रहे तब तो घड़ा है और घड़ा कपड़ा बन गया तो घड़ा क्या रहा ? तो पदार्थमें अस्तित्व है लेकिन यह अस्तित्व तभी कायम है जब कि अपने स्वरूपसे तो अस्तित्व हो और परस्वरूपसे न हो। जैसे घड़ा अपने स्वरूपसे है, कपड़े के स्वरूपसे नहीं है अतएव घड़ा-घड़ा है। यों ही प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे है परके स्वरूपसे नहीं है, इस कारण वह है।

पदार्थोंके परिणमनका नियम—अब पदार्थमें अस्तित्व व वस्तुत्व भी मानने पर कि पदार्थ है, अपने स्वरूपसे है, परस्वरूपसे नहीं है. व्यवस्था नहीं बनती, क्योंकि पदार्थ है मगर क्या है उसका कोई व्यक्त रूप तो होना चाहिए। अवस्था परिणमन व्यक्त दशा हुए बिना पदार्थका अस्तित्व हो ही नहीं सकता इस लिए उसमें यह जरूरी है कि पदार्थ है, अपने स्वरूपसे है, परस्वरूपसे नहीं है, इतना होनेके पश्चात् भी यह बात माननी आवश्यक है कि वह निरन्तर परिणमता रहता है। पदार्थ यदि परिणामी न हो तो पदार्थ ही नहीं है। उसका कोई रूप तो होना चाहिए। वर्तमान अवस्था भी तो कुछ होगी ही। जो वर्तमान अवस्था है वही तो वर्तमान परिणमन है, स्वभाव जिनका प्रकट हुआ है, शुद्ध है उनका परिणमन होगा एक सदृश और समान, और जो विभावरूप परिणमते हैं उनका परिणमन होगा विभिन्न। तो हमें विभावरूप परिणमने वाले पदार्थोंकी विभिन्न परिणति तो स्पष्ट हो जाती है, पर जो शुद्ध परिणति है, जिसका शुद्ध परिणमन अथवा शुद्ध अणु धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्यमें शुद्ध का परिणमन विदित नहीं हो पाता, न भी प्रत्यक्ष विदित हो, लेकिन यह युक्तिसिद्ध बात है कि पदार्थ हैं तो उनमें प्रतिक्षण परिणमन है, इस ही का नाम है द्रव्यत्वगुण, जिस शक्तिके प्रतापसे पदार्थ निरन्तर परिणमता रहे। अब पदार्थ निरन्तर परिणम रहा है लेकिन वह अटपट परिणमे तो भी अस्तित्व नहीं बनता, वह अपने ही स्वरूपसे परिणमे, परके रूपमें न परिणमे तब उसका अस्तित्व कायम रह सकता है। इस शक्तिका नाम है अगुरुलघुत्व। प्रत्येक जीव अपने ही परिणमनसे परिणमते हैं दूसरे जीवके परिणमनसे नहीं, अन्य अचेतन आदिक पदार्थोंके परिणमनसे नहीं, तभी तो जीवका अस्तित्व है। इन पुद्गलादिक समस्त पदार्थोंका अस्तित्व तभी है जब वे अपने स्वरूपसे ही परिणमते हैं परके रूपसे नहीं परिणमते।

पदार्थोंकी प्रदेशवत्ता व प्रमेयता—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व इतना सब कुछ होनेपर भी एक आकार न हो, वस्तुमें अपना विस्तार न हो, अपना फैलाव न हो, अपना क्षेत्र न हो तो वस्तुका अस्तित्व कहाँ कायम रहा ? है वस्तु, उसमें परिणमन है, पर जिसमें है वह कुछ अपने स्वरूप विस्तार को तो लिए हुए है, बस इस ही शक्तिका नाम है प्रदेशवत्व, जिस शक्तिके प्रतापसे वस्तुका कोई आकार नहीं रहता है। जैसे मैं जीव हू तो हू तो कुछ बड़ा छोटा फैला हुआ तो होऊँगा। जैसे वर्तमानमें जितना हमारा शरीर है उतने प्रमाणमे आत्मा है। कभी मरकर कोई मनुष्य चींटीके शरीरमें पहुच जाय तो उतने प्रमाण आत्मा रहता है। कोई मरकर हाथीके शरीरमें पहुचे तो उतने प्रमाण रहता है। तो जीव

का स्वयंका कोई प्रमाण, क्षेत्र, प्रदेश है, इसी प्रकार समस्त वस्तुओंमें उनके अपने प्रदेश अवश्य हैं। जो एकप्रदेशी पदार्थ है, जैसे परमाणु कालद्रव्य वह एक अपने प्रदेशाकारके लिए हुए है। तो प्रदेशवत्व गुण के प्रतापसे समस्त पदार्थ अपने अपने प्रदेश लिए हुए हैं। ऐसे ५ साधारण गुण हैं और ये हैं सही, पर ये जाननेमें नहीं आये किसीके। कुछ इस ही ढंगके हुए कि किसीको ज्ञेय हो ही न सके तब क्या! कोई व्यवस्था ही नहीं अथवा उनका स्वरूप ही ऐसा है कि ये सब पदार्थ किसी न किसी आत्माके ज्ञानमें प्रमेय होते ही हैं। जो सर्वज्ञ हैं भगवान, उनके ज्ञानमें तो समग्र सत् ज्ञेय रहा करते हैं। तो यह है समस्त पदार्थोंमें प्रमेयत्व गुण जिसके प्रतापसे ये पदार्थ प्रमेय रहा करे। यों सब पदार्थोंमे ६ साधारणगुण होते है।

पदार्थोंमें ६ साधारण गुण तो हुए, यह तो एक साधारणता की बात है जो समग्र सत्‌मे पाये जाये। किन्तु इतनेसे ही बात तो न बनेगी। कौन पदार्थ किस रूप परिणमता है, वह परिणमनकी बात तब तक न बन पायेगी जब तक उनमे कोई असाधारण स्वरूप नहीं होता। मान लिया कि जीवद्रव्यमें द्रव्यत्व गुण है इसलिए वह परिणमता रहता है। पर किसरूप परिणमता रहता है वह भी तो जानना चाहिए। जिसरूप परिणमता है बस वही उसका एक असाधारण स्वरूप है। तो इन समस्त पदार्थोंमे असाधारण स्वरूप भी है। जैसे जीवका विशेषस्वरूप है, चैतन्य ज्ञानदर्शनमय होना। पुद्गलका स्वरूप है रूप, रस, गंध, स्पर्शमय होना। धर्मद्रव्यका स्वरूप है—जो है वह अवक्तव्य है, पर इससे जाना जाता है वह स्वरूप कि जीव और पुद्गलके चलनेमे जो निमित्त हो वह धर्मद्रव्य है, जो जीव और पुद्गलके ठहरनेमें निमित्त हो, चलकर ठहरे उसे यहाँ ठहरना कहा गया है, ऐसे निमित्तभूत पदार्थको अधर्मद्रव्य कहते हैं। जो समग्र पदार्थोंके अवगाहमे हेतु हो, स्थान दे उसे आकाशद्रव्य कहते है और जो समग्र पदार्थोंका परिणमनमें कारण हो उसका नाम कालद्रव्य है। यों सभी पदार्थ साधारण और असाधारण गुणोंमय है। इनमें से प्रदेशत्व गुणके परिणमनमे तो बनती है व्यञ्जन पर्याय और असाधारण समग्र गुणोंके परिणमनमें बनती है गुणपर्याय।

द्रव्योंमे जीवद्रव्यकी परख—अब सब द्रव्योका इतनी निगाहसे देखना। द्रव्य है, उसमे अनन्त गुण है और द्रव्यका परिणमन होता रहता है, तो द्रव्यके प्रदेशका जो परिणमन है, आकारका जो होना है वह तो है व्यञ्जनपर्याय और जो शक्तियोंका परिणमन है वह है गुणपर्याय। जैसे इस समय हम आप जीवोंका जो यह आकार बना है मनुष्य जैसा, तो मनुष्यपर्याय मिली यह तो है व्यञ्जनपर्याय। जिस आकारको देखकर हम परिचय करते हैं, व्यवहार करते है वह है व्यञ्जनपर्याय और जीवमें ज्ञान दर्शन चारित्र आनन्द आदिक जो गुण है उन गुणोका जो कुछ भी इस समय परिणमन चल रहा है वह है गुणपर्याय। जैसे श्रद्धान गुणका किसीका परिणमन मिथ्यात्व रूप है, किसीका परिणमन सम्यग्दर्शनरूप है, यह है गुणपर्याय। ज्ञानका परिणमन कोई कुछ समझ रहा है, कोई कुछ जान रहा है, यों जो जानकारी बन रही है वे हैं ज्ञानके परिणमन। चारित्रका परिणमन कोई किसी विषयमें रम रहा है, कोई कहीं रम रहा है ऐसा जो रमण करनेका परिणमन है वह है चारित्रका परिणमन। आनन्दगुण है, उसके परिणमन सुख दुःख हो रहे हैं। कोई मनुष्य सुख मान रहा है, कोई मनुष्य दुःख अनुभव रहा है, ये हैं आनन्दगुण के परिणमन। सिद्ध भगवानमे निरखिये सिद्ध प्रभुकी व्यञ्जन पर्याय है शुद्ध एकरूप। जैसा अन्तिम आत्माका आकार है, जिस शरीरसे मोक्ष गए हैं, उस शरीरसे किञ्चित् न्यून आकारमे वे लोकके ऊपर विराजमान हैं, वह है उनकी व्यञ्जन पर्याय और ज्ञान उनका अनन्त है, केवल ज्ञान है। सो केवलज्ञान है गुणपर्याय। केवल दर्शन है गुणपर्याय अनन्त आनन्द है गुणपर्याय, और गुण तो जीवमें अनादिसे अनन्तकाल तक वही रहा करता है। इस तरह प्रत्येक पदार्थ द्रव्य, गुण, पर्यायरूपमे जाने जाते हैं।

पुद्गल द्रव्यकी परख—पुद्गलमें पुद्गलकी शुद्धव्यञ्जनपर्याय एक परमाणु जब एक ही रह जाय, उसमे अन्य परमाणुका सम्बंध नहीं है तो उसकी वह व्यञ्जनपर्याय है। जो ये दिखते हैं घड़ा, चौकी, दरी, ईंट, पत्थर, शरीर आदिक पदार्थ ये हैं विभावव्यञ्जनपर्याय पुद्गलमें ऐसी अनेक विभावव्यञ्जन पर्यायें हैं जिनके विषयमे लोगोंको सहसा इस रूपमे जानकारी नहीं होती। जैसे शब्द जो कानोंसे सुनाई देते हैं वे शब्द पुद्गलकी विभाव व्यञ्जन पर्यायें हैं। पुराने शास्त्रोंमे कुछ दार्शनिकोंने यह लिखा है कि शब्द आकाशकी परिणति हैं, लेकिन आजके विज्ञानसे यह प्रकट सिद्ध हो रहा है कि शब्द पुद्गलका ही परिणमन है, उसे रिकार्डमें रख लेते है, टेपरिकार्डमें उसे ग्रहण कर लेते हैं और इतनी बात तो सर्वत्र दिखनेमें आती है कि कोई बंद कमरेमें खूब किवाड़ टसकर लगे हों चारों ओर और वहाँ कोई कुछ बोले तो बाहर सुनाई न देगा, क्योंकि उसकी आवाज भींत और किवाड़से रुक गई है। तो रुकता कौन है? पुद्गल ही। जीव अमूर्त है, वह रुक नहीं सकता। धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये सब अमूर्त हैं। अमूर्त पदार्थ किसी पदार्थसे छिद नहीं सकते। कभी कोई जोरसे बोलता है तो कानोंमें धक्का लगता है। तो वह तीव्र वेगसे जो शब्द आया है उस शब्दकी ठोकर लगी है। तो इन सब बातोंसे सिद्ध होता है कि शब्द पुद्गलकी विभाव व्यञ्जन पर्याय है। इसी प्रकार बंध दो पदार्थोंमें जो बन्धन होता है वह बन्धन अवस्था भी पुद्गलकी है। सूक्ष्म और स्थूल होना यह भी पुद्गलका परिणमन है। आकार बनना, जैसे किस भी पदार्थ ये आकारमें दिखते हैं, गाटर लम्बा है, भींत मोटी है, किवाड़ फैले हुए हैं, ये सब आकार भी पुद्गलद्रव्यकी विभाव व्यञ्जन पर्यायें हैं। मिले हुए पुद्गल स्कंध अगर टूट जायें तो ऐसा भेद होना भी पुद्गलकी विभाव व्यञ्जन पर्याय है। अन्धकार, प्रकाश, छाया आदिक भी पुद्गलद्रव्य की विभावव्यञ्जन पर्यायें हैं। इस तरह सभी पदार्थ नाना पर्यायोंरूपसे परिणमते रहते हैं। तो यों प्रत्येक पदार्थ द्रव्यदृष्टिसे नित्य है और पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। तो जब पदार्थ नित्यानित्यात्मक हैं तो उन पदार्थोंका समूह यह लोक है ये भी नित्यानित्यात्मक है। इन्हें न किसीने किया है, न इन्हें कोई धारण किए हुए है, अनादिसिद्ध यह लोक है। अनादि सिद्ध समस्त पदार्थ हैं। अब यह बतला रहे हैं कि ऐसा यह लोक जो षड्द्रव्यात्मक है, नित्यानित्यात्मक है वह किस आकारमे, किस प्रमाणमें है, इस सम्बन्धमे बहुतसे लोगोंकी विभिन्न धारणाये हैं। उन सब विवादोंका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

सत्तेक पंच-इक्का मूले मज्झे तहेव बंभते।
लोयते रज्जूओ पुव्वावरदो य वित्थारो॥११८॥

लोकका पूर्व पश्चिमकी ओरका विस्तार—यह लोक पूर्वसे पश्चिम दिशामें तो नीचे ७ राजूप्रमाण है और नीचेसे ऊपर क्रमसे घटकर मध्य लोकमें एक राजू प्रमाण है। उससे ऊपर बढ़कर पचमस्वर्गके अन्तमें ५ राजू प्रमाण है, फिर घटा कर लोकके अन्तमें एक राजू प्रमाण है। पर उत्तर दक्षिणकी ओर सर्वत्र ७-७ राजू प्रमाण है। इस लोकका नक्शा ७ बालकों को एकके पीछे एक खड़ा करके लैनमें देखने से स्पष्ट हो जाता है। वे सभी बालक पैर पसारे हुए हों और कमर पर हाथ रखे हों तो यह लोकका आकार बन जाता है। अब वे सब बालक उत्तरको मुँह किए हुए हों तो उसमे निरख लीजिए सब। पूर्वसे पश्चिम तक नीचे विस्तार ज्यादा है क्योंकि पैर फैला हुआ है। इस तरहसे लोक पूर्वसे पश्चिममें नीचे ७ राजू है। फिर यहासे ऊपर घटता हुआ जा रहा तो एकदम कहाँ घट गया? उस कमरके हिस्से पर, वहा एक राजूका प्रमाण लोकमे माना। ७ से घटकर वहा तक एक राजू प्रमाण रह गया। अब उस मध्यलोकसे ऊपर और बढे तो जहा टेहुनियां एकदम परस्पर दूर है वहां है पचमस्वर्ग, वहाँ है ५ राजू प्रमाण। बीचकी फली हुई टेहुनिया पैरोंके बराबर नही फैली हैं, वहा है ५ राजू और यहा रह गया

५ राजू। फिर ऊपर घटकर लोकके अन्तमें १ राजूप्रमाण रह जाता है, पर उत्तरसे दक्षिणकी ओर तकेंगे तो ठीक ७ वालक हैं तो प्रत्येक जगह ७-७ राजूप्रमाण विस्तार है लोकमें। यह सब चित्रण जो लोकका किया गया है इस रूपमें अवस्थित यह लोक है कहाँ ? सो सर्वप्रथम बताया गया था कि सारा आकाश अनन्त है, उसके मध्य भागमें है। उसमें क्या-क्या रचनायें हैं, इन सब बातोंका इस अनुप्रेक्षामें विस्तार से वर्णन होगा। तो यह तो लोकका पूर्व और पश्चिमकी दिशाकी ओरसे आकार बनाया है। अब दक्षिण और उत्तरकी ओरसे यह लोक कितने परिमाण वाला है ? इसके सम्बन्धमें कहते हैं।

दक्खिण-उत्तरदो पुण सत्त वि रज्जू हवंति सव्वत्थ।
उड्ढं चउदह रज्जू सत्त वि रज्जू घणो लोओ ॥११९॥

लोकका दक्षिण उत्तर दिशामें विस्तार, ऊर्द्ध्वविष्कम्भ व सर्व घनफल—दक्षिण और उत्तर दिशामें यह लोक सब जगह ७-७ राजू प्रमाण है, ऊँचाई इसकी १४ राजूप्रमाण है। नीचेसे मध्यलोक तक ७ राजू और मध्यलोकसे लोकके अन्त तक ७ राजू। इस तरह ऊँचाई १४ राजूके विस्तारसे है। तब इस समग्रलोकका क्षेत्रफल कितना हुआ ? ७ राजूका घन। ७×७=४९ गुणा ७=३४३। यह किस तरह निकलता है, तो इसके लिए गणित विधिसे निहारो। नीचे बताया गया ७ राजू और मध्यमें आयेगा एक राजू, तो ७ में १ को जोड़कर बना ८। उसका आधा हुआ ४। अब इस ४ राजूको चूँकि दक्षिण उत्तरमें विस्तार ७ है तो ७ का गुणा करनेसे ७ गुणा ४=२८ हुआ। यह तो अधोलोककी मोटाई हुई। अब इस सब जगह ७ राजू ऊँचा, पीछे भी ७-७ राजू ऊँचा है तो २८ में ७ का गुणा करनेसे २८ गुणा ७=१९६ राजूप्रमाण है। १९६ अधोलोकका परिमाण हुआ। अब ऊर्द्धलोकके दो हिस्से कर लीजिये क्योंकि इसका आकार दो तरफसे बन गया। मध्यलोकसे पंचमस्वर्ग तकका आकार कैसा है कि नीचे है १ राजू और ऊपर है ५ राजू। अब उस पंचमस्वर्गसे ऊपरका जो लोक है वह किस तरह है कि नीचे है ५ राजू और ऊपर है १ राजू। तो अब इन दो हिस्सोंमें अलग-अलग गणित लगाइये पहिले वाले हिस्सेमें देखो मध्यलोकका १ राजू, ऊपर बीचमें ५ राजू। ये ६ राजू हुए, ६ का आधा हुआ ३ और दक्षिण उत्तरमें सर्वत्र है ७-७ राजू तो ३ गुणा ७ बराबर २१ राजू हुए। और ऊँचाई है इसकी ३ सही १ बटा २ राजू, क्योंकि ७ राजूके ऊर्द्ध लोकके दो हिस्सोंमें गणित कर रहे हैं। तो २१ का ३ सही १ बटा २ से गुणा करनेपर हुआ २१ गुणा ७ बटा २=१४७ बटा २ अर्थात् ७३ सही १ बटा २। और इतना ही परिमाण हुआ ऊपरके अधोलोकका। अब इस सबको मिला दीजिये तो लोकका पूरा घनफल हो गया। १९६ घनराजू है अधोलोक और १४७ घनराजू है ऊर्द्धलोक। इस प्रकार कुल मिलाकर ३४३ घनराजूप्रमाण लोकका पूरा घनफल होता है। एक राजूके विषयमें बताया ही गया था कि असंख्याते द्वीपसमुद्र जो एक दूसरेसे दुगने दुगने विस्तार वाले हैं, और मध्यमें है जम्बूद्वीप १ लाख योजनके विस्तार वाला। इतना बड़ा विस्तार अभी पूरा एक राजू नहीं बना। और वह भी विस्तार फैलाव वाला है। ऐसे ऐसे ३४३ घनराजूप्रमाण यह लोक है, इसके प्रदेश असंख्याते हैं। यहां यह जीव अज्ञान से सर्वत्र अनन्तों बार उत्पन्न हो हो कर मरा और अज्ञानमें ऐसी परम्परा चलेगी।

मेरुस्स हिट्ठ-भाए सत्त वि रज्जू हवेइ अह-लोओ।
उड्ढम्मि उड्ढ-लोओ मेरु-समो मज्झिमो लोओ ॥१२०॥

अधोलोकका विस्तार— इस मध्यलोकमें मेरुपर्वतके नीचे ७ राजूप्रमाण अधोलोक है। अधोलोक शब्दका अर्थ है नीचेका लोक। ऊर्द्धलोक शब्दका अर्थ है ऊपरका लोक, और नीचे और ऊपरका विभाग करने वाला है मेरुपर्वत। मेरुकी जड़से नीचेका क्षेत्र अधोलोक है मेरुकी चूलिकाके ऊपरका क्षेत्र ऊर्द्धलोक है। और मेरु बराबरका जो बीचका क्षेत्र रह गया वह मध्यलोक है। मेरुपर्वत जड़में

एक हजार योजन है और ऊपरमें ६६ हजार योजन है। इससे ऊपर ४० योजनकी चूलिका है। इस तरह एक लाख ४० हजार योजन प्रमाण क्षेत्र मध्यलोकका है। उससे नीचे अधोलोक है। उससे ऊपर उर्द्धलोक इसीलिए इस पर्वतका नाम मेरु रखा गया है। जो तीनों लोकोंका माप करे उसे मेरु कहते हैं। देखिये मेरुपर्वतके ही कारण तीन लोकका विभाग बना है। मेरुपर्वतके जडसेनीचे अधोलोक है और इसमें ७ नरकोंकी व्यवस्था है। जैसे पृथ्वीके जडमे मेरुपर्वत है यह एक पहिली पृथ्वी है। यह पहिली पृथ्वी तीन भाग रखती है। पहिले भागमे तो असुर व राक्षसोंके अतिरिक्त शेष भवनवासी व्यंतरोका निवास है, द्वितीय भागमे असुर कुमार और राक्षस जातिके भवनवासी व्यन्तरोंका निवास है। तीसरे भागमें नारकी जीव रहते हैं और इस पृथ्वीके नीचे कुछ छूटा हुआ स्थान है। वहां पृथ्वीकुछ नहीं है। उससे नीचे दूसरीपृथ्वी है। उसमें दूसरा नरकहै। तीसरीपृथ्वीमे तीसरा नरक है, चौथीपृथ्वीमें चौथा नरक है। ५वीं पृथ्वीमें ५वां नरक, छठी पृथ्वीमें छठवा नरक और ७वीं पृथ्वीमे ७वा नरक। सब पृथ्वियोंके नीचे छूटा हुआ स्थान है, आकाश है— इससे नीचे तीन वातवलय हैं। और, जैसे वातवलय लोकके चारों ओर है यों ही प्रत्येक पृथ्वीकी तीन ओर वातवलय हैं। पृथ्वीके ऊपर भागमें नहीं है। जहां हम रहते हैं यह पहिली पृथ्वीका ऊपरी भाग है। ७वीं पृथ्वीके नीचे भी बहुतसा क्षेत्र छूटा हुआ है वहां निगोदस्थान है। यद्यपि निगोद इस लोकमे सब जगह भरे पडे हुए हैं किन्तु बहुलतासे निगोदस्थान ७वीं पृथ्वीके नीचे माना जाता है जो एक राजूप्रमाण क्षेत्र है। ये सभी पृथ्विया घनोदधिवलय, घनवातवलय, तनुवलयसे वेष्ठित हैं। यह तो हुआ मेरूपर्वतके नीचेका ७ राजूप्रमाण अधोलोक।

ऊद्धर्वलोकका विस्तार—अब ऊद्धर्वलोककी बात देखिये। मेरुपर्वतकी चूलिकाके अन्तमे जहा मेरुपर्वत समस्त समाप्त हो जाता है। उसके ऊपर केवल बाल बराबर पतले भागके अन्तरके बाद प्रथम कल्प का इन्द्रकविमान है जिसका नाम है ऋजुविमान। उस ऋजुविमानके तल भागसे लेकर लोकके शिखर पर्यन्त ऊद्धर्वभाग है। ऊर्द्धलोकमे सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश, पांच अनुत्तर तथा सिद्धशिला ये सब अवस्थित है। स्वर्गोंकी रचना अलग-अलग १, २, ३, ४ आदिके रूपसे नहीं है, किन्तु मेरुपर्वतके ऊपर ६३ पटल हैं और उनमें समस्त रचना है। पटलका अर्थ यह है कि बीचमें एक विमान होना और चार दिशाओमे पंक्तिबद्ध अनेक विमान होना और बीच विदिशामे भी पंक्तिबद्ध विमान होना और बीच की जगहमें फैले हुए यत्र तत्र विमान होना, इस रचनाका नाम है एक पटल। इस तरहसे ६३ पटल हैं ऊद्धर्वलोकमें। अंतिम जो पटल है जिसे पंच अनुत्तर बोलते हैं वहा केवल बीचमे एक विमान है और ४ दिशाओंमें चार विमान हैं। द्विचरमपटल जिसे अनुदिश बोलते है, यह ६२वां पटल है, इसके बीचमें एक विमान है और चार दिशाओंमे, चार विदिशाओंमे एक विमान है, नौ ग्रैवेयक जिसे कहते हैं उसमें ६ पटल हैं। प्रथमके तीन पटलोका नाम है अधोग्रैवेयक, मध्यके तीन पटलोंका नाम है मध्यग्रैवेयक और अन्तिम तीन पटलोंका नाम है अन्तिम ग्रैवेयक। इन ११ पटलोंसे पहिले जो पटल हैं उनमे स्वर्गोंका इस प्रकार विभाग है कि जैसे पहिले ३१ पटलोंमें दक्षिण दिशामे, पहिला स्वर्ग माना जाता जिसमें पूर्व दक्षिण पश्चिममें श्रेणि व इनके बीचके विमान है। उत्तरदिशामे दूसरा स्वर्ग माना जाता है जिसमें उत्तरश्रेणि व पासकी दो विदिशा व उस सबके आसपासके विमान हैं। इस तरहका विभाग रखते हुए इन स्वर्गोंकी और ग्रैवेयक आदिककी रचना है।

मध्यलोककी नीचेसे सात राजूके ऊपर आठवें राजके प्रारम्भमे रचना—यहां कोई शंका कर सकता है कि लोककी ऊँचाई तो १४ राजू बतायी गई है। ७ राजू अधोलोक है, ७ राजू ऊद्धर्वलोक है। ऐसी स्थितिमें मध्यलोककी ऊँचाई एक लाख ४० योजन किसमें सम्मिलित है। जब राजू १४ ही है और ७ राजू अधोलोकमे गए, ७ राजू ऊर्द्धलोकमें आ गए, तब मध्यलोकका क्षेत्र कहा रहा ऊर्द्धलोकमें अथवा अधोलोकमें ?

उसका समाधान यह है कि मेरुपर्वतके जड़के नीचे तो अधोलोक है और अधोलोककी समाप्तिके बाद ऊर्ध्व लोक है, तो मध्यलोक ८वे राजूके प्रारम्भमे है। तब अधोलोक पूरा ७ राजू है और ऊर्ध्वलोक एक लाख चालीस हजार योजन कम ७ राजू समझिये। इस तरह तीन लोकोंमे इस लोकका विभाग बना हुआ है।

दीसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णदे लोओ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा अंत-विहीणा विरायते ॥१२१॥

लोकका स्वरूप व सिद्धपरमेष्ठीका अवस्थानक्षेत्र--जहां पर जीवादिक पदार्थ देखे जाते है उसे लोक कहते है। उसके शिखर पर अनन्तसिद्धपरमेष्ठी विराजमान है। लोक शब्द लुक् धातुसे बना है जिसका अर्थ यह निकला कि जहां समस्त पदार्थ पाये जाये, देखे जाये उसे लोक कहते हैं। इस लोकके अन्तिम भाग पर जहां कि तनुवातवलय है, तीन वलयोमे जो अंतिम वातवलय है, जहां सूक्ष्म पतली हवा है वहा पर सिद्धपरमेष्टी विराजमान हैं और वे अन्तरहित है, जिनका कभी विनाश नहीं है। सिद्धपरमेष्ठी द्रव्य से भी अनन्त है। सिद्धपरमेष्ठी कितने है? तो उनका प्रमाण अनन्त है। क्षेत्रसे वे असंख्यात प्रदेशोमे हैं, कालसे भी अनन्तकालसे है, अनन्तकाल तक रहेगे। अनन्तकाल तक होते रहेंगे और भी अनेक सिद्ध। और भावदृष्टिसे वे सिद्ध अनन्त हैं। उनका भाव, उनका ज्ञान, आनन्द ये सब कुछ अनन्त हैं, ऐसे सिद्धभगवान कहा विराजमान है? उसका उत्तर दिया गया कि वे लोकके अन्तमे है। सब जीवोंमे पूर्ण उत्कृष्ट प्रभु है सिद्धभगवान। तो कुछ मेल भी ऐसा मिल गया है कि वे उत्कृष्ट हैं तो लोकके उत्कृष्ट भाग पर ही रहते है। हम आप जब भी भगवानकी याद करते है तो ऊपर शिर उठाकर ऊपर दृष्टि करके याद किया करते है। कोई पुरुष जमीनमे नीचे दृष्टि गड़ाकर याद नहीं करता। कुछ प्रकृति भी ऐसी है। तो ये सिद्ध प्रभु लोकके अन्तमे विराजमान है।

लोकभावनासे प्राप्त शिक्षायें--लोकभावनामे जो कुछ भी वर्णन चलेगा उससे बहुत शिक्षा मिलेगी। जैसे लोकके विस्तारका वर्णन आयगा तो वहां हमे यह शिक्षा मिलती है कि इस लोकमे कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहां यह जीव अनन्त बार जन्म मरण न कर चुका हो। लोकमें कोई पदार्थ ऐसा नहीं बचा जिसे इस जीवने अनन्त बार भोगा न हो। लोककी रचना जानकर पुण्यका फल कहा विशेष मिलता है, पापका फल कहां विशेष मिलता है, यह स्पष्ट जानकारी रहती है। लोग कह तो देते है कि पाप करनेका फल नरक गतिमे जन्म लेना है, पर नरक कहां है, किस प्रकारसे नारकी जीव रहते है, यह सब वर्णन समझनेके बाद यह बात ज्ञानमे और स्पष्ट रहती है कि पापके फलमे नियमसे नरक जाना पड़ता है। लोग कह तो देते हैं कि पुण्यका फल है स्वर्गोमे जन्म लेना, पर स्वर्ग कहा है, किस प्रकार से स्वर्गमे रहने वाले जीवोंकी देह है, कैसी आयु है, कैसा उनका भोगोपभोग है, इन सब बातोका जब परिचय मिलता है तो यह बात ज्ञानमे अधिक स्पष्ट हो जाती है कि पुण्यका फल स्वर्गमे उत्पन्न होना है, धर्मका फल सिद्ध होना है। धर्म नाम है आत्माके स्वभावका अवलोकन करना और उस स्वभावमे ही रमना, और उसका फल है सिद्ध होना। तो वे सिद्ध कहां रहते हैं, कैसी उनकी स्थिति है? इसका परिचय होनेपर धर्मका फल सिद्ध होना है और उन सिद्धोंमे ऐसा अनन्त आनन्द है ये सब बाते जाननेमें आसानी हो जाती है। अब आगेकी गाथामे यह बतयाते हैं कि किन-किन जीवोसे भरा हुआ यह लोक है?

एइंदिएहि भरिदो पंच-पयारेहिं सव्वदो लोओ।
तस-णाडीए वि तसा ण बाहिरा होंति सव्वत्थ ॥१२२॥

लोकमें जीवोके निवासका विवरण--यह लोक सर्व ओरसे ५ प्रकारके एकेन्द्रियोंसे भरा हुआ है किन्तु त्रस जीव त्रसनालीमे ही हैं, बाहर नहीं हैं। लोककी ठीक रचना जाननेके लिए ७ बालकों की लाइन पैर पसारकर, कमर पर हाथ रखकर चित्रण बताया गया था। तो ऐसे लोकमे त्रसनाली किधर है, बीचमे जो

चौथा बालक है (तीन आगे और तीन पीछेके बालकोंको छोड़कर) मानो उस बालकका जितना मोटा कठ है उतने ही प्रमाण दो लैन नीचे तक जमीन तक बनायें तो जो हिस्सा सामने विदित हुआ ऐसी ही चौकोर त्रसनाली है। मतलब यह है कि त्रसनाली इस लोकमें किसी ओरसे अपना व्यक्त भाग बनाये हुए नहीं है। उस त्रसनालीमें जीव रहते हैं। इसके अतिरिक्त जितना क्षेत्र बचा त्रसनाली तो कुछ कम १३ राजू है। अब १३ राजू छोड़कर ३४३ में जितना बचा वह सारा स्थावरोंसे भरा हुआ है। वे स्थावर ५ प्रकारके हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। जिनका कोई आधार नहीं, कोई शरीर नहीं, ऐसे जैसे कि स्थूलरूपसे जैसा कि यहांके पृथ्वी, जल आदिक के देखा जाता है, ऐसे भी स्थान है, उनमें ये सूक्ष्म जीव हैं। त्रस नालीसे बाहर त्रस जीव जा तो सकते है मगर अपने इस शरीरको लेकर नहीं। कोई त्रसनालीसे बाहरका एकेन्द्रिय जीव मरकर त्रस नालीमें उत्पन्न होने जाये, त्रस बना तो मृत्युके पश्चात त्रसनालीमें जो जन्मके लिए गमन करता है तो उस जीव का नाम त्रस हो गया। उस स्थानमें जो चला वह विग्रह गतिमें तो वहा भी त्रस जीव रह गया लेकिन उसका समय प्राय एक दो समय समझिये। इसी प्रकार कोई जीव त्रस नालीमें त्रस है और उसे मरकर त्रस नालीसे बाहर एकेन्द्रियमें जन्म लेना है तो जिसका मरणसमुद्घात होगा तो मरणसमुद्घातमें यह स्थिति बनती है कि यह जीव पहिले उस स्थानको छू आयेगा जहा कि इसे जन्म लेना है और फिर उस स्थान पर वापिस आयेगा, फिर मरण करके जायेगा तो मारणान्तिक समुद्घातमें जीवका जो इतना समय लगा कि मरणसे पहिले जन्मस्थानके प्रदेशको छू आया और वापिस आकर शरीरमें समा गया तो इस हालतमे यह त्रस जीव त्रसनालीसे बाहर स्थावर क्षेत्रमें भी चला गया। इस प्रकारसे त्रस नालीसे बाहर त्रस जीवका पाया जाना सम्भव है। हा, बादर जीव जो स्थूल पृथ्वीकायिक हैं और एकेन्द्रिय जीव सभी त्रस जीव ये सर्वलोकमें नहीं रहते हैं क्योंकि जो स्थूल पृथ्वी है वह तो साधार हो गयी। बाहर तो पृथ्वी है नहीं। तो वहां पृथ्वीकायिक जीव सूक्ष्म हैं बादर नहीं। जैसे कि जीव समासमें एकेन्द्रियके चार भेद किए है—बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, सूक्ष्मएकेन्द्रिय पर्याप्त, सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त। तो ये चार प्रकारके जीव त्रसनालीमे तो रह ही सकते हैं, पर त्रसनालीसे बाहर पृथ्वी जल वगैरा सूक्ष्म पृथ्वी हैं, सूक्ष्म जल आदिक हैं वहाँ भी रहते हैं।

त्रसनालीके विस्तारका वर्णन—त्रसनाली सिद्धान्तमे १४ राजूसे कम कहा गया है। ऐसा कहका कारण यह है कि ७वाँ जो नरक है, ७वीं पृथ्वी ८ हजार योजनकी मोटी है और उसके ठीक मध्यमें नारकियोंकी श्रेणीबद्ध पोल बनी हुई हैं जिन पोलोंकी मोटाई पौन योजनकी है। अब इस मोटाईका गणित बनाकर जो फल आता है उसे रक्खें और ऊपरमें सर्वसिद्धिके विमानके ऊपर १२ योजनपर आठवीं पृथ्वी है, इसका नाम है सिद्धशिला या ईषत्प्राग्भार। यह ८ योजन मोटी है और उसकी चौडाई एक राजू, लम्बाई ७ राजू है। अब त्रस जीव कहा तक पाये जाते हैं इतनी निगाह रख करके त्रसनाली मानी जाय तो शेष का जो स्थान बचा वह त्रसनालीमें न होनेसे कुछ कम १३ राजूप्रमाण त्रसनालीकी बात कही गई है। इस तरह इस तीन लोकके रूपमें विभक्त यह लोक है।

लोकानुप्रेक्षासे आत्मकल्याणके कर्तव्यकी प्रेरणा—इस लोकमे हम आप सब इस समय मध्यलोकमे है, और इस मध्यलोकमे भी बहुत बीचके स्थानपर है याने जम्बूद्वीपमें हैं। हा जम्बूद्वीपमें हम एक किनारे हैं भरतक्षेत्रपर, जिसमें ६ खण्ड है, एक आर्यखण्ड, ५ म्लेच्छखण्ड। उनमेंसे हम आर्यखण्डमें जन्म लिए हुए कहलाते है। म्लेच्छखण्डसे बच गए, आर्यखण्डमे जन्म लिया है, और इस आर्यखण्डमें बहुत देश है जैसे रूस, चीन, अमेरिका, भारत आदि। अनेक देशोंमें तो केवल जल ही जल है, जहा अन्न पदा ही नहीं होता। उन समस्त देशोंमे एक भारतदेश भी है जिस देशमें तीर्थंकरोंका जन्म होता है

और निर्वाणकी बहुतायत जिस क्षेत्रसे होती है उस क्षेत्रमें हम आपने जन्म लिया, और जाति कुल भी तीर्थंकरोंके वंशका ही है, तो ऐसी उत्तम जाति कुलमे जन्म लेकर और जैन शासन पर हम स्व और पर-पदार्थके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करे, निर्णय बनाये और सब कुछ समझकर एक इस संकल्पमे आ जाये कि हमे तो निज ज्ञानस्वरूपका ज्ञान बनाये रहकर आत्मकल्याण करना है। संसारके सकटोसे, अष्टकर्मोंके बन्धनसे सदाके लिए छुटकारा पाना है। बस इस ही विशुद्ध परिणामको बनानेके लिए यह लोकानुप्रेक्षा का वर्णन चल रहा है।

पुण्णा वि अपुण्णा वि य थूला जीवा हवंति साहारा।
छव्विह-सुहुमा जीवा लोयायासे वि सव्वत्थ ॥१२३॥

बादरजीवोंकी साधारता व सूक्ष्मजीवोंकी निराधारताका वर्णन—ऊपरकी गाथामे बताया गया था कि यह सारा लोक ५ प्रकारके एकेन्द्रियोसे भरा हुआ है और त्रसनालीमे त्रस रहते है, इससे बाहर त्रस जीव नही पाये जाते है। केवल उपपादसमुद्घात और मारणान्तिक समुद्घातकी अवस्थामे त्रसजीव त्रस-नालीसे बाहर पाये जाते है तो भी अति अल्प समयके लिए। इस गाथामें बता रहे है कि वे जीवपर्याप्तक हो तथा अपर्याप्तक हो, स्थूल जीव कितने है वे सब साधार होते है याने जो बादरपर्याप्तक हैं, बादर अपर्याप्तक है वे सब किसी आधारमे रहा करते है, जो कि आधार एक स्थूल शरीर है। बादर उसे कहते हैं जो बादर नामकर्मके उदयसे निष्पन्न पर्याय हो। बादर नामकर्मके उदयसे ऐसा शरीर उत्पन्न होता है कि जो अन्य पदार्थोंसे छिड़ रुक भिड़ सकता है। तो इस प्रकारके जो बादरजीव हैं वे पर्याप्तक हों अथवा अपर्याप्तक हों, ये सभी प्राणी पृथ्वी आदिक आधार पा करके रहते है। आधारमे वर्तमान शरीरसे सहित जो जीव है वे सब बादर हैं। साधार जीव सभी बादर हुआ करते हैं और सूक्ष्मजीव वे कहलाते हैं जिनकी पर्याय सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई हो। ऐसे प्राणी ६ प्रकारके हैं— सूक्ष्मपृथ्वीकायिक, सूक्ष्मजल-कायिक, सूक्ष्मअग्निकायिक, सूक्ष्मवायुकायिक, सूक्ष्मनित्यनिगोदवनस्पतिकायिक, सूक्ष्मइतरनिगोदवनस्पति कायिक। त्रसजीव सभी बादर होते हैं, इस कारण उनमे दो भेद नहीं कहे। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार-इन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय जीव ये कितने ही सूक्ष्मशरीर वाले हो वे सब बादर हैं। अतएव इनमे दो भेद नहीं कहे। जिनमें सूक्ष्म सम्भव हैं उनके भेद बताये गए हैं। तो सूक्ष्म शरीर वाले जीव एकेन्द्रियमें ही हुआ करते है।

वनस्पतिकायके भेदरूप नित्यनिगोद व इतरनिगोदका विवरण—एकइन्द्रियके ५ भेद बताये गए है— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति। इनमेसे वनस्पतिकायके दो भेद है— एक प्रत्येक वनस्पति, दूसरा साधारणवनस्पति। प्रत्येक वनस्पति तो जितनी हरी वनस्पति है फूल, फल, पत्ते, पेड आदि ये सब प्रत्येकवनस्पति कहलाते हैं। साधारणवनस्पति निगोदका नाम है। जिन प्रत्येकवनस्पतियोंमें अनन्त साधारण वनस्पति रहते है उन्हें कहते है सप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पति आलू, मूली, गाजर आदिक ये साधा-रण वनस्पति नही हैं किन्तु साधारणवनस्पतिसहित प्रत्येकवनस्पति है। तो चूँकि इनमें एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा अधिक है अतएव इन्हें भी साधारणवनस्पति कहकर प्रसिद्ध करते हैं। और बोलचालमें, लोक व्यवहारमे कहते हैं कि आलू वगैरह साधारण है, पर ये साधारण नहीं, किन्तु साधारणसहित प्रत्येक हैं। तो इनमें याने प्रत्येकवनस्पतिमें सूक्ष्म जीव नहीं होते। साधारणवनस्पतिमें ही दो भेद हैं— सूक्ष्म और बादर। साधारणवनस्पति कहो अथवा निगोद कहो— दोनोंका एक ही अर्थ है। तो निगोदजीव दो प्रकार के होते हैं— एक नित्यनिगोद, दूसरा इतरनिगोद। नित्य निगोद उन्हें कहते हैं जो जीव अब तक निगोद से कभी भी नहीं निकले। नित्यनिगोदभी दो प्रकारके है— एक वे जो भविष्यमे कभी निगोदसे निकलेंगे नही और एक वे जो भविष्यमे कभी निगोदपर्यायसे निकल जायेगे लेकिन अब तक नहीं निकले। अभी

कहलाते हैं। तो नित्यनिगोदका जब लक्षण करेंगे तब यह न करना कि जो अब तक निगोदसे नहीं निकले और भविष्यमे कभी नहीं निकलेंगे, उन्हें नित्य निगोद कहते हैं, यह लक्षण ठीक नहीं है क्योंकि इस लक्षणसे वे निगोद छूट जाते हैं जो अब तक नहीं निकले और आगे निकलेंगे। अतएव नित्य निगोदका यही लक्षण ठीक है कि जो जीव अब तक निगोदपर्यायसे नहीं निकले वे नित्यनिगोद कहलाते हैं। इतर निगोद वे कहलाते हैं जो निगोदपर्यायसे निकल चुके थे, नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य या अन्य तिर्यञ्च हो गए थे और फिर वे निगोद बन गए तो उन्हें इतरनिगोद कहते हैं।

लोककी सूक्ष्मजीवोसे सर्वत्र निरन्तर निभृतता—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद ये छ प्रकारके कायसूक्ष्म भी होते और बादर भी होते। पृथ्वी जीव, जैसे यह आँगनमें आकाश है, जहा कुछ भी नजर नहीं आता वहा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और साधारणवनस्पति नामके ये पांचों प्रकारके जीव हैं। ये सूक्ष्म हैं, इनको आधार की आवश्यकता नहीं है। तो ऐसे सूक्ष्म जीवोंसे यह सारा लोक ठसाठस भरा है। चाहे जलका स्थान हो, चाहे स्थल हो अथवा आकाश हो, सभी जगह निरन्तर ये सूक्ष्म जीव रहते हैं इनको आधारकी अपेक्षा नहीं है, जलके कारण या पृथ्वी, पहाड़ ढलेके कारण इनके शरीरकी गति आदिका प्रतिघात नहीं है। ये सूक्ष्म जीव आगसे नहीं जलते, पीटनेसे नहीं पिटते, इनका प्रतिघात कोई दूसरा नहीं कर सकता, किन्तु ये जीव स्वयं ऐसे निकृष्ट हैं कि एक श्वासमे १८ बार तो निगोदका जन्म मरण होता है और अपनी ही आयुके क्षयसे इन सूक्ष्म पृथ्वीकायिक आदिकका जन्ममरण होना रहता हैं। ये जीव सब सूक्ष्म हैं, निराधार हैं और निरन्तर हैं, ऐसी कोई लोककी जगह नहीं बची जहाँ कि कोई जीव न रह रहा हो, जीवोसे यह लोक पूर्ण ठसाठस भरा हुआ है।

पुढवी-जलग्गि वाऊ चत्तारि वि होंति बायरा सुहुमा।
साहारण-पत्तेया वणप्फदी पंचमा दुविहा ॥१२४॥

एकेन्द्रियोमे बादर और सूक्ष्म जीवोका विवरण--ये जीव बादर भी होते और सूक्ष्म भी। जो दिखने मे आ सकने वाली, छूनेमें आने वाली या इससे भी और बारीक जो अचाक्षुप भी है, उसमें जो जीव हैं वे बादरपृथ्वी कहलाते हैं। बादर उन्हें कहते जो दूसरेसे छिड जाये, रुक जायें। सूक्ष्म शरीर वाले जीव वे कहलाते हैं जो दूसरे से छिड़ नहीं सकते। वे गति कर रहे हों तो भींत, पहाड कुछ भी आगे आये, सबमें से वे निकल जाते हैं। तो जो सूक्ष्म जीव हैं उनका किसीका किसीसे प्रतिघात नहीं होता, उनका कोई दूसरा घात नहीं कर सकता। अग्नि भी जलती हो तो अग्निकी गर्मीसे भी जीव न मरेंगे लेकिन वे अपने आप ही निरन्तर मरते रहते हैं। तो पृथ्वी बादरपृथ्वी भी है, सूक्ष्मपृथ्वी भी। जल, अग्नि वायु, साधारणवनस्पति सूक्ष्म भी हैं और बादर भी। एकेन्द्रिय जीवोंमे वनस्पतिकायिक जो अन्तिम भेद है उसके दो भेद हैं—साधारण वनस्पति व प्रत्येक वनस्पति। इनमे से प्रत्येकवनस्पति बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं।

मिथ्यात्व, अविरति व कषायभावोसे हिंसाका महापाप--इस प्रसगमें अहिंसा धर्मके सिद्धान्तसे यह बात जानें कि जीवको जो हिंसाका पाप लगता है वह अपने भावोंसे लगता है। कोई जीव मर गया किसी के शरीरके घातसे तो उस द्रव्यघातसे हिंसा नहीं लगी किन्तु उस जीवको मारनेका भाव भी था इसलिए हिंसा लगी। जो भावपूर्वक चल करके हिंसा की जाती है वह नियमसे कषायपूर्वक ही है। तो कषाय है इसलिए हिंसा हुई, जीव मरा इसलिए हिंसा नहीं हुई। यहाँ कोई यह बहाना नहीं ले सकता है कि जीवों को मारते जावो, हिंसा तो जीवोंके मारनेसे नहीं लगती। यह बहाना यों नहीं लिया जा सकता कि यह भी तो देख लो कि जीवोंको कोई मार रहा है तो कषायपूर्वक मार रहा, बिना कषायके तो नहीं। मारने की प्रवृत्ति कषाय बिना नहीं हो सकती, अतएव कषाय नियमसे होनेके कारण उसको हिंसा है तभी तो

तक निगोदसे नहीं निकले इस बातके होनेसे वे नित्यनिगोद कोई जीव मरे चाहे न मरे, लेकिन कषाय करली, किसीको मारनेका भाव कर लिया तो उसे हिंसा अवश्य है। और मुनिराज ईर्यासमितिसे चल रहे हैं और कदाचित् कोई कुन्थु, जीव, छोटा जीव जो कि आँखो भी नहीं दिख सकता और निकटसे ही उड़कर पैरके तले भागपर आ गया है तो उस जीवका घात भी हो जाय तो भी मुनिराजको हिंसा नहीं लगती क्योंकि न भाव था मारनेका और न प्रमाद था। एक सबसे बड़ी विडम्बना तो यह बन जायेगी कि यदि जीवके द्रव्यघातसे हिंसा होने लगे तो देखिये— शरीरमे सब जगह जीव भरे हुए हैं, शरीर हम आपका है एक, लेकिन इसमें कीटाणु नाना जीव इस शरीरमें बहुत भरे हैं। हम आप बैठते हैं तो बैठने से जो हिस्सा दब गया है वहांके जो जीव हैं उनको क्या पीड़ा न हुई होगी ? जब शरीरमें सब जगह जीव भरे हुए हैं तो आप क्या करेंगे ? खडे हों, बैठ जाये, लेट जाये तो उस अगके दबनेसे क्या जीव-हिंसा नहीं है, लेकिन जीवहिंसाका सकल्प नही है अतएव वहां हिसा नही है। अन्यथा कोई मोक्ष जा ही न सकेगा। शरीरमे जीव है और हर समय जीवों का घात होना रहना है उनको मुक्ति कहा मिले ?

सकल्पी हिंसाके महादोषका वर्णन--प्रश्नः— फिर तो जो मांसभक्षी लोग हैं वे कहेंगे कि हम तो मांस खाने के लिए जीवोंका घात करते हैं—उनके मारनेका भाव तो हम नहीं बनाते, फिर इसमें क्यों हिसाका दोष लगा ? उत्तर.—खाना भी एक कषाय है, जो मास खाकर मौज माननेका भाव है वह भी उतनी व उससे भी अधिक तीव्र कषाय है जितनी कि कोई वैरविरोधमें आकर जीवका घात करता है। तो चूँकि जीवघात खानेके लिए किया और खाना कषाय है, तीव्र राग है, आसक्ति है, दूसरे जीवका तो प्राण जाय और खुदको जरा-सा कल्पित स्वाद मिल गया जो कि व्यर्थका स्वाद है, जिससे कि कुछ कार्य भी नहीं बनता। तो यह कषायसे किया गया है अतएव हिसा है। तो अपने प्रयोजनसे, अपने विषय साधनसे, अपने दिल बहलावाके लिए, अथवा कोई शत्रु आक्रमण कर रहा है उससे बचावके लिए किसी भी प्रकारसे हिसा की जाती है तो उसमे हिसाका दोष है। हिंसा ४ प्रकारकी कही गई है—सकल्पीहिंसा, विरोधीहिंसा, उद्यमीहिसा और आरम्भीहिसा। सकल्पीहिंसा उसे कहते हैं कि इरादेसे, भावपूर्वक किसी जीवको मार डालना। विरोधीहिसा उसे कहते हैं कि कोई शत्रु मनुष्य अथवा सिंह, सर्प आदिक जानवर अपने ऊपर आक्रमण करने को हो और उस आक्रमणकारी का हम प्रत्याक्रमण करें। उसके साथ सघर्ष करें और उसमें उस विरोधी जीवकी हिसा हो जाय उसे कहते हैं विरोधी हिंसा। तीसरी है आरम्भीहिसा। रसोई बनानेमें, चक्की चूल्हा आदिके कार्योंमे बहुत बहुत बचाव करते हुए भी जीवहिंसा हो जाती है उसे आरम्भीहिंसा कहते हैं, ठीक न्यायपूर्वक रोजगार करते हुए भी, बचाव जीवहिसाका यथाशक्ति रखते हुए भी जो जीवहिसा होती है उसे उद्यमीहिसा कहते है। इन चारो प्रकारकी हिसाओंमे पापबंध तो है, लेकिन गृहस्थकी और साधुकी स्थिति न्यारी-न्यारी है। गृहस्थ केवल सकल्पीहिसाका त्यागी बना, आरम्भी, उद्यमी, विरोधी हिंसाका अभी यह घरमे बसने वाला गृहस्थ त्याग नहीं कर पाया। तो त्याग न भी कर पाये, उससे कहीं हिसासे बच न जायेगा। हिंसा वही लगेगी, लेकिन व्रतभगकी हिसा नहीं लगी। उसने व्रत केवल सकल्पी हिंसाके त्यागका किया। जैसे यहां कोई ऐसा निर्णय करता कि हमने आलूका त्याग किया और मूली खा रहा तो जिसका त्याग किया उसे यदि खाने लगे तो उसकी निन्दा है। यद्यपि मूली भी खा रहा, उसमे भी अनन्तकाय हैं लेकिन त्यागी हुये आलूको खाये तो उसे लोग भला नहीं मानते। और मूली खाता रहे तो उसे कोई बुरा नहीं कहता कि यह गृहस्थ नहीं रहा। इस तरह ४ प्रकारकी हिंसाओंमे इस गृहस्थनेसंकल्पी हिंसाका त्याग किया और सकल्पीहिसाका त्याग किए बिना वह जैनमात्र भी नही कहला सकता।

विवेकीके सकल्पीहिंसाके त्यागकी अनिवार्यता--जैन कोई युद्धमे लडे, कोई जैन मिलेटरीका सिपाही

भी तो वन सकता है। वह अगर युद्ध करे, युद्धमे अनेक लोगोको मार भी सकता है लेकिन एक चलती हुई चींटीको यह यो ही मसल नहीं सकता। संकल्पी और विरोधी हिंसामें यही तो अन्तर है। एक बार की पुरानी गटना है कि टीकमगढ रियासतमे राजासे किसीने कह दिया कि जैन लोग हिसा नहीं करते, परीक्षा करनेके लिए वह राजा घोडेसे जा रहा था। रास्तेमें एक बकरी जा रही थी। तो जो जैनसे कहा कि इस बकरीको लावो इसका अभी घात करना है। इसका मांस पकवाकर हम खावेंगे। तो वह जैन इतना निडर होकर बोला कि महाराज! यह काम तो एक जैनसे नहीं हो सकता। बहुत-बहुत धौंस देनेके बाद भी जब वह जैन हिंसा करनेके लिए उस बकरीको लेने न चला तो वह राजा उस जैन पर बहुत प्रसन्न हुआ और बोला कि हमने जो सुना था कि जैन लोग लोग हिंसा नहीं करते वह बिलकुल सच था, क्योंकि हमने आज अच्छी तरहसे परीक्षा कर लिया। तो हिंसाका दोष भावोंसे चलता है। तो ये पृथ्वीकायिक आदिक बादरजीव भी बहुत भरे पडे हैं। सूक्ष्मजीव तो ठसाठस भरे हैं। जीवहिंसाका दोष तो उनका घात करनेका भाव होने पर ही लगेगा। एकेन्द्रियोमे ५वाँ भेद है वनस्पतिका। वनस्पतिकाय के दो भेद हैं— साधारणवनस्पति और प्रत्येकवनस्पति। जो साधारणवनस्पतिकायिक जीव हैं वे नित्यनिगोद अथवा इतरनिगोद कहलाते हैं। उनमें तो भेद हैं— बादर और सूक्ष्म, किन्तु जो प्रत्येकवनस्पतिकायक जीव हैं वे बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं होते। अब साधारणवनस्पतिकायके दो भेद हैं, इस बात को गाथासे भी दिखाते हैं।

साहारणा वि दुविहा अणाइ-काला य साइ-काला य।
ते वि य बादर-सुहुमा सेसा पुण बायरा सव्वे॥१२५॥

साधारणवनस्पतिकायके दो भेदोंका गाथामे निर्देश--साधारणवनस्पतिकायिकके दो भेद हैं, एक तो अनादि साधारणवनस्पतिकायिक अर्थात् नित्यनिगोद और एक सादिकाल साधारणवनस्पतिकायिक अर्थात इतरनिगोद। ये बादर भी होते और सूक्ष्म जीव भी होते, किन्तु प्रत्येकवनस्पति बादर ही होते। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रियजीवबादर ही होते हैं। इनका शरीर इस किसमका है कि दूसरे पदार्थसे छिड़ें, भिडें, रुकें, ये सूक्ष्म नहीं होते ये। साधारणवनस्पतिकाय कहलाते हैं। इनमे साधारणता क्या हैं कि उनमें एक जीव मरे तो उसी समय अनन्त जीव भी मरेंगे। एक निगोद जीव जन्मे तो उस ही समय वे अनन्त निगोद जीव भी जन्मेंगे। इनमेंसे अनन्ते निगोदजीवोंका औदारिक शरीर एक होता है, जैसे हम आपके शरीर एक-एक न्यारे न्यारे हैं इस तरह उन अनेक निगोदजीवोंका शरीर न्यारा न्यारा नहीं है। शरीर एक है और उसके आधारमें उनका जन्ममरण होता रहता है। ऐसे ऐसे भी अनन्त निगोद शरीर हैं। वे एक साथ जन्मते हैं और एक साथ मरते हैं।

वर्तमान मनुष्यभवकी उपयोगिताका ध्यान--हम आप सभी जीवोकी सबसे पहिली दशा निगोद थी उस निगोद अवस्थासे निकलकर आज मनुष्य पर्यायमे आये हैं तो सोचिये कि हम कितनी घाटिया पार कर चुके हैं। निगोदसे निकलना कठिन था, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति प्रत्येकवनस्पतिमे आ गए, तो इनसे भी निकलना कठिन था, दोइन्द्रियमे आये तो उनसे भी निकलकर तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय. और अनेक पञ्चेन्द्रियकी अवस्थाओंको भी पार करके हम आप आज मनुष्य हुए हैं। मनुष्य होकर यदि मोह रागद्वेषमे ही जीवन बिताया, दूसरा कोई उद्देश्य न बनाया, रागमे ही मन भर करके यह आयु खत्म कर दी तो आप बतलावो कि हम आप लोगोंको लाभकी बात क्या मिली? कितना काल गुजर गया? अनन्त काल। इस अनन्तकालमे अनन्त ही भव मिले, इससे भी अच्छे अच्छे मनुष्य राजा, हुए जिसमे बहुत इज्जत प्राप्त की, लेकिन सब न कुछ। आज उनका हमे लाभ क्या है? तो इसी तरह १०-५ वर्ष गुजर जानेके बाद इस देहको छोडकर तो जाना ही होगा। उस भविष्यके भवमे फिर क्या लाभ मिल जायगा?

कुछ भी नहीं। तो इस भवको हम ज्ञानार्जन धर्मसाधनामे, वीतरागदेवकी उपासनामे, संतसाधुवोंकी सेवा मे, ज्ञानार्जनमे अगर वितायें तो उससे हम कुछ लाभ पा सकेंगे। विषय कषायोमे ही रमे रहे तो फिर हम आपका जीवन व्यर्थ है। यह निर्णय करते समय कि यह मनुष्य जीवन मिला है तो धर्मसाधना करके संसारके संकटोंसे सदाके लिए छुटकारा पानेका उपाय बनानेके लिए मिला है, अन्य कार्यके लिए नहीं। संकल्पके साथ अपने जीवनकी चर्या बनाये तो उससे मनुष्यजीवनके भव पानेकी सफलता है, अन्यथा जैसे अनेक भव गुजर गए वैसे ही यह भव भी गुजर जायगा और कहो ऐसा भव मिले कि पछताने तककी भी बुद्धि न रहे।

साहारणाणि जेसिं आहारुस्सास-काय आऊणि।
ते साहारण-जीवा णताणंत-प्पमाणाणं ॥१२६॥

निगोद जीवोकी साधारणताका कारण—निगोद जीवोंको साधारणवनस्पति क्यों कहते हैं, उनमें साधारणता किस कारणसे है इसका उत्तर इस गाथामें दिया है। जिन जीवोका आहार श्वासोच्छ्वास, काय, आयु, साधारण है उन्हें साधारण जीव कहते हैं। साधारण जीव अनन्तानन्त प्रमाणमें हैं, कुल कर्म प्रकृतियां १४८ प्रकारकी है, उनमे एक साधारण नामकर्म भी है। साधारण नाम कर्मके उदयसे अनन्तानन्त जीवोका निगोदोका आहार, उच्छ्वास, काय और आयु साधारण होता है, सदृश एक समान कालमे ये पाये जाते हैं, इस कारण इन जीवोंको साधारण कहते है। एक जीव यदि आहार ग्रहण करता है तो अनन्तानन्त जीव उसी समयमें ही साधारण समान सदृश आहारको ग्रहण करते हैं, यहां आहारका अर्थ है शरीरके परमाणुओंको शरीरमे ग्रहण करना। एक जीव जब श्वास ग्रहण करता है तो अनन्तानन्त जीव साधारण समान श्वासको ग्रहण करते है, एक जीव जब शरीरको ग्रहण करता है, शरीर परमाणुओको ग्रहण करने पर अनन्तानन्त जीव उस ही शरीरको ग्रहण करते है और छोड़ने पर छोड़ते हैं। जब एक जीव मरता है तो अनन्तानन्त जीव उस ही समय साथ मरते है, एक साथ जन्म लेते है। तो अनन्तानन्त जीव साथ ही साथ जन्मको ले लेते है, इसलिए उन्हे साधारण जीव कहते है।

निगोद जीवोकी निकृष्टता—ये साधारण निगोद जीव बहुत निकृष्ट जीव है। पृथ्वी, जल, अग्नि, इनसे भी बहुत गये बीते जीव निगोद कहलाते हैं। एक श्वासमें १८ बार जन्म लेना, मरण करना यह निगोदोकी ही बात बनायी गई है। एक ग्रन्थमे कविने अलंकारमें कहा है कि जो मनुष्य घरमे रहकर अतीव आसक्त रहते हैं, मायने स्त्री पुत्रादिकसे अत्यन्त अधिक प्रेम करते है, तो प्रेममे होता क्या है कि एक जीवके सुखमे सुखी होते है और उसके दुःखमे दुःखी होते है, यही तो प्रीतिका अर्थ है। तो जो मनुष्य इतना आसक्त है उनको कविने बताया है कि वे मानो निगोद जीव बननेका अभ्यास कर रहे हैं, क्योंकि निगोदमे यही करना पडेगा कि एक जीव जन्मे तो सब जन्मे, एक जीव मरे तो सब मरे, एक जीव श्वास ले तो सभी जीव श्वास ले, निगोद बन जानेपर यही करना पडेगा, तो उसका अभ्यास वे इसही पर्यायमें कर रहे है कि एक जीवके सुखमे सुखी होते और उसही के दुःखमें दुःखी होते, उसके जिन्दा रहने तक ही जिन्दा रहते और उसके मरने पर तुरन्त वे भी मर जाते, इतनी तक आसक्ति देखी गई है। निगोदमे यही साधारणता है कि एक जीवके जन्म लेनेपर अनन्त जीव जन्म लेते, एक जीवके मरने पर अनन्त जीव मरते। ये सब उनके एक समान है। इस कारण उन्हें साधारण जीव कहते है।

निगोदमें पर्याप्तियोकी समकालता—एकइन्द्रियमे ४ पर्याप्तिया कही गई है—आहार पर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति। आहार पर्याप्तिका अर्थ है जिन परमाणुओंसे शरीर बनेगा, शरीर परमाणुओको ग्रहण करनेकी शक्ति आना। शरीर पर्याप्तिका अर्थ है जिन परमाणुओंको

ग्रहण करनेकी शक्ति आना। शरीर पर्याप्तिका अर्थ है जिन परमाणुओं को ग्रहण किया था उन परमाणुओंको शरीरके आकाररूप परिणमन लेनेकी शक्ति आना सो शरीर पर्याप्ति है। इन्द्रिय पर्याप्तिका अर्थ है कि उन शरीराकार परिणमते हुए स्कंधोंका स्पर्शनइन्द्रियके आकार परिणमानेकी शक्ति आना सो इन्द्रियपर्याप्त है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिका अर्थ है कि जिन परमाणुओं को शरीररूप परिणमानेके लिए ग्रहण किया था उनमे श्वासोच्छ्वास उत्पन्न होने की शक्ति बनना श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति है। तो ये सब पर्याप्तिया उन सब जीवोंकी एक साथ होती हैं। जब कोई जीव आहार वर्गणारूप पुद्गल स्कंधोंका खलरसभागरूप परिणमन करता है तो सभी जीवोंका वह परिणमन उस ही कालमें सदृश होता है। इसी प्रकार जब एक निगोदिया जीवका शरीर बनता है, शरीराकार परिणमन होता है तो वही, साधारण सदृश सब जीवोंका शरीर होता है। इस प्रकार इन्द्रियाकार परिणमन श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति इन सबकी एक साथ वृत्ति होती है, इस ही कारण इन जीवोंको साधारण कहा गया है।

वनस्पतिकायके भेदोंका विवरण—वनस्पतिकायिक, यह स्थावर जीवोंका अन्तिम भेद है। उसके दो भेद हैं—एक प्रत्येकवनस्पति दूसरा साधारणवनस्पति। प्रत्येकवनस्पति वह कहलाता है कि जिसके एक शरीरका स्वामी एक ही जीव हो और साधारण शरीर उसे कहते है कि जिस वनस्पतिरूप शरीरके एकके बहुतसे जीव स्वामी हो, जैसे सेम मटर आदिक प्रत्येकवनस्पति है, इनमें एक शरीरका एक जीव स्वामी है। यद्यपि एक प्रत्येकवनस्पतिके फलमें जैसे आम खरभूजा वगैरह हैं, वे असख्यात प्रत्येक वनस्पति हैं, एक फल उदाहरणमे लो जैसे कच्चा आम वृक्षपरहै, उस एक फलमें असख्यात प्रत्येकवनस्पति हैं। टूटनेके बाद भी कुछ समय तक उसमे असंख्यात प्रत्येकवनस्पति हैं अनगिनते हैं, लेकिन उन सबका शरीर न्यारा-न्यारा है। वहा भी एक शरीरके एक ही जीव स्वामी है। ऐसे अनगिनते प्रत्येकवनस्पति हैं। आलू, मूली आदिककी अब बात सुनिये—आलूमें यद्यपि असंख्याते प्रत्येक तो हैं ही लेकिन वहां अनन्त शरीर भी हैं, तो उनमे जो असंख्याते प्रत्येकवनस्पति हैं उनके तो एक शरीरका एक ही जीव स्वामी है, किन्तु जो अनन्त साधारण जीव उसमे और है वहा यह व्यवस्था है कि एक शरीरके अनन्त जीव स्वामी है। तो ये सभी निगोद जीव एक साथ ही आहार ग्रहण करते, एक साथ ही श्वास लेते, एक साथ ही मरते और एक साथ ही जन्मते है। इन्हें चाहे साधारण जीव कहो अथवा निगोद जीव कहो, एक ही बात है। अब इन साधारण जीवोंके याने निगोद जीवोंके भी दो भेद हैं—एक नित्यनिगोद और दूसरा इतर निगोद। जो जीव अनादिकालसे ही निगोदमे पडे हुए हैं अब तक कभी भी निगोद पर्यायको छोड़कर नहीं गए वे नित्यनिगोद कहलाते हैं और जो निगोदसे निकलकर अन्यभवोंको धारण कर चुके, फिर निगोदमे पहुचे उन्हें कहते हैं इतरनिगोद। ये दो प्रकारके वनस्पति हुए। अब प्रत्येकवनस्पतिके दो भेद हैं—एक सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति, दूसरा अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति। जिस प्रत्येकवनस्पति मे साधारण भी भरे पडे हों उसे सप्रतिष्ठितप्रत्येक कहते है। जिस प्रत्येकवनस्पतिमें साधारण जीव नहीं हैं उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति कहते हैं। एकेन्द्रिय जीवोंके सम्बन्धमे कुछ भेदोंका वर्णन किया, अब उनमे जो सूक्ष्मत्व और बादरत्व बताया था उसका विवरण करते हैं।

ण य जेसि पडिखलणं पुढवी—तोएहिं अग्गि-वाएहिं।
ते जाण सुहुम-इयरा पुण थूल-काया य ॥१२७॥

सूक्ष्मकाय और बादरकाय जीवोंका स्वरूप—जिन जीवोंके देहका पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुसे प्रतिघात नहीं होता उन्हें सूक्ष्मकायिक जीव समझिये और जिन जीवोंको कायका प्रतिघात होता है उन्हें बादर काय जीव जाय जीव जानो। जिसका शरीर पृथ्वीसे छिड जाय वे बादर शरीर वाले है और जिनका शरीर पृथ्वी आदिकसे छिडे ही नहीं उन्हें सूक्ष्म शरीर वाला कहते हैं। ये बादर और सूक्ष्म दो भेद

एकेन्द्रिय जीवोंमें ही होते हैं। हम आपके शरीर बादर हैं। हम आप लोगोंके सूक्ष्म नामकर्मका उदय नहीं है। लेकिन बहुतसे शरीर ऐसे सूक्ष्म होते हैं कि हम लोगों को आंखों भी नहीं दिख सकते, सूक्ष्म नामकर्मका को आंखों भी नहीं दिख सकते, किन्तु सूक्ष्म नामकर्मका उदय न होने से वे जीव भी बादर शरीर वाले कहलाते हैं। स्थावर जीवोंमे सूक्ष्म भी होते हैं इस कारण उनके बादर और सूक्ष्म ये दो भेद किए हैं। जल छाननेकी जो पद्धति है वह इस लिए है कि जलमे इतने बारीक बादर त्रस कायके जीव हैं कि जो आंखो नहीं दिखते, लोग यह समझते हैं कि इस जलमे जीव हैं कहां, दिखाकर बताओ? नहीं दिखते इतने अल्पकायके जीव है लेकिन वहां बादर त्रस जीव है, अतएव उस जलको छानना होता है। आप कुछ मनमें जिज्ञासा लायेंगे कि उस जलको छानने पर वे जीव कैसे रुक जाते हैं? तो उसका प्रमाण सुनो—पानी जो छन्नेसे छाना जाता है तो छन्नेके छेदोंमे से पानी नहीं निकलता। जब सूखा छन्ना होता है तो सूखे छन्ने से पानी नीचे न निकलेगा। जब वह छन्ना गीला होगा तो उससे पानी नीचे आयेगा। तो उस छन्नेके वे छेद जो सूखने से कुछ दिखने लगे थे गीले होने पर वे छिद्र बंद हो जायेंगे तब पानी नीचे गिरेगा। तो इससे यह सिद्ध है कि पानी छन्नाके छेदों से नहीं निकलता किन्तु छन्नाके ततुओंसे चूसा जा कर निकलता है। ऐसी स्थितिमे जो ऐसे अति अल्पकायके त्रस जीव हैं, जो आँखों नहीं दिख सकते, वे वहाँ रुक जाते हैं। तो बादर जीवकी हिंसा बचानेकी बात बनती है। सूक्ष्म जीवोंका हमारे शरीरसे प्रतिघात भी नहीं होता और न उनके मारनेका किसी को संकल्प भी होता है। सूक्ष्म जीव न पृथ्वीसे रुकते हैं, न जलसे रुकते हैं, न आगसे जलते हैं, न हवासे टकराते हैं। वज्र पटल भी आड़े आ जाय तो उससे भी सूक्ष्म जीवोंके शरीरका प्रतिघात नहीं होता। जीव समास जो १४ बताये गए है; उनमे एकेन्द्रिय जीवके ही दो भेद करक बताये हैं—बादर और सूक्ष्म। दो इन्द्रिय आदिकमें बादर सूक्ष्मका भेद भी नहीं किया, इसका कारण यह है कि सूक्ष्मजीव केवल एकइन्द्रियमें ही होते है, दोइन्द्रिय आदिकमें सूक्ष्म जीव नहीं होते। वे सब बादर ही होते है। तो एक ही प्रकारके होनेमे दो इन्द्रिय आदिक के भेद नहीं किए गए बादर और सूक्ष्मके रूपसे। अब बादर कायक जीवोंकी बात देखिये, उनका शरीर दीवाल वगैरहसे रुक जाता है। पानीके बहावमे वे जीव बह जाते है, अग्निसे भी जलते है, वायुसे भी टकरा जाते है, ऐसे जीव बादरकायिक कहलाते हैं। अब वनस्पतिकायके प्रत्येकवनस्पति नामक भेद का स्वरूप बतलाते हैं।

पत्तेया वि य दुविहा णिगोद-सहिदा तहेव रहिया य।
दुविहा होंति तसा वि य वि-ति-चउरक्खा तहेव पंचक्खा ॥१२८॥

प्रत्येकवनस्पति व त्रसके भेद—प्रत्येक शरीर जीव उन्हें कहते हैं जिनके एक शरीरका स्वामी एक ही जीव हों। जसे हम आपका। ये प्रत्येक कहलाते हैं। देखिये—जैसे प्रत्येकवनस्पति कायिक आम आदिक फलोंमे, वृक्षोंमे प्रत्येक वनस्पतिका व्यवहार है यों दो इन्द्रिय आदिकमें प्रत्येक शरीरका व्यवहार किया तो नहीं गया लेकिन हैं ये भी प्रत्येक शरीर। जैसे एक इन्द्रियमे बादर और सूक्ष्म दो भेद होनेसे उनके दो भेद बताये गए है ऐसे ही वनस्पतिमें प्रत्येक और साधारण ये दो भेद होने से दो भेद बताये गए हैं, अब यहां दो इन्द्रिय आदिकमे होते तो हैं कुछ जीव, ऐसे जो एक श्वासमे अनेक बार जन्मते मरते है किन्तु उन्हें साधारणवनस्पति नहीं कहते। तो प्रत्येकवनस्पति दो प्रकारके हैं—एक निगोदसहित, दूसरे निगोदरहित। जिन फलोंमें निगोद जीव पाये जाते हैं वे सप्रतिष्ठित है और जिनमें निगोद नहीं पाये जाते वे अप्रतिष्ठित है। त्रस जीव भी दो प्रकारके हैं—एक विकलेन्द्रिय और एक सकलेन्द्रिय। विकलेन्द्रिय जीव उन्हें कहते है जिनकी इन्द्रियां पूरी न हुई हों, जैसे दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चारइन्द्रिय इनके सब इन्द्रिया तो नहीं हैं इसलिए इनको विकलेन्द्रिय कहते है। सकलेन्द्रियके मायने जिनके समस्त

इन्द्रियां प्रकट हो। नारक, पशुपक्षी, मनुष्य, देवादिक ये सकलेन्द्रिय कहलाते हैं।

प्रत्येकवनस्पतियोंके संक्षिप्त ७ प्रकार—वनस्पतियोंके विवरणमें गोमटसारमें कहा गया है कि वनस्पतियाँ कुल ७ प्रकारकी होती हैं— एक तो मूल बीज याने जिन वनस्पतियोंकी जड़ ही बीज हो— जैसे अदरख, हल्दी वगैरा। इनमें फल तो नहीं होते, कोई दाना नहीं है जिसे बोया जाय। इनकी जड़ ही अंकुरको उत्पन्न करती है। कुछ होते हैं अग्रबीज। जिन वनस्पतियोंका बीज उनका अग्रभाग होता है, जैसे नेत्रवाला आदि वनस्पति हैं कि जिसका आखिरी भाग ही अंकुरको उत्पन्न करता हो। कुछ वनस्पति होते हैं पर्वबीज जिनके पोर ही बीज बनते हैं जैसे गन्ना, बाँस अथवा बेंत आदि। इनकी गाँठसे ही अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ वनस्पतियाँ होती हैं कंदबीज। जिनका कंद ही बीज है, जैसे आलू, शकरकन्दी आदिक। ये ऐसे ही बो दिए जाते हैं और उनसे अंकुर उत्पन्न होते हैं। कुछ होते हैं स्कंधबीज, जिनका स्कंध ही बीज बनता है जैसे छेवला, पलासपेड़ वगैरा। कुछ होते हैं बीजरुह, जिनके बीजसे अंकुर बनते हैं। जैसे धान, गेहू, चना आदिक और बादाम आम आदिक ये कुछ वनस्पतियाँ सम्मूर्छिम होती हैं याने चारों ओर पड़े हुए पुद्गलस्कन्धमें उत्पन्न होते हैं। यद्यपि सभी एकेन्द्रिय सम्मूर्छिम जन्म वाले हैं, लेकिन यहाँ सम्मूर्छिम शब्दका विशेषार्थ यह है कि जो स्वयं ही उग आते हैं, जिनके न बीज, न पोर, किसीका सम्बंध नहीं है उगनेमें वे सम्मूर्छिम वनस्पति हैं। जैसे देखा होगा कि जब बरसात होती है और जमीनमें बहुत घास उग जाती है वह घास न बीजसे हुई, न पोर आदिकसे हुई, किन्तु स्वयं ही हो गई। इस तरह ७ प्रकारकी वनस्पतियां सप्रतिष्ठित प्रत्येक भी हो सकती हैं और अप्रतिष्ठित प्रत्येक भी हो सकती हैं।

सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति व अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पतिका विवरण—जिस प्रत्येकवनस्पतिकी धारियां अदृश्य हों, जिस वनस्पतिकी गांठें अदृश्य हों, जिसकी गांठें दिखाई न दें, वे सब प्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति हैं, अनन्तकाय हैं। जैसे बहुत छोटी ककड़ी होती है, जिसपर धार भी नहीं बन पाती है, तो वह सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति है। यद्यपि बड़ी ककड़ी भक्ष्य है, उसमें निगोद नहीं है लेकिन दो चार दिनका जो ककड़ीका फल होता है, जिसपर धारियां भी नहीं बन पातीं वह निगोद सहित है। उसमें आलूके समान दोष है। जिसके तोड़ने पर शीघ्र ही दो टुकड़े बराबरके हो जायें वे भी साधारण सहित प्रत्येक हैं। जैसे पालकके पत्ते आदि। उन्हें मरोड़नेपर ऐसे समभंग हो जाते कि जैसे मानो चाकूसे ही काटा गया हो, जिन फलोंके, डंडियोंकी पत्तियोंके तोड़नेपर उनके बीचमें रंचमात्र भी तार जैसा कुछ न लगा रहे, कुछ न मिले वह भी साधारण सहित है। जिसके काट देनेपर, टुकड़े कर देनेपर भी फिर उग जायें वे भी साधारण कहलाते हैं। जैसे आलूके कितने ही टुकड़े कर दें और बोयें तो भी उत्पन्न हो जाते हैं। ये सब प्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर हैं। प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरकी व्युत्पत्ति है— "प्रतिष्ठितं साधारणशरीरैः आश्रितं प्रत्येकशरीर येषां ते प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरा" साधारणशरीरोंके द्वारा आश्रित है प्रत्येकशरीर जिनका उन्हें प्रतिष्ठित प्रत्येकशरीर कहते हैं। तो गूढशिर, गूढसंधि, गूढपर्व, समभग, छिन्नरुह आदि प्रतिष्ठित-प्रत्येकवनस्पति हैं और जो इनसे विपरीत हैं व्यक्तशिर, व्यक्तसंधि आदिक वे सब अप्रतिष्टित प्रत्येकवनस्पति हैं तथा जिस वनस्पतिके कंदकी, छालकी, टहनीकी या तनेकी छाल मोटी हो वह वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है और जिस वनस्पतिके कंद वगैराकी छाल पतली हो वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है।

त्रस जीवोंसे विकलेन्द्रियके प्रकार—अब त्रस जीवोंका वर्णन करते हैं। त्रस जीव दो प्रकारके होते हैं— विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय। त्रसजीवोंका लक्षण है कि त्रस नामकर्मके उदयसे जो त्रसपर्याय पायी जाय वे त्रसजीव कहलाते हैं। विकलेन्द्रियके तीन भेद हैं— दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, और चारइन्द्रिय।

जिन जीवोंके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां पायी जाती हैं उन्हें दोइन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे लट, केंचुवा, जोंक, शंख, कौड़ी, सीप आदि। जिन जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां पायी जाती हैं उनको तीनइन्द्रिय जीव कहते हैं— जैसे चींटी, खटमल आदि। जिन जीवोंके स्पर्शन रसना, घ्राण, चक्षु ये चार इन्द्रियां पायी जाये उन्हें चतुरिन्द्रिय जीव कहते हैं— जैसे मक्खी, मच्छर, टिड्डी वगैरा। इन सब जीवोंके ज्ञानावरणका क्षयोपशम भी बढ़ गया है। एकेन्द्रियमें तो स्पर्शनइन्द्रिय ज्ञानावरणका क्षयोपशम था, अब जैसे जैसे क्षयोपशम बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे ये पर्यायें भी कुछ ऊँची हो रही हैं। चारइन्द्रिय तकके जीव सब असंज्ञी ही होते हैं। इनके मन नहीं है और ये सभी सम्मूर्छन जन्म वाले कहलाते हैं। जिनकी उत्पत्ति माता पितासे नहीं है किन्तु यहां वहांके पुद्गलसंचयसे है उन्हें सम्मूर्छन जीव कहते हैं। स्वयं ही कुछ स्कंध मेले हो गए और उनसे ही शरीरका निर्माण हो गया। कोई लोग शंका करते हैं कि चींटी ततैया आदिके तो अंडा देते देखे जाते हैं, पर उनके वे अंडे माता पितासे होने वाले नहीं हैं, वे भी पौद्गलिक स्कंध हैं। और कदाचित् उस स्कंधसे शरीर उनका बन जाय फिर भी वे सम्मूर्छन हैं। बरसातके दिनोंमें एक ही रातमें कितने केंचुवे पैदा हो जाते हैं, मेंढकके बहुत बच्चे उछलने लगते हैं। मेंढक यद्यपि पञ्चेन्द्रिय हैं लेकिन वे भी सम्मूर्छन जीव हैं। उनका जन्म माता पितासे नहीं होता। चारइन्द्रिय तकके जीव नियमसे सम्मूर्छन होते हैं।

त्रस जीवोंमें सकलेन्द्रियके प्रकार—सकलेन्द्रियके भी दो भेद हैं—संज्ञीपञ्चेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय। जिनके स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र ये पाचों इन्द्रियां पायी जाये उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं। सकलेन्द्रियका यह अर्थ है कि जिसके सब इन्द्रियां पायी जाये। उन पञ्चेन्द्रियोंमें दो तरहके जीव हैं एक हैं मन रहित और दूसरे हैं मन सहित। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी संख्या बहुत कम है और उनका उत्तर अब तक सुननेमें आया है कि कोई कोई जलमें रहने वाले सांप असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय होते हैं, जंगलमें रहने वाले कोई कोई तोते असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय होते हैं। मन कहते हैं उसे जो आत्माके हित अहितका विवेक करनेमें समर्थ हो। जो जीव अपने आत्माके हित अहितका विवेक कर सकते हैं उन्हें संज्ञी जीव कहते हैं। कोई ऐसी भी मनमें शंका रखता है कि मन तो सभी जीवोंके होगा, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव भी तो खाना खाते हैं, खाना रखते हैं, खाना ढूँढते हैं, तो उनके भी मन कहलाना चाहिए, पर बात यह नहीं है। भोजन और विषय सेवन सम्बधी जो इच्छा है, जो प्रवृत्ति है वह तो संज्ञा से ही हो जाती है और हित अहितका विवेक करनेकी जो बुद्धि है वह मनसे ही सम्भव है। तो इस प्रकार विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय इन दो भेदोंमें त्रसजीव पाये जाते हैं। पञ्चेन्द्रियोंमें नारकी, मनुष्य, देव तो नियमसे पञ्चेन्द्रिय होते हैं, तिर्यञ्चोंमें भी अनेक पञ्चेन्द्रिय पाये जाते हैं। अब पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के भेद बतलाते हैं।

पंचक्खा वि य तिविहा जल-थल-आयास-गामिणो तिरिया।
पत्तेय ते दुविहा मणेण जुत्ता अजुत्ता य ॥१२६॥

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके भेद—पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जीव उन्हें कहते हैं जो पञ्चेन्द्रिय नामकर्मके उदय से और तिर्यग्गति नामकर्मके सहकारसे होते हैं। वे तीन प्रकारके हैं— जलचर, थलचर और नभचर। जो जलमें रहने वाले पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च हैं उनको जलचर कहते हैं। जलसे अलग होनेपर उन जीवोंके प्राण देर तक नहीं टिकते हैं। थलचर जीव वे कहलाते हैं जो जमीन पर चलने वाले हैं। ये पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चके भेद हैं। इसलिए मनुष्योंको थलचर यहाँ नहीं कहा है। जो पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जमीन पर चलते रहते हैं उनको थलचर कहते हैं। और जो जीव आकाशमें विहार करते हैं उनको नभचर कहते हैं।

यहां कोई कोई विद्यार्थी लोग उत्तर देनेमें भूल कर जाते हैं, जब उनसे पूछा जाता है कि बतलाओ मक्खी कौन चर है ? तो वे कोई कोई झट कह देते हैं कि नभचर है। और अगर बतलाओ— मनुष्य कौन चर है ? तो झट कह देते है कि थलचर है लेकिन ये सही उत्तर नहीं है, क्योंकि ये तीन भेद पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चके किए गए हैं। पञ्चेन्द्रिय भी हों और तिर्यञ्च भी हों तब उनके इस भेदकी छटनी करनी चाहिए। कोई जीव जलचर हैं, कोई जीव थलचर है, कोई जीव नभचर हैं। नभचर जीव सुवा, कौवा, सारस, हंस, मोर आदिक पक्षी हैं। अब जो जलचर जीव हैं वे भी दो प्रकारके हैं संज्ञी और असज्ञी। जलचर जीव भी दो प्रकारके हैं— संज्ञी और असज्ञी। थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च भी दो प्रकारके हैं— सज्ञी और असंज्ञी। इसी प्रकार नभचर जीव भी दो प्रकारके हैं— सज्ञी और असज्ञी। इस तरह पञ्चेन्द्रियोके ६ भेद समझना चाहिये।

ते वि पुणो वि य दुविहा गब्भज-जम्मा तहेव संमुच्छा।
भोग-भुवा गब्भ-भुवा थलचर-णह-गामिणो सण्णी।।१३०।।

उक्त छः प्रकारके तिर्यञ्चोंके प्रभेद—उक्त ६ प्रकारके तिर्यञ्चोंके भी दो भेद हैं— कोई गर्भ जन्म वाले है और कोई सम्मूर्छन जन्म वाले है। पञ्चेन्द्रिय भी जो हों और तिर्यञ्च भी हों उन जीवोंकी यहां चर्चा चल रही है। वे सभी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च कोई गर्भज होते हैं, कोई सम्मूर्छनज होते हैं। भोगभूमिमें जितने भी तिर्यञ्च हैं वे सब गर्भज ही होते हैं। भोगभूमिमें जलचर जीव नहीं होते। थलचर और नभचर ये दो प्रकारके भोगभूमियां ही पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च पाये जाते हैं। इनमें सब गर्भज होते हैं। भोगभूमिज थलचर और नभचर होते है, जलचर नहीं होते हैं और सब संज्ञी ही होते हैं, असज्ञी नहीं होते। जरायुज, अडज और पोत जीवोके जन्म होता है। जो जीव जेर लेकर उत्पन्न होते हैं, जैसे मनुष्य, पशु ये सब जरायुज कहलाते हैं। ये जेरमें भिड़े हुए उत्पन्न होते हैं और इनकी जेर नाभिसे भी लगी होती है, जब बच्चा उत्पन्न होता है तो उसकी नाल काटकर गाड़ते हैं ना। ये सब गर्भज कहलाते हैं। कुछ जो अडज हैं वे भी गर्भज है, जैसे— पक्षी, इनमे जेर तो नहीं होती है, परन्तु अडा होता है उसमें जीव रहता है। अडा बननेके बाद उस अडेको पक्षी मा अपनी छातीकी गर्मीसे सेंकती रहती है और मां की छातीकी गर्मी पाकर उस अडेमे-बच्चा बढता रहता है। उसका वही आहार है। तो ऐसे अंडेसे उत्पन्न होने वाले जीवोंको अडज कहते हैं। ये भी माता पिताके सम्बंधसे हुए। तीसरे जीव होते है पोत, जिनके न जेर लिपटो रहती और न अडे होते और उत्पन्न होते ही जल्दी भागने लगते हैं, जैसे हिरण, सिंह ये उत्पन्न होते ही कूदने लगते हैं, उनका भी गर्भज जन्म है। और कुछ यहां वहांके पुद्गलस्कंध इकट्ठे हो गए और उन स्कधोंसे जिन जीवोंका शरीर बन गया वे कहलाते है सम्मूर्छनज जीव। सम्मूर्छनसे जन्म लेने वाले जीव सम्मूर्छन जन्म वाले कहलाते हैं। भोगभूमिया तिर्यञ्च गर्भज ही होते हैं उनका सम्मूर्छन जन्म नहीं होता है।

भोगभूमिमे आजीविकाके कष्टका अभाव—भोगभूमियाके कोई तिर्यञ्च बने और कोई मनुष्य बने तो उन सबको वहा मनचाहा सुख रहता है। कल्पवृक्ष रहते हैं तो भोगभूमिमें जो मनुष्य होते हैं वे वहा मनमानी भोग सामग्री पाते हैं। यह तो है वहांके मनुष्योंकी व्यवस्था, पर तिर्यञ्चोको भी उसी तरहका साधन है। बताया गया है कि चार अगुल हरित अंकुर वहाँ ऐसा सदा बने रहते हैं, ऋतु वहां हमेशा एकसी ही रहती हैं। न सर्दी, न गर्मी और वहाके पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च भी मनचाहे भोग साधन प्राप्त करते हैं। कर्मभूमिके मनुष्योंको यहाकी कल्पित लोकदृष्टिसे सुख नहीं है। कोई खेती करेगा, कोई वाणिज्य करेगा, कोई सेवा, शिल्प आदि अनेक प्रकारके व्यवसाय करेगा तब वे उदरपूर्ति करेंगे, ठड गर्मीकी बाधा भी है, इष्टवियोग अनिष्टसयोग भी है। यहा अनेक प्रकारके क्लेश हैं, लेकिन मोही जीव ऐसे क्लेशमय

संसारमें भी रम जाते हैं। तो कर्मभूमिमें गर्भज भी होते हैं, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और सम्मूर्छन जन्म वाले भी होते हैं। अब तिर्यञ्चोमे जीवसमासके भेद बतलाते हैं।

अट्ठ वि गब्भज दुविहा संमुच्छिणो वि तेवीसा।
इदि पणसीदी भेया सव्वेसिं होंति तिरियाणं ॥१३१॥

तिर्यञ्चोके ८५ भेदोका विवरण—इस गाथामें कुछ प्रकारोमे समस्त तिर्यञ्चोके भेद बताये जा रहे हैं। ८ही गर्भजोंमे पर्याप्त और अपर्याप्तकी अपेक्षा १६ भेद होते हैं और २३ सम्मूर्छन जन्म वाले पर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त आदिकके ६९ भेद होते हैं। इस तरह समस्त तिर्यञ्चोंमें ८५ प्रकारके भेद होते हे। कर्मभूमिया गर्भज तिर्यञ्च जैसे जलचर मछली वगैरह, ये संज्ञी और असज्ञी दो प्रकारके हैं—और कर्मभूमिके गर्भज तिर्यच थलचर हिरण वगैरा ये भी संज्ञी असंज्ञी दो तरहके है। कर्मभूमियां तिर्यच भी दो प्रकारके है, इसी प्रकार भोगभूमिया तिर्यच भी दो प्रकारके है। यो ८ प्रकारके कर्मभूमिया और भोगभूमियाके ये गर्भजातिर्यच पर्याप्त भी है, निवृत्यपर्याप्त भी है। यो गर्भज तिर्यचोंके १६ भेद हे। सम्मूर्छन जन्म वालोंके २३ भेद है। एकेन्द्रियमें दो तरहके जीव होते है—सूक्ष्म और वादर। पृथ्वी भी दो तरहकी है--सूक्ष्मपृथ्वी और वादरपृथ्वी। जो जमीनमे सोना चांदी, मणि, रत्न, पत्थर, मिट्टी, तांवा, लोहा आदिक अश पडे हुए है वे सब वादर पृथ्वीकाय है और यहां आकाशमे जहां कुछ नजर ही नहीं आ रहा यहां भी सूक्ष्म पृथ्वी भरी पड़ी हुई है। सूक्ष्म जीव तो निराधार होते हे और वादरपृथ्वीका ऐसा आधार है कि जो दूसरेसे छिड भिड़ सकते। इसी प्रकार जलकाय जीव भी दो प्रकारके है—वादर जलकाय और सूक्ष्म जलकाय। पानी तो पीनेमे आ सकता, भिड़ सकता और दिख सकता। जिसका व्यवहार बने वह तो है वादर जलकायिक और जहा कुछ नजर ही नहीं आ रहा, ऐसा जच रहा कि सूना ही सूना है। इस पोलमे आकाशमें कुछ भी नहीं है। यहाँ सूक्ष्म जलकायके जीव भी भरे पडे हैं।

ऐसे ही अग्निकायिक जीव भी दो प्रकारके है-- वादरअग्निकाय और सूक्ष्मअग्निकाय जिस अग्नि से रसोई वनती है, गर्मी होती है, चीजे जल जाती है ये तो सब वादरअग्निकाय है और जहां कुछ नजर ही नहीं आ रहा, यहां पर सूक्ष्मअग्निकाय भरे पडे हे इसी तरह वायुकाय भी दो तरहके है। जो हवा लग सकती है, अपनेको मालूम होती कि हवा चली, जिस हवाकी भींट आदिकसे टक्कर लग जाती है वह तो है वादरवायुकायिक और जहां कुछ समझ ही नहीं आ रहा, जिस हवाका टक्कर ही नहीं होता ऐसी सूक्ष्म वायुकाय भी लोकमे सर्वत्र भरी पड़ी है। वनस्पतिकायके दो भेद हैं—प्रत्येकवनस्पति और साधारणवनस्पति। प्रत्येकवनस्पति तो ये सब हरी, फल, पत्ते, अकुर आदिक कहलाते हैं और साधारणवनस्पति निगोद जीवका नाम है। सो वे सूक्ष्म नित्य निगोद, वादर नित्य निगोद, सूक्ष्म इतर निगोद और वादर इतर निगोद ऐसे चार प्रकारके साधारणवनस्पतिके जीव हैं, जो निगोदसे अब तक नहीं निकले वे नित्यनिगोद है और जो निकल चुके थे लेकिन अब फिर निगोदमें आ गए वे जीव इतर निगोद कहलाते है और प्रत्येकवनस्पति कायके दो भेद है--सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति और अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति, सो ये वादर भी होते है। इस प्रकार एक इन्द्रियके १४ भेद हुए। अब विकलेन्द्रियके तीन भेद है - कोई जीव दो इन्द्रिय है, कोई तीन इन्द्रिय है, कोई चार इन्द्रिय है और कर्मभूमिया, जलचर तिर्यच पचेन्द्रिय संज्ञी भी होते, असंज्ञी भी होते। कर्मभूमिया थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यच संज्ञी भी होते, असंज्ञी भी होते, कर्मभूमिया नभचर सज्ञी भी होते असज्ञी भी होते, कर्मभूमिया पचेन्द्रिय तिर्यचके ६ भेद है, इन सबको जोडेंगे तो २३ संख्या है। १४ एकेन्द्रिय, ३ विकलत्रय और ६ पचेन्द्रिय, ये २३ प्रकार के सम्मूर्छन तिर्यच तीन प्रकारके हैं--पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त।

निवृत्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्तका अर्थ--निवृत्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्तका अर्थ क्या है? कोई जीव

मरा और मरकर दूसरी जगह जन्म लेता है। तो जो जीव मरकर रास्तेमे विशाओंके अनुसार आता है, ऊपरसे नीचे, पूरबसे पश्चिम, उत्तरसे दक्षिण, इस प्रकार श्रेणियोंके अनुसार आता है। कोई जीव पूर्वदिशामे तो है और उत्तर दिशामें उत्पन्न होना है तो वह एक मोड़ ले करके जायेगा क्योंकि उसकी दिशा सीधी नहीं है, तो मोड़ा ले करके जो जीव जन्मस्थानपर जायेगा उसको विग्रह गतिमें कार्माण काययोग है, यह अपर्याप्त वहा भी है और जन्मस्थान पर आ गया और जिस पुद्गलको शरीररूपसे ग्रहण कर लिया। आया सो ग्रहण हो ही गया। अब उसकी जब तक शरीररूप परिणमानेकी शक्ति पूर्ण नहीं हो जाती तब तक वह निर्वृत्त्यपर्याप्त कहलाता है। यदि वह अपर्याप्त अवस्थामे ही गुजर जाय, जो पर्याप्त बन ही न सके तो उसका नाम है लब्ध्यपर्याप्त। और जो अपर्याप्तमें नही मर सकता है वह पर्याप्त नियमसे होगा। पीछे कभी मरे तो ऐसे अपर्याप्त जीवको निर्वृत्त्यपर्याप्त कहते हैं। हम आप जब गर्भमें आये तो आते ही दो एक सेकेण्ड निवृत्त्यपर्याप्त रहे थे। बादमें उस शरीरको ग्रहण करनेका उसको अपनानेका, शरीरमें बढनेका जब बल आ गया तब पर्याप्त हो गए। तो यों यह जीव पर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त और निवृत्त्यपर्याप्त ये तीन प्रकारके होनेसे ६६ हुए और १६ हुए गर्भजतिर्यञ्च। इस तरह ८५ भेद हुए।

तिर्यञ्चोके भेद प्रभेद आदि जाननेसे प्राप्तव्य शिक्षा—ये समस्त तिर्यञ्च जिनकी अवगाहना भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी है और भिन्न-भिन्न प्रकारके इनके वातावरण हैं, इन सबके समझनेके बाद यह सहज चित्त मे प्रेरणा होती है कि हम सुयोगसे आज मनुष्य हुए है तो ऐसे कर्तव्य न करें कि जिससे हमें ऐसे ही जीवोंमे जन्म लेना पडे। जब देखते है कि कोई मनुष्य पक्षीके मांसका भक्षण करनेके लिए उस पक्षीको खरीदकर अथवा पकड़कर लाता है तो वह उस पक्षीके दोनों पैर बाँध देता है जिससे वह पक्षी कहीं उड़ कर जा नहीं सकता। यों वह ढेला पत्थर अथवा साग भाजीकी तरह एक जगह पड़ा रहता है। उसका कत्ल होगा, उसके मांस खण्ड किए जायेंगे, वह पकाकर खाया जायगा उन अति रुद्र पुरुषोंके द्वारा। इन समस्त बातोंको जब विचारते है तो विदित होता है कि ओह! ये बेचारे पशु पक्षी कितने पराधीन है। कितने दुःखी हैं। इनके दुःखके सामने हम आपको तो कुछ भी दुःख नही है, लेकिन यह मोही जीव अघाता नहीं है, अपने सुखोंमें और सोचता है कि मुझे इससे भी ज्यादा आराम मिले। अरे! इस जगतमें रहकर आरामकी इच्छा मत करो, इच्छा करो तो इस बातकी करो कि हे प्रभो! मुझमें ऐसा स्वच्छ ज्ञान आये कि मै कष्टसहिष्णु बनूँ। बस यह तो चाहो, पर आराम चाहनेके लायक कुछ नहीं है।

अज्जव-मिलेच्छ-खडे भोग-महीसु वि कुभोग भूमीसु।
मणुया हवंति दुविहा णिव्वित्ति-अपुण्णगा पुण्णा ॥१३२॥

अब मनुष्योंमें जीवोंके प्रकार बतलाते है। मनुष्यके क्षेत्रके भेदसे चार प्रकार है— आर्यखण्डमें उत्पन्न हुए मनुष्य, म्लेच्छखण्डमे उत्पन्न हुए मनुष्य, भोगभोमिमें उत्पन्न हुए मनुष्य और कुभोगभूमिमे उत्पन्न हुए मनुष्य। ये चारों ही प्रकारके मनुष्य पर्याप्त और निर्वृत्त्यपर्याप्तके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। आर्यखण्ड, म्लेच्छखण्ड भोगभूमि और कुभोगभूमि ऐसे जो जुदे-जुदे प्रकार कहे गए है उनकी कुछ विशेषतायें हैं। भोगभूमिमें, कुभोगभूमिमे भी कुछ विशेषता है।

आर्यखण्ड व म्लेच्छखण्डमे जन्मे हुए मनुष्योकी चर्चा—इस ढाईद्वीपके अन्दर आर्यखण्ड १७० हैं। किसी समय जब सभी क्षेत्रोंमे एक एक तीर्थंकर उत्पन्न हो रहे हों तो ज्यादासे ज्यादा एक समयमें १७० तीर्थंकर पाये जा सकते है। जैसे कि यहा चौथेकालमे कभी कोई एक तीर्थंकर हुआ करते थे, तो ऐसे ही ढाईद्वीपके अन्दर ऐसे एक समयमे कहो १७० तीर्थंकर मौजूद हों। वे किस तरह? जैसे जम्बूद्वीपमे ७ क्षेत्र है— भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक हैरण्यवत, ऐरावत। इनमेसे भरत और ऐरावत क्षेत्रमें तो एकसी रचना है। १ आर्यखण्ड, ५ म्लेच्छखण्ड भरतक्षेत्रमें भी है। १ आर्यखण्ड ५ म्लेच्छखण्ड ऐरावतमे है और

विदेहक्षेत्रमे मेरूपर्वतके एक पूर्वभागमें तो १६ महादेश है, और प्रत्येक देशमें ५-५ खण्ड है– १ आर्यखण्ड, ५ म्लेच्छखण्ड। इसी प्रकार मेरूके प्रथम भागमे भी १६ महादेश है। वहां भी १६ आर्यखण्ड है, तो एक विदेहमे ३२ आर्यखण्ड है। उनमें एक साथ अनेक तीर्थंकर मौजूद रह सकते है। कमसे कम ४ तीर्थंकर तो रहते ही है। जो २० तीर्थंकरोंकी पूजा है ना तो ५ विदेहके २० तीर्थंकर है। प्रत्येक विदेहमे कमसे कम ४ तीर्थंकर सदा रहते है और ज्यादासे ज्यादा विदेहमे तीर्थंकर हुए तो प्रत्येक मेरूपर्वत सम्बधित ३२ तीर्थंकर हो सकते है। जम्बूद्वीपका जो घेरकर लवणसमुद्र है उसको घेरकर दूसरा द्वीप है, उसमे दो मेरू है और प्रत्येक मेरूकी वैसी ही रचना है जो जम्बूद्वीपमे कही। इसी तरह दूसरे द्वीप को घेरकर एक समुद्र है और उसको घेरकर तीसरा द्वीप है। उस तीसरेद्वीपके ठीक बीचमें गोल चारों ओर मानुषोत्तरपर्वत है, जिससे भीतरके आधे द्वीपमे मनुष्यलोक है। बाहरमें मनुष्यलोक नहीं है। वहां भी दो मेरूपर्वत है। तो यों १६० तो विदेहक्षेत्रके आर्यखण्ड है। और जम्बूद्वीपमे भरत व ऐरावतके यो दो आर्यखण्ड हैं। फिर दूसरेद्वीपके आयखण्ड है चार-दो भरतके दो ऐरावतके आर्यखण्ड। और अन्तिमपुष्करार्द्ध के दो दो भरत और ऐरावतके आर्यखण्ड, इस तरह १७० आर्यखण्डोंमें जो मनुष्य रहते है उन्हे कहते है आर्यखण्डमे उत्पन्न हुए मनुष्य। कुछ लोग रूस, अमेरिका, चीन आदिकको म्लेच्छखण्ड वाला कहते है, पर वे सब आर्यखण्डमे है। यो तो कुछ लोग हिन्दुस्तानके कोनेके जैसे बंगाल आदिकके नाम लेकर कह देते है कि ये म्लेच्चखण्ड है, और भारतके जितने प्रान्त है वे तो तीर्थंकरोंके जन्म लेनेके विहारके प्रमुख स्थान है। अयोध्यामे तो तीर्थकरोका जन्म होता था। तो यो १७० तो आर्यखण्ड है, उनमे मनुष्य हो सकते है और प्रत्येक आर्यखण्डके साथ एक म्लेच्छखण्ड लगा हुआ है। तो ८५० म्लेच्छखण्ड हुए। उनमे उत्पन्न हुए मनुष्योंको कहते है म्लेच्छखण्डमे उत्पन्न हुए मनुष्य।

भोगभूमिका वर्णन—अब भोगभूमिया मनुष्योंकी बात देखिये—ढाईद्वीपके अन्दर कुल ३० भोगभूमियां हैं जो शाश्वत हैं, सदा रहते हैं, भरत, ऐरावत क्षेत्रमे तो भोगभूमि होती है, पर कभी-कभी। जैसे आदिनाथ भगवान हुए है उनसे पहिले यहा भोगभूमि थी, लेकिन यहांकी भोगभूमि मिट जाती है पर ये ३० भोगभूमि शाश्वत है। जम्बूद्वीपमें जो ७ क्षेत्र कहे हैं भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत, इनमें से हैमवत, हरि और विदेहके दो भाग— देवकुरु, उत्तरकुरु और रम्यक, हैरण्यवत इनमे हमेशा भोगभूमि रहती है। ये हुए छह भोगभूमि जम्बूद्वीपमे। तो ऐसे-ऐसे क्षेत्र जितने जम्बूद्वीपमे हैं उससे दूने दूसरे द्वीपमे और उतने ही याने दूने आधे पुष्करार्द्धमें तो यो हर एक मेरुसम्बन्धित ५–५ हो गए। यो ५ मे ६ भोगभूमि पायी गई, तो ३० भोगभूमि है। ५ हैमवत, जिनमें जघन्य भोगभूमि है, वहा जो मनुष्य स्त्री उत्पन्न होते है वे एक साथ उत्पन्न होते हैं और उनके उत्पन्न होते ही माता पिता गुजर जाते है। स्वर्गवास हो जाता है। उनके मरणको स्वर्गवास कह सकते हैं, क्योकि भोगभूमिया मनुष्य मरकर देवगतिमें ही जाते है। जायेंगे वे दूसरे स्वर्ग तक ही; यह उनका नियम है। यहा तो कोई गुजर जाता तो कहते कि इसका स्वर्गवास हो गया, पर क्या पता कि स्वर्गवास हुआ या नरकवास हुआ? पर भोगभूमिके मनुष्योका तो स्वर्गवास होता है, यह कहा जा सकता है, कोई खोटे देव भी हो जाये तो आखिर देव तो हैं। जघन्यभोगभूमिमें एक पल्यकी आयु है। पल्यका बहुत बड़ा परिमाण है, जिसमे अनगिनते वर्ष समा जाते है। भोगभूमिज मनुष्योंको थोड़ी भूख लगती है। जैसे कि आंवला प्रमाण और दिनमे एक बार वे भोजन करते हैं, तृप्त हो जाते हैं। किसी को और भी कम भूख लगती है व दो दिनमे १ बार व कोई ३ दिनमे एक बार खाते हैं। उनको आजीविका नहीं करनी होती। कल्पवृक्ष बहुत होते है, जो चाहे उनसे प्राप्त हो जाते हैं। आभूषण, संगीतके बाजे आदि जो जो भी मन बहलानेके लिए उन्हे जरूरी है वे सब कल्पवृक्षोंसे प्राप्त होते हैं। ५ हरिवर्ष

और ५ रम्यक वर्ष, ये १० मध्यम भोगभूमियाँ है। वहाँके मनुष्य और स्त्रियोंकी उत्पत्ति सब जगह भोग भूमि जैसी है। उत्पन्न हुए और उसी समयमे माता पिता गुजर जाते हैं। आप सोचते होंगे कि यह तो कुछ विशेष पापका उदय है कि बच्चेके माँ बाप तुरन्त गुजर जायें, पर यह पापकी बात नहीं है। वहां यह सुखका साधन है। माता पिता बच्चेका मुख देखते ही नहीं तब उन्हें कोई इष्टवियोग न होगा। माता पिता बच्चे को देख लें, स्नेहसे कुछ बाल पोषलें और बादमें मरें तो उन्हें दुःख होगा। जब देखा ही नहीं बच्चेको मां बापने तो उन्हें इष्टवियोगकी बात ही नहीं होती। वे बच्चे ७ दिन अंगूठा चूसकर पुष्ट होते है, उनके अंगूठेमें अमृत जैसा तत्त्व भरा रहता हैं। बादमे फिर ४९ दिनमें पूर्ण जवान हो जाते हैं। यों मध्यम भोगभूमिमें भी मनुष्य सुखी रहते है और उनकी दो पल्यकी आयु है, जघन्य भोग भूमिसे भी छोटी भूख है। दो दिनमें उनकी क्षुधा जाती है और कल्पवृक्षोंसे वे सब मनमाने भोग प्राप्त कर लेते है। भोगभूमियामे जन्म बताया गया है मुख्यतया दानसे और यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि दान का फल है भोग भूमिमे उत्पन्न होना। उत्तम भोगभूमि देवकुरु उत्तरकुरु जैसे क्षेत्रोंमें है। वहां ३ दिनमें कुछ क्षुधा जगती है और बहुत ही कम छोटे झरियाके बेर प्रमाण उनका आहार है, उससे वे तृप्त हो जाते है। उनकी तीन पल्यकी आयु है, विशालकाय है। ऐसे इन भोगभूमियोमें उत्पन्न होने वाले मनुष्यो को भोगभूमिज कहते है। भोगभूमिमें आजीविका, खेती, व्यापार आदि कुछ भी नहीं करना होता। देव देवियों की तरह सारा समय उनका हास्यविनोदमें अथवा विवेकी सम्यग्दृष्टि हुए तो धर्मचर्चामें व्यतीत होता है।

कुभोगभूमिका वर्णन—अब कुभोगभूमि कहा है जहा कि मनुष्य उत्पन्न तो होते हैं कुछ दान आदिक के भावसे, किन्तु कुछ खोटे भाव हो गये कुछ कुपात्रोंको दान किया इस कारणसे वहां उत्पन्न होते है। लवणसमुद्र और कालोदधिसमुद्र इनके बीचमे ९६ अन्तर्द्वीप हैं। २४ अन्तर्द्वीप तो जम्बूद्वीपसे जो पर्वत गया है, दोनों ओरसे, कुछ वह समुद्रमे बढ गया वहां हैं और २४ अन्तर्द्वीपधातकी खण्ड और जम्बूद्वीपकी ओरके समुद्रमें हैं, ४८ अन्य द्वीपमे तो यों लवणसमुद्रमें ४८ और ४८ अन्तर्द्वीपकालोदधि समुद्रमें हैं, इनमें कुभोगभूमि होती हैं। यद्यपि यहा भी उत्पन्न हुए मनुष्योंको लौकिक सुख विशेष रहते हैं, आजीविका वगैरा कुछ नहीं करनी पड़ती पर कुछ ऐसा पापका उदय है कि उनका भोजन भी है तो साधारण, पर कहो मिट्टीका ही भोजन करलें। उनके अंगोपाङ्ग बहुत विडरूप हैं। किसीके कान बडे है, इतने बडे हैं कि कहो कान पर ही सो जायें। किसीके कुछ टांगमें फर्क है। ऐसे कुछ खोटे अग वाले कुभोगभूमिज मनुष्य हैं। ये सभी मनुष्य निवृत्यपर्याप्त और पर्याप्त ऐसे दो दो प्रकारके होते हैं। यों मनुष्योंके ८ भेद समझिये। पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्तका अर्थ है कि कोई जीव मरकर मनुष्यमे जन्म लेता है तो जिस क्षण वह गर्भमें आया उसी क्षणमें वह निवृत्यपर्याप्त कहलाने लगा, अर्थात शरीरके परमाणुपर कब्जा तो पा लिया, शरीरका ग्रहण तो कर लिया, मगर शरीरकी पूर्णता करनेकी शक्ति अभी उत्पन्न नहीं हुई तो यों वे निवृत्यपर्याप्त कहलाते हैं और वे जीव नियमसे पर्याप्त बनेंगे, पर्याप्त हुए बिना उनका मरण होगा ही नहीं। जब शरीर बननेकी शक्ति पूर्ण आ जाती है जीवमें तो वह पर्याप्त कहलाता है। तो इस तरह यहा ८ भेद मनुष्योंके हुए। अब लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य कैसे होते हैं, उनका वर्णन करते हैं।

समुच्छिया मणुस्सा अज्जव—खंडेसु होंति णियमेण।
ते पुण लद्धि-अपुण्णा णारय-देवा वि ते दुविहा ॥१३३॥

सम्मूच्छनज लब्ध्यपर्याप्त मनुष्योका वर्णन व विविध मनुष्य वर्णनसे प्राप्तव्य शिक्षा—सम्मूर्छन मनुष्य आर्यखण्डमें होते है, उन्हें लब्ध्यपर्याप्त कहते है। वे होते है कफ, नाक, कानका मल, और शरीरके काख आदिक गन्दे प्रदेशोंमें। वे नामके तो है मनुष्य, लेकिन उनका शरीर दिखने तकमें भी नहीं आता

उन्हें निगोद जैसे मनुष्य समझिये कि पर्याप्ति पूर्ण नही होती और मरण हो जाता है, ऐसे असंख्याते मनुष्य पड़े हुए हैं। गिनती जो बतायी गई है वह पर्याप्त मनुष्योकी गिनती है। तो उन लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योका जीवन ही क्या? उससे तो अच्छे ये पशु पक्षी दिखने मे आते हैं। कुछ विवेक रखते हैं, सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं, व्रत भी ले सकते हैं। वे तो नाममात्रके मनुष्य हैं, पर उनके ऐसा तीव्र पापका उदय है कि वे लब्ध्यपर्याप्तक हैं। लब्ध्यपर्याप्तक होना बहुत ही पाप प्रकृतिका फल है। अब आप इस वर्णनसे यह समझ सकते हैं कि हम आप कितनी श्रेष्ठ मनुष्यपर्यायमें आये हुए हैं। मनुष्य भी होते और लब्ध्यपर्याप्तक होते तो क्या था? वह कुछ जीवन ही नहीं। कुभोगभूमिमे उत्पन्न होते तो जीवन विडम्बनाका था। भोगभूमिमे भी होते तो भी मूढता, वे तो जीवन भर विषय सुखोंमे रत रहते हैं और विवेककी बात इतनी तो है वहां, सो सहज है कि कोई किसी पर निगाह बुरी नही रखता, लड़ाई झगड़ा नही करते। कुछ तो वातावरण ठीक है मगर विषयसुखोमे अतीव आसक्त रहते हैं। देखिये हम आप आर्यखण्डमें मनुष्य हुए, म्लेच्छ खण्डमे होते तो कुछ ठीक न था। आर्यखण्डमे हुए, उत्तम जाति कुल आदिकमें हुए, श्रेष्ठ शासन पाया सब कुछ पाकर भी यदि विषय और कषायके साधनोके लिए ही बने रहे तब यह जीवन यों ही चला जायेगा जैसे कि अनेक जीवन खत्म हो गए। यह जीवन एक बड़ी जिम्मेदारीका जीवन है। हमे अपने आपपर बड़ी जिम्मेदारी समझना है। यों हंस खेलमे या मनकी स्वच्छन्दतामे इस जीवनको नही गंवाना है, यह बात इन मनुष्योके इन प्रकारोको सुनकर हमे अपने चित्त में लाना चाहिए और इस कर्तव्यको निभाना चाहिए कि हम सम्यक्त्व पैदा करें और यथाशक्ति संयम-साधना करके आत्मानुभवका ज्यादासे ज्यादा लाभ उठायें, जिसके प्रतापसे सदाके लिए संसारके संकट टल सकते हैं।

नारकी और देवोके जीवसमास तथा जीवसमास वर्णनका उपसहार—अब तक तिर्यंच व मनुष्य गतिके जीवसमासोका वर्णन किया गया। अब नरकगति व देवगतिके जीवसमासोका वर्णन करते हैं। नरकगति नामकर्मके उदयसे नरकभवमें जिनका जन्म होता है वे नारकी कहलाते हैं। नारकी जीवोका अशुभ वैक्रियक शरीर होता है, वे एक दूसरेसे लड़ते ही रहते हैं, एक दूसरेके देहके तिल तिल बराबर खण्ड कर देते है. फिर भी वे आयु क्षयसे पहिले मरते नहीं हैं, तिल-तिल बराबर खण्डित देहखण्ड भी पारेकी तरह मिल जाते हैं। नारकियोंके दुःखोका ससारभावनामें वर्णन किया गया है। अति घोर दुःखी वे नारकी निर्वृत्यपर्याप्त व पर्याप्त दो प्रकारके होते है। निर्वृत्यपर्याप्त तो जन्म समय ही अन्तर्मुहूर्त रहते है, फिर सारे जीवन भर वे पर्याप्त रहते है। नारकी जीवोमे लब्ध्यपर्याप्त नहीं होते है। इसी प्रकार देवगतिके भी जीव, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक चारो प्रकारके देव निर्वृत्य-पर्याप्त व पर्याप्त दो प्रकारके होते है। निर्वृत्यपर्याप्त तो जन्म समयमे ही अन्तर्मुहूर्त होते है, बादमे सारे जीवन भर पर्याप्त रहते है। इस प्रकार नारकी जीवके जीवसमास दो हुए और देवोके भी जीव समास दो हुए। यों तिर्यंचोके ८५, मनुष्योके ९, नारकीके २, देवोके २ कुल मिलाकर ९८ जीवसमास होते है। इन ९८ जीवसमासोंमे सब ससारी जीव आ जाते है। जीवसमासके भेद अन्य प्रकारसे भी किये जा सकते है, परन्तु करना चाहिये इस प्रकार कि सब ससारी जीव उसमे आ जावें। लोकभावनामे संसारी जीवोकी दशाये बताई जा रही है।

सत्य ज्ञानसे ही शान्ति प्राप्त किये जानेकी शक्यता—हम आप जितने भी जीव है उन सबकी एक ही चाह है कि सुख शान्ति हो और प्रयत्न भी इसीके अर्थ करते है कि जिससे सुख शान्ति प्राप्त हो। अब तक खूब प्रयत्न किया, पर सुख शान्ति तो न मिली, इसका कारण क्या है इस पर कुछ विचार करना चाहिए। देखिये सुख शान्तिका कारण परिवार, धन, वैभव, इज्जत आदिकका मिलना नहीं, किन्तु सुख

शान्तिका कारण है शुद्ध ज्ञानका मिलना। आप अंदाज कर लेंगे कि कोई मनुष्य सुखी होता है तो उसकी बुद्धि स्वच्छ हो, ज्ञान सही हो तो वह सुखी हो पाता है। जितने भी सुख मिलते हैं वे भी ज्ञानके किसी किस्मसे मिलते है और सुख मिलना है तो वह भी ज्ञानकी किस्मसे ही मिलता है। जैसे किसी की दुकान में ५ हजारका टोटा पड़ गया, दूर कहीं दुकान है और उसे खबर मिल जाय कि इस वर्ष दुकानमें १० हजारका फायदा हुआ है तो वह तो सुख मानेगा। टोटा तो पड़ा है पर उसके ज्ञानमें यह बात है कि हमे लाभ हुआ है तो वह सुख मानेगा और कहीं लाभ भी हुआ हो और खबर यह हो जाय कि इस वर्ष दुकानमे बड़ी हानि हुई है तो इस खबरको सुनकर वह बड़ा दु ख मानेगा। तो ज्ञानके आधारसे ये सुख दु ख होते हैं। यह है लौकिक बात, मगर सदाके लिए दुःख मिटे और पूर्ण सुख शान्ति मिले, यह बात तो सही ज्ञानसे ही हो सकता है।

झूठ परिज्ञानमें क्लेशकी पात्रता—देखो जितने भी ये समागम हैं— घर, परिवार, वैभव, इज्जत आदिक ये सब विनाशीक हैं ना, किसी दिन इन्हें अवश्य बिछुड़ना है। मुझे इनसे कभी बिछुडना ही होगा। जब यह शरीर तक भी अपना नहीं तो फिर और कुछ तो अपना होगा ही क्या ? यहाँकी समस्त चीजें नष्ट हो जाने वाली हैं ना, और उनको मानें कि ये घर, धन वैभव, परिजन आदिक मेरे हैं, ये सदा रहेंगे, तो ऐसा मानना यह तो झूठा ज्ञान हुआ। तो इस झूठे ज्ञानसे दु ख होता है। और अगर सही ज्ञान हो जाय कि ये सब विनाशीक हैं और कभी नष्ट होंगे, तो जब नष्ट होंगे तो यह जीव दु खी न होगा। वह समझेगा कि मैं तो जानता ही था कि ये नष्ट होने वाली चीजें हैं। तो सच्चे ज्ञानसे सुख हुआ ना ? मानते हैं ये मोही लोग कि मेरे लिए मेरा बाबा शरण है, स्त्री पुत्रादिक शरण हैं, पर शरण होते नहीं, जब चाहे प्रतिकूल परिणाम जाते है और इसे क्लेश होता है। तो जो चीज शरण नहीं उसे मान रहे शरण तो यह झूठा ज्ञान हुआ इससे ही दु ख है। और सच्चा ज्ञान जायें कि मेरे आत्मा का अन्य कोई शरण नहीं है। मेरा तो एक धर्म ही शरण है, मैं सच्चा ज्ञान बनाऊँ, आत्माका विश्वास करूँ और मैं सच्चे मार्गपर आऊँ, पाप न करूँ, ऐसी बात मेरे ज्ञानमें है तो शरण है अन्यथा कोई शरण नहीं है। तो सच बातके जान लेनेसे सुख होता है। संसार सारा दु.खमय है। इसमें कोई सोचे कि मुझे स्त्री पुत्रादिकसे सुख मिलेगा, धन वैभवसे सुख मिलेगा, इस प्रकारका झूठा ज्ञान बनानेसे दु'ख होता है। अगर यह ज्ञान बना ले कि यह सारा संसार तो दु.खमय है, यहाँ किसी भी बातमें सुख नहीं है, मेरा सुख तो मेरे आत्माके स्वरूपमें ही बसा हुआ है, मैं खुद आनन्दका पिण्ड हू, तो मुझे आनन्द मिलेगा। सभी चीजें हमसे निराली हैं। घर न्यारा है कि नहीं ? है, क्योंकि हम आप यहाँ बैठे हैं, घर घरकी जगह है। देह भी अपना नहीं और उसे मानें कि यह मेरा है तो दुःख होगा। और अगर मान लिया जाय कि यह देह भी मेरा नहीं है, मेरा तो केवल मेरा आत्मा है जो कि ज्ञान और आनन्द स्वभावसे भरा है तो मुझे सुख शान्तिका रास्ता मिल जायगा। मतलब यह है कि सच्चा ज्ञान बने तो सुख हो, मिथ्याज्ञान बने तो दु ख हो। इससे पहिले निर्णय यह करना कि हमको सुख शान्ति मिल सकती है तो सच्चे ज्ञानसे ही मिल सकती है।

स्वयको ससारसकटोसे छुटानेकी भावना—अब अपने बारेमे सोचिये कि देखो दुनियामे कितनी तरह के जीव हैं— पृथ्वी, आग, पानी, हवा, पेड़ कीड़ा, पंखी मच्छर, पशु पक्षी आदिक, और यहाँ उनको कितने क्लेश है, सो सबको पता ही है। ऐसी योनियोमे हम और आप भी थे। उन सबसे निकल करके आज मनुष्य हुए हैं, ज्ञान मिला है, बात सुन सकते हैं और जैन धर्मका शरण मिला है। प्रभु अरहतदेव निर्दोष वीतराग सर्वज्ञदेवका शरण मिला है। जिनमें रागद्वेष छोड़नेकी बात लिखी है ऐसे शास्त्र हैं, जो रागद्वेषसे दूर रहते हैं, अपने आत्माकी साधनामे रहते हैं वे गुरु मिले है। तो ऐसा सुन्दर समागम

भी पाया, ज्ञान भी पाया, दुर्लभ मानव जीवन भी पाया, अब इस मनुष्य जीवनको किस तरह बिताना चाहिए तो विवेकसे सोचिये। बाहरी बातोंकी कोई कीमत नहीं। धन मिला तो क्या, न मिला तो क्या ? लोगोंने इज्जत कर दिया तो क्या, न किया तो क्या ? कोई ये अपने प्रभु तो हैं नहीं, अपना काम तो अपनेको ही करना होगा। तो ऐसे सुन्दर समागम मिले हैं। इन समागमोको पाकर यह मनमे निर्णय रखे कि हमें तो धर्मपालन करके अपना जीवन सफल करना है। बाहरी पापोंकी बातोमे, अटपट बातोमे नहीं लगना है किन्तु धर्म करके जीवन सफल करना है।

आत्मोद्धारके कर्तव्यकी ओर विशेष ध्यान--आवश्यक काम हैं आप (गृहस्थ) लोगोके दो-एक तो न्यायपूर्वक आजीविका करना, दूसरे-धर्मधारण करके अपने आत्माका उद्धार करना। इनमे भी मुख्य है अपने आत्माके उद्धारकी बात। साधुसंतजन, ऋषिजन तो इस आत्मोद्धारके कार्यमे ही लगे रहते है, पर आप सब गृहस्थोंको तो गृहस्थ होनेके कारण आजीविका करनी पड़ रही है, यह आजीविकाका काम तो गौण काम है, पर मुख्य काम है धर्मपालनका। धर्मपालन कैसे हो, उसका साधन यह ही है— भगवानका रोज जाप जपना, दर्शन करना, रात्रिका भोजन न करना, जल छानकर पीना, दिनमे शुद्ध भोजन करना, सो यह परम्परा आप लोगोंके चली आ रही है। इससे यह साबित है कि आप बड़ी पवित्र परम्पराके कुलमें आये हुए हैं। अब ऐसा सुन्दर मौका पाकर अपने जीवनको सफल करनेकी बात बनाइये। देवदर्शन-अपने आत्माको क्या बनाना है ? शुद्ध परमात्मा। तो ऐसा बननेके लिए हमे उस शुद्ध परमात्माके दर्शन भी तो करना है जिसका स्वरूप देखकर, जिनकी शान्तमुद्राको निरख-निरखकर हम अपने में सन्तोष पायेंगे और अपने आत्माके सच्चे स्वरूपके दर्शन करेंगे। आत्माको शुद्ध बनाने के लिए देवदर्शनकी आवश्यकता है। रात दिनके प्राय २४ घन्टे गृहस्थके कहां जाते हैं ? व्यापार, पालन पोषण आदिकमें। तो उनमे से आध पौन घटा मदिरमें बैठकर प्रभुकी मूर्ति निरखकर स्तवन करें, जाप जपें तो इससे अपने आत्माको शान्ति मिलती है और मार्ग मिलता है कि हमको क्या करना चाहिए ? यही करना चाहिए जैसा कि प्रभुने किया। इस भावनासे प्रति दिन देवदर्शन करना और प्रतिदिन एक जाप जप लेना। जाप जपने के मंत्र अनेक हैं मगर बहुत सीधा यह है कि नाम ही जप लिया जाय—"अरहंत सिद्ध" मालामें १०८ बार। तो यों देवदर्शन करके जाप जप करके, कुछ स्वाध्याय करके धर्मसाधनामे कुछ समय बितायें तो इससे ज्ञान बढ़ेगा और अपने आपके कर्म खिरेंगे, पाप दूर होंगे, पुण्य बढ़ेगा। तो ऐसे ही सभी काम देवपूजा गुरुजनोंकी संतोकी सेवा करना, कुछ थोड़ा बहुत स्वाध्याय करना, व्रत पालन करके सयम से रहना, इच्छाओं को शान्त करना, दान करना आदि आवश्यक कार्योंसे अपनेको पवित्र बनाना चाहिये।

पर्वोंमे विशेषतया धर्मसाधनका प्रयत्न--पर्वोंमें एक दशलक्षण पर्व है जो कि भादोके अन्तिम १० दिन अर्थात् पचमीसे लेकर पूर्णिमा तक मनाया जाता है। उनमे क्षमा करना, घमंड न करना, छल कपट न करना, तृष्णा न करना झूठ न बोलना, व्रत सयम करना, तपश्चरण करना, त्याग करना, अपने को अकेला निरखना, ब्रह्मचर्य का पालन करना आदि कार्य किए जाते हैं। इसी प्रकार तीन अष्टाह्निका पर्व हैं जो कि फागुनके अन्तिम ८ दिन अषाढ़के अन्तिम ८ दिन तथा कार्तिकके अन्तिम ८ दिनोमे मनाये जाते हैं, उनमें प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशीको एकासन करना, ब्रह्मचर्यसे रहना आदि ये सब काम करके अपना जीवन सफल कीजिए। एकाशनका अर्थ है एक बार खाना, वह भी यदि अल्पाहार हो तो और भी ठीक है, तो ऐसे व्रत पालन करना और अपनी शक्ति माफिक दान करना, किसी भूखेको खिलाना, कोई साधुसंत आयें तो उन्हें आहार कराना, औषधिदान, शास्त्रदान, अभयदान आदि देना। किसीको कोई चिन्ता है तो जिस प्रकार उसकी चिन्ता दूर हो उसका प्रबंध करना, ये सब गृहस्थके कर्तव्य हैं। तो ऐसे

कामको करके अपना जीवन सफल करना, इस पद्धतिमें धर्म प्राप्त होता है। धर्म इसीलिए किया जाता है कि हमारा आत्मा संसारके दुःखोंसे सदाके लिए छूट जाय और ऐसा मार्ग अरहंतने जैनशासनमें कहा है। इस जैनशासनमें कितने पवित्र पर्व हैं। इस जैनशासनमें प्रभुकी ऐसी मूर्ति है कि जिसे देखकर शान्ति मिले। यहाँ सभी अहिंसक पर्व हैं। सब जीवोंके साथ समान स्वरूप ज्ञान करके सबके प्रति दयाभाव करना। जहाँ जोउपदेश किया गया है वह कितना पवित्र मार्ग है, उस मार्गसे चलकर अपना जीवन सफल करना।

पञ्च पापोके त्यागसे जीवन सफल करनेका अनुरोध--पांच प्रकारके त्यागोंका नाम व्रत है। हिसा न हो, मनसे, वचनसे, कायसे किसी जीवके मारनेका इरादा न हो, सो यह परम्परा आपके कुलमे चली आ रही है-- उसे निभाना और विशेषतया पालन करना, झूठ न बोलना, जो एक दो बार भी झूठ बोलता उसकी आदत बिगड़ जाती, फिर उसे तकलीफ मिलती है, उसपर कोई विश्वास नहीं करता, तो अपना सत्य जीवन रखना। पहिले समयके जैनोंको, श्रावकोंको सरकारी लोग भी बड़ी प्रमाणतासे देखते थे कि ये जैन हैं--- झूठ न बोलेंगे और उनका फैसला उन जैनों श्रावकोंके वचन पर ही कर देते थे। अब भी जो सरकारी कैदी होते हैं उनमे कैदका दण्ड पाने वाले व्यक्ति जैन सबसे कम होते हैं। तो यह परम्परा पापोंके त्यागकी चल रही है। और उसको अपना धर्म समझकर निभाना जिससे कि अपने आत्माका उद्धार हो, चोरी न करना। सो इस गाँवके आसपासके क्षेत्रोंमें यह बात स्वभावसे बनी हुई है कि घरके किवाड़ भी खुले रहते हैं और प्रायः करके यहाँ कोई किसीकी कोई चीज चुरानेका यत्न भी नहीं करता। ऐसा ही भाव होना चाहिए, परकी वस्तु इले माफिक है, उससे क्या पूरा पडेगा? जो उदयमें है, कर्ममें है उसके अनुसार ही सांसारिक बात होगी। अपना भाव क्यों बिगाड़ा जाय? चौथा पाप है कुशील, पर-स्त्री अथवा परपुरुषपर दृष्टि न करना, उन्हें मा बाप, भाई बहिन बेटी आदिकी तरह मानना। तो यों ब्रह्मचर्यका पालन करना, और तृष्णा लालच न करना, परिग्रहका परिमाण रखना, सो भी आदत आप सबकी है। तो यों ५ प्रकारके पापोंका त्याग करना और अपने जीवनको सफल करना।

धर्मपालनमे गृहस्थोके प्रारम्भिक मुख्य कर्तव्य—मुख्यतया आप सबके लिए तीन बातें बतला रहे हैं, जिनमें प्रमाद न करना, उन तीनों बातोंका पालन करना। पहिली बात है देवदर्शन- नित्य मदिर जाकर भगवानके दर्शन करना तब खाना, खाना, यह नियम रहे। कुछ विनतियां याद कर लें, णमोकारमंत्र चत्तारिमगलं, ये सब पाठ रोज जरूर कर लें और सबको याद करना चाहिए। एक माला जाप जप लेना, "अरहंतसिद्ध", ॐ नम' सिद्धेभ्यः या पूरे णमोकारमन्त्रका १०८ बार जाप जपना, और जल छानकर पीना। हमने यहां बहुतसे लोगोंसे महिलाओंसे पूछा तो प्राय' करके यहा सभी लोग जल छानकर पीते हैं। यह एक अहिंसाकी परम्परा है। इससे यह साबित होता है कि आपके पूर्वज जैनधर्मके बडे-बडे संत हुए हैं। तीसरी बात है— रात्रिभोजन त्याग। अगर कोई यहा रात्रिको खाता भी हो तो उसे रात्रिभोजन त्याग देना चाहिए। दिनमे एक दो बारका खाना शरीरके लिए पर्याप्त है। उससे ही जीवन अच्छी तरह चल सकता है। रात्रिभोजनमें कितनी जीव हिंसा है। और, फिर दिनमें भी खाये, रातमें भी खाये, यों खाने खानेकी ही सदा फिकर रहे तो ऐसे चित्तमें धर्मकी बात नहीं आती। तो रात्रिभोजन त्याग आव-श्यक है। इन तीन बातोंपर बहुत अधिक आपको ध्यान रखना है, और इस तरह आप अपने व्रतका धर्म का पालन करते हुए अपने जीवनको सफल बनाये तो आपका मनुष्य जीवन सार्थक हो गया समझिये।

आहार-सरीरिंदिय-णिस्सासुस्सास-भास-मणसाणं।
परिणइ-वावारेसु य जाओ छ च्चेव सत्तीओ ॥१३४॥

जन्ममरणमय ससारमे एक स्थूलशरीरके त्यागसे व नवीन स्थूलशरीर ग्रहण करनेके बीचकी स्थिति—

संसारमें दुःख जन्म मरणका है। सारे क्लेश जन्ममरणसे ही संबंधित हैं। जन्म हुआ, शरीर मिला तो भूख प्यास ठंड गर्मी आदिके दुःख हुए। शरीरके अहंकारसे कि शरीर मैं हूं इस बुद्धिके कारण यह पद पदपर संकल्प करके दुःख मानता है। किसी ने गाली दी तो यह सोचता है कि इसने मेरा अपमान किया। पर यहां मेरा मायने यह पर्याय, यह शरीर। तो इस शरीरमें आत्मबुद्धि करने पर अपमान आदिक दुःख होते हैं। तो जितने भी क्लेश हैं वे सब शरीरसे सम्बन्धित हैं। शरीर मिलना जन्म लेने पर ही होता है और जब शरीर मिला तो मरण होता है। मरणमें भी क्लेश, और फिर जन्म हुआ फिर वे ही क्लेश शुरु हो गए। तो यों संसारके सारे क्लेश जन्म मरणमें ही गर्भित हो जाते हैं। अब यहां कुछ जन्म मरणकी बात समझना है कि जीव जब मरण करता है। तो मरण करने पर वह शरीर तो छूट गया औदारिक शरीर या वैक्रियक शरीर, जो ग्रहण किए हुए थे वह तो छूट गया। अब जीवके साथ क्या क्या रहा? कई लोग कहते हैं कि जीवके साथ दो शरीर लगे हैं—एक सूक्ष्म शरीर दूसरा स्थूल शरीर। तो मरने पर स्थूल शरीर तो छूट जाता है। सूक्ष्म शरीर उसके साथ रहता है। तो जहां यह जन्म लेने के लिए जायेगा सूक्ष्म शरीर उसके ही साथ रहेगा। वह सूक्ष्म शरीर क्या है? कार्माण शरीर और तैजस शरीर। जो जीवके साथ कर्म लगे हैं और उन कर्मोंका जो एक शरीररूप बन गया है वह तो है कार्माण शरीर और जिस शरीरको यह ग्रहण करता है, करेगा उस शरीरमें तेज आनेका कारणभूत है तैजस शरीर। तो तैजस शरीर और कार्माण शरीर इनको सूक्ष्म शरीर कहा है। ये जीव के साथ अनादि कालसे लेकर अब तक बराबर निरन्तर साथ रहे हैं। औदारिक शरीर तो आयुके क्षय होने पर छूट जाता है। दूसरे आयुका उदय हुआ तब दूसरा शरीर मिला, ऐसे ही वैक्रियक शरीर भी छूट जाता है। यह स्थूल शरीर है, पर सूक्ष्म शरीर एक समयको भी नहीं छूटता। यदि सूक्ष्म शरीर एक समयको भी छूटा तो अनन्त कालके लिए छूट गया। उस ही का नाम मुक्ति है कि जीवके साथ सूक्ष्म शरीर भी न रहे। केवल जीव-जीव रहे। और मोक्ष होनेके बाद फिर जन्ममरण होता नहीं। तो वह जीव एक भवके शरीरको छोड़कर जब नये भवका शरीर ग्रहण करने के लिए जाता है तो रास्तेमें विग्रहगतिमें तैजस शरीर और कार्माण शरीर रहता है।

जन्मस्थानपर पहुँचने पर पर्याप्तियोंका आरम्भ व आहारपर्याप्तिकी पूर्णता—अब यह जीव पहुंच गया उस स्थान पर जहां कि इसको शरीर मिलता है। वहां पहिलेसे ही उस शरीरके बीजभूत कुछ पुद्गल ढेर रहते हैं, उन पर जीव पहुंच गया। तो अब यहां यह बतला रहे हैं कि उस जगह जीवके पहुंच जाने पर फिर वह नया शरीर किस-किस प्रकारसे शरीररूप बनता है? क्यों कि जीवके पहुंचनेसे पहिले तो वे एकदम छितरे-बिखरे एक पुद्गल पिण्ड थे। अब वे पुद्गल परमाणु शरीर रूपमें आ जायें यह बात होनेमें कुछ देर लगेगी, सो किस किस तरहसे वे शरीररूप बनेंगे? इस बातका वर्णन यहां पर्याप्तियोंके स्वरूपको बताते हुए कह रहे हैं। इस जीवने उस शरीरके बीजभूत पुद्गल संचयका ग्रहण किया था। अब जिस पुद्गल संचयका इस जीवने ग्रहण किया, मरणके बाद पूर्व शरीर छोड़कर नया शरीर जिससे बनेगा उस ढेर पर यह जीव आया, आनेके बाद हुआ क्या कि उस जीवकी पर्याप्तियां सब एक साथ प्रारम्भ होती हैं। पर्याप्ति कहते हैं पूर्णताको। अब यहां आहार याने शरीरग्रहणकी पूर्णता होगी, शरीरके निर्माणकी पूर्णता होगी, इन्द्रिय बननेकी पूर्णता होगी, श्वासोच्छ्वासकी शक्ति भी पूरी बनेगी, भाषाशक्ति भी बनेगी और मनसे विचार करनेकी शक्ति भी बनेगी। ६ बातें बनती हैं। उन ६ बातोंका प्रारम्भ तो एक साथ हो जाता है, किन्तु उनकी पूर्ति क्रमसे होती है। अब यह पूर्ति किस तरहसे होती है इस बातको बतला रहे हैं। शरीरके बीजभूत उस पुद्गल पिण्डपर यह जीव आया तो प्रथम उन पुद्गलस्कंधोंसे कुछ तो कठिन अवयवरूप परिणमावनेकी आवश्यकता है और कुछको रसरूप, द्रवरूप

अवयव परिणमानेकी आवश्यकता है, क्योंकि शरीरमें दो प्रकारके अवयव होते हैं— कुछ होते हैं कठोर और कुछ होते हैं नरम। जैसे खून, यह रसरूप है और हड्डी आदिक ये कठिन हैं। तो वैक्रियक शरीरमें वैक्रियक ढंगसे ये दो प्रकारके अवयव होंगे— खलरूप और रसरूप। औदारिक शरीरसे औदारिकके ढंग से इसके अवयव होंगे— खलरूप व रसरूप। तो अब प्रथम इन शरीरवर्गणाओंको कठिन अवयवरूप परिणमानेकी और रसरूप परिणमानेकी शक्ति पूर्ण हो जाय उसे कहते हैं आहारपर्याप्ति। नये शरीर को ग्रहण किया जीवने तो सबसे पहिले वहां क्या बात बनेगी? उन परमाणुओंसे यह विभाग बनेगा कि इतने परमाणु तो कठोर अंग बनेंगे। तो इस तरह परिणमानेकी जीवमें शक्ति पूर्ण आ जाय उसे कहते हैं आहारपर्याप्ति। चूंकि जीव मरकर आया है और नये शरीर पर आया है, तो उस जीवमें तो अभी कुछ नहीं है ना। सूक्ष्मशरीर है साथमें। अब ऐसा भी जीव जो स्थूलशरीर वाला नहीं है और नये शरीरको शरीर बनायेगा तो उसका काम सारा प्रारम्भसे ही तो चलेगा। यह आहारपर्याप्ति किस कर्मके कारणसे बनती है। तो वहां जिस जीवको औदारिक शरीर मिलता है उसके औदारिक शरीर नामकर्म का उदय है। किसीके वैक्रियक शरीर नामकर्मका उदय है। जिसका जिस प्रकारका शरीर बनता है उसको उस जातिके शरीर नामकर्मका उदय है। और, साथ ही पर्याप्ति नामकर्मका उदय है। पर्याप्तिके, सम्बंधमें दो प्रकृतियां हैं— एक पर्याप्त नामकर्म और एक अपर्याप्त नामकर्म। बिना तो जो जीव मरकर नया शरीर ग्रहण करेगा और उस शरीरकी पर्याप्ति पूरी हुए मरेगा नहीं। उसके तो पर्याप्ति नामकर्मका उदय है, और जो पर्याप्ति पूर्ण किए बिना ही मर जायगा उसके अपर्याप्तनामकर्मका उदय है। तो पर्याप्त नामकर्मके उदयसे आत्मामें आहार आने शरीर वर्गणाका ग्रहण करनेकी शक्ति हो जाना सो आहार पर्याप्ति है।

शरीरपर्याप्ति व इन्द्रियपर्याप्तिकी पूर्णता—देखिये— अब तक क्या काम हुआ उस शरीरमें कि उस शरीरके परमाणुओंमें, कुछ तो कठिन अंगरूप बन रहे और कुछ रसरूप बन रहे। अब आगे दूसरा काम क्या होगा कि जो परमाणु कठिन अवयवरूप परिणमानेके पात्र हैं वे हड्डी आदिकरूप परिणमनेमें समर्थ हो जाये, और जो वर्गणा रसरूप परिणमावनेको हुई वह खून आदिकरूप परिणम सके, ऐसी शक्ति की पूर्णता होनेका नाम है शरीरपर्याप्ति। अब इसके बाद तीसरा काम क्या होना है कि उस शरीरमें इन्द्रियकी शक्ति आनी चाहिये। जब शरीरमें इन्द्रिय बननेकी शक्ति जीवमें आ जाय तब इन्द्रियपर्याप्ति होती है। इसमें कारण क्या पड़ता है? ज्ञानावरणका क्षयोपशम। क्योंकि इन्द्रियके द्वारा यह ज्ञान ही तो करेगा। इन्द्रियसे ज्ञानकी उत्पत्ति हुई, विकास हुआ निमित्त हैं इन्द्रियां। तो इन्द्रिय बननेके लिए ज्ञानावरणके क्षयोपशमकी जरूरत है। अभी एकेन्द्रियमें केवल स्पर्शनेन्द्रियावरणका क्षयोपशम है और दो इन्द्रियमें स्पर्शनेन्द्रियावरण व रसनेन्द्रियावरणका क्षयोपशम है और हम आपके पांचों इन्द्रियावरण का क्षयोपशम है और मनका आवरण करने वाले कर्मका भी क्षयोपशम है। देखो अन्य सब जीवोंसे हम आप जीवोंकी योग्यता बढ़ी चढ़ी है। तो ज्ञानावरणका क्षयोपशम भी चाहिये। वीर्यान्तराय कर्म उसे कहते है जो शक्तिको प्रकट न होने दे। अब यहाँ शक्ति प्रकट होगी। तो उन दोनोंके क्षयोपशम होनेपर और जातिनामकर्मका उदय होनेसे जो इन्द्रिय होनेकी शक्ति पूरी होती है उसे इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं।

श्वासोच्छ्वास, भाषा व मनःपर्याप्तिकी पूर्णताका कथन—अब तक यहां इसके तीन काम हुए— आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति और इन्द्रियपर्याप्ति। अब इसके बाद काम होगा श्वासोछ्वास लेनेकी शक्ति पूरी होनेका। जितने पर्याप्तक जीव हैं वे सब श्वास लेते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़ा मकौड़ा, जिन जिनमें जीभ है याने मुख है वे श्वास लेते हैं, यह तो हम आसानीसे जान जाते हैं लेकिन पेड़, पृथ्वी, पानी, आग, हवा आदि ये भी श्वास लेते हैं, यह जरा कठिनाईसे जाना जाता है। तो पहिले यह समझिये कि

श्वास केवल मुखसे ही नहीं ली जाती। शरीरके प्रत्येक हिस्सेसे श्वास ली जाती है। यह तो एक मोटे रूपसे समझ लिया लोगोंने कि मुँह और नाकसे हवाका छोड़ना लेना इसका नाम श्वासोछ्वास है। शरीरके प्रत्येक हिस्सेमें जितने रोम हैं, जितने छिद्र हैं उन सबसे श्वास लिया जाता है। तो आप यह समझ लीजिए कि श्वास पूरा कहांसे ग्रहण किया जाता है—पृथ्वी, जल, आदिकके भी शरीर हैं तो वे भी अपने पूरे शरीरसे श्वासोछ्वास करते हैं। और वैज्ञानिकोंने यह सिद्ध भी किया है कि पेड़ श्वास लेते हैं। रातकी हवा और दिनकी हवा जो पेड़से निकलती है उससे अन्तर भी इसी आधारपर हैं। किसी छोटे अकुरके ऊपर यदि कोई चीज ऐसी ढक दी जाय कि हवा न मिल सके तो वह अंकुर मुरझा जायगा, खत्म हो जायगा। तो इससे सिद्ध है कि एकेन्द्रिय तकके जीवोंमे श्वास होती है। आहार शरीरइन्द्रिय-पर्याप्तिके बाद अब श्वास पर्याप्ति पूर्ण होती है। तो इस पूर्णतामें कारण क्या है? उच्छ्वास नामकर्म का उदय। तो जिन वर्गणाओंको शरीररूपसे ग्रहण किया था उनको उच्छ्वासरूपसे परिणमानेकी जीवमें शक्ति पूर्ण हो जाय इसे कहते हैं श्वासोछ्वासपर्याप्ति। यहां तक चार काम हुए। ये चारों काम साधारण हैं। एकइन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सबमें पाये जाते हैं, किन्तु इनके बादके दो काम भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति—ये एकेन्द्रियके नहीं होते। भाषापर्याप्ति तो दोइन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक और मनःपर्याप्ति केवल संज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीवोंके ही होती है। सो इन दो पर्याप्तियोंको यह जीव किस तरह पूर्ण करता है? स्वरनामकर्मके उदयसे तो भाषापर्याप्ति पूर्ण होती है। मनःपर्याप्ति पूर्ण होनेकी क्या विधि है—अंगोपाङ्ग नामकर्मका उदय होनेसे और ज्ञानावरणका क्षयोपशम विशेष होनेसे मनकी रचना होती है और विचार करनेकी शक्ति पूरी होती है। इस तरह जीव ६ पर्याप्तियोंको पूर्ण करता है। अपने अपने योग्य समस्त पर्याप्तियोंका प्रारम्भ तो एक साथ होता है याने जन्मस्थान पर पहुंचते ही अथवा शरीरनामकर्मके उदयके प्रथम समयमें ही पर्याप्तियोंका प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु उन पर्याप्तियोंकी पूर्तियां अन्तमुहूर्त अन्तमुहूर्तके क्रमसे हुआ करती हैं। फिर भी वे सब अन्तमुहूर्त एक ही अन्तमुहूर्तमें गर्भित हैं।

तस्सेव कारणाणं पुग्गल-खंधाण जा हु णिप्पत्ती।
सा पज्जत्ती भण्णदि छब्भेया जिणवरिंदेहिं ॥१३५॥

पर्याप्तियोंकी कारणरूपता व कार्यरूपतासे वर्णन—कोई जीव मरण करके जब दूसरे भवमें जन्म लेता है तो चूँकि उस जीवके साथ स्थूल शरीर तो नही रहा, वह तो वहीं छूट गया। अब वह जीव अकेला सूक्ष्म शरीरसे सहित उस जन्मस्थान पर पहुंचता है तो वहां स्थूल शरीर ग्रहण करता है। जिस स्कंध से शरीरकी निष्पत्ति प्रारम्भ होती वह स्कंध पहिलेसे पड़ा हुआ है। जैसे जो जीव सम्मूर्छन जन्म वाले हैं, जिनका जन्म माता पिताके निमित्तसे नहीं है जैसे कीट पतिगा आदि, तो इनके शरीर बननेके पुद्गल ढेर सब मौजूद हैं। अब कुछ योग्य विशेष वे स्कंध बन जाते हैं और वहां कोई जीव आता है तो उसे वह शरीर रूपसे ग्रहण करता है। और जो माता पिताके निमित्तसे उत्पन्न होता है ऐसे शरीरके बीजभूत रजवीर्यपर पहुंचता है तो उसे शरीररूपसे ग्रहण करता है। नया शरीर बनता है तो नया शरीर बननेके लिए उस जीवमे शक्ति आनेकी आवश्यकता है, क्योंकि वह जीव तो स्थूल शरीरके बिना है ना। तो जब तक उस जीवमे शरीरके बननेकी शक्ति नहीं आ पाती तब तक उसे निर्वृत्त्यपर्याप्त कहते हैं और जब शरीर बननेकी शक्ति उस जीवमें आ जाती है तो वह पर्याप्त कहलाता है। इस विषयका पहिली गाथामें तो जीवकी शक्तिकी मुख्यतासे वर्णन किया था। अब इस गाथामें यह बतलाते हैं कि जैसे नया शरीर बननेके लिए जीवमें शक्तिकी पूर्णता होनी आवश्यक है उसी प्रकार उस पुद्गल ढेरमें भी शरीररूप बननेकी शक्ति आ जानी आवश्यक है। बात तो दोनों तरफ हैं ना, जीवमे शक्ति आ जाये उस

निमित्तसे शरीर बनता है, पर शरीर स्कंधोंमें भी तो वह योग्यता आ जानी चाहिए कि जिससे वह शरीर बन सके। तो इस गाथामें पुद्गलमें शक्तिकी पूर्णता आ जाने के रूपसे पर्याप्तियोंका वर्णन किया है। उस जीवशक्तिके कारणभूत पुद्गल स्कंधोंमें जो समर्थता आती है उसे पर्याप्ति कहते हैं।

संसारी जीवोंके पर्याप्तियोंकी पात्रताका वर्णन—ये पर्याप्तियां ६ प्रकारकी हैं—आहारपर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। याने जीव जब नये शरीरको ग्रहण करना है तो पहिले शरीरको ग्रहण करनेकी ताकत बनती है फिर उसको कुछ कठिन और नरम अवयव बनानेकी ताकत आती है, फिर इन्द्रिय बननेकी शक्ति आती है, फिर श्वास लेनेकी शक्ति आती है, फिर वचन बननेकी शक्ति आती है, फिर मनकी और विचारनेकी शक्ति आती है। इस तरह नये शरीरको पाने में ६ पर्याप्तियां आती हैं। यदि कोई जीव एकेन्द्रियमें उत्पन्न होता है—पृथ्वी, जल अग्नि, पेड़ ऐसे शरीरोंमें आता है तो उसके चार पर्याप्तियां होंगी—आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास। भाषा उस जीवके नहीं हो सकती, क्योंकि उसके सिर्फ एक ही इन्द्रिय है स्पर्शन। खाली शरी शरीर है, जिह्वा नहीं है और जिह्वा हुए बिना भोजनकी शक्ति नहीं आती। जो जीव दो इन्द्रियमें जन लेगा उसके ५ पर्याप्तियां बनेंगी— आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और भाषा। चूंकि दो इन्द्रि जीवमें जिह्वा आ गई, मुख बन गया, चाहे कैसा ही हो, केचुवोंके भी मुख पाया जाता है और वे मुखसे मिट्टीका आहार भी करते हैं उन जीवोंके भी भाषा पर्याप्ति है। कुछ बोल सकें, किसी भी तरहकी आवाज निकले, पर आवाज तो हो सकती है। तो दो इन्द्रिय जीवमें ५ पर्याप्तियां हैं—तीन इन्द्रिय चारइन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवमें भी ५ पर्याप्तियां हैं। छठी पर्याप्ति है मन पर्याप्ति। संज्ञी पञ्चेन्द्रियके छहों पर्याप्तिया होती हैं। जब तक जीवके मन नहीं होता तब तक मनःपर्याप्ति नहीं बनती यों जिस जीवमें जितनी योग्यता है उसमे उतनी पर्याप्तियां हुआ करती हैं। इतने कथनमें इतनी बातोंका विचार किया गया कि एक शरीर छोड़कर जीव जब दूसरे शरीरका ग्रहण करता है तो दूसरे शरीरमें जब तक शरीररूप बनने की पूर्ण शक्ति नहीं आ जाती तब तक यह जीव निर्वृत्यपर्याप्तक कहलाता है अर्थात् शरीरकी निष्पत्तिकी पूर्णता नहीं होती। बादमें यह पर्याप्त कहलाया याने शरीर बनने लायक पूर्ण शक्तिमान कहलाया, इसे पर्याप्त कहते हैं। अब अगली गाथामें यह कहते हैं कि निर्वृत्यपर्याप्त कितने समय तक रहता है और पर्याप्त कितने समय तक रहता है?

पज्जतिं गिण्हंतो मणु-पज्जतिं ण जाव समणोदि।
ता णिव्वत्ति-अपुण्णो मण-पुण्णो भण्णदे पुण्णो ॥१३६॥

निर्वृत्यपर्याप्त व पर्याप्तके कालके विभागका वर्णन—यह जीव जब जन्मस्थानपर पहुचता है, तो जिसके जितनी पर्याप्तिया हुई हैं उन सब पर्याप्तियोंका प्रारम्भ तो उस ही समयमें कर लेता है परन्तु उन पर्याप्तियोंकी पूर्णता क्रमक्रमसे होती है। पहिले आहारपर्याप्ति हो जायगी फिर शरीरपर्याप्ति पूर्ण होती है, फिर इन्द्रियपर्याप्ति, फिर श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, फिर भाषापर्याप्ति। इसके बाद मनःपर्याप्ति सम्पूर्ण बनती है। तो पर्याप्तियोंका ग्रहण करते हुए यह जीव जब तक मनःपर्याप्तिको समाप्त नहीं करता तब तक यह जीव निर्वृत्यपर्याप्त है और जहां मनःपर्याप्ति पूर्ण हो जाती है तब यह पूर्ण पर्याप्त कहलाता है। किन्हीं ग्रन्थोंमें ऐसा भी कहा है कि शरीरपर्याप्ति जब तक पूर्ण नहीं होती तब तक वह निर्वृत्यपर्याप्त कहलाता है। शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने पर पर्याप्त कहलाता है। शरीरपर्याप्ति है दूसरे नम्बरकी पर्याप्ति। तो यह कथन भेद इस अपेक्षासे समझना कि जो जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय बनता है, उस की अपेक्षासे तो इस गाथामें कथन है कि मनःपर्याप्ति पूर्ण हो तो पर्याप्त है और अन्य ग्रन्थोंका कथन सामान्य अपेक्षासे है, क्योंकि कोई जीव एकेन्द्रिय होता, कोई दोइन्द्रिय आदिक होता तो शरीरपर्याप्ति

की पूर्णता होने पर वह पर्याप्त होगा, यह सबमें घटित करना है। निर्वृत्त्य पर्याप्तके भी पर्याप्ति नाम कर्मका उदय है और पर्याप्तके भी पर्याप्तिनामकर्मका उदय है। यह पर्याप्त ही है क्योंकि पर्याप्त होनेसे पहिले इसकी मृत्यु नहीं होती। तो पर्याप्त नामकर्मका उदय होने पर एकेन्द्रिय जीव अपनी चार पर्याप्तियों को पूरा करनेकी शक्तिसे युक्त होता है और उन्हें पूरा कर लेता है। अपर्याप्त शब्दसे तो मुख्यतया लब्ध्यपर्याप्तका व्यपदेश होता है। दो इन्द्रियां आदिक अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण करते हैं और जब तक पूर्ण नहीं कर पाते तब तक उन्हें निवृत्त्यपर्याप्त कहते हैं। निर्वृत्तिका अर्थ है शरीरकी निष्पत्ति। शरीर बननेका काम पूरा नहीं हो पाया तो उन्हें निर्वृत्त्यपर्याप्त कहते हैं। जैसे कोई जीव मरकर मनुष्यगतिमें जन्म लेता है तो मां के गर्भमें वह जीव आया। आते ही वह दो एक सेकेण्ड निवृत्त्यपर्याप्त रहा। जब तक उस शरीरमें कुछ भी वृद्धि, गठन नहीं बनता तब तक निर्वृत्त्य पर्याप्त है, बादमें पर्याप्तक बनता है और जब तक मरण नहीं होता तब तक वह जीव पर्याप्त कहलाता है। यहां निर्वृत्त्यपर्याप्तका इतना ही अर्थ है कि शरीरमें कुछ भी वृद्धि और गठन होने की शक्ति आ जाय तो लो पर्याप्त हो गया वह। उससे पहिले निर्वृत्त्य पर्याप्त है। शरीर बनेगा अच्छी प्रकारसे ६-७ महीनेमें, लेकिन— ६-७ महीने तक निर्वृत्त्यपर्याप्त नहीं है। निर्वृत्त्यपर्याप्त रहना तो दो एक सेकेण्डका ही काम है। उसमें शरीर बनने की शक्ति पूरी तो आ गई। अब उसके अंगोपाङ्ग बनने प्रारम्भ होंगे कोई चौथे या ५ वे महीनेसे लेकिन पर्याप्त वह अन्तर्मुहूर्त बाद ही हो जाता है। कुछ लोग जब गर्भसे निकले बालक, तब कहते हैं कि अब इसका जन्म हुआ लेकिन जन्म तो तभी माना जायेगा कि जिस क्षण मेंवह गर्भमें आया। जैसे किसी बालककी उम्र पूछने पर कहते हैं कि यह बालक आजसे ८ वर्षका हो गया पर वह बालक ८ वर्ष और करीब ६ महीनेका हुआ है। गर्भके जो दिन हैं वे भी आयुमें शामिल हैं। तो यों जीव अनेक शरीरोंमें जन्म लेता रहता है, मरण करता रहता है और जन्ममरणके संकटोंको सहता रहता है।

मरण जीवनकी विडम्बना और उसका कारण—उक्त कथनसे आप यह अंदाज कर गए होंगे कि मरण और जीवन कितनी बड़ी विडम्बना है? यह जीव मरा और सूक्ष्मशरीर वाला हो गया, फिर नये शरीर पर आयगा। कैसा उसका ग्रहण, कैसी उसकी वृद्धि, कैसा उसमें रम जाना, एकक्षेत्रावगाह हो जाना, यह सब इस भगवान आत्माकी विडम्बना ही तो हो रही है। कहाँ तो यह भगवान आत्मा अनन्तचतुष्टय का धनी, अपने ज्ञानसे तीन लोक और अलोकको जानता रहे, अपने ही विशुद्ध आनन्दसे आनन्दको भोगता रहे, कहाँ तो इसका ऐसा पवित्रस्वरूप और कहां इसकी यह विडम्बना हो रही है कि नया शरीर ग्रहण किया फिर वहां संकट सहे। इष्टवियोग अनिष्टसंयोग, रोग शोक आदिक अनेक प्रकारके कष्ट सहता है। इन सब कष्टोंके पानेका मूल कारण है एकमात्र मोह। इस जीवको अपने शरीरमें जो मोह हो गया है कि यह मैं हूं, इस शरीरको देख देखकर खुश होता है, शरीर निर्बल हुआ तो रंज मानता है। शरीरके विषयसाधनोंमें यह बड़ा उत्सुक बना रहता है, ये सब हैं जीवपर आपत्तियां। मानता है यह मोही जीव मौजकी बातें, वे तो इस जीवको गिरा देनेकी बातें हैं। तो इन मोह रागद्वेषादिक परिणामोंके कारण यह जीव संसारमें जन्म मरण करता है और घोर संकट सहता है। इस प्रकरणमें यह बताया जा रहा है कि मरणके बाद यह जीव जब दूसरे शरीरको ग्रहण करता है याने जन्म लेता है तो जब तक शरीरपर्याप्ति नहीं बनती तब तक निर्वृत्त्यपर्याप्त है, याने एक समय कम शरीरपर्याप्तिके काल तक जीव निर्वृत्त्यपर्याप्त कहलाता है, पश्चात पर्याप्त बनता है। अब कहते हैं कि लब्ध्यपर्याप्तका क्या स्वरूप है? लब्ध्यपर्याप्त जीव उसे कहते हैं कि जिसकी पर्याप्ति पूर्ण न हो और मरण कर जाय।

उस्सासट्ठारसमे भागे जो मरदि ण य समाणेदि।
एक्को वि य पज्जत्ती लद्धि अपुण्णो हवे सो दु ॥१३७॥

लब्ध्यपर्याप्तका स्वरूप—जो जीव श्वासके १८वें भागमें मर जाता है और एक भी पर्याप्तको समाप्त नहीं कर पाता उस जीवको लब्ध्यपर्याप्त कहते हैं। अब आप अंदाज करते होंगे कि लब्ध्यपर्याप्त जीव कितना निकृष्ट जीव है? मरण हुआ, नया शरीर ग्रहण किया, उसके शरीरमें कुछ भी वृद्धि नहीं हो पाती और मरण हो जाता। एक श्वासके १८वे भागमें मरण होता है यानि एक श्वासमें १८ बार मरण कर जाता है। मरण करना, जन्म लेना वह एक ही बात है। एक भवके मरणका ही नाम दूसरे भवका जन्म है। जैसे सीधी अगुली है, अब इसे टेढीकी तो सीधीका मिटना और टेढीका होना, दोनोंका एक ही मतलब है ना, जिस समयमें टेढी हुई उसी समयमे सीधी मिटी, जिस समयमें सीधी मिटी उसी समयमें टेढी हुई, कोई दो समय नहीं हैं। यह है उत्पाद व्ययका स्वरूप। कोई भी चीज जब उत्पन्न होती है तो नवीन बातकी उत्पत्ति होनेका ही नाम पुरानी बातका मिटना कहलाता है। तो जैसे कोई मनुष्य यहां मरा—मान लो ८ बजकर एक समयपर मरा और वह देवगतिमे जन्म लेता है तो मनुष्य आयुका विनाश उसका कब कहा जायेगा? ८ बजकर एक समय पर और देवआयुका उदय कब कहा जायेगा? ८ बजकर १ समय पर। वही समय है नई आयुके उदयका और वही समय है पुरानी आयुके विनाशका तो उस देवका जन्म कब हुआ? उस ही जगहसे जिस जगह मनुष्य मरा और जिस स्थानसे वह चला। तो जहासे जा रहा है जीव नया शरीर लेनेको वहींसे उसी समय देव आयुका उदय है और वह देव कहलाता है। जैसे मान लो कोई जीव (मनुष्य) चांदील नगरमे तो मरा और पुरुलियामें घोडा होना है तो मनुष्य आयुका विनाश तो वहीं हो गया और तिर्यञ्च आयुका उदय भी वहीं आ गया। तो रास्तेमे जो जीव आता है वह आता तो है झट एक दो समयमें, पर उस बीचमें भी वह तिर्यंच कहलायेगा और जन्मस्थानपर आ गया सो भी तिर्यञ्च कहलायेगा। अनेक लोग ऐसा भ्रम करते है कि मरेके बाद १३ वें दिन जीव अन्य जगह जन्म लेता है और तब तक अनेक नेगचार करते रहते हैं, पर एक भवके जीवके मरते ही उसी क्षण नये भवका जन्म हो जाता है और अपनी करनी के अनुसार वह सब समागम पा लेता है।

लब्ध्यपर्याप्तकोके अन्तर्मुहूर्तके भवोका पाचो जातियोंमें विभाग—लब्ध्यपर्याप्तकोंके सम्बन्धमें बताया है कि लब्ध्यपर्याप्त जीव अन्तर्मुहूर्तमें ६६३३६ बार जन्म मरण करता है। अन्तर्मुहूर्त होता है एक समय ४८ मिनट तक का। सो ४८ मिनटके हिसाबसे जन्म मरण निकालिये लब्ध्यपर्याप्तके। ६६३३६ में ४८ का भाग दीजिये ६६३३६ भाग ४८=१३८२ आये। इसका अर्थ यह हुआ कि एक मिनटमे १३८२ बार जन्म मरण करता है। जन्म ही नाम मरण है। नये भवका जन्म हुआ उसीका नाम पूर्व भवका मरण है, सो एक मिनटमें १३८२ बार जन्म है और इतने ही बार मरण है। अब १३८२ मे ६० का भाग देनेसे एक सेकेण्डमें कितने बार जन्म मरण होता है यह निकल आवेगा १३८२ भाग ६०=२३ सही २ बटा ६० याने एक सेकेण्डमे २३ बार जन्म मरण हो जाता है। अब इन ६६३३६ भवोंको सर्वप्रकारके जाति के जीवोमे किस तरह विभक्त करते है सो सुनिये इनमें से ६६१३२ बार तो लब्ध्यपर्याप्त एकेन्द्रिय जीवोंके जन्म मरण है, ८० बार दोइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तके जन्ममरण है, ६० बार तीनइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तोंके जन्ममरण हैं, ४० बार चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तके जन्ममरण हैं व २४ बार पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तके जन्ममरण है। पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तके जो २४ बारके जन्ममरण बताये है उनमें ८ तो लब्ध्यपर्याप्त मनुष्यके है और शेष १६ अन्य पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तके है। इन १६ पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तके जन्ममरण का भी यह विभाग है कि ८ तो असञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तके हैं और ८ मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तको छोड़कर अन्य संज्ञी पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तके हैं। एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके निरन्तर क्षुद्रभवोकी संख्या

जो ६६१३२ बताई है उसका भी विभाग सुनिये—एकेन्द्रिय जीवके ये ११ प्रकार हैं—१ बादर पृथ्वीकाय, २ सूक्ष्म पृथ्वीकाय, ३ बादर जलकाय, ४ सूक्ष्मजलकाय, ५ बादर अग्निकाय, ६ सूक्ष्म अग्निकाय, ७ बादर वायुकाय, ८ सूक्ष्म वायुकाय, ६ बादर साधारणवनस्पतिकाय, १० सूक्ष्मसाधारण वनस्पतिकाय, ११ प्रत्येकवनस्पति। प्रत्येक वनस्पति बादर ही होता है अतः उसमे कोई भेद नही दिखाया। अब ६६१३२ मे इन ११ का भाग दीजिये ६६१३२ भाग ११=६०१२ लब्ध हुए। मरने ११ प्रकारके उक्त एकेन्द्रियोंमें प्रत्येक लब्ध्यपर्याप्तमें ६०१२ बार जन्म मरण होता है। देखिये लब्ध्यपर्याप्त जीव एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तकमें भी पाये जाते हैं। जो निगोद जीव हैं वे इन सबसे पृथक् जीव हैं, किन्तु हैं साधारण वनस्पतिकाय। यों ये जीव पर्याप्तिको पूर्ण नहीं कर पाते हैं और मरणकर जाते हैं। ऐसा ही इनके अपर्याप्ति नामकर्मका उदय है। अब पर्याप्तियोंकी सख्याका कथन करते हैं—

लद्धियपुण्णे पुण्णं पज्जत्ती एयक्ख-वियलसण्णीणं।
चदु पण छक्कं कमसो पज्जत्तीए वियाणेह॥१३८॥

पांचों जातिके जीवोमें पर्याप्तियोकी सख्याका विवरण—लब्ध्यपर्याप्तजीवके किसी भी पर्याप्तिको पूर्णता नहीं हो पाती है अतः उसकी पर्याप्ति नहीं है। पर्याप्ति प्रारम्भ तो की, किन्तु पूर्णता नहीं हुई इससे उसके अपर्याप्ति कहना चाहिये और प्रारम्भकी अपेक्षा जिस जीवमे जितनी योग्यता है उतनी अपर्याप्ति कहना चाहिये, जैसे लब्ध्यपर्याप्त एकेन्द्रियके ४ अपर्याप्ति। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय व असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तके ५ अपर्याप्ति, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तके ५ अपर्याप्ति। पर्याप्तोके पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है पर्याप्ति पूर्ण होनेपर ही उनका तद्भवमरण हो सकता है। पर्याप्त एकेन्द्रिय जीवके आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास ये ४ पर्याप्तियां हैं। पर्याप्त दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय व असज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास भाषा ये ५ पर्याप्तियाँ हैं। रसना होनेके कारण इनमें भाषापर्याप्ति और बढ जाती है। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनः ये छहो पर्याप्तियां होती हैं। सज्ञी होनेके कारण इनके द्रव्यमनकी निष्पत्ति होती है। जब तक ये संसारीजीव हैं तब तक इनमें पर्याप्तियोंका पूर्णता अथवा अपूर्णताके रूपमें यह सिलसिला बना रहता है। जो जीव कर्मरहित हैं, मुक्त हैं, सिद्ध हैं, इनके पर्याप्तियोंका अभाव हो गया, वे पर्याप्तियों से अतीत हो गये हैं। सिद्ध भगवतोंके कर्मबीज न होनेके कारण न तो शरीर है अतएव पर्याप्तियां भी नही हैं।

मण-वयण काय-इंदिय-णिस्सासुस्सास आउ-उदयाणं।
जेसिं जोए जम्मदि मरदि विओगम्मि ते वि दह पाणा॥१३६॥

प्राणका लक्षण व उसके भेद—इस गाथामें संसारी जीवोंके प्राणोका वर्णन है। जीवोमे प्राण कितने होते है उसका इसमें वर्णन है। प्राणोका लक्षण है कि जिन मन, वचन, काय, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और आयुके उदयके संयोगसे जीव जन्म लेते हैं और जिनके वियोग होनेसे जीव मर जाते हैं उन्हें प्राण कहते हैं। लोग भी उस ही को तो प्राण कहते है कि जिसके होनेपर जिन्दगी कहलाये और जिसके न रहने पर मरण कहलाये। तो ऐसी चीजें कितनी है कि जिनके होनेपर जीवन कहलाता है और जिनके नष्ट होनेपर मरण कहलाता है? वे हैं १० चीजें। प्रसिद्धि भी ऐसी है कि धनकी रक्षा, इन ही में निरन्तर जिसका उद्यम रहता है उसको कहते हैं लोग कि इसका तो धन ११वां प्राण है। यह एक उक्ति है। उससे यह सिद्ध है कि वास्तवमें प्राण तो १० है मगर कोई धनका अधिक लोभी हो तो उसे लोग उपालम्भ देते हैं कि धन इसका ११वां प्राण बन गया। वे प्राण कौन-कौन हैं? तीन बल, ५ इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और आयु।

तीन बलप्राण—३ बलके मायने हैं— मनोबल, वचनबल और कायबल। मनसे विचारनेकी सामर्थ्य होना, मनकी शक्ति रहना यह मनोबल है। जिनका मनोबल हीन होता है उनका हार्ट फेल हो जाता है। लोग कहते हैं कि हार्ट फेल होनेकी कोई अलग बीमारी होती है जैसे ब्लडप्रेसरका बढ़ना, घटना या अन्य कोई शारीरिक रोग हो जाना, परन्तु हार्ट फेल होनेका सम्बंध मनकी कमजोरीसे अधिक है। कोई भी बीमारी हो, उस बीमारीमे यदि मनोबल कम है तो वह मृत्युके निकट जल्दी पहुच जाता है। मनसे प्रतिकूल विचार करनेपर तो रोग भी आ जाता है। रोगका सम्बंध भी मनकी मलिनतासे है। एक सेठने एक गरीब पर कोई केस चला रखा था। वह गरीब चतुर बहुत था। वह बहुतसी पेशियोंमें गया। एक दिन उस गरीबको एक उपाय सूझ गया। देखा कि सेठ जी आज जायेंगे रेलगाड़ीसे पेशीमें, उसके गांवसे वह जिला जहां कि पेशी थी कोई चार स्टेशन पड़ता था। तो उसने पहिले ही जाकर एक रुपया देकर एक तांगे वालेसे कह दिया कि अमुक सेठ आयगा सो तुम उसे अपने तांगे में बैठा लेना और वह जो भी दाम दे सो ले लेना। और तांगे पर बैठते ही उससे यह कहना कि सेठ जी आज आपकी तबियत ठीक नही है क्या? आज कुछ चेहरा बदला हुआ दीखता है, कुछ आंखें चढी हुईसी हैं। आगे जाकर एक कुलीको १) देकर कह दिया कि देखो अमुक सेठ आयगा, उसका सामान तुम ले जाना, वह जो कुछ भी तुम्हें दे सो ले लेना, और सामान लेते ही उससे यह कहना कि सेठ जी आज आपको बुखार हो गया है क्या, कुछ चेहरा मलिनसा दीखता है। आगे जाकर टिकेट बाबूको २) देकर कह दिया कि देखो अमुक सेठ आयगा सो उसे टिकेट तो देना, पर टिकेट देते समय उससे इतना कह देना कि आज आपकी तबियत खराब है क्या? आपका चेहरा आज कुछ मलिनसा दीखता है। सेठ जी आये। यों उन सभीकी बातोंको सुनकर सेठने सोचा कि जब सभी लोग यही बात कह रहे हैं तो हमारी तबियत आज खराब जरूर होगी, तभी तो सभी लोग कहते हैं। यों जहां उसने अपने मनको ढीला किया तहां वह बीमार हो गया। वहींसे घर वापिस लौट आया। वह गरीब बड़ा खुश हुआ क्योंकि वह तो ऐसा चाहता ही था। आखिर सेठकी पेशीमे उपस्थिति न होनेसे वह गरीब व्यक्ति मुकदमा जीत गया। तो जिसका मनोबल हीन है उसने सब कुछ खो दिया। यह मनोबल भी एक प्राण है। अगर मनोबल मिट जाय तो जिन्दगी मिट जाय। दूसरा प्राण है वचनबल। मरण समय साफ वचन तो उसके नहीं निकलते, कुछ लड़खड़ीसी आवाज हो जाती है। जिह्वा नहीं चलती। वचन बलहीन हो जाता है। अगर वचनबल मिट जाय तो जिन्दगी मिट जाय। यों ही कायबलकी बात है। जो पुरुष मरणहार है उसके कायबल कहां रहता? और मरण हो गया तब तो फिर कायबल है ही नहीं। तो मनोबल, वचनबल, कायबल ये तीन बल हैं सो प्राण है।

पाच इन्द्रिय प्राण—५ इन्द्रियप्राण हैं, स्पर्शनइन्द्रिय जिस इन्द्रियके द्वारा स्पर्श जाना जाता है स्पर्शनइन्द्रिय प्राण जब स्पर्शनइन्द्रिय न रहे, वियोग हो जाय तो जीवन भी खत्म हो जाय। स्पर्शन इन्द्रिय शरीरके सब भागोंमे है, बल्कि दिखनेमे जो कुछ आ रहा है वह सब स्पर्शनइन्द्रिय ही आयेगी। यह नाक सुगध कहांसे लेती है? जिस जगहसे सुगंध दुर्गन्ध आती हो उस जगहमे भी ठंड गर्मी आदिक स्पर्श भी पाया जाता है। तो सारा जो चमड़ा है यह स्पर्शनइन्द्रिय है। पेड़, खम्भा, पृथ्वी आदिकके जो शरीर हैं ये सब स्पर्शनइन्द्रिय हैं। रसनाइन्द्रिय=जिसके द्वारा रस ग्रहण किया जाय सो रसनाइन्द्रिय है। खट्टा, मीठा, कड़वा चरपरा, कषायला आदिक रस जिह्वा इन्द्रिय द्वारा जाने जाते हैं। वह सारी जिह्वा रसनाइन्द्रिय नहीं है, इस जिह्वाके अगले हिस्से(नोक) मे वह रसनाइन्द्रिय छिपी है। शेष सारी जिह्वास्पर्शनइन्द्रिय है जिसके छूनेसे ठंडा, गर्म आदिकका बोध होता है। तो जिस जिह्वासे हम स्वाद

लेते हैं उससे स्पर्श भी जाना जाता है क्योंकि जिह्वाके भीतरमें कोई अव्यक्त रूपसे ऐसी जिह्वाशक्ति है जो आंखोसे नहीं नजर आ सकती। उसके द्वारा रसका ज्ञान होता है यह है रसनाइंद्रियप्राण। जब जीव मरता है तो यो रसनाइंद्रिय समाप्त हो जाती है। घ्राणइंद्रिय नासिकाके मध्यमे कोई ऐसा इद्रियस्कंध है कि जिसके द्वारा सुगंध और दुर्गंधका ज्ञान होता है। स्पर्शनइंद्रिय वहां भी है। वहां भी ठंडी, गर्म आदि चीजें ले जाये तो ठंडी, गर्म आदिका ज्ञान हो जायेगा, पर भीतरमे कोई स्कध ऐसा है कि जिसके द्वारा सुगंध और दुर्गन्ध ज्ञात कर लिए जाते हैं। कारण होता है तो घ्राणइन्द्रियका भी वियोग होता है। चक्षुइन्द्रिय जिस इन्द्रियके द्वारा काला, पीला, नीला आदिक रंग जाने जायें उसे चक्षुइन्द्रिय कहते हैं। जो ये आँखो दिखते हैं इन सब पर स्पर्शनइन्द्रिय है। कोई चीज छू जाय तो ठंडा, गर्म आदिकका ज्ञान तो होता ही है और वैसे भी चक्षुइन्द्रिय इस सारी आंखमे नहीं है, इस आंखमें जो सफेद गटा है वह भी चक्षुइन्द्रिय नहीं, उस सफेद गटाके बीचमें जो बहुतसा काला भाग है वह भी चक्षुइन्द्रिय नहीं। उस काले हिस्सेमे जो एक मसूरके दाने बराबर काला हिस्सा है उसके अन्दर चक्षुइन्द्रियकी शक्ति है। लोग कहते हैं ना कि तिलकी ओट पहाड़ है, तो उसका अर्थ क्या है कि तिल बराबर कोई चीज इस आँख पर आ जाय तो सारा पहाड़ ढक गया। वह है चक्षुइद्रियप्राण, जिसके वियोग होने पर मरण कहलाता है और जिसके रहने पर जीवन कहलाता है। ५वीं इन्द्रिय है कर्णइन्द्रिय जिसके द्वारा शब्द सुनाई दे, ज्ञात हों उसे कर्णइन्द्रिय कहते हैं। ये दिखने वाले इतने बडे कान ये कर्णइन्द्रिय नहीं हैं। ये सब स्पर्शन इन्द्रिय हैं। इनसे ठंड गर्मी आदिक स्पर्शोंका ज्ञान होता है। इन कानोंके ठीक मध्यमें कोई एक पर्दा है, उसमें कर्णइन्द्रिय छुपी है। उस पर्देका ऊपरी भाग भी स्पर्शनइन्द्रिय है। तो यदि वह कर्णइन्द्रिय नष्ट हो जाय तो जीवन नष्ट हो जाय।

श्वासोच्छ्वास और आयु प्राण— यों ५ इंद्रिय व ३ बल ये ८ प्राण हुए। दो प्राण हैं—श्वासोच्छ्वास और आयु। हवाके ग्रहण करने को श्वास कहते हैं और हवाके निकालने को उच्छ्वास कहते हैं। ये दोनों बातें बराबर चलती हैं। श्वासोच्छ्वास प्राण तो इतना स्पष्ट प्राण है कि जब किसी शरीरमें श्वास नहीं रहता तो उसीसे ही लोग निर्णय करते हैं कि यह मर गया, हर श्वासोच्छ्वास केवल मुख और नाकके श्वासका नाम नहीं है, किन्तु शरीरके समस्त छिद्रोंसे जो वायुका ग्रहण होता है और जो वायुका छोड़ना होता है उसे श्वास कहते हैं। कभी ऐसी भी घटना हो जाती है कि किसी मनुष्यको सांप डस ले और वह इतना बेहोश हो जाता कि नाड़ीके श्वासका भी पता नहीं लग पाता। लोग जानते हैं कि यह तो मर गया, पर समझदार लोग उस सांपके डसे हुएको तुरन्त नहीं जलाते। कुछ बाट देखते हैं, कोई कोई लोग तो उस सांपके काटे हुए व्यक्तिको यों ही कहीं कुछ मिट्टीमें दबा कर छोड़ देते हैं और कुछ दिन बाद वह जीवित आ जाता है, तो उसके प्राण नष्ट नहीं हुए थे। श्वास बराबर थी, आयु बराबर थी और इंद्रियबल भी था, मगर ये सब अव्यक्त थे। इन दसो प्राणोंका वियोग हो जाय तो फिर ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि पुनः वह जीवित हो सके। कभी आप यह भी जिज्ञासा कर सकते हैं कि बरषातके दिनोमें एक ही रातमें एक एक बालिश्तके मेढक इधर उधर उछलते कूदते नजर आने लगते हैं, तो वे कहां से पैदा हो गए? वे इतने जल्दी उतने बडे कैसे हो गए? ये तो मेढकोंकी जातियां हैं। जो छोटे मेढक हैं वे छोटे ही रहते हैं, वे कहीं बढ़ नहीं जाते। और जो मेढक मर चुके वे कहीं फिरसे जीवित नहीं हो जाते। वहां होता क्या है कि मरे हुए मेडकोंकी खाल पड़ी रहती है। मेढक मर जाते हैं तो उनके शरीर कीख ाल इतनी पतली और पिचकी होती है कि लोग यह नहीं जान पाते हैं कि यहां मेढक है। तो वह मरा हुआ मेढक एक सम्मूर्छन स्कंध बन गया। जब वह कुछ गीला हुआ, उसमें योग्यता हुई। फिर किसी जीवने आकर उसको ग्रहण किया तो वह शरीर बहुत जल्दी बन जाता है। मेढक सम्मूर्छन जन्म

वाले हैं, पर उस खालमें जो जीव आया वह वही जीव भी आ सकता है जो उस खालमें पहिले था। दूसरा कोई जीव भी उसमे आ सकता है, किन्तु जीवन व प्राण सबका नया है तो प्राण उसे ही कहते हैं जिसके रहने पर जीवन माना जाय और जिसका वियोग होनेसे मरण समझा जाय।

प्राणवर्णनके प्रसगमे धर्मधारणके प्रयोजनका दिग्दर्शन--जीवका लक्षण व्यवहारनयसे तो यह किया गया कि जो दस प्राणोंसे जीता था, जी रहा है अथवा जीवेगा उसको जीव कहते हैं। सिद्धभगवानमें ये दसों प्राण नही रहते। लोग तो प्राणोंको तरसते हैं लेकिन ये प्राण ही इस जीवके दु.खके कारण हैं। ये प्राण न रहें, जीव खाली जीव रह जाय तो वह अनन्त आनन्दमय है। उसको किसी प्रकारका क्लेश नहीं है। यही तो करना है धर्म करके। धर्म हम किसलिए करते हैं, किस लिए करना चाहिए, इसका सही निर्णय रखना। धर्म करना : जन्ममरणसे छुटकारा पानेके लिए। जन्म है इस प्राणोंसे, मरण है दसप्राणों के वियोगसे। तो यही अर्थ निकला कि धर्म करना है इन प्राणोंसे छुटकारा पानेके लिए। जीवका स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्दमात्र है। इसको इन प्राणोंकी दरकार नहीं है। आयु, श्वास, इन्द्रिया आदि मिलें इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। बल्कि ये जब तक जीवके साथ रहते हैं तब तक जीवको क्लेश भोगना पड़ता है। मरे जन्मे, मरे जन्मे यही परम्परा अनादिकालसे चली आ रही है और यही जीवको मुख्य क्लेश है। तो इन प्राणोंसे छुटकारा पाने के लिए, जन्ममरणसे मुक्ति पानेके लिए धर्म करना है। अब सोचिये कि ऐसा धर्म हमे किस प्रकार मिलेगा? छूटना है हमे जन्म मरणसे, तो अपने आपके स्वरूपको ऐसा अवश्य जानना होगा कि मेरा स्वरूप जन्ममरणसे रहित है। हम बनना चाहते हैं जन्म-मरणसे रहित और अपने आपको जाने कि मैं तो ऐसा ही बुद्ध हूं, मै यह ही हू अमुक नाम वाला, इस देह वाला इन प्राणोंवाला यह ही मै हू। तो बतलाओ जन्ममरणसे छुटकारा कैसे मिले? इसके लिए यह श्रद्धान करना आवश्यक है कि मै जन्ममरणसे रहित केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप हू, ऐसी दृष्टि लाइये, भीतरमें इस तरहसे अपनेको देखनेका प्रयत्न करिये, ऐसी धुन बनाइये, एक भी क्षण, एक भी सेकेण्ड यदि आपको अपने आत्मामें ऐसे सहज चैतन्यस्वरूप अपने आपके दर्शन हुए तो सम्यक्त्व हुआ समझिये और आपका मनुष्यजन्म सफल हो गया। एक ऐसे निज सहजस्वरूपका दर्शन यदि नहीं हो पाता तो कोई बड़ा राजा भी हो जाय कोई बड़ा चक्री भी हो जाय, बड़ा वैभववान भी हो जाय, एक जगतसेठ भी बन जाय कोई, फिर भी उसका जीवन सफल नहीं है।

आत्मोद्धारका उपाय बनानेमे ही मानवजीवनकी सफलता—मनुष्य हम विषयोंके आरामके लिए नहीं बने, यह निर्णय रखना। ये सब विनाशीक हैं। इनको भोगकर जीवका पूरा नहीं पडता है। कुछ दिनके लिए यह जीवन है। मरण होगा। मरणके बाद जैसे इस जीवने पुण्य पाप कमाया है उसके अनुसार इसे दूसरे भवमे शरीर लेना होगा। विषयोंके लिए यह मानवजीवन नहीं, किन्तु ससारके संकटोंसे सद के लिए छुट्टी मिल जाय। मैं केवल आत्मा ही आत्मा रहू, परमात्मा होऊँ, ऐसी स्थिति पानेके लिए यह मानव जीवन है। तो इन उपायोंमे सर्वप्रथम चाहिए सम्यग्दर्शन। देहसे निराला हू मै। मुझमे रूप, रस, गंध, स्पर्शादिक कुछ भी नहीं है, मुझमें रागद्वेषमोहादिक विकारभाव भी नहीं है। मेरा स्वरूप तो एक शुद्धज्ञान ज्योतिमात्र है। यो ज्ञान ज्योतिमात्रस्वरूपमे अपने आपका दर्शन हो, अनुभव हो, ज्ञानमात्र ज्ञानके स्वरूपका जाननहार हो रहा हो, ऐसा जब आपका ज्ञान बनेगा उस समय सम्यक्त्व होगा और सम्यक्त्व हो तो आपका मानवजीवन सफल है। और सम्यक्त्व न हो मिथ्यात्वमे ही रहें, मोहरागद्वेषमे ही रहें तो रहे आयें उससे इस जीवका उद्धार सम्भव नहीं है। जीवमें वास्तविक प्राण तो चेतन है। चेतनप्राणसे यह जीव शाश्वत जीव कहलाता है। और १० प्राणोंसे जीवनेकी बात व्यवहारसे है। इन प्राणोंसे अतीत जो सिद्ध पुरुष हैं वे ही परम आनन्दमय हैं। उनका ध्यान करें और विकाररहित निजस्वरूपका ध्यान

करें तो संसारके संकटोंसे दूर हो सकते हैं।

एयक्खे चदु पाणा बि-ति-चउरिंदिय-असण्णि सण्णीणं।
छः सत्त अट्ठ णवयं दह पुण्णाणं कमे पाणा ॥१४०॥

एकेन्द्रिय जीवके प्राण—एकइन्द्रिय आदिक जीवोमे कितने प्राण होते हैं? इस बातका वर्णन किया जा रहा है। जिस जीवमे जितने अधिक प्राण हैं उस जीवके मारनेके लिए मारने वालेको अपने आपको अधिक उत्तेजित करना ही होता है, इस कारण उसके वधमे अधिक दोष है। जैसे आलू अरवी आदिक फल हैं, उनमे अनन्तकायकी हिंसा है, पर वे हैं सब एकेन्द्रियजीव, जिनकी हिंसा होती है। गोभीका फूल अथवा कोई चींटी चांटी इनमे दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव भी होते है। तो इनके घातमें उससे अधिक हिंसा है। आलूके भक्षणमे अनन्तएकेन्द्रियकी हिंसा होनेपर भी एक चींटीको ही मार दिया जाय तो उसमें हिंसा विशेष बताते हैं, कारण यह है कि अधिक प्राण वाले जीवको मारनेमे मारने वाले को कितना विशेष उत्तेजित्त होना पड़ता है। तो प्राणोका समझना भी बहुत आवश्यक है कि किस जीव मे कितने प्राण होते है? एकेन्द्रिय जीवमें, जो कि पर्याप्त हो गए हैं, जिनका शरीर बढने लगा है ऐसे एकेन्द्रिय जीवमे चार प्राण होते हैं—(१) स्पर्शनइन्द्रिय, (२) कायबल, (३) श्वासोच्छ्वास और (४) आयु। एकेन्द्रिय जीवमे चारइन्द्रिया नहीं हैं— रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण, इसलिए चार प्राण ये कम हो गए। मन भी नहीं है, अतः मनोबल नहीं है। रसना इन्द्रिय न होनेसे वचन भी नही है। सो वचनबल भी नहीं है। दोइन्द्रिय जीवमे, जो कि पर्याप्तक हो गया है, ६ प्राण होते है— दोइन्द्रिय, वचनबल, कायबल, स्वासोच्छ्वास और आयु। लट, केचुवा, जोक, शंख, कोड़ी, सीप आदिक ये दोइन्द्रिय जीव हैं। इनमे दो तो इन्द्रियां है, वे स्पर्शनइन्द्रिय द्वारा ठड गर्मीका ज्ञान कर सकते हैं। रसनाइन्द्रिय द्वारा वे रसका ज्ञान कर लेते है।

संज्ञावो व मनका कार्य—देखिये—जिनके मन नहीं है ऐसे जीवोंके भी आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञायें हैं। कोई यह संदेह न करे कि इन दोइन्द्रिय आदिक जीवोंमे मन नहीं है तो ये आहार कैसे ढूँढते और करते है? आहार आदिकके करनेके लिए मनकी आवश्यकता नहीं है। मन होगा जिसके तो वह जरा कलापूर्वक आहार आदिक कर लेगा, इतना ही अन्तर होगा। पर मनका काम आहार कराना नहीं, यह तो सज्ञाओका काम है। मनका काम तो असली हित और अहितका विवेक कराना है। यह काम करने योग्य है, इस प्रकारका हेय उपादेयका विवेक कराना मनका काम है। अब यदि कोई मन वाला जीव मनका शुद्ध उपयोग नहीं करता और इन्द्रियविषयोंमें ही मनको लगाकर अशुद्ध उपयोग करता है तो इसमे उसका ही दोष हैं। मन तो कहते हैं कि जिसके द्वारा हित अहितका विवेक किया जा सके। करें अथवा न करे, यह उसकी कषायके अनुसार है।

तीनइन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय जीवके प्राण—तीनइन्द्रिय जीव जैसे जूँ, खटमल, बिच्छू वगैरह हैं ये पर्याप्तक होनेपर ७ प्राण पाते है। तीनइन्द्रिय—स्पर्शन, रसना और घ्राण, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु। तीनइन्द्रिय जीवके तीन इन्द्रिया हैं, उन स्पर्शनइन्द्रियावरण, रसनाइन्द्रियावरण, घ्राणेन्द्रियावरणका क्षयोपशम है और इसही प्रकारके वीर्यान्तरायका क्षयोपशम है। जिससे वे तीनइन्द्रिय जीव हुए। इनके रसना होनेके कारण वचनबल भी है। कायबल तो सभीके होता ही हैं। जितने संसारी जीव है ये कोई भी कायसे रहित नहीं हो पाते। श्वासोच्छ्वास और आयु ये भी सभी पर्याप्तक जीवोंके होते हैं। चारइन्द्रिय जीवमे ८ प्राण हैं—४ तो इन्द्रियप्राण स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु, इन जीवोंका चारइन्द्रियावरणोंका क्षयोपशम है। रसनाइन्द्रिय होने के कारण वचनबल भी है। कायबल तो होता ही है, स्वासोच्छ्वास और आयु ये सब मिला कर ८ प्राण है। जितने भी संसारी जीव है और

वे अपने-अपने प्राप्त शरीरमें रहते हैं तो जब तक उनके आयुका उदय है तब तक वे उस भवमें जीवित हैं। आयुका क्षय होनेपर उनका मरण हो जाता है। सो उस मरणसे लाभ क्या कि जिसके बाद फिर जन्म लेना पड़े। मरण तो प्रशंसनीय अरहंत भगवानका है इसी कारण उनके मरणको मरण नहीं कहते निर्वाण कहते हैं। असलमें उनके मरणका नाम है पंडित-पंडित मरण। सो मरणके बाद उनका जन्म नहीं होता इस कारण निर्वाण नाम प्रसिद्ध है। मरण नामकी प्रसिद्धि नहीं है। तो इस दृष्टिसे देखें तो मरण तो हितकारी है, पर जन्म कभी भी हितकारी नहीं है। मरणके बाद तो मोक्ष मिलता है पर जन्म के बाद मोक्ष नहीं मिलता। मरण तो विशिष्ट समाधिपूर्वक बन जाता है, पर जन्म विशिष्ट समाधि-पूर्वक नहीं है। तो जन्मकी अपेक्षासे मरणमे अधिक खासियत है लेकिन मरणसे लोग भयभीत रहते हैं विपरीत चीज तो जन्म है। मरणमे परिणाम संभल जाय तो भविष्यके समयमे उसको आनन्द ही रहता है।

असज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके प्राण—असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके ९ प्राण हैं। चूँकि यह पचेन्द्रिय जीव है अतएव पाँचोंइन्द्रियां हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण। रसना इन्द्रिय प्रकट हो गई है अत-एव वचनबल भी है, कायबल तो होता ही है। इन असज्ञी पंचेन्द्रियोंके मन नहीं है अतएव मनोबल नहीं है। श्वासोच्छ्वास और आयु ये दो प्राण भी हैं। यों असंज्ञीपचेन्द्रियमें ९ प्राण होते हैं--केवल एक मनो-बल नहीं होता। अब यहां देखिये कि इतनी ऊँची पर्यायमें आ गया असज्ञी पंचेन्द्रिय जीव कि जिससे नीचे असंख्याते चारइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, दो इन्द्रिय है। और एकेन्द्रिय तो अनंत जीव हैं, फिर भी एक मन प्राप्त न होनेसे वे कुछ उद्धारका काम नहीं कर सकते। अपनेको यह शिक्षा लेनी है कि आज जो साधन पाया है वह इतना ऊँचा पाया है कि हम अपने मनको व्यवस्थित और विशुद्ध बनायें तो इस मनुष्यभवका हम इतना ऊँचा लाभ उठा सकते हैं कि संसारके सकटोंसे सदाके लिए छुट्टी पा जानेका उपाय बना सकें। सम्यक्त्व ऐसा दुर्लभ रत्न है कि जिसके बिना यह जीव ससारमें जन्ममरण करता रहा और करता रहेगा। वर्तमानमें भी यह जीव सुखी नहीं हो रहा, क्योंकि इस पर मिथ्यात्व लदा है। स्वरूप है और भाति, समझता है और भांति, तो कैसे उद्धार हो? जिस वैभवमे, परिवारमे यह जीव मुग्ध हो रहा है इतना मोह कि जिन परिजनोंके लिए सारे जीवन यह कष्ट सहता है और इतना मोह रखता है कुटुम्बमे कि उसका तन, मन, धन, वचन सर्वस्व सब कुछ उन कुटुम्बीजनोंके लिए ही है। दूसरी बात चित्तमे नहीं समाती। इतना तीव्र व्यामोह जब जीवके लदा हुआ है तो उसे शान्ति कहांसे आ सकती है? जीव स्वयं शांत है। उसके स्वभावमें क्लेश और अशान्ति है ही नहीं, लेकिन जिस किसी भी प्रकार हुआ है, मिथ्या जो ज्ञान बना, मिथ्या श्रद्धान बना, जिसके कारण विषयोंमें ही यह जीव रम रहा तो पराधीन सपनेहु सुख नाहीं। लोग तो अपनी वर्तमान स्थितिमें पराधीनता इतने में ही समझते हैं कि हम पिताके आधीन हैं, हम अपने मालिकके आधीन हैं, हम अमुकके आधीन हैं लेकिन यह कोई बड़ी आधीनता नहीं, वास्तविक पराधीनता इस जीवकी क्या है कि यह कर्मोंसे बधा है। जैसा कर्मका उदय है उसके अनुसार इसका जन्म मरण है, सुख दुःख है, इसका परिणमन है। तो यों विभाव विपदायें जो इस जीव पर मडरा रही है उस पराधीनताको देखो—वास्तविक पराधीनता वह है और जब तक यह जीव ससारी है, चाहे वह चक्रवर्ती भी हो जाय, इन्द्र हो जाय तो भी पराधीन है--व्याकुल है। तो इस पराधीनताका क्लेश मिटानेका उपाय है एक सम्यग्दर्शन, ये जड़ पदार्थ क्या चीज हैं? यह वैभव इस आत्माके लिए क्या मूल्य रखता हैं? अपनी उस सम्पदा और विपदाको तो देखो--जिस सम्यक्त्व सम्पत्तिके मिलने पर अनंतभवोंके कष्ट दूर हो जाते हैं अर्थात् आगे कोई भव न लेना पड़े, तो सारे कष्ट दूर हुए ना, वह सम्यक्त्वका प्रताप है। यद्यपि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र इनकी एकता

मे ही ससार कटता है, यह बात सत्य है फिर भी सम्यक्त्वके सम्बन्धमे अधिक यों कहना पड़ता है कि सम्यक्चारित्र भी सम्यग्दर्शनके बिना नही होता। तो सबकी जड़ तो सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व पानेके लिए अपने हृदयको विशुद्ध बनानेकी आवश्यकता है। धनी हो, गरीब हो, मनुष्य हो पशु हो, नारकी हो, देव हो, कोई भी संज्ञीपचेन्द्रिय जीव अपने हृदयको विशुद्ध बनाकर अपनी दृष्टि निर्मल कर सकता है। तो मनके बिना यह जीव असंज्ञी पचेन्द्रिय तक हो गया, लेकिन उद्धारका कोई रास्ता न मिला।

सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके प्राण—सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवमे १० प्राण होते हैं। ५ इन्द्रिय और मन होने के कारण मनोबल भी, वचनबल और कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये सब मिलाकर १० प्राण संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके होते हैं। इन सब प्राणोंके मिलनेके कारण क्या हैं? इन्द्रियावरणके क्षयोपशम से तो इन्द्रियप्राण मिलते हैं और नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे मनोबलप्राण मिलता है। शरीर नामकर्मका उदय होनेपर कायबल प्राण मिलता है और श्वासोच्छ्वास मिलता है। शरीर नामकर्मका और स्वर नामकर्मका उदय होनेपर वचनबल प्राण मिलता है। सबके साथ वीर्यान्तरायका क्षयोपशम लगा हुआ है। आयुकर्मका उदय होनेपर आयुप्राण मिलता है। इस तरह इस पर्याप्त एकेन्द्रिय आदिक जीवोंमें प्राणोंकी सख्या जानना चाहिए। यह तो हुई पर्याप्तक जीवोंके प्राणोंकी बात। अब जो जीव अपर्याप्त है अर्थात् किसी भवसे मरकर नये शरीरको ग्रहण करने आया है। जब तक उस शरीरको ग्रहण करनेकी पूरी शक्ति जीवमे नहीं आती तब तक वह अपर्याप्त है, और ऐसी स्थितिमे उन अपर्याप्त जीवों के कितने प्राण होते हैं इस विषयको अगली गाथामें कह रहे हैं।

दुविहाणमपुण्णाणं इगि-वि-ति-चउरक्ख-अतिम-दुगाण।
तिय चउ पण छः सत्त य कमेण पाणा मुणेयव्वा ॥१४१॥

अपर्याप्त जीवोके प्राणोकी संख्याके प्रकरणमे एकेन्द्रिय अपर्याप्तके प्राणोका वर्णन—अपर्याप्त जीव दो प्रकारके होते हैं— निर्वृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त। कोई जीव पूर्वभवके शरीरका त्याग कर अगले भवके शरीर पर आया है तो उस शरीरको शरीररूप परिणमानेकी शक्ति जब तक नही आ पाती है तब तक वह अपर्याप्त कहलाता है। उनमे जो शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं कर पाते और मर जाते हैं उन्हे लब्ध्य-पर्याप्तक कहते हैं। ये जीव एक श्वासमे १८ बार जन्ममरण करते है और जो जीव शरीरपर्याप्ति पूर्ण करनेसे पहिले मरते तो नही हैं, पर्याप्ति पूर्ण करके ही मरेंगे लेकिन जब तक पर्याप्ति पूरी नहीं हुई है तब तक वे निर्वृत्त्यपर्याप्तक कहलाते हैं। हम आप सब जीव जो यहा बैठे हैं, ये जिस समय गर्भमें आये उस क्षण दो चार सेकेण्डको निर्वृत्त्यपर्याप्त थे, बादमे पर्याप्त बने। लब्ध्यपर्याप्त जीव आंखो नहीं दिखते, उनका शरीर आंखोंसे दिखने योग्य नही है, वे एक बार नाड़ीके उचकनेमें जितना समय लगता है उतने समयके १८ बार जन्म ले लेते हैं और मरण कर जाते हैं। तो यहा दोनों प्रकारके पर्याप्तोके प्राण कहे जा रहे हैं। एकेन्द्रिय जीव जब निर्वृत्त्यपर्याप्त है या जो कोई लब्धपर्याप्त है उसके तीन प्राण हैं- एकइन्द्रिय स्पर्शनइन्द्रिय, एक बल कायबल और आयु। उसके श्वासोच्छ्वास प्राण नहीं बन पाता। जिसके पर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है उसके श्वास और उच्छ्वासका काम नहीं चलता। लब्ध्यपर्याप्तक जीव हजारों बार जन्म मरण कर जाते हैं। उनको श्वासोच्छ्वास मिल ही नहीं पाता। श्वासोच्छ्वास पर्याप्त होनेके बाद ही सम्भव है। तो यो एकेन्द्रिय जीव जिसके पर्याप्ति पूर्ण नही हुई है उसके तीन प्राण है, और पर्याप्ति पूर्ण हो जानेपर एकेन्द्रियके चार प्राण होते है, सो पहिली गाथामे बताया ही है। इस वर्णनसे हम इन जीवों की दशायें जाने और जानकर यह शिक्षा ले कि हम ऐसी ऐसी खोटी दशाओंसे निकलकर आज श्रेष्ठ मनुष्य हुए हैं तो हमको आत्मोद्धारके काममे प्रमाद न करना चाहिए।

वि-ति-चउक्खा जीवा हवंति णियमेण कम्म-भूमीसु ।
चरिमे दीवे अद्धे चरम-समुद्दे वि सव्वेसु ॥१४२॥

विकलत्रिक जीवोका आवासक्षेत्र—लोकका आकार एक पुरुषाकार है और उसमे भी ७ पुरुष समान कद वाले एकके पीछे एक खडे हों पैर फैलाकर कमर पर हाथ रखकर तो वह लोकका आकार बनता है। तो उस लोकके ठीक बीचमे ऊपरसे नीचे यो समझिये कि जो चौथे नम्बरका पुरुष है उसके ग्रीवा बराबर चौड़ा, लेकिन हो नीचे तक ऐसी बड़ी १४ राजू लम्बी एक नाली है. उसमे त्रस जीव रहते हैं। तो अब यहां यह प्रश्न है कि त्रस जीव क्या त्रसनालीमे सब जगह रहते है ? और उसमे भी विकलत्रय जीव कहाँ रहते है, इन सब बातोंकी जानकारीके लिए अब यह प्रकरण चल रहा है। प्रथम तो यह नियम है कि दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव कर्मभूमिमें ही होते हैं। भोगभूमिमे ये जीव नहीं पाये जाते। और अन्तके आधे द्वीपमे और अन्तके सारे समुद्रमे होते है। ढाईद्वीपके अन्दर ५ भरत, ५ ऐरावत, ५ विदेह, ये १५ कर्मभूमि माने गए है। कर्मभूमियाके ही जीव मोक्ष जाते है। अर्थात् कर्मभूमियामे उत्पन्न हुए मनुष्य ही मोक्ष जाते हैं। मोक्ष तो चाहे वह भोगभूमिके स्थानसे भी प्राप्त कर ले, पर होना चाहिए कर्मभूमिका उत्पन्न हुआ मनुष्य। भोगभूमिमें भोगके साधन बहुत है। जब जैसा चाहा तैसा कल्पवृक्षसे उन्हें वस्त्र, आभूषण, भोजन आदिक सभी प्राप्त हो जाते है। पुरुष, स्त्री एक साथ उत्पन्न होते हैं और मरण पर्यन्त एक साथ रहते है। उनकी बराबरकी आयु होती है। कभी उनका वियोग नहीं होता। ऐसे भोग और सुखोंसे भरे हुए भोगभूमिमें उत्पन्न हुए मनुष्योको वैराग्य उत्कृष्ट नहीं जग सकता। जहां दुःख नहीं है वहां वैराग्य भी उत्कृष्ट नही है। थोडा अदाज भी यो कर लो कि यदि जीवनमे कभी दुःख न आये, खूब सुख ही सुख रहे, तो उस जीवका उत्थान नही होता। जीवका उद्धार वहां ही सम्भव है जहां दुःख आपत्ति उपसर्ग भी आते रहते हैं। तो यों समझिये कि जीवनमें संकटोंका आना लाभदायक है, नुकसान करने वाला नहीं है। देखिये— कर्मभूमिमें ही संकट आया करते है। इष्टवियोग हो गया, पुत्र, स्त्री कोई सामने मर जाते हैं तो कितना कलेश इस जीवको सहना होता है। तो जहां अनेक प्रकार के क्लेश है, उपसर्ग आते है, विपदाये हैं वहां बुद्धि भी व्यवस्थित रहती है और जहा केवल सुख ही सुख रहा करता है वहा बुद्धि व्यवस्थित नही रहती। तो कर्मभूमिमे उत्पन्न हुए मनुष्य ही मोक्ष जा सकते हैं। भोगभूमिमें या स्वर्गादिकमे उत्पन्न हुए जीव मोक्ष नहीं जा पाते। तो कर्मभूमियां १५ हैं। ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ विदेह—इन १५ कर्मभूमियोंमें दोइंद्रिय, तीनइंद्रिय, चारइंद्रिय और असज्ञी पञ्चेइन्द्रिय जीव होते हैं, भोगभूमिमे नही होते। भोगभूमिमें केवल सज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीव ही होते हैं एकेन्द्रिय भी होते है किंतु उन एकेन्द्रियो को भोगभूमिज नही कहते हैं। वे तो एकेन्द्रिय ही हैं। इसके अतिरिक्त साधारण वनस्पतिकाय भी है। पृथ्वी जल, अग्नि आदिक सभी प्रकारके स्थावर जीव हैं, लेकिन उनका नाता तो स्थावरसे ही है। तो ये कीट मकोडे आदि विकलत्रय जीव कर्मभूमिमें हैं और कुछ अन्दाज भी किया होगा कि आजकल कीड़ामकौडा, मच्छर पतिंगा आदि ये कुछ बढसे रहे हैं। बहुत समय पहिले इन विकलत्रयोंकी सख्या इतनी अधिक यहा न थी। ज्यों-ज्यों समय गुजर रहा है त्यों त्या ये विकलत्रय जीव बढ रहे हैं। इससे पहिले चौथाकाल था। उस चौथे कालमे २४ तीर्थंकर हुए थे। उस समयमे भव्यपुरुष मोक्ष जाया करते थे। वह भी कर्मभूमि थी मगर आदिनाथ भगवानसे पहिले यहा भोगभूमि थी। कल्पवृक्षों से सम्पदा प्राप्त होती थी। मनमाने मस्त रहा करते थे, वह अस्थायी कर्मभूमि थी। तो कर्मभूमि इन १५ क्षेत्रोंमें है। इनके अलावा अतका जो स्वयप्रभुद्वीप है उसमें भी बीचमें जो स्वयप्रभुपर्वत पड़ा है, जिससे उसके दो भाग हैं। तो आखिरी भागमें भी दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव पाये जाते हैं। अन्य जगह ये विकलत्रय नहीं पाये जाते है।

इसके अलावा स्वयंभूरमण समुद्रमे भी जलचर जीव और ये विकलत्रय जीव पाये जाते है। इसके अतिरिक्त विकलत्रय कहीं नहीं हैं, स्वर्गोंमे देव और देवियां हैं, वहां लट, कीट, पतिंगा आदि नही है। नरकोंमे भी नारकी जीव है, वहा पर भी लट, कीट, पतिंगा आदि नही होते। ये सब कर्मभूमिमे ही होते है। अब मनुष्य क्षेत्रसे बाहर रहने वाले जो तिर्यञ्च हैं उनकी आयु, उनके शरीर, आदिककी बात कहते हैं।

माणुस रिक्तस्स बहि चरिमे दीवस्स अद्धय जाव।
सव्वत्थे वि तिरिच्छा हिमवद तिरिएहिं सारिच्छा ॥१४३॥

मनुष्यक्षेत्र और मनुष्यलोकके सर्वस्थानोसे मुक्तिगमन—यह ढाई द्वीप क्यो कहलाता है कि तीसरा जो द्वीप है उस द्वीपके बीचमे गोल गोल चारो ओर एक मानुषोत्तर पर्वत पड़ा है, उसकी वजहसे जो भीतर का आधार द्वीप है वहां तक मनुष्यलोक माना है। इस मनुष्यलोकमे मनुष्य रहते हैं, उससे बाहर फिर मनुष्य नहीं। मनुष्य ढाई द्वीपसे ही मुक्त होते हैं। ढाई द्वीपका क्षेत्र जितने लम्बे चौड़े विस्तारमे है ठीक उतना ही क्षेत्र ऊपर सिद्ध भगवानके रहेगा, क्योंकि जहांसे मोक्ष जायेगे उसके सीधमें ही वह आत्मा जायगा और लोकका जो आखिरी भाग है वहां जाकर वह आत्मा ठहर जाता है। तो वे सिद्ध कहाँ हैं ? जहांसे मोक्ष गए हैं उसके ठीक ऊपर लोकके अन्तमे हैं। तो ढाई द्वीपसे सब जगहसे मोक्ष जा सकते है। अब आप सोचेगे कि इतने बडे-बडे समुद्र है, उन समुद्रोसे कैसे जीव मोक्ष जायेंगे ? तो समुद्रसे मोक्ष जानेका प्रकरण यह बनता है कि किसी देव आदिकका, किसी मुनिसे पूर्वभवका वैर हुआ तो वैर विरोध से उस मुनिको पकड़कर समुद्रमें पटक दिया। अब समुद्रमे गिरनेका समय और वहीं मुनिके शुक्लध्यान का ऊँचा भाव बना, घातियाकर्म नष्ट हुए और वही वह मुनि अरहत प्रभु बना और थोड़ी ही देरमें चार अघातियाकर्म दूर हुए, सब कर्मोंके नष्ट होने से वह मुनि मोक्ष गया। तो जिस जगह पटक दिया उस जगहसे भी उस जीवका मोक्ष हुआ, तो उसके सीधमे भी मोक्ष प्राप्त करने वाले जीव हैं। जहां कर्मभूमि नही है ऐसे ढाईद्वीपके अन्दर जो भोगभूमिका क्षेत्र है वहांसे भी जीव मोक्ष जाते हैं। कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए मनुष्य मुनि होकर विहार करते हुए जा रहे, आकाशमे भी विहार करते, ऋद्धिबलसे भी विहार करते, वही कहीं ध्यान करने बैठ गए और वहीं उनकी आयु पूरी हुई, वहीं समस्त कर्म उनके नष्ट हो गए तो वहासे भी मोक्ष जाते हैं। सब जगहसे ढाई द्वीपसे जीव मोक्ष गए। जहां हम आप बैठे हैं यहांसे भी अनन्तसिद्ध हुए। जिन्हें निर्वाण क्षेत्र माना है, शिखर जी वगैरह तो वह तात्कालिक एक विशेषताके कारण माना है। वैसे तो निर्वाण क्षेत्र ढाई द्वीपके अन्दर प्रत्येक प्रदेश है। एक शंका यह कर सकते हो कि मेरू पर्वतका जो ठीक बीचका हिस्सा है, जिससे ऊपर मेरू पर्वतकी चोटी है और चोटीके ऊपर स्वर्गका विमान है, जिसके अन्दर केवल एक बालकी मोटाई भर है। तो उस चोटीके ठीक नीचे पर्वतमें वहां भी जीव मोक्ष गए तो वे किस तरह मोक्ष गए ? तो इसकी बात यह है कि कोई ऋद्धिधारी मुनि जो अपनी ऋद्धिके बलसे उस पर्वतके भीतरसे गमन कर रहा और ठीक उस जगह थोड़ा रुक कर ध्यान हो गया तो वहींसे सीधा मोक्ष जायेगा। तो ढाई द्वीपके अन्दर कोई ऐसा क्षेत्र नहीं बचा जहांसे जीव मोक्ष नही गए। मनुष्य क्षेत्रमे मनुष्य भी रहते है, तिर्यंच भी है, पर मनुष्य क्षेत्रसे बाहर मनुष्य नही हैं।

मनुष्यलोकसे बाहर मनुष्यकी अगति व नन्दीश्वर द्वीपका वर्णन—ढाई द्वीपसे बाहर जितना मध्यलोक पड़ा हुआ है उसमे मनुष्य रहते ही नहीं, न किसी प्रकार मनुष्य जा सकते है, अष्टाह्निकाके दिनोंमें जो नंदीश्वर द्वीपकी पूजा करते हैं वह ८वां द्वीप है। ढाई द्वीपमें तो तीन द्वीप आ गए, उसके आगे चौथा, पांचवा, छवठां, ७वां और उतने ही समुद्र व्यतीत करने के बाद ८वा द्वीप आता है। उस ८वें द्वीपमे चार दिशाओंमें अकृत्रिम जैन मदिर हैं। उन जिनमंदिरोंको किसीने कभी बनाया ही नहीं। पृथ्वी की ऐसी ही आकृति है कि वे निरन्तर प्रतिबिम्बरूप बने हुए है और अनादिसे बने हैं, अनन्त काल तक

रहेंगे। भले ही उसमे कुछ परमाणु आते हैं कुछ थोडे चले गए, लेकिन वह मुद्रा ऐसी ही रहेगी। तो नन्दीश्वरद्वीपमे चार दिशाओंमें १३-१३ जिनमदिर हैं। इस तरह कुल ५२ मदिर हुए। वहा केवल देव लोग ही पूजनके लिए पहुच सकते हैं, मनुष्य नहीं पहुंच सकते। सो उन ८ दिनोंमें रात दिन बराबर वहा वंदना चलती रहती है। वहां रात दिनका भेद नहीं है, यह अपने यहाके रात दिनकी अपेक्षासे कह रहे हैं। मायने ८ दिनके ६४ प्रहर तक याने १९२ घंटे निरन्तर वहा पूजा चलती रहती है और वहां चारों प्रकारके देव पूजक होते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। तो जैसे पूर्वदिशामें भवनवासी देवोंका जत्था प्रभु वंदन कर रहा है तो वे दो प्रहर बीतने के बाद दूसरी दिशामें चले जायेंगे। वहा व्यंतरोंका जत्था आ गया। फिर दो दो प्रहर बीतते जायेंगे, वहा चारों प्रकारके देव क्रमश: आते जायेंगे। चारों प्रकारोंके देव दो दो प्रहर एक-एक दिशामें पूज न वंदन करते करते हैं। इस तरह वहां १९२ घंटे निरन्तर पूजा होती है। उसही भावको लेकर ये मनुष्य भी पूजन करते हैं। मनुष्योंकी गति तो वहां नहीं है लेकिन उसका भाव उसका आकार सब कुछ स्थापित करके पूजन वंदन करते हैं।

नन्दीश्वर द्वीपमें मनुष्योकी अगति—एक सेठ सेठानी किसी नगरमे रहते थे। तो सेठजीने कहा सेठानीसे कि मै तो नन्दीश्वर द्वीपकी वंदनाको जाऊँगा। वह सेठ था विद्याधर। अर्थात उसे विद्या सिद्ध थी। सेठानी बोली कि आप नदीश्वर द्वीपमे नहीं पहुच सकते। वहाँ मनुष्योंकी गति नहीं है। सेठने कहा कि हमको विद्या सिद्ध है। हम अपने विद्याबलसे बराबर चले जायेंगे। सेठ चला अपने विमानमें बैठकर। जहाँ मानुषोत्तर पर्वत पर पहुचा कि वहाँसे विमान गिर गया, विमान भी टूट गया और सेठ भी गुजर गया। सेठको नंदीश्वर द्वीपकी वन्दनाका भाव था, उस ही में चित्त था, सो वह मरकर देव हुआ और देव होकर नन्दीश्वरकी वन्दना करने गया। नन्दीश्वरकी वन्दना करनेके बाद उसके कुतूहल हुआ, अवधिज्ञान तो था ही सो उसने किया कि पूर्वभवकी मेरी स्त्रीने ठीक ही कहा था कि आप नन्दीश्वरद्वीप नहीं जा सकते। सो वह देव अपनी पूर्व भवकी स्त्रीके दृढ श्रद्धानसे प्रसन्न होकर उस ही पूर्वभवके सेठका रूपका धारण कर उस स्त्रीसे मिलने आया। उस सेठानीसे बोला कि तुम तो कहती थी कि नन्दीश्वर द्वीप नहीं जा सकते, और देखो, मैं तो नन्दीश्वरद्वीपकी वंदना कर आया। तब वह स्त्री कहती है कि यदि आप नन्दीश्वर द्वीपकी वन्दना कर आये तो आप मनुष्य नहीं हैं, देव हैं। तब उस देवने अपना सही रूप प्रकट करके कहा कि ऐ सेठानी तुम्हारे श्रद्धानको धन्य है। तुमने जो बात कही थी वह बिलकुल सत्य थी। मैं गया बडे वेगसे विमानमें चढ़कर, लेकिन मानुषोत्तर पर्वतसे टकराकर प्राणान्त करके मैं देव हुआ और देव होकर नन्दीश्वरकी वन्दना कर सका। वास्तवमे नन्दीश्वर द्वीप मनुष्यभवमें नहीं पहुच सकते। आपके दृढ श्रद्धानसे प्रसन्न होकर हम यहा आये हैं।

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंका निवास क्षेत्र व इस वर्णनसे शिक्षा—मतलब यह है कि मनुष्य क्षेत्रके बाहर मनुष्य न रहा। फिर मनुष्य लोकसे बाहर कौन रहता है। ढाईद्वीपके बाहर और अन्तिम द्वीपके आधे भागसे पहिले सब जगह पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च रहते हैं। और वे सब हैमवत क्षेत्रके याने जघन्य भोगभूमिकी तरहसे रहते हैं। यों समझिये कि ढाईद्वीपके बाहर अन्तिम द्वीपके आधे भाग तक जघन्य भोगभूमि है, मगर है वह तिर्यञ्चोंकी, मनुष्योंकी। देखिये— जगतमे ये सब पुण्य पापके फल हैं। कोई कहीं उत्पन्न होता है। कोई कैसे ही सुख दु ख भोगता है। इस जगतमे यह जीव कर्मोदयवश नाना गतियोंमे जन्म लेता है, सो जन्ममरण आदिक सभी दु ख यही है। थोड़ी भोग सम्पदा मिल गई तो उसमे क्या पूरा पड़ता है? चाहिए यह कि ऐसा उपाय बनाये कि जन्ममरणके सब सकट सदाके लिए समाप्त हो जायें। वह उपाय है सम्यग्दर्शन, सो अपने पर यदि दया हो तो ज्ञानार्जन करके इस सम्यग्दर्शनको पैदा कर ले तो आपका यह दुर्लभ मानवजीवन सफल हो जायगा।

लवणोए कालोए अंतिम-जलहिम्मि जलयरा संति ।
सेस-समुद्देसु पुणो ण जलयरा संति णियमेण ॥१४४॥

जलचरोंके निवासके स्थानभूत समुद्र—यहां लोकका आकार, प्रमाण बताया जा रहा है। लोकानुप्रेक्षामें लोकका परिमाण जानकर, लोकमें रहने वाले जीवोंकी दशायें जानकर यह शिक्षा ली जाती है कि सम्यग्दर्शन पाये बिना यह जीव इस लोकमें प्रत्येक प्रदेशपर अनन्त बार उत्पन्न हुआ है और मरा है। जब तक सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनमें वृत्ति (चारित्र) न होगी तब तक जीवको संसारमें रुलना पड़ेगा। इस वर्णनसे सम्यक्त्व लाभके लिए प्रेरणा मिलती है और जो भाव संसारमें जन्ममरण करानेके कारण हैं उन कारणोंसे विरक्त होनेकी प्रेरणा मिलती है। लोकमें जीवोंकी दशायें जानकर कितने प्रकारके जीव हैं, वे कैसी स्थितिमें रहते हैं यह जानकर भी यह शिक्षा मिलती है कि सम्यक्त्व लाभ बिना संसारमें ऐसी-ऐसी योनियोंमें उत्पन्न होना होता है। उस ही सिलसिलेमें यहां यह बतला रहे हैं कि जलचर जीव किन-किन समुद्रोंमें रहते हैं और किनमें नहीं रहते। इस मध्यलोकमें असंख्याते समुद्र हैं—एक एक द्वीपको घेरे हुए एक एक समुद्र है। और यों असंख्याते द्वीप हैं, इनको घेरे हुए असंख्याते समुद्र हैं। उन समुद्रोंमें कहां जलचर हैं और कहां नहीं हैं यह वर्णन इस गाथामें किया है। जम्बूद्वीपको घेरकर जो लवणसमुद्र है, जिसके एक तरफका विस्तार २ लाख योजनका है। सभी तरफ इस समुद्रका विस्तार दो दो लाख योजन का है। उस लवण समुद्रमें जलचर जीव रहते हैं। यहां जलचरसे मतलब केवल तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय जलचरसे नहीं है किन्तु दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय जीव जो जलमें रहते हैं जिनका जलमें रहकर ही जीवन बनता है उन जलचरोंकी बात कही जा रही है। लवणसमुद्रको घेरकर दूसरा द्वीप है, उस दूसरे द्वीपको घेरकर कालोदधि समुद्र है। उस कालोदधिसमुद्रका परिमाण एक तरफ ८ लाख योजन है, ऐसे चारों तरफ ८-८ लाख योजन विस्तार वाले कालोदधिसमुद्रमें जलचर जीव हैं और अंतिम समुद्रमें जिसका नाम स्वयम्भूरमणसमुद्र है, जिसका परिमाण असंख्याते योजनका है, यों चारों ओर असंख्यातगुने योजन परिमाण वाले अन्तिम समुद्रमें जलचर जीव हैं। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव जो जलमें ही अपना जीवन पाये हुए हैं, रहते हैं। इन तीन समुद्रोंको छोड़कर शेषके जितने असंख्याते समुद्र हैं उनमें जलचर जीव नहीं हैं।

समुद्रों के जल का स्वाद व लोकानुप्रेक्षणमें प्रकृतचिन्तन—असंख्याते समुद्रोंमें किस समुद्रके जलका कैसा स्वाद है, त्रैलोक्यसारमें बतलाया है कि लवणसमुद्रके जलका स्वाद नमककी तरह है, वारुणीवर समुद्रके जलका स्वाद शराब जैसा है, घृतवर समुद्रके जलका स्वाद घी जैसा है, क्षीरवर समुद्रके जलका स्वाद क्षीर अर्थात् दूध जैसा है, कालोद, पुष्करवर और स्वयंभूरमण समुद्रोंके जलका स्वाद जलके जैसा है और शेष समुद्रोंका स्वाद गन्नेके रसके जैसा है, ऐसे ऐसे असंख्याते समुद्रों से घिरा हुआ यह मध्य लोक है, यह तो सभी समस्त द्वीप समुद्र मिलाकर केवल एक प्रस्तार रूपमें एक राजू भी पूरा नहीं है, फिर जितना चौड़ा यह मध्य लोक है उतना ही चारों तरफ चौड़ा परिमाण हो उसे कहते हैं एक घन राजू। ऐसे-ऐसे ३४३ घन राजू प्रमाण यह लोक है। इस लोकमें वह जीव तक प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त बार जन्म ले चुका और मरण कर चुका। लेकिन मोहकी छाया अब भी जीव पर इतनी घनिष्ठ है कि जहाँ यह जीव उत्पन्न होता है उस क्षेत्र को ही अपना मानता है। यह मेरा है, जितने खेत, घर जमीन आदि मोहियोंकी व्यवस्थाके अनुसार सरकारी रजिस्ट्रीमें दर्ज हैं। उन्हें यह मानता है कि ये मेरे हैं। लेकिन जब यह जीव लोकमें सर्वत्र जन्म ले चुका तो जब वह जमीन अपनी न रही तो यह जमीन, यह जायदाद क्या अपनी रह सकेगी? अब भी नहीं है। वस्तुस्वरूप ही यह बताया है कि मेरे आत्माका मेरे सहजानन्द स्वभावके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, लोकभावनाके चिन्तनसे ऐसा ही ज्ञान प्रक-

मिलता है और इस ज्ञानप्रकाशके प्रतापसे जीव मुक्ति पधारे और इस ही ज्ञानके प्रतापसे जीवोंको मुक्ति प्राप्त होगी।

पाताललोकमें बसने वाले जीवोंके विवरणका सकेत—अब मनुष्य और तिर्यञ्चोंका निवास स्थान बताकर पाताल लोकमे किन किनका निवास है यह बताते हैं। पाताल लोक अथवा अधोलोक मेरूपर्वत की जड़से नीचेका क्षेत्र है वह सब अधोलोक कहलाता है। मेरूपर्वतकी जड़से लेकर मेरूपर्वनकी चूलिका के अन्त तक जितना क्षेत्र है वह मध्यलोक कहलाता है और मेरूपर्वतके शिखरके ऊपर लोकके अन्त तक जितना भी क्षेत्र है उसे ऊर्द्धलोक कहते हैं। देखिये—तीन लोकके परिमाणको बताने वाला मेरू पर्वत है। मेरूपर्वतकी जड़से नीचे मेरूपर्वतकी चोटीसे ऊपर और मेरू पर्वतके बराबर यह कहकर ही तीन लोककी सीमा जानी जाती है, इसी कारण इसका नाम मेरूपर्वत है। जो तीन लोकका माप बताने वाला हो उसे मेरू कहते हैं अर्थात् पाताल लोकमे किन-किन जीवोंका निवास है, इस नियमको बताते हैं।

खरभाय-पंकभाए भावण-देवाण होंति भवणाणि।
वितर-देवाण तहा दुण्हं पि य तिरिय-लोयम्मि ॥१४५॥

प्रथम पृथ्वीके तीन भाग—जिस जमीन पर हम आप चलते हैं यह जमीन बहुत मोटी है। इस पृथ्वीकी मोटाई १ लाख ८० हजार योजन है। इतनी मोटी इस जमीनके नीचे कुछ पृथ्वीरहित आकाशके बाद दूसरी जमीन है। उसके कुछ पृथ्वीरहित आकाशके बाद फिर तीसरी पृथ्वी है। इस तरह ७ पृथ्वियां हैं। इन पृथ्वियोंमें जो दूसरी तीसरी आदिक पृथ्वी हैं उनमे तो नारकी जीव रहते हैं, नारकी जीवोंका निवास पृथ्वी पर नहीं है किन्तु उस मोटी पृथ्वीमें बीचमें लाखों पोलें हैं, जिनका मुँह पृथ्वीके किसी ओर ही नहीं है। जैसे कोई एक फिट लम्बा, चौड़ा, मोटा काठका टुकड़ा हो और उस काठमें भीतर ही भीतर अनेक छिद्र हों, जिनका ऊपरसे कुछ पता ही न पड़े तो जैसे वे छिद्र किसी ओर अपना मुख नहीं बनाये है इसी तरह नारकियोंके जो निवास पोल हैं। उनकी पृथ्वीके किसी ओर मुख नहीं है, अतएव कोई भी नारकी आकाशको नहीं देख सकता जो पृथ्वीसे ऊपर है। तो यह पहिली पृथ्वी जिसके ऊपर हम आप चल फिर रहे हैं यह तो पृथ्वीका ऊपरका स्थान है। यह पृथ्वी है १ लाख ८० हजार योजन मोटी। एक योजन होता है दो हजार कोशका। और करीब पौने तीन मीलका एक कोश होता है। ऐसे १ लाख ८० हजार योजन परिमाण इस मोटी पृथ्वीके तीन भाग—पहिले भागका नाम खरभाग, दूसरे भागका नाम पंकभाग और तीसरे भागका नाम अब्बहुल भाग है। तीन भागके ये तीन नाम किस आधारपर दिए हैं? यद्यपि जो आधार बताया गया वह आधार उनका नहीं है लेकिन यहां मनुष्योंके आधारसे तीन हिस्से प्राप्त करते है। कभी कोई कुवां खोदना तो पहिले कुछ हिस्सा खर पृथ्वीका निकलता है। जो सूखी मिट्टी है उसे कहते हैं खर। दूसरा पर्त निकलता है तो उसमें कीचड़ मिला हुआसा निकलता है। पंक कहते हैं कीचड़को। इसके बाद तीसरा पर्त निकलता है तो वह पानीसे भरा हुआ है। उसे कहते हैं अब्बहुल। अप् कहते है पानीको उससे बहुल याने व्याप्त। तो यहांकी कलाओंके आधारसे जो तीन नाम मिलते हैं वे ही नाम इन तीन भागोंके रखे गए है।

प्रथम पृथ्वीके तीन भागोमे निवास करने वाले जीवोंका विवरण—इस पहली पृथ्वीके तीन भागोंमें पहिले भागका नाम है खरभाग। खरभागमें कौन रहता है? तो वहाँ कुछ भवनवासी और कुछ व्यन्तरदेव रहते है। भवनवासियोंमें असुरकुमार जातिके देवो को छोड़कर शेष ९ प्रकारके भवनवासी देव रहते हैं और व्यन्तरोमे राक्षस नामके व्यन्तरों को छोड़कर शेष ७ प्रकारके व्यन्तर रहते हैं। तो इस पृथ्वीके तीन भागोंमे जो ऊपरका भाग है वहा ये भवनवासी और व्यन्तर जातिके देव रहते हैं। यह पहिला भाग जिसमें बहुतसे भवनवासी और व्यन्तर रहते हैं, यह १६ हजार योजन प्रमाण मोटा है। भवनवासी

और व्यन्तरोंके उस भागमें बहुत सुन्दर भवन हैं, और उन भवनोंमे व उनके निकट चैत्यालय भी हैं। दूसरे भागका नाम है पंक भाग। पंक भाग ८४ हजार योजन प्रमाण मोटा है। उसमें असुर कुमार जाति के भवनवासी देव और राक्षस जातिके व्यन्तर रहते हैं। तीसरा भाग है, अब्बहुल नामका, जिसका जिसका प्रमाण ८० हजार योजन मोटा है, उस अब्बहुल भागमें नारकी जीव रहते है। ये तीन भाग मिल कर १ लाख ८० हजार योजन यह मोटे है। इस प्रकरणमें यह भी जान लेना चाहिए कि भवनवासी देवोंके निवास स्थान मुख्यतया ये ही हैं जो बताये गए है। कुछ भी योग्य स्थान मध्य लोकमें है किन्तु व्यन्तर देवके निवासस्थान पाताल लोकमें भी हैं यहां भी है और मध्यलोकमे आकाशमें निराधार भी हैं। जैसे विमानो मे जगह-जगह वर्णन आता है कि अमुक पर्वत पर एक चैत्यालय है उसके निकट भी भवन है ऐसे ही मध्यलोकमें भी भवन है और इसके अतिरिक्त टूटे फूटे खंडहरोंमें भी व्यन्तरदेव रहते हैं। इसके अलावा इस मध्यलोकमे कुछ हजार योजनपर कोई और ऊपर इस तरह आकाशमें भी उनके आवासके स्थान बने हुए हैं। व्यन्तरोंका निवास पाताललोकके अतिरिक्त अन्य जगह भी है, मगर भवनवासियोका निवास पाताल लोकमें ही है।

पाताललोकके इन्द्रों द्वारा वन्दित होनेसे प्रभुकी पाताललोकवासियो द्वारा वन्दितताकी सिद्धि—जब भगवानकी वंदनामें कहते हैं कि १०० इन्द्रोके द्वारा आप वन्दनीय हैं तो ऐसे १०० इन्द्र कौन हुए? भवनवासीके ४० इन्द्र प्रतीन्द्र होते है, व्यन्तर देवोंके ३२ इन्द्र प्रतीन्द्र होते हैं, कल्पवासियोमें २४ और एक चन्द्र, एक सूर्य, एक सिंह और एक चक्रवर्ती। यह चक्रवर्ती तो हुआ मनुष्योंका इन्द्र, सिंह हुआ तिर्यंचोका इन्द्र और देवोके शेष इन्द्र, ये सब मिलकर १०० इन्द्र कहलाते है। तो भवनवासीके ४० और व्यन्तरोंके ३२, ये ७२ इन्द्र प्रतीन्द्र तो पाताललोकके हैं और यह भी कहा गया है कि हे भगवन आप तीन लोक द्वारा पूज्य हैं तीन लोकके समस्त जीव आपको पूजते है। तो परिणमन यहां यह होता कि तीन लोकके जीव सब किसे पूजने आयेंगे? पाताल लोकके जीव सब कैसे यहां आ सकते? तो उसका उत्तर यह है कि जब इन्द्रोंने भगवानकी पूजा तो इन्द्रोके पूजनेका अर्थ यह है कि जिस लोकके वे इन्द्र हैं उस लोकके सब जीवोंके द्वारा पूजे गए हैं। चक्रवर्ती ने यदि प्रभुको नमस्कार किया तो इसका अर्थ यह है कि सभी मनुष्योंने नमस्कार किया, क्योकि वे मनुष्योंके चक्रवर्ती अथवा इन्द्र हैं। इस तरह पाताललोक में भवनवासी व्यन्तरोंके निवास है उनके इन्द्रोंने नमस्कार किया तो वहा सबने नमस्कार किया और पहिली पृथ्वीके तीसरे भागमें नारकियोंका निवास है। इसके नीचेकी शेष छहो पृथ्वियोमे नारकियोका ही निवास है। पाताललोकमें कहीं दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, जीव कीट पतिंगा आदि न मिलेंगे। ये दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव कर्मभूमिके क्षेत्रमे ही होते हैं।

जोइसियाण विमाणा रज्जूमित्तेवि तिरियलोएवि।
कप्पसुरा उड्ढम्हि य अहलोए होंति णेरइया॥१४६॥

देवो और नारकियोके निवासक्षेत्रका वर्णन— इस गाथामें ज्योतिषी देव, कल्पवासीदेव और नारकियो के स्थान बताये है। ज्योतिषी देवोके विमान १ राजूप्रमाण तिर्यक् लोकमे हैं। मेरुपर्वतके चारों ओर असख्याते द्वीप समुद्र है और वे एक दूसरेसे क्रमशः दूने दूने विस्तार वाले हैं। प्रथम जम्बूद्वीप एक लाख योजनके विस्तारमे है। इस तरह असंख्यात उत्कृष्ट सख्यातसे भी अधिक द्वीप और समुद्र हैं, जिनमे अन्तिम समुद्र कितना बडा होगा, उसके असंख्यातका भी अंदाज बहुत बड़ा है। इतने समस्त द्वीपसमुद्र जितने क्षेत्रमे फैले हुए हैं उतनेको तिर्यक्लोक कहते हैं। यह एक राजूप्रमाण है, इसके विस्तारमे ज्योतिषी देवोंके विमान रहते हैं, ये विमान यद्यपि ऊपर बताये गए हैं आसमानमे लेकिन वह भाग भी मध्यलोकमे है। मेरुपर्वतकी चूलिकाके अन्तिम भाग तक मध्यलोक है, इससे ऊपर ऊर्ध्वलोक शुरू होता है। तो मेरु-

पर्वतकी चूलिकासे ऊपर ऊर्ध्वलोक है और वहां कल्पवासीदेव निवास करते हैं। नारकी जीव अधोलोकमें रहते हैं।

ज्योतिषी देवोका निवास क्षेत्र—अब यहाँ ज्योतिषी देवोंका स्थान इस तिर्यक लोकमें भी किधर है? इसका वर्णन सुनो—यहाँ मध्य लोक अथवा तिर्यक लोक कहो एक राजू प्रमाणके विस्तारका है। इसमे चित्रा पृथ्वीसे ऊपर ७६० योजन तक तो ज्योतिषी विमान नहीं है। इसके बाद ज्योतिषी विमान प्रारम्भ हो जाते हैं। सो यहाँसे ७६० योजन ऊपरसे तारोंके विमान हैं। उसमें भी १० योजन और ऊपर जाकर सूर्यके विमान हैं। सूर्य इस तिर्यक लोकमे असंगिनते हैं। जम्बूद्वीप दो है। आगे-आगेके द्वीप समुद्रमें प्रायः दुगने तिगुने प्रत्येकमें बढते चले गए हैं मध्य लोकमें जितना हिस्सा मनुष्य लोकका है उतने में सूर्य चन्द्र घूमते हैं, अन्य तारायग भी घूमते हैं। केवल कुछ ही ध्रुव हैं, किन्तु मनुष्य लोकसे बाहर जितने ज्योतिषी देवोंके विमान हैं वे सब स्थिर हैं। तो सूर्य चन्द्रादिक की संख्या भी असंख्याते हैं। तो इस चित्रा भूमिसे ऊपर ८०० योजन ऊपर सूर्योंके विमान हैं, उससे ८० योजन ऊपर चन्द्रमाओंके विमान हैं। तो इस पृथ्वीसे ८८० योजन ऊपर चन्द्र विमान है। चन्द्र विमानके स्थानसे ४ योजन और ऊपर अश्विनी आदिक नक्षत्रोंके विमान हैं, याने इस पृथ्वीसे ८८४ योजन ऊपर नक्षत्रोंके विमान हैं। उससे ४ योजन और ऊपर अर्थात् ८८८ योजन ऊपर बुध नामक ग्रहोंके विमान हैं, और उससे तीन योजन और ऊपर अर्थात् ८९१ योजन ऊपर जाकर शुक्र नामक ग्रहोंके विमान हैं। उससे ३ योजन और ऊपर जाकर अर्थात् ८९४ योजन ऊपर वृहस्पति नामक ग्रहोंके विमान हैं। उससे तीन योजन ऊपर यानें पृथ्वीसे ८९७ योजन ऊपर मगल नामक ग्रहोंके विमान हैं। उससे भी तीन योजन ऊपर अर्थात् पृथ्वी तलसे ९०० योजन ऊपर शनि नामक ग्रहोंके विमान हैं। यों पृथ्वीसे ७९० योजन ऊपरसे ज्योतिष्क देवोंका निवास क्षेत्र शुरू होता है और ९०० जोतन तक वे ज्योतिषी देवोंके विमान हैं। तो ये कुल ११० योजन मोटे क्षेत्रमे एक राजू तक ज्योतिषयोके विमान पाये जाते हैं। ये सब ज्योतिषी देव इस मध्य लोकमें ही हैं।

वैमानिक देवोके निवास क्षेत्रका प्रतिपादन—मेरुपर्वतकी चूलिकासे ऊपर ऊर्ध्वलोक शुरू होता है। सो सुमेरूपर्वतकी चोटीका विस्तार नीचे १२ योजन, मध्यमे ८ योजन और ऊपर ४ योजन है। यह तो चूलिकाकी मोटाई है। किन्तु इस चूलिकाकी ऊँचाई ४० योजन है। इस चूलिकाके ऊपर केवल एक बाल की मोटाई प्रमाण ही अन्तर है। और वह भी उत्तम भोगभूमिके मनुष्यके बालोंकी मोटाई बराबर हैं। इतना अन्तर देकर ऊपर ऋजु नामक विमान है। यह विमान प्रथम कल्पके प्रथम पटलका इन्द्रकविमान है। उस ऋजुविमानसे नीचे चूलिकासहित मेरुकी ऊँचाई है १ लाख ४० योजन। इतना कम करके लोक के केन्द्र क्षेत्रसे ऊपर राजूप्रमाण आकाश पर्यन्त सौधर्म और ईसान नामक स्वर्गके युगल हैं। इन दो स्वर्गोंको प्रथम कल्प कहते है। स्वर्गोंकी रचना पटलोंके हिसाबसे है। जैसे प्रथम कल्पमें ३१ पटल हैं। उन ३१ पटलोमें जितने स्वर्गोंके विमान है वे इन्द्रक और श्रेणीके हिसाबसे फैले हुए है। जैसे प्रथम पटलमे बीचमे इन्द्रकविमान है और चार दिशाओमे श्रेणीबद्ध ६३ विमान हैं और विदिशाओंमे ६२ ६२ श्रेणीबद्ध विमान है, और उसके बीच अन्तरमे यहा वहा फैले हुए अनेक विमान है। उतने विमानोंके विस्तारको एक पटल कहते है। उसके ऊपर थोडासा आकाश निकलनेपर दूसरा पटल शुरू होता है। तो इन ३१ पटलोमे प्रत्येक पटलके दक्षिण पूरब और पश्चिमदिशाके विमान और इसके बीचकी विदिशाओंके और प्रकीर्णकविमान—ये सब प्रथम स्वर्ग कहलाते है। और उत्तरदिशाके श्रेणीवद्धविमान और दोनो विदिशाओके तथा बीचमे प्रकीर्णक विमान हैं। ये सब द्वितीय स्वर्गके विमान कहलाते है। तो ये प्रथम द्वितीय स्वर्ग युगल डेढ राजूप्रमाणमें हैं। इस राजू प्रमाणमे मेरु

पर्वतकी ऊँचाई और चूलिका कम की गई है क्योंकि लोकका मध्य तो मेरूपर्वतकी जड़ है। वहाँसे ७ राजू ऊपर ७ राजू नीचे स्थान हैं। लेकिन इस ऊपरके प्रथम राजूमे मेरूपर्वतके बराबर और चूलिका प्रमाण मध्यलोक माना है।

लोकमध्यक्षेत्रसे ऊपर डेढ राजूसे भी ऊपर डेढ राजू तक सनत्कुमार और महेन्द्र नामक स्वर्गयुगल हैं। ये दोनो स्वर्ग भी एक कल्पमें हैं और यह दूसरा कल्प है। उससे ऊपर आधा राजू आकाश पर्यन्त ब्रह्मब्रह्मोत्तर नामका स्वर्गयुगल है। यह तृतीय कल्प है, उससे और ऊपर आधा राजू तक लान्तव और कापिष्ठ नामका स्वर्गयुगल है। उससे ऊपर आधा राजू पर्यन्त शुक्र और महाशुक्रनामका स्वर्गयुगल है। उससे ऊपर आधा राजू पर्यन्त आनत और प्राणत नामका स्वर्गयुगल है। उससे ऊपर आधा राजू पर्यन्त आरण और अच्युत नामका स्वर्गयुगल है। इन सोलह स्वर्गोंसे ऊपर एक राजू प्रमाण लोक बचता है। जैसे १ राजूमे ९ राजूमें ९ अनुदिश और ५ अनुत्तर विमानोंमे रहने वाले देव हैं।

अनुत्तरविमानोसे १२ योजन ऊपर, किन्तु है उस ही एक राजूके भीतर, यों स्वर्थसिद्धिके विमानसे १२ योजन ऊपर ८ योजनकी मोटी सिद्धशिला है। जिसका विस्तार मनुष्यलोक बराबर है। और ठीक उस स्थानपर हैं जिस स्थानपर है जिस स्थानपर ठीक नीचे मनुष्यलोक है। निकटभव्य जीव मनुष्यलोक से ही मुक्त होते हैं। और ऋजुगतिसे लोकके अन्तमे जाकर उस हीके सीधे ऊपर विराजमान होते हैं। तो चूँकि उन सिद्धोके निवासके नीचे ही ८वीं पृथ्वी है इस कारण इसका नाम सिद्धशिला कहा गया है। सिद्ध जीव तो शिलापर नहीं रहते हैं, इससे बहुत ऊपर हैं लेकिन सिद्ध जीवोके निवाससे अनन्तर पहिले यह सिद्धशिला नामकी पृथ्वी है। उसके ऊपर घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय नाम की तीन हवाओंका मडल है। उनमेसे अन्तिम जो तनुवातवलय है उसमें अन्तिम भागमे सिद्धभगवान विराजमान हैं। यों ऊर्ध्वलोकमे वैमानिक देवोका निवास बताया गया है।

वैमानिकदेव ऊर्ध्वलोकमे हैं और ये ज्योतिषीदेव मध्यलोकमें हैं, किन्तु नारकी जीव अधोलोकमे हैं। अधोलोक माना गया है मेरूपर्वतकी जड़से नीचे। सो जो मेरूपर्वतके आधारभूत पहिली पृथ्वी है, जिसका नाम धम्मा है और रत्नप्रभा भी है, उसके तीन भाग हैं। उनके प्रथम दो भागोंमें भवनवासी और व्यन्तर देवोंके निवास हैं। जिनका पहिले वर्णन किया और तीसरे भागमें ८० हजार योजन मोटे वाले भागमें प्रथम नरकके नारकियोंका निवास है। उस तीसरे भागमे १३ पटल हैं और १३ पटलोंमे कुल ३० लाख बिल है। बिल नाम इसलिए दिया गया है कि इस बिलका मुख पृथ्वीके किसी ओर नहीं है। हैं यद्यपि ये हजारों लाखो योजनके विस्तार वाले, परन्तु पृथ्वी पृथ्वीके अन्दर ही ये स्थान हैं। किसी भी दिशामें इनका मुख नहीं है। पृथ्वीके ऊपर इस कारण इनका नाम बिल रखा गया है। उन बिलोंमें जो नारकी रहते हैं वे प्रथम नरकके नारकी कहलाते हैं। उसके नीचे दूसरी पृथ्वी है। जिसका वसा नाम है। उस नरकमे ११ पटल है और इन पटलोमे २५ लाख बिल है। उन बिलोंमे जो नारकी रहते हैं वे दूसरे नरकके नारकी कहलाते हैं। उसके नीचे मेघा नामकी तीसरी पृथ्वी है। उसमें ९ पटल हैं। और उन पटलोंमें १५ लाख बिल है। उनमें नारकी रहते हैं। फिर नीचे अजना नामकी चौथी पृथ्वी है, उसके ७ पटलोंमे १० लाख बिल हैं। उन बिलोंमे रहने वाले नारकी चौथे नरकवासी कहलाते हैं। उसके नीचे अरिस्ता नामकी ५वीं पृथ्वी है। उसमें ५ पटल है और उन पटलोमें ३ लाख बिल है, उन बिलोंमें नारकी रहते हैं। इसके नीचे छठी मघवी पृथ्वी है। उसमे तीन पटल है और उन पटलोमे ५ कम एक लाख बिल हैं। उन बिलोमे सप्तम नरकके नारकी रहते है। यो नारकियोका निवास अधोलोकमें है। ये सब पृथ्विया तीन वातवलयोंसे घिरी हुई है। इन नरकोमे जो नारकी निवास करते है वे अनेक प्रकारके

दुःखोंसे पीड़ित हैं, जिनका वर्णन संसारभावनामे किया गया है।

वादर-पज्जति-जुदा घण-आवलिया-असख-भागा दु।
किचूण-लोय-मित्ता तेऊ-वाऊ जहा-कमसो ॥१४७॥

अग्निकायक वादर पर्याप्त जीव घनावलीके असंख्यातभाग हैं। आवली असंख्यात समयोकी होती है और ऐसी एक आवलीमे जितने समय होते हैं उन समयोको दो बार गुणा करने से उतने ही समय घनरूप रखने से जो लब्ध हो उसे घनावली कहते हैं। याने उस घनावलीमें असंख्याते असख्यातका गुणा करने पर जो लब्ध होता है उसमे फिर असख्यातका गुणा कीजिए। उतने को घनावली कहते हैं। जैसे तीनका घन २७ होता है। ३ को तीनसे गुणा करनेसे ९ लब्ध हुआ और उसे ३ से गुणा करने पर २७ हुए तो यों ही आवलीके समयोका जो घनफल है उसे घनावली कहते हैं। उस घनावलीके असख्याते भाग प्रमाण वादर पर्याप्त अग्निकाय जीव हैं और वादर पर्याप्त वायुकायक जीव कुछ कम लोकप्रमाण हैं। अब यह तो समस्त वादर अग्निकायक जीवोंका प्रमाण है। इसको वादर अग्निकायके जीवोकी सख्यामें से कम कर दिया जाय तो वह वादर अपर्याप्त अग्निकायक वजीवोंका परिमाण होता है। इसी प्रकार समस्त जितने वायुकायक जीव हैं उनमें से वादर पर्याप्त वायुकायक जीव कम कर दिए जाये तो वादर पर्याप्त वायुकायके जीवोंकी संख्या आती है। यों वादर पर्याप्त वायुकायक जीव घनावलीके असख्याते भाग है और वादर पर्याप्त वायुकायक जीव कुछ कम लोकप्रमाण हैं, याने लोकके प्रदेशोंकी जितनी संख्या है बतायी गई है असंख्यात, उसमें से कुछ ही कम हैं।

पुढवी-तोय-सरीरा पत्तेया वि य पइट्ठिया इयरा।
होंति असखा सेढी पुण्णापुण्णा य तह य तसा ॥१४८॥

पृथ्वीकायक, जलकायक, प्रत्येकवनस्पतिकायक, सप्रतिष्ठित, प्रत्येकवनस्पतिकायक—ये ५ एकेन्द्रिय जीव पर्याप्त भी और अपर्याप्त भी होते है। यों इन १० प्रकारके जीवोकी संख्या असंख्यात जग श्रेणी प्रमाण जानना है और इसी प्रकार दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ये भी पर्याप्त अपर्याप्त दो प्रकारके होते हैं। यो १० प्रकारके त्रस जीव भी असंख्यात जगत श्रेणी प्रमाण हैं। जगत श्रेणी कहते है १४ राजू प्रमाण, ऊँचे एक प्रदेश पक्तिमे जितने प्रदेश आ सकते है उन प्रदेशोंकी जो सख्या है, है वह असख्यात। उसे जग श्रेणी कहते हैं। उस जग श्रेणीमें असंख्यात प्रदेश हुए, असख्याते जगश्रेणीको असंख्यात जगश्रेणी कहते है तात्पर्य दोनों कथनोंमे उनकी सख्या असंख्यात है, यह कहा है, किन्तु उन सब असंख्यात प्रमाणोंमें भी परस्पर यह जाननेके लिए कि कौन असंख्यात प्रमाण जीव किससे ज्यादा है? भिन्न-भिन्न रूपमे यह सब असंख्यातोंका प्रमाण बताया जा रहा है।

वादर-लद्धि अपुण्णा असख-लोया हवंति पत्तेया।
तह य अपुण्णा सुहुमा पुण्णा वि य सख-गुण-गणिया ॥१४९॥

अब प्रत्येकवनस्पतिकायक वादर लब्ध्यपर्याप्तक जीव असख्यात लोक प्रमाण हैं और सूक्ष्मअपर्याप्तक जीव भी असख्यात लोक प्रमाण है, किन्तु सूक्ष्मपर्याप्तक जीव उनसे सख्यात गुणे हैं। सूक्ष्मकायक जीवोंमें प्रायः यह वर्णन आता है कि सूक्ष्मपर्याप्तक जीव सूक्ष्मअपर्याप्तकोसे कई गुणे हैं, इसका कारण यह है कि पर्याप्तजीवोकी आयु होती है अल्प तो ये सूक्ष्मजीव पर्याप्तक आयुमें अधिक होनेके कारण इनका संचय अधिक हो जाता है, और इस दृष्टिसे इनकी सख्या है सूक्ष्मअपर्याप्तकोंसे कई गुणी हो जाती है।

सिद्धा संति अणंता सिद्धाहिंतो अणंत गुण-गुणिया।
होंति णिगोदा जीवा भागमणंत अभव्वा य ॥१५०॥

सिद्धोंसे अनन्तगुणे निगोद जीवोंकी गणनाका कथन—इस प्रकरणमे यह बताया जा रहा है कि कौन जीव कितने प्रमाणमें है ? सिद्ध जीव अनन्त है। अनन्त कालमें ६ महीने ८ समयमे ६०८ जीव मुक्त होते आये। तो जब काल अनन्त व्यतीत हो गया तो ६ महीने भी अनन्त व्यतीत हो गए। तो यों मुक्त हुए जीव अनन्त हैं। और उन सिद्धोंसे भी अनन्तगुने जीव निगोद जीव है। संसारमें कितने जीव पाये जाते हैं गतियोंके हिसावसे, सो मोटे रूप में यह समझ लीजिए कि सबसे कम जीव मनुष्यगतिमे है, उससे असंख्यातगुनेजीव नरकगतिमे है, उससे असंख्यातगुनेजीव देवगतिहैं। देवगतिमें इतने अधिकजीव होनेका क्या भाव है कि देव होते हैं चार प्रकारके— भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। इनमे से खोटे देव हैं तीन प्रकारके हैं— भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी। तो इनमे ज्योतिषी देवोंकी संख्या बहुत अधिक है। वैसे ज्योतिषी विमानोंमे भी अगर देखा जाय तो जम्बूद्वीपमें दो सूर्य दो चन्द्र है, और ताराओंकी तो गिनती ही नहीं है। जब कभी आप अधेरी रात्रिमे ऊपर निगाह करके देखते है तो एक ही जगहमें कितने तारे नजर आते है। थोडेसे ही हिस्सेके तारोंकी आप गिनती नहीं कर सकते। जम्बूद्वीपमे ही इतने अधिक तारे हैं, लवणसमुद्रमे इससे भी दूने तिगुने तारे हैं। उसके बादके द्वीपमे उससे भी दूने तिगुने अधिक तारे हैं। यों सभी द्वीपोंमें बढते जाइये, प्रत्येकमे दूने, तिगुने चौगुने आदि रूपमें तारोंकी संख्या बढती जायगी। द्वीप हैं असंख्याते। यों विमान भी बहुत अधिक हो गए। और एक एक विमानमे ज्योतिषीदेवोंकी संख्या अत्यन्त अधिक है। जो छोटेसे छोटे तारे यहांसे दिखते है, वे भी तीन कोशसे कमके कोई नहीं है। ये सूर्य चन्द्र करीब पौने दो हजार कोशके विस्तार वाले हैं। तो इसमे अनेक देवोकी संख्याये हैं। यो देवगतिमें नरकगतिसे भी अधिक जीव है। देवगतिसे अधिक जीव है। देवगतिसे अधिक जीव हैं तिर्यञ्चगतिमें और तिर्यञ्चगतिमे भी अल्पबहुत्व देखो तो पञ्चेन्द्रिय, चौइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, दोइन्द्रिय और इनसे कितने ही गुने अधिक एकेन्द्रिय जीव है। और एकेन्द्रिय जीवोंमे वनस्पतिकायिक जीव अनन्तानन्त है। उनमे निगोद राशि है अनन्तानन्त। तो सिद्धसे अनन्तानन्तगुने निगोदराशि है। शास्त्रोंमें बताया है कि एक निगोदिया जीवके शरीरमें इतने निगोदिया जीवके शरीरमें इतने निगोदिया जीव हैं कि उसके अनन्तवें भाग है वे समस्त सिद्ध जो आज तक सिद्ध हुए। जैसे कि यहाँ हम एक शरीरमें है, आप एक शरीरमें हैं, तो एक एक शरीरके स्वामी एक एक जीव हैं। तो इसे कहते है प्रत्येकशरीर। और साधारणशरीर कहते हं, उसे कि यह स्थूल शरीर तो एक हो और उसके अधिकारी अनत जीव है। उन अनंतजीवोंका एक साथ जन्म और एक साथ मरण होता है। कर्म फिर भी सब जीवोंके अलग-अलग है, केवल शरीर यह स्थूल एक है। इसे कहते हैं साधारण शरीर। तो उस एक निगोदशरीरमें जीव सिद्धसे अनतगुने पाये जाते है। अब इतने ये सब जीव हैं इन समस्त संसारीजीवोंमेसे भव्य कितने है और अभव्य कितने है, इस पर दृष्टिपात कीजिए।

निगोद जीवोंकी दशा—यहाँ यह प्रश्न हुआ कि एक निगोद शरीरमे जितने जीव हैं उनका जन्म मरण अलग-अलग होता या एक साथ होता ? उत्तर यह है कि इन सब जीवोंका जन्ममरण सब कुछ एक साथ होता है। निगोदजीव, साधारणजीव कहते ही उसे है कि जिसके जन्ममरण आदिक एक साथ हों। पंडित आशाधरजीने अनगार धर्मामृत ग्रन्थके एक प्रसंगमें मोही जीवोंका एक चित्रण खींचा है कि जो मोही जीव घरमें इतना मुग्ध होते हैं कि अपने प्रेमीके सुखमे सुख मानते, उसके दुःख मानते, उसके सन्तोषमे अपनेको सन्तुष्ट मानते, ऐसा जो किया करते हैं मोहमें तो मानो निगोदमें यह करना पडेगा ना, कि एक साथ जन्मेंगे, एक साथ मरण करेंगे, फिर एक ही जन्म लेंगे तो मानो ये मोही मानव उसका अभीसे अभ्यास कर रहे हैं। तो इस तरहका अभ्याससा करने वाले ये मोही प्राणी निगोदमें जन्म लेनेके पात्र है ऐसा बताया है। कहना तो यह था, मगर इसको एक अलंकाररूपमे कविने बताया

है। तो निगोद जीवोंका जन्म मरण एक साथ होता है। स्थूलशरीर एक है परन्तु तैजस कार्माणशरीर सब जीवोका अपना निराला-निराला है। यहाँ भी जो यह कहा करते हैं कि हम दो चार जीव एक साथ सुख भोगते, इनके सुखसे हम सुखी होते हैं, इनके दु:खसे हम दु:खी होते हैं, यह कहना गलत है। जितने जीव सुखी हो रहे हैं उन सबका उदय न्यारा-न्यारा है। किसी एक काममें दो चार आदमी एक साथ सुखी हो रहे हैं तो एकके कारणसे नहीं, किन्तु सबका अपना अपना उदय है, उस उदयके कारण वे अपने आपमे सुखी हो रहे हैं। तो सुख दु:ख होनेका जो कारण है वह सबका अपना अपना न्यारा-न्यारा है। एक ही घरमे देख लीजिए छोटे-बडे, १०-१५ जीव हैं लेकिन सबका आनन्द, सबका ज्ञान, सबकी तृप्ति ये सब जुदे जुदे हैं। जैसे सबकी भूख अपने अपने खानेसे मिटती है, कोई खाये और उससे दूसरेका पेट भर जाये यह तो नहीं हो सकता तो ऐसे ही आप यह अदाज लगा लीजिए कि किसी एक के सुखी दु:खी होनेसे कोई दुसरा सुखी दु:खी नहीं हो सकता। सबका अपना अपना परिणाम है, सभी अपने-अपने परिणामसे सुखी दु:खी होते हैं। यों सभी ससारी अपने अपने भाव व उदयसे अपना अपना परिणमन करते रहते हैं। निगोदोंका भी परिणमन जुदा जुदा है।

भव्य और अभव्योकी गणना—यह बात सुनो कि समस्त संसारी जीवोंमें भव्य जीव कितने है और अभव्य जीव कितने हैं। भव्य जीव कहते उसे हैं जिसके रत्नत्रयकी प्राप्ति होना शक्य है और अभव्य जीव उसे कहते हैं कि जिसके रत्नत्रयकी प्राप्ति होना शक्य नहीं अर्थात् रत्नत्रय प्राप्त हो नहीं सकता। जिनमे सम्यक्त्व उत्पन्न करने व मुक्त होनेकी योग्यता है उन्हें कहते हैं भव्य जीव और जो जीव मुक्ति प्राप्त कर सकनेमे अयोग्य हैं उन्हें कहते हैं अभव्य जीव। यद्यपि भव्य जीव भी सब मोक्ष न जा पायेंगे, क्योंकि अगर सब भव्य मोक्ष जाये ही, ऐसा नियम होता तो आज यहाँ कोई भी जीव संसारमें न दिखना चाहिए। क्योंकि अनन्तकाल गुजर गया। सो सब भव्य जीव मुक्तिमे जा चुके ही होते, किन्तु दिख तो रहे है अनन्तो सो भव्य जीव भी सब मोक्ष न जायेंगे अनन्तानतकाल तक। इसके बाद बहुत दूर दृष्टिके कालमे भी यहाँ अनन्तानत भव्य रहेंगे अर्थात अनन्तभव्य ऐसे है जो कभी भी मोक्ष जा ही न सकेंगे, लेकिन भव्य क्यों कहते हैं कि उनमें उस जातिकी योग्यता है। न जा सके यह बात अलग है। जैसे दृष्टान्त लीजिए तीन प्रकारकी महिलायें है-एक तो वंध्या जिनके कभी पुत्र होता ही नहीं, एक सुशील विधवा, विधवा हैं मगर सुशील है, और एक सामान्य महिला। तो जैसे इन तीन प्रकारकी महिलाओमे तीन बातें सोची जा सकती है कि वंध्याके तो पुत्र पैदा होनेकी योग्यता ही नहीं है। और सुशील विधवाके पुत्र पैदा होनेकी योग्यता तो है मगर कभी पुत्र होगा ही नहीं क्योंकि सुशील है और सामान्य स्त्रियोंके पुत्र होते ही हैं। तो ऐसे ही वध्याकी भाँति अभव्य जीवके मुक्ति प्राप्त करनेकी योग्यता ही न समझिये और सुशील विधवाकी भाँति दूरानदूर भव्यके मोक्ष होगा ही नहीं। योग्यता होकर भी मुक्ति होगी हो नहीं, और सामान्य, जो निकट भव्य जीव हैं वे कभी मुक्ति पा लेंगे। तो इसमे अभव्य जीव तो भव्यके अनन्तवे भाग है अर्थात् भव्य जीव जितने हैं प्रति अनंत भव्योमें से एक दो अभव्य जीव निकलेगे, याने अभव्योकी सख्या बहुत कम है फिर अनत है। जैसे मूगके ढेरमे जो कुरडु जातिके मूँगके दाने है, जो कितना ही आगमें पकाये जाने पर भी नही पकते, वे बहुत बडे ढेरमें कोई एक दो ही दाने होते है ऐसे ही अनत भव्य जीवोमें से कोई एक दो अभव्य होते है। लेकिन उन भव्योमें भी अनत भव्य ऐसे है जो कभी मुक्त जावेगे ही नहीं।

अभव्य जीवोके सम्यक्त्वकी पात्रताका अभाव—अब अभव्य जीवोंके सम्बन्धमें यह सुनो कि वे कितना धर्मसाधन कर सकते है? तो बताया है कि अभव्य जीव मुनिधर्म साधन करके नवमें ग्रैवेयक तक भी उत्पन्न होगा, मगर उसे सम्यग्ज्ञान न होगा, मिथ्यादृष्टि भव्य भी औ अभव्य भी। तो धर्मसाधनके

प्रकरणमें इन जीवोंको ज्ञान भी बहुत हो जाता है। ११ अंग ६ पूर्वका ज्ञान होने पर भी अज्ञानी रहता है। मिथ्यादृष्टि रह सकता है, सम्यक्त्व न जग सका। तो इतनी धर्मसाधना करने वाला जीव यत्र तत्र पहुंच जाय, समवशरणमे भी पहुंच जाय तो पहुच सकता है, वहां जो प्रकट अभव्य हैं, अर्थात् उद्दण्ड हैं, विपरीत हैं वे नहीं जा सकते। चाहे वे भव्य भी हों, चाहे अभव्य भी हों, लेकिन वहांके द्वारपाल देवोंको यह विदित हो जाय कि यह जीव उद्दण्ड है, यह लडनेके ध्येयसे आयेगा, यह दोष वकवाद करने करने के लिए आयेगा, ऐसे उद्दण्डोंको देवता लोग नही जाने देते। फिर जो प्रकट उद्दण्ड मिथ्यादृष्टि जीव हैं वे तो जा ही नहीं सकते, लेकिन जिनका व्यवहार व्यवहारसम्यक्त्वके अनुकूल है, व्यवहार-सम्यग्दर्शन हैं, धर्मके द्वेषी नहीं हैं, विनयपूर्वक आ रहे हैं, वे चाहे मिथ्यादृष्टि भी हों तो भी समवशरण मे पहुंचते है।

समुच्छिना ह मणुया सेढियसंखिज्ज-भाग-मित्ता हु।
गब्भज-मणुया सव्वे सखिज्जा होंति णियमेण ॥१५१॥

मनुष्योंकी संख्या—अब मनुष्यगतिके जीवोंकी संख्या बताते हुए कहते हैं कि मनुष्य बताये गए हैं दो प्रकारके—एक सम्मूर्छन मनुष्य और दूसरे गर्भज मनुष्य। गर्भज मनुष्य तो ये ही सब है जो दिखते हैं। माता पितासे जिनका शरीर निष्पन्न हुआ है वे हैं गर्भज जीव और सम्मूर्छन मनुष्य वे कहलाते हैं जो थूक, कफ, कॉख आदिक खोटे अंगोंसे उत्पन्न होते रहते हैं। उनका शरीर दिखता नहीं है, पर हैं वे संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य। ये सब संमूर्छिम मनुष्य हैं। ये कितने हैं? तो बताते हैं कि श्रेणीके असंख्याते भाग प्रमाण, अर्थात् लोकके नीचेसे लेकर लोकके ऊपर तक जो १४ राजू लम्बी श्रेणी है वह एक प्रदेश मोटी, एक लैन है १४ राजूकी। उसमे जितने असंख्याते प्रदेश हैं उसके भी असंख्याते भाग प्रमाण सम्मूर्छिम मनुष्य हैं। तो ये असंख्याते मनुष्य सम्मूर्छन जन्म वाले पाये जाते हैं, लेकिन गर्भज मनुष्य संख्याते ही हैं। उनकी संख्या बतायी गई है २६ अंक प्रमाण याने ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३-९५०३३६। २९ अक प्रमाणका अर्थ है कि जैसे १०० तीन अंक प्रमाण है, १००० चार अक प्रमाण है, इस तरह बढते जाइये लाख, १०, लाख, करोड, १० करोड़, अरब, १० अरब, खरब, १० खरब, नील १० नील, पदम, १० पदम, शंख, १० शंख, महाशंख आदि। यहां तक तो अभी १६ अंक हुए। अब इनमें एक एक अंक बढने से १०—१० गुना प्रमाण बढता है। यों २६ अंक प्रमाण गर्भज मनुष्य पाये जाते हैं। इन चार गतियोमे सबसे कम जीव ये मनुष्यगतिके हैं और उनमें भी ये गर्भज मनुष्य तो और भी कम है जिनकी गिनती भी बॉध ली गई है। मनुष्योंसे असंख्याते गुने है नारकी। नारकीसे असंख्याते गुने है देव। देवोंसे असंख्याते गुने है दो इंद्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइंन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंच, उनसे भी असख्याते गुने है पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और प्रत्येकवनस्पति और इन सब जीवोंसे अधिक है याने अनन्त हैं सिद्ध जीव और सिद्ध जीवोंसे भी अनन्त गुने हैं निगोदजीव। इन जीवोंका आदि स्थान निगोद रहा और इनका बहुत काल तक निवास कर सकने योग्य स्थान है तो मोक्ष है। यों समझिये कि निगोद और मोक्ष इन दोनोंका समय लम्बा होता है। निगोदमें कोई जीव तो ऐसे हैं कि निगोदसे निकल आयेंगे पर मुक्त जो हो जाते हैं उनमें यह बात सम्भव नहीं है कि वे मोक्षसे निकलकर फिर संसारमें जन्ममरण करेंगे। यों इन जीवोंकी सख्याका परिमाण बताया गया है। इस गाथामें मनुष्यगतिके जीवोंका परिमाण कहा गया है। इनमें लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य तो पल्यके असख्यातवे भाग प्रमाण हैं तथा पर्याप्त मनुष्य २६ अंक प्रमाण है। निर्वृत्यपर्याप्त मनुष्य भी पर्याप्तश्रेणिमें है, क्योंकि उनके जन्मसे ही पर्याप्त नामकर्मका उदय है। पर्याप्त मनुष्योंसे पर्याप्त मनुष्यिणीका परिमाण तीन गुना है।

देवाविणारया वि य लद्धियपुण्णा हु सतरा होंति ।
सम्मुच्छिया वि मणुया सेसा सव्वे णिरंतरया ॥१५२॥

सान्तर मार्गणा वर्णन—अब यह बतलाते है कि कौनसे जीव ऐसे हैं कि किसी भी समय जगतमें ऐसे कोई हों ही नहीं। इसको कहते है सांतर मार्गणा। होते थे, बीचमें नहीं हुए और फिर होने लगे ऐसा अतर किन-किन जीवोंका पड़ता है? बतलाते है कि देव, नारकी, लब्ध्यपर्याप्तक सम्मूर्छिम मनुष्य ये सातर है। बाकीके सब जीव निरंतर है। देव और नारकियोंमें उत्पत्ति सांतर है। देव तो हमेशा ही रहते है, उनकी बहुतसी आयु और ये असंख्यात जीव है। वे भी सदा रहेंगे। नारकी भी असंख्याते हैं और उनकी भी बड़ी आयु है, वे भी सदा रहेंगे, मगर ऐसा सम्भव हो सकता कि कुछ समय एक भी देव पैदा न हो रहा हो, और कुछ समय एक भी नारकी उत्पन्न न हो रहा हो। तो देव और नारकियोंके जन्म मरणका अंतर है। करणानुयोगके ग्रन्थोंमें बताया है कि सम्मूर्छन जन्म वाले लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंका उत्कृष्ट अंतर पल्यके असंख्याते भाग हैं। ऐसे मनुष्य जो कांख, नाक, आंख आदिक जगहोंसे उत्पन्न होते हैं, जो दिखते नहीं हैं, सम्मूर्छनज है, लब्ध्यपर्याप्तक हैं। ऐसे मनुष्य दुनियामें कहीं भी पैदा न हो रहे हों ऐसा भी समय आ सकता है, और यह समय पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण आता है। अर्थात् असंख्याते करोड़ो, अरबों वर्ष भी गुजर जाते हैं कि जहां लब्ध्यापर्याप्तक मनुष्य एक भी उत्पन्न हो रहा हो, सो उत्पन्न भी नहीं हो रहा और इसकी आयु भी बहुत थोड़ी है, तो इसके सम्बधमें यह कह सकते है कि एक भी लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य न रहे, ऐसा समय पल्यके असंख्यातवे भाग तक गुजर सकता है बाकी एकेन्द्रिय आदिक जीव तो सदा रहते है।

उपशम सम्यक्त्व और सूक्ष्मसाम्पराय सयमका उत्कृष्ट अन्तरकाल—उपशम सम्यग्दृष्टि जीवका अतरकाल दिन ७ है। सम्यग्दर्शन ३ प्रकारसे होता है। सम्यग्दर्शनका घात करने वाली सात प्रकृतियो हैं। तो उन ७ प्रकृतियोंका उपशम होवे तो ये ७ तरहके प्रकृति कर्म दब जायें तो उससे उपशम सम्यक्त्व होता है। ये सम्यग्दर्शनकी घातक ७ प्रकृतियां नष्ट हो जायें तो क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। अथवा इन ७ प्रकृति कर्मोंका क्षयोपशम कुछ उदयाभावी क्षय रहे, कुछ उपशम रहे व सम्यक्त्वप्रकृति नामक ७वीं प्रकृतिका उदय रहे तो उसे कहते है क्षयोपशय सम्यक्त्व। तो इन तीन प्रकारके सम्यक्त्वमें उपशम सम्यक्त्व होनेकी बात कह रहे हैं कि ऐसा भी समय गुजर सकता है और वह ७ दिन तक का समय हो सकता है कि जहां इन तीनों लोकोंके अन्दर कोई भी जीव उपशम सम्यक्त्वी न हो। लेकिन ७ दिनके बाद नियमसे कहीं न कहीं कोई उपशम सम्यग्दृष्टि बनेगा ही। १०वां गुणस्थान है सूक्ष्म साम्पराय। मुनिजन कषायो को नष्ट करते-करते जब सभी कषायोका नाश कर देते हैं, केवल एक संज्वलन सूक्ष्म लोभ बाकी रहता है, उसको भी नाश करनेका वह मुनि श्रेणीमे उद्यम करता है तो उस स्थितिका नाम है सूक्ष्मसाम्पराय। सूक्ष्मसाम्पराय सयमका अन्तरकाल ६ महीने तकका है। ६ महीनेके बाद कोई न कोई जीव सूक्ष्मसम्पराय सयमी अवश्य होगा। इनका अर्थ यह समझना कि ऐसा भी समय आ सकता है कि ६ महीने तक कोई भी जीव मुक्ति न प्राप्त कर रहा हो, मुक्ति प्राप्त करनेका विरहकाल ज्यादा से ज्यादा ६ महीने तकका है। ६ महीनेके बाद कोई न कोई जीव मुक्ति प्राप्त करेगा, सूक्ष्मसम्पराय बनेगा, श्रेणियोमे आयगा, यह सब एक ही बात है क्योंकि ६०८ जीव ६ महीनेमे श्रेणीमे प्रवेश करते है और मुक्ति प्राप्त करते है। कोई ऐसा समय आ जाता है कि ६ महीने तक कोई जीव मुक्ति प्राप्त न कर रहा हो तो उसके बाद ६ महीनेमें ही ६०८ जीव मोक्ष चले जायेंगे। तो अतरकाल बताया जा रहा कि ६ महीनेका ऐसा समय आता है कि जिस समय कोई जीव दुनियामे सूक्ष्मसम्पराय सयमी न रहेगा।

आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग, वैक्रियकमिश्रकाययोग लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य, सासादन सम्यक्त्व व

सम्यक्त्वमिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तरकाल—१ शरीर होता है आहारका, जो ६ गुणस्थानवर्ती मनुष्योंके मस्तकसे निकलता है। जब उन्हें तत्त्वमे कोई शंका होती है तो उसका समाधान पानेके लिए आहारक ऋद्धि वाले मुनिके मस्तकसे एक बहुत सुन्दर एक हाथके प्रमाणवा श्वेतरगका सूक्ष्मशरीर निकलता है जो इतना सूक्ष्म होता है कि उसे देखनेकी बात तो दूर रही, बीचमें पर्वत भी आयें तो उनसे भी नहीं छिड़ता। वह पुतला जाता है वहां जहां तीर्थंकरभगवान कहीं विराजे हों। उनका दर्शन करता है और दर्शन करके वह शरीर वापिस लौट आता है और मुनिके मस्तकमे प्रवेश करके समाप्त हो जाता है। उसे कहते हैं आहारकशरीर। उस मुनिके आहारक काययोग, आहारक मिश्रकाययोग होता है। तो इस काययोगका उत्कृष्ट अन्तर वर्ष-पृथकत्व है। पृथकत्व कहते है तीनसे लेकर ९ तक। जैसे गिनतीमे कभी कोई कह देते ना १०-५, इसी तरह ३-९। तीनसे अधिक, ९ से कम संख्याका नाम है पृथकत्व याने यों ५-७-८ वर्ष तकका भी समय गुजर सकता है कि जिन वर्षोंमे दुनियामे कहीं भी आहारकशरीर वाला नहीं बनता। फिर इतने कालके बाद कोई आहारक काययोग वाला अवश्य बनेगा। वैक्रियक मिश्रकाययोगका उत्कृष्ट अन्तर १२ महीना है। वैक्रियकशरीर देव और नारकियोंके होता है। मनुष्य और तिर्यञ्चोंका जो शरीर है उसका नाम है औदारिकशरीर। वैक्रियक मिश्रकाय कब होता है कि कोई जीव मरकर देव या नारकीमें उत्पन्न होने चला, उस स्थानमें पहुच गया जहॉ कि देव या नारकी बनना है। वहॉ पहुचनेके बाद उसके वैक्रियक मिश्र-काययोग होता है। वैक्रियक मिश्रकाययोगके मायने यह है कि जब तक वहॉ वैक्रियकशरीर बननेकी शक्ति पूरी नहीं आ जाती तब तक वैक्रियक मिश्रकाययोग है। इसका सीधा अर्थ यह लगाओ कि देव और नारकीका जन्म लेना। तो दुनियामे कहीं भी कोई देव या नारकी जन्म न ले रहा हो ऐसा समय यदि गुजरेगा तो ज्यादासे ज्यादा १२ मुहूर्तके बाद देव या नारकियोंमें कोई न कोई जीव अवश्य जन्म ले लेगा। अब लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यकी बात कह रहे हैं, वहां भी पल्यके असख्यातवे भाग तकका अन्तर है। सासादन गुणस्थानवर्ती जीवका भी पल्यके असंख्यातवे भागका अन्तर है। इसी तरह तीसरे गुणस्थान वाले जीवका भी उत्कृष्ट अन्तर पल्यके असख्यातवे भाग है, पर इसका जघन्य अन्तर एक समय है।

उपशमसम्यक्त्वसहित अणुव्रत या महाव्रत धारण करने वालोंका उत्कृष्ट अन्तरकाल—अब इस बातको बतलाते है कि कोई जीव सम्यग्दर्शन पैदा कर रहा है और सम्यग्दर्शनके साथ ही साथ अणुव्रत या महाव्रत भी धारण कर रहा है। दोनो बाते यदि एक साथ धारण कर रहा तो ऐसा जीव दुनियामें यदि न हो तो कितने दिन तक न हो ? सो प्रथम बतलाते है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व सहित अणुव्रत धारण करने वाले जीव ज्यादासे ज्यादा काल तक लोकमें न होंगे तो १४ दिन तक न होंगे। इसके बाद तो अवश्य ही ऐसे जीव होंगे जो प्रथमोपशम सम्यक्त्व भी धारण कर रहे हो और अणुव्रत भी धारण कर रहे हों। उपशम सम्यक्त्व बताया है कि जो सम्यक्त्वको घातने वाले कर्म हैं वे दब जायें तो जीवको उप-शम सम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्व मायने है देहसे मैं न्यारा हू, अमूर्त हूं, ज्ञानस्वरूप हू, ऐसा साक्षात् अनुभव बन जाय, ऐसी दृढ प्रतोति बन जाय उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन। ऐसा सम्यग्दर्शन यदि कर्मोंके उपशमसे हुआ है तो जो चीज किसीके दबनेसे होती है वह चीज प्रकट हो जाती है, दबी न रहेगी। तो ऐसा सम्यक्त्व कुछ देरके लिए होता है। बादमे सम्यक्त्व नहीं रहता। तो कोई जीव मिथ्यादृष्टि है और उसके बाद उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न कर रहा है, साथ ही अणुव्रत, श्रावकका व्रत भी धारण कर रहा है ऐसा जीव लोकमें अधिकसे अधिक दिनों तक न होगा तो १४ दिन तक न होगा। इसके बादमें ऐसा जीव होगा जो कि प्रथमोपशमसम्यक्त्व और अणुव्रत दोनोंको एक साथ धारण करेगा। अब प्रथमोपशम सम्यक्त्व सहित मुनिव्रत धारण करने वाले जीवका अन्तर बताते हैं। कोई आचार्य तो १५ दिनका अन्तर कहते हैं, कोई २४ दिनका। ऐसा जीव जो प्रथमोपशम सम्यक्त्व और महाव्रत दोनोंको एक साथ

धारण करे, लोकमें यदि न हो तो ज्यादासे ज्यादा १५ या २४ दिन तक न होगा, बादमें होगा ही। इस तरह कुछ जीव दुनियामे न रहें, ऐसा भी समय आता है और कितना समय आता है, उसका यह अन्तर बताया गया है।

मणुयादो णेरइया णेरइयादो असंख-गुण गुणिया।
सव्वे हवंति देवा पत्तेय-वणप्फदी तत्तो ॥१५३॥

मनुष्य, नारकी, देव और प्रत्येकवनस्पतिका तुलनात्मक पद्धतिसे परिमाण—अब उपसंहार रूपमे कुछ स्थूल पद्धतिसे बतलाते हैं कि जगतमें कौन जीव कितने हैं? मनुष्योसे नारकी जीव असंख्यातगुने हैं। जितनी समस्त मनुष्योकी सख्या है उससे अनगिनते गुने नारकी जीव हैं। नारकियोंकी सख्या मनुष्योंसे असंख्यातगुनी है और नारकियोसे असंख्यातगुने सब देव हैं। देवगतिमे चार प्रकारके जीव हैं। उन सब को मिलाया जाय तो वह संख्या नारकियोंसे असंख्यात गुनेसे गुणित होती है याने कितने ही असख्यात गुने हैं। और उन देवोंसे असंख्यात गुने हैं प्रत्येकवनस्पति। प्रत्येकवनस्पति हरी वनस्पतिको कहते हैं। चाहे वह सप्रतिष्ठि हो या अप्रतिष्ठित हो, याने आलू, अरवी आदिक कद अनन्तकाय भी प्रत्येकवनस्पति मे आ गई, और जो खाने योग्य हो सकती है ऐसी वनस्पति भी प्रत्येकवनस्पतिमें हैं। अभी प्रत्येकवनस्पति मे रहने वाले साधारण जीवोंको नहीं कह रहे। जैसे आलू आदिक फलोंमे, कदोंमें प्रत्येकवनस्पति तो थोडे हैं मगर साधारणवनस्पति अनंत हैं। तो साधारणवनस्पतिकी सख्या नहीं बता रहे हैं। ये प्रत्येक वनस्पति देवोंसे भी अनतगुने हैं। मनुष्योसे असंख्यातगुने नारकी बताये हैं। तो पहिले मनुष्योंकी सख्या सुनो, कितनी है? यद्यपि सामान्य रूपसे बता दिया गया कि सम्मूर्छिम मनुष्य तो पल्यके असख्याते भाग हैं और पर्याप्तक मनुष्य २९ अंक हैं। किन्तु इसे दूसरी पद्धतिसे सुनो—सामान्य मनुष्यराशि कितनी बड़ी है? सारे मनुष्य कितने हैं? उनका प्रमाण करणानुपयोग ग्रन्थमे बताया है कि सूच्यंगुलके प्रथम और तृतीय वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणी प्रमाण तो सामान्य मनुष्यराशि है। इसका तात्पर्य यह है कि एक अंगुल लम्बी एक रेखा खींचिए और वह रेखा अत्यन्त पतली हो, उसके भी असख्यातवें भाग पतली जो रेखा है उसे कहते हैं सूच्यगुल। अब वह कितनी सी रेखा रही? उस सूच्यगुलमे असंख्याते प्रदेश हैं। प्रदेश कहते हैं ऐसी सबसे छोटी जगहको कि जिससे छोटी जगह और कुछ न हो सके। तो इतने छोटे-छोटे प्रदेश इतनी सी पतली लकीरमे अनगिनते भरे हैं। अब इस सूच्यंगुलमें जितने प्रदेश हैं उन प्रदेशोंका प्रथम वर्गमूल, वर्गमूल उसे कहते हैं जो समान संख्यासे गुणा करने पर लब्ध हो, जैसे ८१ का वर्गमूल हुआ ९, क्योंकि ९का ९से गुणा करने पर ८१ संख्या बनी। और द्वितीय वर्गमूल—उस प्रथम वर्गमूलमें जो द्वितीय वर्गमूल हुआ, जैसे ३ गुणा ३ बराबर ९ अर्थात् जो ३ वर्गमूल हुआ वह कहलाया द्वितीय वर्गमूल फिर उस द्वितीय वर्गमूलका भी जो वर्गमूल किया जाय वह है तृतीय वर्गमूल। यों सूच्यंगुलके प्रथम वर्गमूल और तृतीय वर्गमूलका गुणा करें जगतश्रेणीमें। जगतश्रेणी कहते हैं ऐसी १४ राजू लम्बी पतली रेखाको जिसम असंख्यात प्रदेश भरे हैं। उनमे भाग देनेसे जितना लब्ध हो वह निकलेगा मनुष्यराशिका प्रमाण। यह भी है पल्यके असख्यातवें भाग। अब जान लीजिए कि मनुष्य भी अनगिनते होते हैं। लेकिन गर्भज मनुष्य नहीं। गर्भज मनुष्य तो २९ अक प्रमाण हैं, मगर ऐसे सम्मूर्छिममनुष्य भी मिला लो, जो आंख, नाक, कांख आदिकसे उत्पन्न होते हैं। सारे लब्ध्यपर्याप्तकमनुष्य भी मिला लो। तो मनुष्य अनगिनते हैं। उनसे भी अनगिनते गुने नारकी जीव हैं। नारकी जीवोंका प्रमाण बताया है कि एक घनागुलके द्वितीय वर्गमूलसे जगतश्रेणिका भाग दें, फिर जो लब्ध हो उतने हैं नारकी। एक प्रदेशमात्र पतली एक अगुलकी रेखा सूच्यगुल है और घनागुल होगी उतनी ही मोटी उतनी ही चौड़ी, उतनी ही लम्बी। इस घनांगुलमें सूच्यगुलसे कई गुने प्रदेश हैं, उनका भाग दें, उसके

द्वितीय वर्गमूलका भाग दें जगतश्रेणीमें तो नारकी जीवोंकी संख्या निकलेगी और नरको जीवोंसे असंख्यातगुने हैं सारे देव । यों तीन गतियोंके जीवोंकी संख्या बतायी गई है ।

पंचक्खा चउरक्खा लद्धियपुण्णा तहेव तेयक्खा ।
वेयक्खा वि य कमसो विसेस-सहिदा हु सव्व-संखाए ॥१५४॥

लब्ध्यपर्याप्त पञ्चेन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व द्वीन्द्रिय जीवोंका तुलनात्मक पद्धतिसे परिमाण— संसारमें जीव नाना प्रकारके है—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय । ये तो इन्द्रियके हिसाबसे भेद हैं । अब इनमें भी कुछ लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं, कुछ पर्याप्तक होते हैं । लब्ध्यपर्याप्तका अर्थ यह है कि कोई जीव मरकर जन्म लेनेके लिए आया । जिस शरीरको वह ग्रहण करेगा उस शरीर पर आ गया । अब जो जीव आया है वह पहिलेका शरीर तो छोड़कर आया है, नया शरीर ग्रहण करेगा तो उस जीवमें आते ही तुरन्त यह शक्ति नहीं हो पाती कि उस शरीरको शरीर बना ले । उस शरीरको शरीररूप बनानेमें कुछ दो चार छः सेकेण्ड विलम्ब लगता है । तो जब तक शरीर बनाने की शक्ति जीवमें पूरी नहीं आती तब तक वह जीव कहलाता है, अपर्याप्त और जब शक्ति पूरी आ गई तो कहलाता है पर्याप्त । अपर्याप्त और पर्याप्त ऐसी दो बातें सामान्यतया सब जीवोंमें हैं, किन्तु अपर्याप्त दो तरहके होते हैं—एक तो ऐसे कि उस शरीर बननेकी शक्ति पूरी आनेसे पहिले मरेंगे नहीं, पूरे बन कर मरेंगे और कुछ जीव ऐसे होते हैं कि पर्याप्तिसे पहिले ही मर जायेंगे तो जो पहिले मर जायेंगे उन्हें लब्ध्यपर्याप्त कहते हैं । तो हम आप लोग निवृत्यपर्याप्त थे । जिस क्षणसे जन्म हुआ है गर्भमें आये तुरन्त दो चार सेकेण्ड निवृत्य पर्याप्त थे । लब्ध्यपर्याप्त जीव खोटे जीव हैं । जन्मे और तुरन्त मर गए । शरीर शक्ति भी पूरी नहीं आ पायी और मर गए, तो उनके पापका उदय है । तो लब्ध्यपर्याप्त भी सब जातिमें होते हैं और निवृत्यपर्याप्त भी प्रत्येक जातिमें होते हैं । निवृत्यपर्याप्त जीव बादमें पर्याप्त हो जाते हैं ।

एकेन्द्रियादि जीवोंमें पर्याप्तिविवरणसहित लब्ध्यपर्याप्तोंके परिमाणका निदश— एकेन्द्रिय जीवके चार पर्याप्तियां हैं, लेकिन कोई एकेन्द्रिय जीव यदि लब्ध्यपर्याप्त है और पर्याप्ति पूरी होने से पहिले ही मर जायेगा उसके आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास— ये चार पर्याप्तियां प्रारम्भ तो होती हैं, किन्तु पूर्णतासे पहिले वह मर जाता है, और जो पर्याप्ति एकेन्द्रिय हो गए उनके चार पर्याप्तियां पूरी होंगी । तो लब्ध्यपर्याप्त जीवके एकेन्द्रियमें चार पर्याप्ति अधूरी बनेगी । पर्याप्तएकेन्द्रियमें चार पर्याप्ति पूरी होंगी, याने चारों पर्याप्तियोंको एकेन्द्रियने ग्रहण किया, मगर लब्ध्यपर्याप्तक पूरी नहीं बन सकती है । पर्याप्तएकेन्द्रियके पूरी बन जायगी । दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असञ्ज्ञी पंचेन्द्रियमें ५ पर्याप्तियां है, उनके मन नहीं है । वे लब्ध्यपर्याप्तक होंगे तो पाँचों अधूरे रहेंगे और मर जायेंगे । पर्याप्त होंगे तो पांचों पूरे हो जायेंगे । पर्याप्तिका ग्रहण तो एक साथमें है किन्तु पूर्णता क्रमसे होगी । सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके छहों पर्याप्ति हैं तो वे जन्मस्थानपर आकर छहों पर्याप्तियोंको ग्रहण तो एक साथ करेंगे, पर पूर्णता क्रमसे होगी । तो यहां लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंमें यह बतला रहे हैं कि किस जाति के लब्ध्यपर्याप्तक थोडे हैं और किस जातिके लब्ध्यपर्याप्तक अधिक है ? पञ्चेन्द्रिय जीव लब्ध्यपर्याप्तक सबसे थोडे है, उनसे अधिक लब्ध्यपर्याप्तक चौइन्द्रिय जीव हैं, उनसे अधिक तीनइन्द्रिय जीव लब्ध्यपर्याप्तक हैं, उनसे अधिक दो इन्द्रिय जीव लब्ध्यपर्याप्तक हैं । पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें भी लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं, मनुष्य भी लब्ध्यपर्याप्त होते हैं । जो काँख आदिक स्थानोंसे उत्पन्न होते है और अनेक तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय भी लब्ध्यपर्याप्त होते हैं । तो समस्त पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त होकर भी अन्य सब प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तकोंसे थोडे है । हैं यद्यपि अनगिनते, थोडेके मायने संख्यामें नहीं पर अनगिनते में और

की अपेक्षा कम हैं। उनसे अधिक हैं चारइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त और उनसे अधिक हैं तीनइन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त और उनसे भी अधिक हैं दो इन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त।

चउरक्खा पंचक्खा वेयक्खा तह य जाण तेयक्खा।
एदे पज्जत्ति-जुदा अहिया अहिया कमेणेव ॥१५५॥

पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, दोइन्द्रिय जीवोंका तुलनात्मक विधिसे परिमाण—चौइन्द्रिय जीव, पञ्चेन्द्रिय जीव, तीनइन्द्रिय, दोइन्द्रिय जीव ये पर्याप्त उत्तरोत्तर क्रमसे अधिक-अधिक है। एकेन्द्रिय जीवो मे निगोद भी हैं और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्येकवनस्पति भी है और सभीमें लब्ध्यपर्याप्त भी हैं और पर्याप्त भी हैं। एकेन्द्रियका वर्णन अधिक है। इस कारण इस कथनमें एकेन्द्रियकी बात संक्षेपमें न बताकर अलगसे बतायी गई है। इस गाथामे पर्याप्त जीवोंमे अल्प बहुत बता रहे हैं। कौन जीव अल्प हैं और कौन जीव बहुत हैं? पर्याप्त उन्हें कहते हैं कि जिनकी पर्याप्तियां पूरी हो गई और पर्याप्त के बाद ही तभी मरण होगा जब जिसका समय आये। तो ऐसे पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें चारइन्द्रिय पर्याप्त जीव सबसे थोडे है। चार इन्द्रिय पर्याप्तक जीव सब प्रकारके पर्याप्तकोंसे थोडे है। उनसे अधिक पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त है। अब इन पञ्चेन्द्रियोमे देव, नारकी, मनुष्य पर्याप्त तो सब आ ही गए और तिर्यंच पचेन्द्रिय भी। ये सब मिलकर चारइंद्रिय पर्याप्तसे अधिक है, इससे अधिक हैं-दोइन्द्रियपर्याप्त। अब यहां जाने कि जिनके स्पर्शन और रसना ये दो ही इन्द्रियां है, ऐसे जीव पंचेन्द्रियसे भी अधिक हैं और उनसे अधिक तीनइंद्रिय है। चींटा चींटी आदि जिनके चारसे अधिक पैर है ऐसे जीव प्रायः तीनइन्द्रियमें मिलेंगे। जैसे कानखजूरा गुम्ही, चींटी, चींटा, बिच्छू आदि ये सब तीनइन्द्रिय जीव है। तो पर्याप्त, दोइन्द्रिय जीव उन दोइन्द्रियपर्याप्तोंसे भी अधिक है।

परिवज्जिय सुहुमाणं सेस-तिरिक्खाण पुण्ण-देहाण।
इक्को भागो होदि हु संखातीदा अपुण्णाणं ॥१५६॥

सूक्ष्मातिरिक्त शेष तिर्यञ्चोमे पर्याप्त व अपर्याप्तोका परिमाण—सूक्ष्मजीवके अलावा बाकी जितने तिर्यञ्च हैं- मायने बादर तिर्यञ्च उन सब तिर्यञ्चोमे पर्याप्त ज्यादा होते है या अपर्याप्त ज्यादा होते हैं, यह बात इस गाथामे दिखाई जा रही है। जो जीव बादर हैं ऐसे तिर्यञ्चोमे पर्याप्त जीव कम हैं और अपर्याप्त जीव अधिक हैं। पर्याप्तजीव तो एक भाग प्रमाण हैं और अपर्याप्त जीव असंख्यात बहुभाग प्रमाण हैं। सूक्ष्मजीव कहां कहां होते हैं? पृथ्वीकायमें सूक्ष्म होते हैं।

सूक्ष्मजीव उसे कहते है कि जो गमन करें तो उनका शरीर किसीसे भी छिद नहीं सकता। वज्र पटल भी आगे हो और वह जीव आगे बढ रहा है, उसकी गति हो रही है तो उससे भी छिद नहीं सकता, ऐसा शरीर जिन जीवोंके होता है उनको सूक्ष्मजीव कहते हैं। सूक्ष्मजीवका अग्निसे, जलसे हवासे, वज्रपटलसे, किसीसे भी घात नहीं होता। अग्निसे वे मरते नहीं, लेकिन उनकी आयु बहुत थोडी होती है। सो वे तुरन्त मरते जाते हैं अपनी आयुके क्षयसे। सूक्ष्मजीवोंको जो दुःख है वह अपने कर्मोदयसे अपने आप हो रहा है। उनको कभी मारे, छेडे, सो तो होता नहीं, इस विधिसे उन्हें क्लेश नहीं है, पर क्लेश इससे भी अधिक उनके कर्मके कारणसे रहता है। भला बतलाओ कि जो जो जीव एक श्वासके १८वें भागमें मरते रहते है उनके इस जन्ममरणके दुःखका कौन वर्णन कर सकता है? जन्ममरणसे बढकर इस जीवको अन्य कुछ भी दुःख नहीं है। लोग तो मरणको ही बडा दुःख समझते हैं क्योंकि मरण दूसरों का देखते हैं और उस मरणमे उनका क्लेश समझा जाता है उस खुदका भी। अगर कोई मरणकी शका बना दे कि तुम्हारा तो मरण होने वाला है तो वह सुनने वाला बड़ा क्लेश मानता है, किन्तु मरणमें जो क्लेश होता है उससे भी अधिक क्लेश जन्मके समयमें है। लोग जन्म समझते हैं यहांके गर्भसे मनुष्य

निकला, अथवा पशु निकला तो उसे देखकर लोग कहते हैं कि अब इसका जन्म हुआ है और इसको बड़ा कष्ट है। ऐसे जन्मके समय दुःख बच्चेको होता है इसको सभी लोग जानते हैं। वह बच्चा बड़ी कठिनाईसे निकलता है। उसके अत्यन्त कोमल अंग होते हैं। गर्भसे निकलकर भी उसको बहुत समय तक छटपटाहट रहती है, मगर वह जन्म नहीं कहलाता है। जन्म तो मनुष्यका उस समय कहलायेगा जब कि वह गर्भमे आया, वह उससे भी पहिले जन्म कहलायेगा। गर्भमे अभी आ पाया लेकिन जहांसे मरकर आया है वह स्थान छूटा कि जन्म कहलाने लगा। विग्रहगतिमें ही जन्म नहीं कहलाने लगता है। गर्भमे आया कि जन्मके बाद गर्भमें कोई जीव यदि मोड़ा लेकर गर्भस्थानपर नही आता। सीधी गतिसे आता है तो उसका जन्म व जन्मस्थानपर होना पहिले ही समयमें हो जाता है। जीव जब मोड़ा ले करके जन्मस्थानपर आया तो उसको दो समय लगते है। मोडा लेनेमे एक समय लग जाता है। तो जो जीव सीधी गतिसे जन्म लेगा उसका १ समयमे जन्म होता है, याने एकदम फैला, स्थानपर पहुचा और सिकुड़ गया। उसे दो समय नहीं लगते। यहां सूक्ष्मजीवोकी बात कह रहे है कि सूक्ष्मजीव कौन कौन होते है?

एक शंकासमाधानपूर्वक बादरपर्याप्त अपर्याप्तोके परिमाणका उपसहार—यहा प्रश्न यह किया जा रहा है कि जीव जब जन्म लेता है तो उस स्थानपर पहुचने से पहिले क्या वह नियत स्थान हो जाता है? स्थान वह यों है कि जहां वह जायेगा, जहां जन्म लेगा, वह बात सर्वज्ञदेवके ज्ञानमें ज्ञात है या अवधिज्ञानी मुनि संतोंके ज्ञानमें ज्ञात है लेकिन इस किसी भी अल्पज्ञ जीवको ज्ञात नहीं है कि मै कहां जन्म लूंगा? तो उस अपेक्षासे वह स्थान नियत है। आखिर जहा कहीं भी जीव जायगा वह तो वहां जायगा और उसे ज्ञानी सतोने जान लिया है अतएव वह स्थान नियत है। दूसरे जब जीव कर्मबध करता है तो कर्म नाना प्रकारके बधते हैं। उन कर्मबन्धोकी जातिके हिसाबसे भी उसके स्थानका नियतपना ज्ञात होता है। तो सूक्ष्म जीव होते कितने है? यह बात यहां चल रही है। पृथ्वीकायिक सूक्ष्म हैं। जो पत्थर कंकड़, मिट्टी, आदि दिख रही हैं ये सूक्ष्म नहीं हैं। सूक्ष्म तो इतने शरीर होते है कि वे किसीसे भिड़ भी नहीं सकते। ऐसे सूक्ष्म पृथ्वीकाय इस आंगनके आकाशमे भी खूब ठसाठस भरे पडे हुए हैं। जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और बनस्पतिकाय भी सूक्ष्म जीव होते है। त्रस जीवोंमे सूक्ष्म शरीर नहीं होता है। चाहे कितना ही बारीक शरीर हो, फिर भी त्रस जीवोंके बादर कर्मका ही उदय रहता है। तो इन सूक्ष्म जीवोंको छोड़कर बाकी जो बचे हुए बादर पृथ्वीकायिक, जलकायिक अग्निकायिक, वायुकायिक और बनस्पतिकायिक हैं ये एकेन्द्रिय तिर्यञ्च ह। इनमें एक भाग प्रमाण तो पर्याप्त जीव है और असख्यात बहुभाग प्रमाण अपर्याप्तक हे। याने बादर जीवोमे पर्याप्त थोडे होते हैं और अपर्याप्त बहुत हो है। यह एकइन्द्रियकी बात कही जा रही है। एकेन्द्रियमे जो बादर एकेन्द्रिय है उनमें पर्याप्त जीव याने ऐसे बादर एकेन्द्रिय जीव जो शरीर बननेकी शक्ति पूरी कर सकेगे। ऐसे पर्याप्त जीव कम है और जो पर्याप्ति पूरी किए बिना ही मरण कर जायेंगे ऐसे अपर्याप्त जीव बहुत पाये जाते हैं तो थोडे हैं भी पाये जा रहे है कहा है। लेकिन ये भी असख्याते है। असख्यातके मायने किसी भी विधिसे जो कुछ भी संख्या सोची जासकती है उस संख्यासे भी परे जिसकी गिनती जानना अशक्य है। तो सख्या उत्कृष्ट क्या होगी? जो असख्यात है जघन्य, उसमे एक कम कर दिया तो वह उत्कृष्ट संख्यात है, क्योंकि उत्कृष्ट संख्या हम संख्यामे ला ही नहीं सकते। वह भी बहुत बड़ी, उससे भी अधिक जो होती है उसे असख्यात कहते हैं।

गतिकी अपेक्षा जीवसख्याका अल्पबहुत्व कहकर बादरकाय तिर्यञ्चोमे पर्याप्त अपर्याप्तोका अल्पबहुत्व—इस प्रकरणमे सबसे पहिले यह बताया था गतिके हिसाबसे कि चार गतियोमें सबसे कम जीव हैं मनुष्य, उससे असख्यात गुने जीव हैं नारकी। नारकियोसे असंख्यातगुने है देवगतिके जीव और देवगतिके जीवोंमे असंख्यात और अनन्तगुने हैं तिर्यचगतिके। अब आगेकी गाथामें इन्द्रियके हिसाबसे जीवोंमें

संख्या बतायी जावेगी कि कौन जीव कम हैं और कौन जीव अधिक हैं। उनमें यह वर्णन पर्याप्त अपर्याप्तके विभागसे किया गया है। इस गाथामें यह बताया है फिर सूक्ष्म जीवोंको छोड़कर जितने शेष तिर्यंच है उनमें एक भाग तो पर्याप्त है और असंख्यात बहुभाग अपर्याप्त है। इस गाथामें यह दिग्दर्शन कराया है कि सूक्ष्म पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और सूक्ष्म वनस्पति, इनमें तो पहिले बताया गया था कि अपर्याप्त जीव थोडे हैं और पर्याप्त जीव बहुत हैं। उसका कारण है कि अपर्याप्त जीवोका काल है थोड़ा और पर्याप्त जीवोका काल है अधिक, इसलिए संचित हो होकर ये सूक्ष्मपर्याप्तक जीव गणनामें अधिक हो जाते हैं लेकिन यहां बादर जीवोंकी बात कह रहे हैं कि बादर पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और वनस्पति ये एकेन्द्रियतिर्यंच पर्याप्तक तो थोडे है और अपर्याप्त अधिक है। इससे अपर्याप्त जीवोंका प्रमाण लोकके असंख्यातवें भाग है और अपर्याप्त जीव असंख्यात लोक बहुभाग प्रमाण है। इसमे अपर्याप्त जीव अधिक होते है।

सुहुमापज्जत्ताण इक्को भागो हवेदि णियमेण।
संखिज्जा खलु भागा तेसिं पज्जत्ति-देहाण ॥१५७॥

सूक्ष्मअपर्याप्त जीव एक भाग प्रमाण होते हैं और सूक्ष्मपर्याप्त जीव संख्यात बहुभाग प्रमाण होते हैं। यह एक सामान्यसे कथन किया गया है। इसको पृथ्वीकायक आदिक भेदोंमें विवरणसहित कहा जाय तो उसकी संख्या इस प्रकार होगी कि इन समस्त एकेन्द्रिय जीवोंमे सबसे कम जीव अग्निकायके है। अतएव सबसे पहिले अग्निकायक जीवोंका परिमाण समझ लेना चाहिए। और इससे यह भी अंदाज होगा कि जब अग्निकाय जीवकी इतनी बड़ी गणना है जो बहुत अधिक असंख्याते विदित होगी तो समझमे आयगा कि पृथ्वी आदिक जीवोंकी गणना कितनी विशेष है? अग्निकायक जीवोंकी सख्या बताई गई है लोकराशिका ३ सही १ बटा २ बार परस्परमें गुणा करनेसे जो लब्ध हो उतने प्रमाण। ३ सही १ बटा २ बार लोकराशिका परस्पर गुणा करनेका भाव यह है कि लोकके जितने प्रदेश होते हैं वे सब असख्यात हैं, उतने प्रमाण विरलनदेहसलाका राशि बनाकर गुणा करते हैं इसको कहते हैं एक बार लोकराशिका परस्परमे गुणा। यो ३ सही १ बटा २ बार गुणित होनेसे जितना लब्ध आयगा उतने असंख्यात अग्निकायक जीवोंका परिमाण है। विरलनदेहसलाकाका अर्थ सुनो— जैसे ४ संख्याका विरलनदेहसलाका पद्धतिका परिमाण जानना है तो इसका अर्थ यह है कि ४ जगह १-१ लिखिये। फिर उस १–१ के नीचे ४–४ लिखिये और उनको परस्परमे गुणा कीजिए। ४ गुणा ४ बराबर १६, १६ गुणा ४ बराबर ६४, ६४ गुणा ४ बराबर २५६ लब्ध आते हैं। अब ४ मेंसे १ नष्ट कर दिया जाय अर्थात् एक बार गुणा हो चुका, अब दूसरी बार विरलनदेहसलाका पद्धतिसे गुणा कीजिए, याने २५६ बार १-१ रखना और उसके नीचे २५६–२५६ लिखते जाना। इस २५६ बार लिखे गए २५६का परस्परमें गुणा कीजिए। जितना हो— लब्ध होंगे कई अरबों, खरबों प्रमाण। तब तक सलाका कम कर दिया जाय याने दो बार गुणा हो गया। अब जो लब्ध आया उतनी बार, फिर उनका विरलन करके परस्पर गुणा किया जाय तो आप यह अदाज करे कि केवल ४ सख्याका ३ बार विरलनदेहसलाका भी सख्यामें जुड नहीं सकती। तब समझिये कि लोकके प्रदेश हैं असख्यातप्रमाण और उन सब प्रदेशोंका विरलनदेहसलाका पद्धतिसे ३ सही १ बटा २ बार गुणा करना है। तब जितने लब्ध आये उतने असख्याते प्रमाण अग्निकायके जीव है। तो तीन बाद इस तरह लोक प्रमाण असख्यात प्रदेशको विरलनदेहसलाका पद्धतिसे जो महाराशि उत्पन्न की गई है उस महाराशि प्रमाण हुए विरलन और देहराशि रखी जाय और पहिली बार दूसरी बार, 'तीसरी बार रखी हुई सालाकाराशिको छोडकर जितना प्रमाण हो उतना उस राशिमेंसे कम करनेपर जो शेष रहे उसको सलाकाराशिमेंसे घटाकर जो उत्पन्न हो उतने प्रमाण अग्निकायक जीव हैं।

इससे केवल एक अंदाज ही बनायी जा सकती है कि अग्निकायक जीवोंकी इतनी विपुल सख्या है। अब अग्निकायक जीवोंकी राशिमे असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध हो उतना मिला देनेपर पृथ्वीकायक जीवोंका प्रमाण होता है। और, पृथ्वीकायक जो संख्याके असख्यात लोकका भाग देनेसे लब्ध हो उतना और मिला दिया जाय तो जलकायक जीव होते है और इससे असख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध हो उतना और मिलानेपर वायुकायिक जीवोका प्रमाण होता है। अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पतिकायिक जीव असख्यातलोकप्रमाण हैं इनसे असंख्यातलोकगुणे सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पतिकायिक जीव है। प्रतरांगुलके प्रदेशोंमे आवलीके असख्यातवें भाग प्रमाण समयसख्याका भाग देनेसे जो लब्ध हो उससे भाजित जगतप्रतरके प्रदेशो प्रमाण त्रसजीव हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येकवनस्पति व त्रसकायके जीवोका प्रमाण समस्त संसारी जीवोसे कम कर देनेपर जो लब्ध हो उतने साधारणवनस्पतिकायिक जीव हैं, ये अनन्तानन्त है। छह कायके जीवोंकी दृष्टिसे यह प्रमाण रहा—सबसे कम अग्निकायिक जीव हैं (जो कि साढे तीनबार विरलनदेयशलाकाविधिसे लोकराशि गुणित हैं) उनसे अधिक पृथ्वीकायिक जीव हैं। उनसे अधिक जलकायिक जीव हैं। उनसे अधिक वायुकायिक जीव हैं। उनसे अधिक त्रस जीव हैं। उनसे अधिक प्रत्येकवनस्पतिकायिक जीव हैं। उनसे अधिक सप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिकायिक जीव हैं, ये अनन्तानन्त हैं। इन्द्रियजातिकी अपेक्षा इनका प्रमाण इस प्रकार है—पञ्चेन्द्रिय जीव इन्द्रियगतिमे सबसे कम है। उनसे अधिक चतुरिन्द्रिय हैं। उनसे अधिक त्रीन्द्रिय हैं। उनसे अधिक द्वीन्द्रिय है। उनसे अधिक एकेन्द्रिय हैं, ये अनन्तानन्त हैं।

संखिज्जगुणा देवा अंतिमपडलाद आणदं जाव।
तत्तो असंखगुणिदा सोहम्म जाव पडिपडलं ॥१५८॥

अन्तिम पटलसे लेकर आनत स्वर्गपर्यन्त प्रत्येक भागोंमें देव संख्यात गुणे हैं। आनत स्वर्गसे नीचे सौधर्मस्वर्ग पर्यन्त देव प्रत्येक पटलमे असंख्यागुणे हैं। अन्तिम पटल है अनुत्तरका, उसमे अहमिन्द्र रहते हैं, उन देवोंकी गणना पल्यके असंख्यात भाग प्रमाण है। अनुत्तर पटलसे अनुदिशमें संख्यातगुणे हैं। अनुदिशसे ऊर्द्ध ग्रैवेयकत्रितयमे सख्यातगुणे है। उनसे मध्यमग्रैवेयकत्रयमें संख्यातगुणे हैं। उनसे अधोग्रैवेयकत्रयमें संख्यात गुणे हैं। उनसे अच्युत आरण स्वर्गमें संख्यातगुणे हैं। उनसे आनत प्राणत स्वर्गमे संख्यातगुणे हैं। किन्तु पल्यके असंख्यातवे भागसे ज्यादा ये कोई नहीं हैं। आनत प्राणतके पटलसे नीचे प्रत्येक पटलमें असंख्यात असख्यातगुणे देव हैं। १६ स्वर्गोंमें देवोंका प्रमाण जो कहा है उसमें देव और देवियां सब मिलाकर हैं। यह सब प्रमाण उत्कृष्टताकी अपेक्षासे है। इस प्रकार वैमानिक देवोंकी गणना है।

सत्तमणारयहितो असंखगुणिदा हवंति णेरइया।
जाव य पढम णरय बहुदुक्खा होंति हेट्ठिट्ठा ॥१५६॥

सातवें नरकसे लेकर ऊपर पहिले नरक तक नारकियोंकी सख्या असंख्यात असंख्यातगुणी चली गई है। इनमे सप्तम नरकके नारकियोंकी गणना सबसे कम है लेकिन ये भी असंख्यात हैं। याने जगतश्रेणिके दूसरे वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणि प्रमाण है। छठे नरकके नारकी जगतश्रेणिके तीसरे वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणिप्रमाण हैं। पांचवे नरकके नारकी जगतश्रेणिके छठे वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणिप्रमाण हैं। देखिये ११वे व १२वे स्वर्गके और ६वें १०वें स्वर्गके देव देवियोंकी सख्या छठे नरकके नारकियोंकी संख्यासे ज्यादा है और पाँचवे नरकके नारकियोकी सख्यासे कम है, क्योंकि शतार सहस्रार स्वर्गके वासियोंकी संख्या जगतश्रेणिके चतुर्थ वर्गमूलसे भाजित जगत श्रेणिप्रमाण हैं

और शुक्र महाशुक्र स्वर्गके वासियोंकी संख्या जगतश्रेणिके पञ्चमवर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणिप्रमाण है। चौथे नरकके नारकियोंकी संख्या जगतश्रेणिके आठवें वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणिप्रमाण है। देखिये लान्तव कापिष्ट स्वर्गके वासियोंकी सख्या पांचवें नरकके नारकियोंसे ज्यादा है, किन्तु चौथे नरक के नारकियोसे कम है। क्योंकि लान्तवकापिष्ट स्वर्गवासियोंकी संख्या जगतश्रेणिके सातवें वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणिप्रमाण है। तृतीय नरकके नारकियोंकी संख्या जगतश्रेणिके दसवें वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणि प्रमाण है। देखिये ब्रह्मब्रह्मोत्तर नामक स्वर्गके वासियोंकी संख्या चौथे नरकके नारकियोंकी संख्यासे अधिक हैं, किन्तु तीसरे नरकके नारकियोंकी संख्यासे कम है क्योंकि ब्रह्मब्रह्मोत्तरवासियोंकी संख्या जगतश्रेणिके नवम वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणिप्रमाण है। द्वितीय नरकके नारकियोंकी संख्या जगतश्रेणिके बारहवे वर्गमूलसे भाजित जगतश्रेणि प्रमाण है। देखिये तीसरे और चौथे स्वर्गके वासियों का प्रमाण द्वितीय नरकके नारकियोंकी संख्यासे कम है और तृतीय नरकके नारकियोंकी संख्यासे अधिक है। क्योंकि सनत्कुमार महेन्द्रस्वर्गके वासियोंकी सख्या जगतश्रेणिके ११वें वर्गमूलसे भाजित जगत श्रेणिप्रमाण है। प्रथम नरकके नारकियोंकी संख्या द्वितीय नरकके नारकियोंसे असंख्यातगुणी है। समस्त नरकके नारकियोंकी संख्या घनांगुलके दूसरे वर्गमूलसे गुणित जगतश्रेणिप्रमाण है। इन समस्त नारकियोंकी संख्यामेंसे दूसरेसे सातवें नरक तकके नारकियोंकी संख्या कम करनेसे जो लब्ध हो उतना प्रमाण प्रथम नरकके नारकियोंका होता है। इन सातों नरकोंमें ऊपरसे नीचेके नरकोंमें अधिकाधिक दुःख हैं।

> कप्पसुरा भावणया विंतर देवा तहेव जोइसिया।
> वे हुंति असंखगुणा संख गुणा होंति जोइसिया ॥१६०॥

कल्पवासी देवोंसे असंख्यातगुणे भवनवासी देव हैं। भवनवासी देवोंकी असंख्यासे संख्यातगुणे व्यन्तर देव हैं। व्यन्तर देवोंकी सख्यासे संख्यातगुणे ज्योतिष्क देव हैं। प्रथम स्वर्गसे लेकर १६ वें स्वर्ग तकके देव कल्पवासी कहे जाते हैं, किन्तु यहां सर्व वैमानिको को कल्पसुर कहा है। इनकी संख्या घनांगुल के तीसरे वर्गमूलसे गुणित जगतश्रेणी प्रमाण हैं। भवनवासी देव घनांगुलके प्रथम वर्गमूलसे गुणित जगतश्रेणि प्रमाण हैं। तीन सौ योजनके वर्गसे भाजित जगतश्रेणिके प्रदेशो प्रमाण व्यन्तर देव हैं। दो सौ छप्पन घनांगुलके वर्गका जगतप्रतरमें भाग देनेसे जो प्रदेश लब्ध आवे, उतने ज्योतिषीदेव हैं। इस प्रकरणमे स्थूलरूपसे यह समझलें कि वैमानिक देवोंसे अधिक समस्त नारकी जीव हैं। समस्त नारकी जीवोंसे अधिक भवनवासी देव हैं। भवनवासी देवोंसे अधिक व्यन्तरदेवोंकी संख्या है। व्यन्तरदेवोंसे अधिक ज्योतिषी देवोंकी संख्या है। इस प्रकार देवगति आदिमें जीवोंका अल्प बहुत्व बताकर एकेन्द्रियादि जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन गाथाओंमे कहेंगे।

भूल सुधार

नोट—अगले पेजोंके नम्बर भूलसे गलत पड़ गये हैं, किन्तु पेजोंकी पाठ्य विषय-सामग्री ठीक है। जहां पर पेज नम्बर २१९ है वहा पर २८९ समझें और जहा पर पेज नम्बर ३२७ है वहां पर ३०७ समझें। गलतीका कारण यह है कि भूलसे अंतिम लेखकी कापी पहिले कम्पोज हो गई सो अंदाजसे नम्बर डालकर पेज छाप दिये थे। पढ़ने वाले को कोई असुविधा नहीं है, केवल पृष्ठ सख्याओमे अन्तर है।

अनुप्रेक्षा प्रवचन तृतीय भाग

पत्तेयाणं आऊ वास-सहस्साणि दह हवे परमं।
अंतो-मुहुत्तमाऊ साहारण-सव्व-सुहुमाणं ॥१६१॥

प्रत्येकवनस्पति, सभी साधारणवनस्पति और सूक्ष्मकायिक जीवोकी उत्कृष्ट आयु—प्रत्येकवनस्पतियोंकी उत्कृष्ट आयु १० हजार वर्षकी है। प्रत्येकवनस्पति जैसे ताड़ वृक्ष, नारियल वृक्ष, इमली, पीपल आदिक इनमे जो प्रत्येकवनस्पति रहते है इनकी अधिकसे अधिक आयु १० हजार वर्षकी है। जैसे मनुष्यकी आयु है ऐसे ही उनकी भी आयु होती है, जब आयु पूर्ण होती है तो मरण होता है। तो जैसे एक भवमे इस समय जो वनस्पति जीव है वह अपने शरीरमें अधिकसे अधिक १० हजार वर्ष तक रह सकता है। और कोई अनेक जगह बहुत पुराने वृक्ष खडे हुए अब भी मौजूद हैं जिनका कि कोई अदाज हजार दो हजार वर्षका अब भी करते है। तो इनकी उत्कृष्ट आयु १० हजार वर्ष है। निगोद जीवोंकी उत्कृष्ट आयु अन्तमुहूर्तकी है, निगोद जीव चार तरहके होते हैं। पहिले तो दो भेद यों कहे नित्यनिगोद और इतर-निगोद। जो जीव निगोदसे आज तक नहीं निकले उनका नाम है नित्यनिगोद और जो जीव कभी निगोदसे निकल गए थे और फिर निगोदमें आये उनका नाम है इतरनिगोद। नित्यनिगोद जीव दो प्रकारके होते हैं—एक अनादिअनन्त नित्यनिगोद और दूसरे अनादिसांत नित्यनिगोद। जो कभी निकले नहीं और कभी निकलेंगे भी नहीं उन्हें अनादिअनन्त नित्यनिगोद कहा है। जैसे अब तक जो जीव नही निकले निगोदसे उन्हें भी तो अनन्तकाल व्यतीत हो गया और ऐसे बहुत कालके बाद भी चर्चा आयेगी नित्यनिगोदकी तो यही आयेगी कि जो अब तक नहीं निकले। तो दो प्रकारके निगोद हुए—नित्यनिगोद और इतरनिगोद, और ये दोनों दो दो प्रकारके हैं—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म नाम है उनका जिनका शरीर अग्नि, जल, वायु या वज्र किसीसे भी नही छिड़ सकता। और जिन जीवोंके शरीर का परसे आघात होता है उन्हें कहते हैं बादर जीव। तो सूक्ष्म नित्यनिगोद, बादर नित्यनिगोद, सूक्ष्म इतरनिगोद, बादर इतरनिगोद, इन सबकी उत्कृष्ट आयु अन्तर्मुहूर्तकी होती है और सूक्ष्म पृथ्वीकाय, सूक्ष्म जलकाय, सूक्ष्मअग्निकाय, सूक्ष्म वायुकाय, इन जीवोंकी उत्कृष्ट आयु भी अन्तर्मुहूर्तकी होती है। गाथामे पहिले जीवोंकी संख्याका वर्णन था और संख्यारूपसे निश्चित किए गए ये जीव किस किस इस प्रकारकी आयु वाले होते हैं ? वह वर्णन अब प्रारम्भ हो रहा है।

बावीस-सत्त-सहसा पुढवी-तोयाण आउसं होदि।
अग्गीण तिण्णि दिणा तिण्णि सहस्साणि वाऊणं ॥१६२॥

पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय व वायुकाय जीवोकी उत्कृष्ट आयु—पृथ्वीकी उत्कृष्ट आयु २२ हजार वर्षकी है। पृथ्वीके नीचे जो हीरा रत्न आदिक पत्थर पडे हैं ये सब पृथ्वीकाय हैं। तो उनमें अनेक पृथ्वीजीव ऐसे हैं कि वे अपने शरीरको २२ हजार वर्ष तक रखे रहते हैं। हाँ पृथ्वियोमें जो कोमल पृथ्वी है उसकी उत्कृष्ट आयु १२ हजार वर्ष ही किन्तु जो कठोर पृथ्वी है हीरारत्न आदिक रूपमे उसकी उत्कृष्ट आयु २२ हजार वर्ष तक की मानी गई है। जलकायिक जीवोकी उत्कृष्ट आयु ७ हजार वर्षकी है। जैसे बडे-बडे समुद्रोंमे जो जलकायिक जीव हैं वे स्वयं एकेन्द्रिय जीव हैं, वे अपने शरीरको अधिकसे अधिक ७ हजार वर्ष तक टिकाये रह सकते हैं, फिर उनमे मरते रहते है और नये जीव पैदा होते रहते

है। जो जलका सारा समूह है, इतना बड़ा जो समुद्र है वह एक जल नहीं है, जलकी छोटीसे छोटी बूँद जो सूईसे टपकायी जा सके उससे भी बहुत अधिक छोटी बूंद वह जलका एक शरीर होता है। उसमें जो जीव रहता है एकेन्द्रिय जलकाय जीव उसकी उत्कृष्ट आयु ७ हजार वर्षकी है। समुद्र तो अनादि निधन है। पर उसमें जलकायिक जीव मरते रहते हैं, पैदा होते रहते हैं पर जलकायिक जीव अपने एक शरीरमें अधिकसे अधिक ७ हजार वर्ष तक रह सकते हैं। अग्निकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन दिन की है। आग भी स्वयं एक जीव है और वह अपने शरीरमें उस जलती हुई अग्निके रूपमें तीन दिन तक रह सकती है। कोई अग्नि इतने बड़े ईंधन वाली हो कि ८-१० दिन तक भी जले, लेकिन एक-एक अग्नि कायिक जीव अधिकसे अधिक तीन दिन तक टिक सकेगा। वायुकायिक जीवकी उत्कृष्ट आयु ३ हजार वर्षकी है। वायुका जीव अपने शरीरमें तीन हजार वर्ष तक रह सकता है। इसके बाद मरेगा यों अनेक वायुके जीव उत्पन्न होते रहते हैं, मरते रहते हैं।

बारस- वास वियक्खे एगुणवण्णा दिणाणि तेयक्खे।
चउरक्खे छम्मासा पंचक्खे तिण्णि पल्लाणि ॥१६३॥

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चकी उत्कृष्ट आयु—दो इन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु १२ वर्षकी है। अब दो इन्द्रियमे लट, केंचुवा, जोंक आदिक है सो यहां भी अधिक आयु सभव नहीं है। स्वयंभूरमण समुद्रके अनन्तरपूर्वमें जो आखिरी द्वीप है उसके उत्तरार्द्धमें वहा जो दोइन्द्रिय तिर्यञ्च रहते हैं उनकी उत्कृष्ट आयु १२ वर्षकी हो सकती है। कहीं भी हों लोकमे वे दो इन्द्रिय जीव तो वे १२ वर्षसे अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकते। तीन इन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु है ४९ दिन। चींटा, चींटी, बिच्छू, आदिक जो जीव हैं वे ४९ दिनसे अधिक जीवित नहीं रह सकते। चारइन्द्रिय जीव जैसे मक्खी, ततैया, मच्छर, भवरा आदिक इनकी उत्कृष्ट आयु ६ माहकी है। पञ्चेन्द्रियकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है, लेकिन यह तिर्यञ्चोकी बात बतायी जा रही है। पञ्चेन्द्रियोमे नारकी भी है, देव भी है, उनकी आयु सागरो पर्यन्तकी है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जैसे गाय, बैल, घोड़ा, हाथी, सिंह आदिक यहाके नहीं किन्तु भोगभूमियामें जो हैं उनकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी है। इस तरह इन जीवोंकी उत्कृष्ट आयुका वर्णन किया। अब सभी तिर्यञ्च और मनुष्योकी जघन्य आयु और देव और नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुको अब दो गाथाओंमे बतावेंगे।

सव्व-जहण्णं आऊ लद्धि-अपुण्णाण सव्व जीवाणं।
मज्झिम-हीण मुहुत्त पज्जत्ति- जुदाण णिक्किट्ठं ॥१६४॥

सर्व लब्ध्यपर्याप्त जीवोकी व पर्याप्त जीवोकी व पर्याप्त जीवोकी जघन्य आयु—लब्धपर्याप्तक जितने भी जीव है उन सब जीवोकी जघन्य आयु मध्यमहीन मुहूर्त है याने अन्तर्मुहूर्त आयुमें जो सबसे छोटी आयु अन्तर्मुहूर्तकी हो सकती है वह है। और पर्याप्त सब जीवोंकी जघन्य आयु भी मध्यमहीनमुहूर्त होती है। लब्ध्यपर्याप्तकके मायने पर्याप्त पूरी न हो सके, शरीर बननेकी शक्ति जीवोंमें पूरी न आसके और मरण हो जाय, उन जीवोको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवोकी आयु अन्तर्मूहूर्त है और वह है एक श्वासके १८वे भाग प्रमाणकालकी। स्वस्थ पुरुषकी नाड़ी एक बार उचकनेमें जो समय लगता है उतने समयमे १८ बार जन्म मरण होता है। तो एक लब्ध्यपर्याप्तक एकेन्द्रियके भी यह श्वास के १८वें भाग प्रमाण आयु है। लब्ध्यपर्याप्तक दोइन्द्रिय जीव लब्ध्यपर्याप्तक तीनइन्द्रिय जीव, लब्ध्य-पर्याप्तक चारइन्द्रिय जीव, लब्ध्यपर्याप्तक असज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव और लब्ध्यपर्याप्तक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव। याने जितने भी लब्धपर्याप्तक है एकेन्द्रियसे लेकर सज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक, सबकी जघन्य आयु एक श्वासके १८वे भाग प्रमाणक है। जैसे कि करणानुयोगके ग्रन्थोंमे भी बताया है कि लब्ध्यपर्याप्तककी

जघन्य आयु एक श्वासके १८वे भाग प्रमाण है अर्थात् ४८ मिनटमें ६६३३६ बार जन्ममरण होता है। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, एकेन्द्रियपर्याप्तक, दोइन्द्रियपर्याप्तक, तीनइन्द्रियपर्याप्तक, चारइन्द्रियपर्याप्तक और गाय आदिक कर्मभूमिया पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्योमे ६३ शलाकाके पुरुष और चरमशरीरी मनुष्योको छोड़कर बाकी कर्मभूमिया मनुष्य इन सब की भी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। यह अन्तर्मुहूर्त भी मध्यम अन्तर्मुहूर्त है। एक दो मिनटमें भी मर जाये। जो हम आप मनुष्य हैं इनकी भी आयु कमसे कम कुछ सेकेण्डोकी हो सकती है। जीव गर्भमें आया। पर्याप्त तो बन गया। पर्याप्तसे पहिले तो मरण होगा नहीं, मगर पर्याप्त बननेमे करीब दो चार सेकेण्ड लगते है। कही मनुष्य एक आध मिनट ही जिन्दा रहे और मरण हो जाय तो यह मनुष्य की जघन्य आयु है।

जीवोकी आयु आदि वर्णनसे गृहीतव्य शिक्षा—उक्त सब आयुके कथनसे अपने लिए इतनी बात शिक्षा की मिलती है कि कैसे कैसे ये जीव हैं, जिनकी कैसी संख्या, कैसी आयु और उन सब देहोसे हम आप निकल आये और आज मनुष्य हुए और मनुष्योमे भी मान लो जघन्य आयु होती, अन्तर्मुहूर्त होती या दो चार वर्षकी ही आयु होती और बीचमे ही मर जाते तो क्या यह सब संभव न था? बल्कि अब तक जो जीवित है इसमे आश्चर्य होना चाहिए। मरणका आश्चर्य संसारमे नहीं है। जैसे बरषातमें ऊपरसे जलकी बूँदे गिरती हैं तो बबूले बन जाते है। उन बबूलोंके फूट जानेमे आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य तो इसमे है कि वे अधिक समय तक टिक जाये। ऐसे ही हम आप अभी तक जीवित हैं इसमे आश्चर्य समझें और साथ ही यह सोचे कि कलका भी अपना कुछ पता नहीं है। न जाने यह मृत्यु किस बहाने हो जाय? एक कविने बताया है कि इस यमराजका नाम समवर्ती है। आयुक्षयको ही यमराज बोलते हैं, परेतराट् भी उस यमराजको कहते हैं। परेत कहते है श्मशानको और उसका राट मायने राजा। श्मशानका राजा अर्थात् यमराज, आयुक्षय, मरण। तो यह महाराज यमवर्ती है। इसके समताका परिणाम है। कैसे कि, चाहे बच्चा हो, बालक हो, जवान हो, बूढा हो, सबको वह एक गिनतीमे रखता है। याने वह यह न सोचेगा कि यह बच्चा है, इसे न मारना चाहिए। यह जवान है, इसे और भी जिन्दा रहने देना चाहिए। उस यमराजकी दृष्टिमे बच्चा, जवान, बूढा आदि सभी एक समान है। जो चाहे जब चाहे मर सकता है अर्थ उसका यह है। तो जब ऐसी स्थिति है कि हमारी आयु पहिले कभी भी खत्म हो सकती थी। बचपनमें ही गुजर जाते तो अपने लिए यह वर्तमान समागम फिर क्या था? फिर यहा किसमें मोह करते? मोह करनेके लिए फिर ये चीजे तो न मिलतीं। ऐसा ही समझ ले कोई कि मै चलो बचपनमें ही गुजर गया और गुजरकर किसी अन्य गतिमे पहुचा, उस स्थितिमें इस मेरे लिए यहांका वातावरण तो कुछ भी नही होता। तो जब सुयोगसे आयु हमारी अब तक है और साथ ही बुद्धि भी मिली है तो हमें ज्ञानका सदुपयोग इस तरह करना चाहिए कि हम अपने आत्मस्वरूपकी दृष्टि अधिक बनाये रहें और आत्मदर्शन कर करके कुछ कुछ कर्मोंकी निर्जरा करें, पापका क्षय करें, जन्म मरणके संकटोंके टलनेका उपाय मजबूत बनायें, यह हमारा परमकर्तव्य है। यद्यपि गृहस्थजनोंको दो कार्य बताये हैं— आजीविका और आत्मोद्धार। लेकिन उन दोनोंमे भी यह विवेक करना होगा कि आजीविका तो करनी पड़ती है, यह करने योग्य बात नहीं है, और आत्मोद्धार करने योग्य बात है क्योकि जब गृहस्थीका त्याग कर दिया जाता है तब आजीविकाका तो त्याग हुआ, मगर आत्मोद्धारके कामका त्याग नहीं हुआ। तो इन दोनो कामोंमे भी आत्मोद्धारका काम मुख्य है। आजीविकाका कार्य गौण है। इसीलिए बताया है कि हम न्यायोचित आजीविका करके अपनेको जीवित बनाये और जीवन इसलिए बनाये कि हमे अब संसारसे तिरनेका उपाय बनाना है। इससिए कुछ काल तक मनुष्य जीवन बनाये रखना सफफता है

देवाण णारयाणं सायर-संखा हवंति तेत्तीसा।
उक्किट्ठं च जहण्णं वासाणं दस सहस्साणि ।।१६५।।

देवगति व नरकगतिके जीवोंकी आयुका वर्णन—उक्त कथनमें तिर्यञ्च और मनुष्यगतिके जीवोंकी आयु बतायी गई है, अब शेष रही देवगति और नरकगतिके जीवोंकी आयुको बताते हैं। देव और नारकी ये दोनों वैक्रियक शरीर वाले हैं। यद्यपि इनके वैक्रियक शरीरमें परस्पर बहुत भेद है, जैसाकि देवोंका शुभ वैक्रियक शरीर है, नारकियोंका अशुभ वैक्रियक शरीर है। देव अनेक शरीर बना सकते है, नारकी अपने एक शरीरसे ही कोई चीज एक बना लें, शस्त्र बना लें, सिंहादिकका रूप बना लें। देवोंके शरीरमे सुगध होती है, नारकियोंके शरीरमें दुर्गन्ध होती है। देवोंको बहुत वर्षोंमें कभी भूख लगती है तो कठसे अमृत झड़ता है उससे ही तृप्ति हो जाती है, किन्तु नारकियोंको भूख प्यासकी असीम वेदना रहती है और उस भूख प्यासकी वेदनाको बुझानेका उपाय भी वहाँ कोई नहीं है। यों अन्तर है उनके शरीरमें तो भी वैक्रियक शरीर नामकर्मके उदयसे देवोंको वैक्रियक शरीर मिला और वैक्रियक शरीर नामकर्मके उदयसे नारकियोंको वैक्रियक शरीर मिला और इस नीतिसे इनकी आयु बहुत बड़ी है। जितनी किसी भी गतिमे सम्भव नहीं, इतनी अधिक उत्कृष्ट आयु देवगति और नरकगतिमें होती है। सामान्यतया देवोंकी उत्कृष्ट आयु ३३ सागरकी और जघन्य आयु १० हजार वर्षकी होती है। इसी प्रकार नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु ३३ सागर और जघन्य आयु १० हजार वर्षकी होती है।

भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट व जघन्य आयु—अब विशेष विवरणके साथ अलग अलग स्थिति वाले देवोंकी व नारकियोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयुका विवरण करते हैं। देव ४ प्रकार के होते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। इन चारमें से भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देव छोटी श्रेणीके देव कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव मरण करके इन तीन प्रकारके देवोंमे उत्पन्न नही होता। ये भवनत्रिक देव धर्मोपदेश आदिक किसी निमित्तको पाकर भले ही सम्यग्दृष्टि हो जायें, पर सम्यग्दर्शनमें मरण करने वाले जीव इन तीन प्रकारके देवोंमें से भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति उनकी जातिके भेदसे नाना प्रकारकी है। भवनवासी १४ प्रकारके होते हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुवर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार इनमें से असुरकुमारकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागर प्रमाण है। नागकुमार जातिके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्यकी है। सुपर्णकुमार जातिके भवनवासियोंकी उत्कृष्ट आयु ढाई पल्यकी है, द्वीपकुमार जातिके भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयु ढाई पल्यकी है, विद्युत्कुमार आदिक शेषके बचे हुए ६ प्रकारके व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट आयु डेढ डेढ पल्यकी है। भवनवासी देवोंकी जघन्यआयु १० हजार वर्षकी है। भवनवासी देवोंके बाद अब व्यन्तर जातिके देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्यस्थिति देखिये—व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्यकी होती है। जघन्य आयु १० हजार वर्षकी होती है। व्यन्तरोंके बाद ज्योतिषियोंकी आयु देखिये, ज्योतिषी देव सूर्य, चन्द्र, तारा नक्षत्र, आदिक विमानोंमे रहने वाले होते हैं। ज्योतिषियोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्यकी होती है और जघन्य आयु पल्यके ८वें भाग प्रमाण होती है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी इन तीन प्रकारके देवोंमें उत्कृष्ट स्थिति सबसे कम ज्योतिषियोंकी है, उनसे अधिक उत्कृष्ट स्थिति व्यन्तरोंकी है और उनसे अधिक उत्कृष्ट आयु भवनवासी देवोंकी होती है।

वैमानिक देवोमे मुख्य दो भेद—अब वैमानिक देवोंकी उत्कृष्ट आयुका विवरण करते हैं, वैमानिक देव दो प्रकारके होते हैं—कल्पवासी और कल्पातीत। सोलहस्वर्गोंमे रहने वाले देवोंको कल्पवासी देव कहते है, जिनमे इन्द्र, सामानिक त्रायस्त्रिंश (मन्त्री) पारिषद (सदस्य) आत्मलोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक

आभियोग्य, किल्विषिक ये १० प्रकारकी कल्पनायें होती हैं उन्हें कल्प कहते हैं। इन १६ स्वर्गोंमे ये भेद हैं, कोई देव इन्द्र कहलाते हैं तो कोई देव इन्द्रके बराबर, किन्तु आज्ञा जिनकी नहीं चलती, इस प्रकार सामानिक देव होते हैं। कुछ लोग इन्द्रोंके मत्रीकी तरह होते हैं, कुछ लोग इन्द्रकी सभाके खास सदस्य होते हैं। कोई देव इन्द्रकी रक्षाके लिए होते हैं। रक्षाकी आवश्यकता तो नहीं है किन्तु कुछ पुण्योदय ही ऐसा है कि कुछ आत्मरक्षकदेव होते हैं। कोई देव लोकपाल कहलाते हैं जो सभी देवोंमे न्याय नीतिकी व्यवस्था बनाये रहते हैं। कुछ देव अनीक होते हैं। ७ प्रकारकी सेना होती है। कुछ देव प्रकीर्णक होते हैं। यों प्रजाजनोंकी भाँति फैल फुट रहने वाले देव। कुछ देव सवारीके लिए नियुक्त होते हैं। इन्द्र या अन्य ऋद्धि वाले देव इन आभियोग्य देवोंको हुकुम करते हैं कि अमुक वाहनका रूप रखकर चलो। उन्हें वाहनरूप बनना पड़ता है। कुछ देव किल्विषिक होते हैं--यहां जैसे अत्यन्त अस्पर्श शूद्र गाँवोंके अन्त में रहते हैं, इस तरहके देव उनमें होते हैं। तो ये १० भेद जहा तक चलते हैं उन कल्पोंमें रहने वाले देवों का नाम है कल्पवासी देव। कल्पवासी देवोंमे यद्यपि कुछ क्षुद्र जातिके देव भी है जिन्हें है। इस आभियोग्य किल्विषिक कहते हैं-- लेकिन उनको कष्ट नहीं है, रोग, भूख प्यास आदिकका क्लेश नहीं दृष्टिसे वे अपनेको सुखी माना करते हैं।

स्वर्गमें रहने वाले देवगतिके जीवोंकी उत्कृष्ट आयु—अब उन कल्पवासी देवोंमें प्रथम सौधर्म और ईसान स्वर्गके देवोंकी आयु बतलाते हैं। पहिले और दूसरे स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु दो सागर प्रमाण है। यदि किसी सम्यग्दृष्टि जीवने तीन चार सागरकी आयुकी देवा युबाँधी हो, पीछे उसका भाव कम हो जाय, या सम्यक्त्व नष्ट हो जाय तो आयु कम हो जायेगी और ऐसी स्थितिमें ढाई सागरकी भी आयु रहे तो भी प्रथम द्वितीय स्वर्गमें उत्पन्न हो जाता है। तो घातायुष्क जीवकी अपेक्षा पहिले दूसरे स्वर्गमें आधासागर अधिक दो सागरकी उत्कृष्ट आयु है। तीसरे चौथे स्वर्गमे उत्कृष्ट आयु ७ सागरकी है घातायुष्क जीवकी आधासागर और अधिक आयु हो सकती है। ५ वें छठवे स्वर्गके देवोकी उत्कृष्ट आयु १० सागर है। घातायुष्क जीवकी साढे दश सागरकी उत्कृष्ट आयु हो सकती है। यहां ब्रह्मस्वर्गके अन्तमें लौकान्तिक देव रहते हैं। जैसे किसी नगरके चारों ओर साधु सन्यासी की कोई कुटी बनी रहती है, ऐसे ही ५वे स्वर्गके अन्तमें लौकान्तिक देवोंका निवास है। उनकी उत्कृष्ट आयु ८ सागरकी होती है। इन्हें लौकान्तिक देव इस कारणसे कहते हैं कि एक तो ये ब्रह्मलोकके अन्तमें निवास करते हैं, दूसरे—संसारका लोकका अन्त आ गया अर्थात्-ये बहुत ही जल्दी संसारसे मुक्त हो जायेंगे। ये एक मनुष्यका भव पाकर मुनि होकर ससारसकटोसे सदाके लिए छूट जायेंगे इसलिए इन्हें लौकान्तिक देव कहते हैं। ७वें ८वे स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु १४ सागर है पर घातायुष्क देवोंकी उत्कृष्ट आयु साढे चौदह सागर हो सकती है। ९वें १०वें स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु १६ सागर प्रमाण है। घातायुष्कदेवकी आयु आधासागर और अधिक हो सकती है। ११वें १२वें स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु १८ सागर प्रमाण है। घातायुष्क जीव आधासागर और अधिक तक पा लेते हैं। १२वे स्वर्ग तक ही घातायुष्क जीवोंकी यह व्यवस्था है। उसके ऊपर घातायुष्क जीव नहीं होते। १३वें १४वें स्वर्गके देवोकी उत्कृष्ट आयु २० सागर प्रमाण है और अन्तमें दो स्वर्गोंके देवोंकी उत्कृष्ट आयु २२ सागर प्रमाण है। यहां यह बात विशेष जानना कि देवियोंकी उत्पत्ति पहिले और दूसरे स्वर्गमे ही होती है। १६वें स्वर्गके देवके भी देवी उत्पन्न तो होगी पहिले दूसरे स्वर्गमें किन्तु नियोगवश देव आते हैं और उनके साथ देवी १६वें स्वर्गमें रहने लगती है। अब उन देवियोकी आयु प्रथम कल्पमे उत्पन्न होने के नाते दो सागरसे अधिक तो हो ही नहीं सकती, लेकिन देवियोंकी आयु अधिकसे अधिक ५५ पल्यकी बतायी गई है।

कल्पातीत वैमानिक देवोकी उत्कृष्ट आयु—अब कल्पवासी देवोंके बाद कल्पातीत वैमानिक देवोंकी

आयुका वर्णन किया जा रहा है। जिनमें इन्द्रादिकी कल्पना नहीं है, जहाँ सभी अहमिन्द्र है, देवियां नहीं है, जहाँ सभी देव अप्रवीचारी हैं। उन्हें कल्पातीत देव कहते हैं। कल्पातीतोंमें प्रथम नवग्रैवेयककी रचना है, अर्थात् ६ पटलोंमे ग्रैवेयक देवोंका निवास है। नवग्रैवेयकोंके नाम हैं (१) सुदर्शन, (२) अमोघ, (३) सुप्रबुद्ध, (४) यशोधर, (५) सुभद्र, (६) सुविशाल, (७) सुमनस, (८) सौमनस्य, और नौवें प्रीतिकर। प्रथम ग्रैवेयकके देवोंकी उत्कृष्ट आयु २३ सागरकी है, दूसरे ग्रैवेयकके देवोंकी उत्कृष्ट आयु २४ सागर की है। इस तरह आगे-आगे एक सागर आयु बढ़ बढ़कर- अन्तिम ६वें ग्रैवेयकमें देवोंकी आयु ३१ सागर की होती है ग्रैवेयकसे ऊपर ६ अनुदिशकी रचना है। यह रचना एक पटलमें है। जिसका नाम है—आदित्य। आदित्य पटलमें ६ विमान है— एक बीचमें, चार चारों दिशाओंमें और चार चारों विदिशाओं में, इस तरह ६ विमानोंमें रहने वाले देवोंकी उत्कृष्ट आयु ३२ सागर है। इस पटलके ऊपर सर्वार्सिद्धि वाला पटल है, जहा ५ विमान हैं, इसे बोलते हैं अनुत्तर पटल। बीचमें सर्वार्सिद्धि है और पूर्व आदिक चारों दिशाओंमें विजय वैजयत, जयत और अपराजित नामक विमान है। इनकी उत्कृष्ट आयु ३३ सागरकी है, लेकिन सर्वार्सिद्धिके देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य दोनों ही आयु ३३ सागरकी है। इस सर्वार्सिद्धिके ऊपर और कोई भी देव नहीं पाये जाते और न कोई त्रस जीव है। इससे ऊपर ८वीं पृथ्वी है जिसका नाम है सिद्धशिला। और, उसके बहुत ऊपर तीन वातवलय हैं, उनमें जो अन्तिम वातवलय है वहा अन्तमें रहते हैं सिद्ध भगवान। वे सिद्ध हैं। उनकी आयु तो होती ही नहीं है। वे तो कर्मरहित हैं।

वैमानिक देवोंकी जघन्य आयु—अब इन कल्पवासी और कल्पान्तर देवोंकी जघन्य स्थिति सुनिये जो कि इस प्रकार है— पहिले और दूसरे स्वर्गके देवोंकी जघन्य आयु तो १० हजार वर्ष हैं और ऊपर दूसरे तीसरे स्वर्गके देवोंकी जघन्य आयु वह है जो पहिले दूसरे स्वर्गकी उत्कृष्ट आयु है। इस प्रकार आगे-आगेके विमानोंके देवोंकी जघन्य आयु वह है जो पहिलेके विमानोंके देवोंकी उत्कृष्ट आयु है। इस तरह यह सर्वार्सिद्धिसे पहिले तक समझना। इनमें लौकांतिक देवोंकी आयु ८ सागर ही होती है, कम अधिक नहीं। उनमें भी एक जातिके ऐसे लौकांतिक देव हैं जिनकी ६ सागर भी आयु होती है। यों चार प्रकारके देवो में उत्कृष्ट और जघन्य आयका विवरण किया गया।

नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु—अब नरकोंमें रहने वाले नारकियोंकी आयु सुनिये, पहिले नरकमें नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु १ सागर है दूसरेमें तीन सागर है, तीसरेमें ७ सागर, चौथेमें १० सागर, ५वेमें १७ सागर, छठेमें २२ सागर और ७वेंमें ३३ सागर है। जघन्य आयु नारकियोंकी १० हजार वर्ष होती है और दूसरे नरककी जघन्य आयु वह है जो पहिले नरककी उत्कृष्ट आयु है। इस तरह नीचे नीचे के नरकोमे यह व्यवस्था है कि उससे पहिले नरककी उत्कृष्ट आयु अगले नरककी जघन्य आयु होती है। इस तरह सब जीवोंकी आयुका वर्णन पूरा हुआ।

अगुल असख-भागो एयक्ख-चउक्ख-देह परिमाणं।
जोयण-सहस्समहियं पउमं उक्कस्सयं जाण ॥१६६॥

एकेन्द्रियोकी जघन्य अवगाहना व पृथ्वी जल अग्नि वायु कायके एकेन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना—इस लकभावनामें संसारी जीवोंके वर्णनके प्रसंगमे उनकी सख्या और आयुका वर्णन करके अब शरीरकी अवगाहना १० गाथाओंमे बतावेंगे। जिसमें इस गाथामें एकेन्द्रिय जीवोंके शरीरकी उत्कृष्ट और जघन्य अवगाहना बतायेंगे। एकेन्द्रिय जीवोंके शरीरकी जघन्य अवगाहना अगुलके असख्यातवें भाग है। और पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना भी घनागुल के असख्यातवे भाग है। यहा घनागुलसे मतलब है एक अगुल मोटा, एक अगुल लम्बा, एक अगुल चौड़ा क्षेत्र। अगुल होता है ८ यव प्रमाण। अर्थात् ८ यवकी बीचकी मोटाई औरसे क्रमसे रख दिया जाय तो

वह एक अंगुलका परिमाण होता है, अर्थात् एक परिमाण क्षेत्रमे ८ यव बन जाते हैं। तो ८ यव प्रमाण अंगुल क्षेत्रमे आकाशके जितने प्रदेश आये उन प्रदेशोंसे जितने अनेक प्रदेश पंक्तियोंकी लम्बाई हुई है उननेका नाम है द्रव्यांगुल। ऐसे-ऐसे चारों ओरसे अंगुल प्रमाण क्षेत्रके असंख्याते भाग किए जायें उन असंख्याते भागोंमे से एक भाग प्रमाण इतना सूक्ष्म शरीर इन एकेन्द्रिय जीवोका जघन्य शरीर होता है, और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनका उत्कृष्ट शरीर भी घनांगुलका असंख्यातवाँ भाग होता है। अब यहाँ यह अनुमान करिये कि पृथ्वीका एक पत्थर है जमीनमे, उस पत्थरमे एक पृथ्वी जीव नहीं है, असंख्याते पृथ्वीजीव है। और, एक एक पृथ्वी जीवका शरीर इतना हल्का है, छोटा है कि वह घनांगुलके असंख्यातवें भाग पड़ता है याने वह शरीर आँखोसे दिखनेमे नहीं आ सकता। बारीकसे बारीक कोई पृथ्वीका कण हो, उस कणके भी करोड़वों हिस्सासे भी छोटा पृथ्वीजीवका एक शरीर होता है। इसी तरह जलकाय, अग्निकाय और वायुकायका भी शरीर घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण छोटा होता है। एकेन्द्रिय मे बादर एकेन्द्रिय और सूक्ष्मएकेन्द्रिय ऐसे दो भेद होते है। जिन जीवोंके बादर नामकर्मका उदय है उन्हें बादरएकेन्द्रिय कहते है। जिन जीवोंके सूक्ष्म नामकर्मका उदय है उन्हें सूक्ष्मएकेन्द्रिय कहते हैं। तो जितने भी बादर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु है। और सूक्ष्म भी पृथ्वी, जल, अग्नि वायु हैं, सबका ही शरीर उत्कृष्टसे उत्कृष्ट घनांगुलके असंख्यातवे भाग प्रमाण है। किन्तु अपेक्षाकृत सूक्ष्म जीवोकी अवगाहना बादर जीवोसे कुछ कम रहती है। इसमे भी अपेक्षाकृत, किसकी अपेक्षा किसका देह कम है, इसका विशेष वर्णन करणानुयोगके अन्य ग्रन्थोंसे जान लिया जायगा। उसका विस्तार बहुत बताया गया है। यहाँ संक्षेपमे इतनी ही बात कह रहे हैं कि एकेन्द्रिय जीवोके देहकी जघन्य अवगाहना घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है, और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, इन चार प्रकारके एकेन्द्रिय जीवोंके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना भी घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

वनस्पतिकायिक जीवोके देहकी जघन्य व उत्कृष्ट अवगाहना—वनस्पतिकायिक जीवोंमे साधारण वनस्पतिकायिक जीवोंकी जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना घनांगुलके असंख्यातवें भाग है और प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवोकी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक एक हजार योजन प्रमाणकी है। यह उत्कृष्ट अवगाहना कमलकी है। कमलका फूल बहुत बड़ी ऊँची डंडीको लिए हुआ होता है। तालावमें कोई कमल यदि तालावसे ऊपर ४-५ हाथ निकला हुआ है तो तालावके भीतर जितने नीचे पानी है चाहे वह ५० हाथ भी पानी है, उसकी डंडी उतने नीचे है। तो बाहरके अन्तिम समुद्रमें ऐसी ऊँचाई वाले कमल पाये जाते हैं कि जिनकी अवगाहना कुछ अधिक ? एक हजार योजन है। यह अवगाहना लम्बाईकी अपेक्षासे कही गई है।

वारस-जोयण-संखो कोस-तियं गोब्भिया समुद्दिट्ठा।
भमरो जोयणमेगं सहस्स संयुच्छिमो मच्छो ॥१६७॥

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पञ्चेन्द्रिय जीवोंके देहकी उत्कृष्ट अवगाहना—इस गाथामें दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना बताई गई है। ये उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीव स्वयभूरमण नामके अन्तिम द्वीपमें व समुद्रमे पाये जाते है। दो इन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना १२ योजन है, और यह अवगाहना शंखकी है। सम्मूर्छन जन्म वाले जीव उत्पन्न होनेके समयसे ही बड़े शरीरको लिए हुए होते हैं। बादमे उनका शरीर कुछ ही थोड़ा और बढ़ता है, लेकिन गर्भ जन्म वाले जीवोकी तरह जन्म समयमें बड़ा ही छोटा शरीर हो और बादमें बढ़कर वह हजार गुना बढ़ जाता है, इस तरहसे सम्मूर्छन जीवोंका शरीर शुरूमें अति छोटा हो, बादमे बढ़कर बड़ा बने ऐसा नहीं है। इसका कारण यह है कि उनका जन्म सम्मूर्छन जन्म है। पहिलेसे ही पडे हुए उन पृथ्वी, कूड़ा, करकट आदिक पर

आयुका वर्णन किया जा रहा है। जिनमें इन्द्रादिकी कल्पना नहीं है, जहाँ सभी अहमिन्द्र हैं, देवियां नहीं हैं, जहाँ सभी देव अप्रवीचारी हैं। उन्हें कल्पातीत देव कहते हैं। कल्पातीतोंमें प्रथम नवग्रैवेयककी रचना है, अर्थात् ९ पटलोंमें ग्रैवेयक देवोंका निवास है। नवग्रैवेयकोंके नाम हैं (१) सुदर्शन, (२) अमोघ, (३) सुप्रबुद्ध, (४) यशोधर, (५) सुभद्र, (६) सुविशाल, (७) सुमनस, (८) सौमनस्य, और नौवें प्रीतिकर। प्रथम ग्रैवेयकके देवोंकी उत्कृष्ट आयु २३ सागरकी है, दूसरे ग्रैवेयकके देवोंकी उत्कृष्ट आयु २४ सागर की है। इस तरह आगे-आगे एक सागर आयु बढ़ बढ़कर अंतिम ९वें ग्रैवेयकमें देवोंकी आयु ३१ सागर की होती है ग्रैवेयकसे ऊपर ९ अनुदिशाकी रचना है। यह रचना एक पटलमें है। जिसका नाम है— आदित्य। आदित्य पटलमें ९ विमान है— एक बीचमें, चार चारों दिशाओंमें और चार चारों विदिशाओंमें, इस तरह ९ विमानोंमें रहने वाले देवोंकी उत्कृष्ट आयु ३२ सागर है। इस पटलके ऊपर सर्वार्थसिद्धि वाला पटल है, जहां ५ विमान हैं, इसे बोलते हैं अनुत्तर पटल। बीचमें सर्वार्थसिद्धि है और पूर्व आदिक चारों दिशाओंमें विजय वैजयंत, जयंत और अपराजित नामक विमान हैं। इनकी उत्कृष्ट आयु ३३ सागरकी है, लेकिन सर्वार्थसिद्धिके देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य दोनों ही आयु ३३ सागरकी हैं। इस सर्वार्थसिद्धिके ऊपर और कोई भी देव नहीं पाये जाते और न कोई त्रस जीव है। इससे ऊपर ८वीं पृथ्वी है जिसका नाम है सिद्धशिला। और, उसके बहुत ऊपर तीन वातवलय हैं, उनमें जो अन्तिम वातवलय है वहां अन्तमें रहते हैं सिद्ध भगवान। वे सिद्ध हैं। उनकी आयु तो होती ही नहीं है। वे तो कर्मरहित हैं।

वैमानिक देवोंकी जघन्य आयु—अब इन कल्पवासी और कल्पातीत देवोंकी जघन्य स्थिति सुनिये जो कि इस प्रकार है— पहिले और दूसरे स्वर्गके देवोंकी जघन्य आयु तो १० हजार वर्ष है और ऊपर दूसरे तीसरे स्वर्गके देवोंकी जघन्य आयु वह है जो पहिले दूसरे स्वर्गकी उत्कृष्ट आयु है। इस प्रकार आगे-आगेके विमानोंके देवोंकी जघन्य आयु वह है जो पहिलेके विमानोंके देवोंकी उत्कृष्ट आयु है। इस तरह यह सर्वार्थसिद्धिसे पहिले तक समझना। इनमें लौकान्तिक देवोंकी आयु ८ सागर ही होती है, कम अधिक नहीं। उनमें भी एक जातिके ऐसे लौकान्तिक देव हैं जिनकी ९ सागर भी आयु होती है। यों चार प्रकारके देवोंमें उत्कृष्ट और जघन्य आयका विवरण किया गया।

नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु—अब नरकोंमें रहने वाले नारकियोंकी आयु सुनिये, पहिले नरकमें नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु १ सागर है दूसरेमें तीन सागर है, तीसरेमें ७ सागर, चौथेमें १० सागर, ५वेंमें १७ सागर, छठेमें २२ सागर और ७वेंमें ३३ सागर है। जघन्य आयु नारकियोंकी १० हजार वर्ष होती है और दूसरे नरककी जघन्य आयु वह है जो पहिले नरककी उत्कृष्ट आयु है। इस तरह नीचे नीचे के नरकोंमें यह व्यवस्था है कि उससे पहिले नरककी उत्कृष्ट आयु अगले नरककी जघन्य आयु होती है। इस तरह सब जीवोंकी आयुका वर्णन पूरा हुआ।

अंगुल-असंख-भागो एयक्ख-चउक्ख-देह परिमाणं।
जोयण-सहस्समहियं पउमं उक्कस्सयं जाण ॥१६६॥

एकेन्द्रियोकी जघन्य अवगाहना व पृथ्वी जल अग्नि वायु कायके एकेन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना—इस लोकभावनामें संसारी जीवोंके वर्णनके प्रसंगमें उनकी संख्या और आयुका वर्णन करके अब शरीरकी अवगाहना १० गाथाओंमें बतावेंगे। जिसमें इस गाथामें एकेन्द्रिय जीवोंके शरीरकी उत्कृष्ट और जघन्य अवगाहना बतायेंगे। एकेन्द्रिय जीवोंके शरीरकी जघन्य अवगाहना अंगुलके असंख्यातवें भाग है। और पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना भी घनांगुल के असंख्यातवे भाग है। यहां घनांगुलसे मतलब है एक अंगुल मोटा, एक अंगुल लम्बा, एक अंगुल चौड़ा क्षेत्र। अंगुल होता है ८ यव प्रमाण। अर्थात् ८ यवकी बीचकी मोटाई औरसे क्रमसे रख दिया जायें तो

वह एक अंगुलका परिमाण होता है, अर्थात् एक परिमाण क्षेत्रमे ८ यव बन जाते है। तो ८ यव प्रमाण अंगुल क्षेत्रमे आकाशके जितने प्रदेश आये उन प्रदेशोंसे जितने अनेक प्रदेश पक्तियोंकी लम्बाई हुई है उननेका नाम है द्रव्यांगुल। ऐसे-ऐसे चारो ओरसे अंगुल प्रमाण क्षेत्रके असंख्याते भाग किए जाये उन असंख्याते भागोंमे से एक भाग प्रमाण इतना सूक्ष्म शरीर इन एकेन्द्रिय जीवोका जघन्य शरीर होता है, और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनका उत्कृष्ट शरीर भी घनांगुलका असंख्यातवाँ भाग होता है। अब यहाँ यह अनुमान करिये कि पृथ्वीका एक पत्थर है जमीनमे, उस पत्थरमे एक पृथ्वी जीव नहीं है, असंख्याते पृथ्वीजीव है। और, एक एक पृथ्वी जीवका शरीर इतना हलका है, छोटा है कि वह घनांगुलके असंख्यातवे भाग पड़ता है याने वह शरीर आँखोसे दिखनेमे नहीं आ सकता। बारीकसे बारीक कोई पृथ्वीका कण हो, उस कणके भी करोड़वों हिस्सासे भी छोटा पृथ्वीजीवका एक शरीर होता है। इसी तरह जलकाय, अग्निकाय और वायुकायका भी शरीर घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण छोटा होता है। एकेन्द्रियमे बादर एकेन्द्रिय और सूक्ष्मएकेन्द्रिय ऐसे दो भेद होते हैं। जिन जीवोंके बादर नामकर्मका उदय है उन्हें बादरएकेन्द्रिय कहते है। जिन जीवोंके सूक्ष्म नामकर्मका उदय है उन्हें सूक्ष्मएकेन्द्रिय कहते हैं। तो जितने भी बादर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु है। और सूक्ष्म भी पृथ्वी, जल, अग्नि वायु हैं, सबका ही शरीर उत्कृष्टसे उत्कृष्ट घनागुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। किन्तु अपेक्षाकृत सूक्ष्म जीवोकी अवगाहना बादर जीवोंसे कुछ कम रहती है। इसमे भी अपेक्षाकृत, किसकी अपेक्षा किसका देह कम है, इसका विशेष वर्णन करणानुयोगके अन्य ग्रन्थोंसे जान लिया जायगा। उसका विस्तार बहुत बताया गया है। यहाँ संक्षेपमे इतनी ही बात कह रहे हैं कि एकेन्द्रिय जीवोके देहकी जघन्य अवगाहना घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है, और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, इन चार प्रकारके एकेन्द्रिय जीवोके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना भी घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

वनस्पतिकायिक जीवोंके देहकी जघन्य व उत्कृष्ट अवगाहना—वनस्पतिकायिक जीवोंमे साधारण वनस्पतिकायिक जीवोकी जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना घनागुलके असंख्यातवें भाग है और प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवोकी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक एक हजार योजन प्रमाणकी है। यह उत्कृष्ट अवगाहना कमलकी है। कमलका फूल बहुत बड़ी ऊँची डंडीको लिए हुआ होता है। तालावमें कोई कमल यदि तालावसे ऊपर ४-५ हाथ निकला हुआ है तो तालावके भीतर जितने नीचे पानी है चाहे वह ५० हाथ भी पानी है, उसकी डंडी उतने नीचे है। तो बाहरके अन्तिम समुद्रमें ऐसी ऊँचाई वाले कमल पाये जाते हैं कि जिनकी अवगाहना कुछ अधिक ? एक हजार योजन है। यह अवगाहना लम्बाईकी अपेक्षासे कही गई है।

वारस-जोयण-संखो कोस-तिय गोब्भिया समुद्दिट्ठा।
भमरो जोयणमेगं सहस्स सयुच्छिमो मच्छो ॥१६७॥

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पञ्चेन्द्रिय जीवोंके देहकी उत्कृष्ट अवगाहना—इस गाथामें दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना बताई गई है। ये उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीव स्वयभूरमण नामके अन्तिम द्वीपमें व समुद्रमे पाये जाते हैं। दो इन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना १२ योजन है, और यह अवगाहना शंखकी है। सम्मूर्छन जन्म वाले जीव उत्पन्न होनेके समयसे ही बड़े शरीरको लिए हुए होते हैं। बादमे उनका शरीर कुछ ही थोड़ा और बढ़ता है, लेकिन गर्भ जन्म वाले जीवोंकी तरह जन्म समयमें बड़ा ही छोटा शरीर हो और बादमें बढकर वह हजार गुना बढ़ जाता है, इस तरहसे सम्मूर्छन जीवोंका शरीर शुरूमें अति छोटा हो, बादमे बढ़कर बड़ा बने ऐसा नहीं है। इसका कारण यह है कि उनका जन्म सम्मूर्छन जन्म है। पहिलेसे ही पड़े हुए उन पृथ्वी, कूड़ा, करकट आदिक पर

जीव आते हैं और वहीका वही पूरा शरीर बन जाता है। जैसे कि एक बिलस्त प्रमाण मेढक जब मर जाता है तो उसका छाल एकदम सूख जाता है। वह सूखी छाल कहीं रहती है। दूसरे बरसातके समय वह गीली होती है और योनिभूत बन जाती है। उस समय कोई जीव उस शरीरको ग्रहण करता है, मेढक बनता है तो वह पूराका ही पूरा शरीर उसका बन जाता है। तब इतना बड़ा मेढक बननेमें उसे १ दिन भी नहीं लगता। एक रातके बाद ही इतने बड़े मेढक दिखनेमें आ जाते हैं। तो ऐसे महान द्वीपमें शरीर बननेके योग्य स्कंध पड़ा होता है और वह ही स्कंध एकदम शरीर बन जाता है। ऐसे यह सम्मूर्छन जन्म वाले शरीर प्रारम्भसे ही बन जाते हैं। यों दोइन्द्रिय जीवोंमें शंखकी उत्कृष्ट अवगाहना बारह योजन प्रमाण है। एक योजन ४ कोशका होता है। कुछ कम ४८ कोशप्रमाण ढेरका किसी जीवने ग्रहण किया और वह इतना बड़ा बन गया। कुछ थोड़ा बहुत छोटा बड़ा भी बन जाता है। यों १२ योजनप्रमाण उत्कृष्ट अवगाहना दोइन्द्रियमें शंखकी है। तीनइन्द्रिय जीवोंमें कानखजूराकी उत्कृष्ट अवगाहना ३ कोश की है। कानखजूरा तीनइन्द्रिय जीवोंमें सबसे बड़ा होता है। यह तो यहां भी देखा जाता है। पटार भी उसे कहते हैं। और एक एक हाथ प्रमाण लम्बी पटारें तो यहाँ भी पायी जाती हैं। यह गोभिका अन्तिम द्वीपकी है, जिसकी उत्कृष्ट अवगाहना ३ कोशकी है। इतने बड़े सम्मूर्छन जन्म वाले शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनामें सन्देह यों नहीं होता कि यहा वहांकी पड़ी हुई पृथ्वी वनस्पति आदिक ढेरोंका ही शरीर बना लिया जाता है। चारइन्द्रिय जीवोंमें भ्रमरकी उत्कृष्ट अवगाहना एक योजन बतायी गई है। पञ्चेन्द्रिय जीवके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन प्रमाण है। और यह उत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्य की है।

उत्कृष्ट अवगाहनासे सम्बन्धित कुछ ज्ञातव्य—जब क्षेत्रपरिवर्तनमें स्वक्षेत्र परिवर्तनका स्वरूप बताया जाता है तो घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीरकी उत्पत्तिसे लेकर एक-एक प्रदेश बढ़ा बढ़ाकर एक हजार योजन प्रमाण महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहना वाले शरीरके ग्रहण तककी बात कही जाती है। यह सब उत्कृष्ट अवगाहना बतायी जा रही है। देह जघन्य अवगाहनासे लेकर उत्कृष्ट अवगाहना तकके बीचमें एक-एक प्रदेश बढ़ा बढ़ाकर जितने प्रदेश हो सकते हैं उतनी मध्यम अवगाहना वाले देह कहे जा सकते हैं। मत्स्योंकी बात देखो- यहाके बड़े बड़े समुद्रोंमें भी एक एक मील प्रमाणकी मछलियां पायी जाती हैं। जैसा कि लोगोंने देखा है और जिसका वर्णन आता है कि यहाके समुद्रोंमें ऐसी एक-एक मील बड़ी मछलियां पड़ी हुई हैं कि जिनके ऊपर कुछ धूल आ गई और उस धूलपर थोड़ी वनस्पति भी उग गई। सैर करने वाले लोग उसपर अपने जहाज खड़े कर देते हैं, या लोग आराम करने लगते हैं और नीचेसे वह मछली थोड़ा नीचे धसी या उसने करवट लिया कि वे सैकड़ों मनुष्य वहीं डूबकर मर जाते हैं। इतनी बड़ी बड़ी मछलियां यहां भी समुद्रोंमें पायी जाती हैं। तो प्रकरणमें यह बात समझ लीजिये कि मत्स्यों की अवगाहना पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें सबसे अधिक होती है। यह महामत्स्य स्वयंभूरमण समुद्र नामके अन्तिम समुद्रमें है, जिसकी उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन प्रमाण बतायी जा रही है। यह सब अवगाहना लम्बाईकी अपेक्षासे है। यदि उन शरीरोंकी लम्बाई चौड़ाई सब कुछ निरखी जाय तब उनके देहका क्षेत्रफल विदित होता है और वास्तविक देहकी पूरी अवगाहना ज्ञात होती है। जैसे दोइन्द्रिय जीवोंमें शंख की लम्बाई १२ योजन प्रमाण बताया है किन्तु उसका मुख चार योजनका है। शंखका मुख भी बहुत बड़ा हुआ करता है। सो यहां विदित ही है। और उसकी ऊँचाई सवा योजनकी है। तीन इन्द्रिय जीवोंमें कानखजूराकी लम्बाई बतायी है, किन्तु यह जीव लम्बाईको अधिक लिए हुए रहता है अतएव चौड़ाई इसकी बहुत कम है। चौइन्द्रियमें भ्रमर एक योजनका बताया है, उसकी चौड़ाई तीन कोशकी है और ऊँचाई दो कोशकी है। महामत्स्यकी अवगाहना १००० योजन लम्बी है, ५०० योजन चौड़ी है और २५० योजन

ऊँचाई है। ये सब देहकी उत्कृष्ट अवगाहना कही गई हैं।

एकेन्द्रियदेहके उत्कृष्ट अवगाहनाका क्षेत्रफल—एकेन्द्रिय आदिक जीवोंकी जो उत्कृष्ट अवगाहना उक्त गाथामे बतायी हैं वह केवल लम्बाईकी दृष्टिसे बतायी है, अतएव उसका पूरा क्षेत्रफल, सही अवगाहना का स्पष्ट बोध नहीं होता, अत: अब उनके क्रमसे चौड़ाई मोटाई आदिकको मिलाकर जो क्षेत्रफल हो सकता है उसका वर्णन करते हैं। एकेन्द्रिय जीवोंमें उत्कृष्ट अवगाहना कमलकी बतायी है वह है साधिक १००० योजन। इसका क्षेत्रफल निकालनेके लिए सबसे पहिले जो कमलका पुष्प वाला हिस्सा है उस हिस्से का प्रमाण निकालते हैं। चूंकि वह गोल वस्तु है अतएव गोल वस्तुओंका क्षेत्रफल निकालने की विधि गणितकी यह है कि वस्तुका जितना व्यास हो उससे तिगुनी परिधि होती है और परिधिके व्यासके चौथाई भागसे गुणित किए जानेपर उसका क्षेत्रफल होता है। इस विधिसे कमलका पुष्प वाले हिस्सेका क्षेत्रफल देखिये—कमलका व्यास है एक योजनका। तो एक योजनका तिगुना हुआ तीन योजन। यह तो हुई कमलकी परिधि अब इस परिधिको व्यासके चौथे भागसे गुणा करना है, तो व्यासका चौथा भाग हुआ पाव योजन। इस तीन योजनको पाव योजनसे गुणा करने पर क्षेत्रफल पौना योजन होता है, अर्थात् तीन कोश हो जाता है। अब इस पुष्प वाले हिस्सेके क्षेत्रफलको कमलकी लम्बाईमे गुणा किया जायेगा तो कमलकी लम्बाई है एक हजार योजन और यह पुष्प वाला क्षेत्रफल निकला है तीन बटा ४ योजन। सो १०००में ३बटा ४का गुणा करने पर ७५० योजन लब्ध होता है अर्थात् कमलका कुल क्षेत्र फल ७५० योजन है।

द्वीन्द्रिय प्राणीके देहकी उत्कृष्ट अवगाहनाका क्षेत्रफल—अब दो इन्द्रिय के देहकी उत्कृष्ट अवगाहनाका क्षेत्रफल देखिये—दोइन्द्रियमे बतायी जा रही है शखकी। यह ध्यानमे रखिये कि जितनी उत्कृष्ट अवगाहना कही गई है यहां तिर्यञ्चोंकी उनमे जो थलचर है वे तो हैं अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीपके उत्तरार्द्धमे अर्थात् समुद्रके निकट वाले हिस्सेमे और जो जलके जीव है वे पाये जाते हैं स्वयभूरमण समुद्रमें। यह शंख भी स्वयंभूरमण समुद्रमें पाया जाने वाला है। इसकी उत्कृष्ट अवगाहना बतायी है १२ योजन लम्बा, सवा योजन ऊँचा और चार योजनका मुख वाला। अब ऐसी गोल टेढ़ी वस्तुका क्षेत्रफल निकालने का नियम यह है कि व्यासका व्याससे गुणा करके उसमें मुखका आधा प्रमाण कम किया जाता है, फिर जो लब्ध हो उसमे मुखके आधे प्रमाणके वर्गको जोड़ा जाता है। जो लब्ध हो उसे दूना किया जाय, पुन: ४ से भाग देकर ५ से गुणा किया जाय। इतनी प्रक्रिया इस शंखके क्षेत्रफल निकालनेमें होगी। सो देखिये शंखकी लम्बाई है १२ योजन, सो यहाँ इस व्यासको याने १२ योजनको १२ योजनसे गुणा किया तो लब्ध हुए १४४। अब इस १४४ में मुखका आधा कम करना है। मुख है ४ योजनका, तो ४ का आधा २ हुआ। २ कम करने से १४२ योजन रहे। अब इसमे मुखके आधे का वर्ग जोड़ना है। मुखका आधा हुआ २ और २ का वर्ग हुआ ४ तो ४ जोड़नेसे लब्ध हुआ १४६। अब १४६ का दुगुना किया जायेगा सो लब्ध होगा २९२, अब इस २९२ मे ४ का भाग देकर ५ का गुणा करना है तो २९२ में ४ का भाग देने से लब्ध हुए ७३ और ७३ मे ५ का गुणा करनेसे ३६५ लब्ध हुए। तो शखका सर्वक्षेत्रफल ३६५ योजन हुआ।

त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पञ्चेन्द्रिय जीवके देहकी उत्कृष्ट अवगाहनाका क्षेत्रफल—अब तीनइन्द्रिय जीवकी उत्कृष्ट अवगाहनाका क्षेत्रफल देखिये, तीन इन्द्रिय जीवमें उत्कृष्ट अवगाहना कही गई है। स्वयंभूरमण द्वीपके उत्तरार्द्ध भागमे जो कर्मभूमि है वहां उत्पन्न हुए लाल बिच्छू भी, वह तीन कोश लम्बा है। अर्थात् तीन बटा चार योजन लम्बा है और लम्बाईका ८ वें भाग चौड़ा और चौड़ाईका आधा भाग ऊँचा, इस तरह यह क्षेत्र लम्बाईको लिए हुए चौकोर है। तब लम्बाई चौड़ाई और ऊँचाईका गुणा करने से क्षेत्रफल निकलेगा। इस विधिसे अब क्षेत्रफल देखिये—लम्बाई तीन बटा चारमें चौड़ाई है, लम्बाईका ८ वॉ भाग

अर्थात् तीन बटा बत्तीस योजन तो तीन बटा चारको तीन बटा बत्तीससे गुणा करने पर नौ बटा एक सौ अट्ठाइस योजन हुए। अब इसको ऊँचाईसे गुणा करना है। ऊँचाई है चौड़ाईकी आधी अर्थात् तीन बटा चौसठ योजन तो नौ बटा एक सौ अट्ठाइसमें तीन बटा चौसठ का गुणा करने से सही लब्ध हुआ सताइस बटा आठ हजार एक सौ बानवे योजन। यह लाल बिच्छूका क्षेत्रफल हुआ। अब चतुरिन्द्रिय जीवमें उत्कृष्ट अवगाहना देखिये—स्वयंभूरमण द्वीपके कर्मभूमि वाले हिस्सेमें भवराकी उत्कृष्ट अवगाहना एक योजन लम्बी है, चौड़ाई पौन योजन है और ऊँचाई आधा योजन है। सो इन तीनको परस्पर गुणा करने से इसका क्षेत्रफल निकलेगा तो १ गुणा तीन बटा चार गुणा एक बटा दो सही हुआ तीन बटा आठ योजन। अब पञ्चेन्द्रिय जीवमें उत्कृष्ट अवगाहना बतायी गई है स्वयंभूरमण समुद्रमें रहने वाले महामत्स्यकी। इसकी अवगाहना एक हजार योजन लम्बा ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन ऊँचा है। अब इन तीनोंका परस्परमें गुणा करने से इसका क्षेत्रफल निकल आता है। सो इन तीनोंका परस्पर गुणा करने से बारह सही एक बटा दो करोड़ योजन लम्बा होता है और इतना महामत्सका घन क्षेत्रफल है।

प्रदेश दृष्टियोंसे एकेन्द्रियादि जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना—इस योजन वाले घन फलोंको यदि प्रदेश प्रमाणकी दृष्टिसे निरखा जाय तो इन सबकी उत्कृष्ट अवगाहनाके प्रदेशसंख्या देखिये—घनांगुलको चार बार संख्यासे गुणा करने पर जितना परिमाण आया उतने प्रदेश एकेन्द्रिय कमलकी उत्कृष्ट अवगाहना का है। घनांगुलको तीन बार संख्यातसे गुणा करने से जो प्रदेश लब्ध हुए उतने प्रदेश दोइन्द्रियकी उत्कृष्ट अवगाहनामें होते हैं। तीनइन्द्रियकी उत्कृष्ट अवगाहनामें उतने प्रदेश हैं जो घनांगुलको एक बार संख्यातसे गुणा करने पर लब्ध हो। चौइन्द्रिय जीवकी उत्कृष्ट अवगाहना उतने प्रदेश है कि जितने घनांगुलको २ बार संख्यातसे गुणा करने पर लब्ध हो और पञ्चेन्द्रियकी उत्कृष्ट अवगाहनामें उतने प्रदेश हैं कि घनांगुलको ४ बार संख्यातसे गुणा करने पर जितने प्रदेश हों। यह प्रदेशोंके आँकनेकी दृष्टि से परिमाण बताया है। यों इन्द्रिय जातिके हिसाबसे पाँचों जातियोंकी अवगाहना बताकर अब नारकियों के शरीरकी ऊँचाई बता रहे हैं।

पंच-समा-धणु-छेहा सत्तम-णरए हवंति णारइया।
तत्तो उस्सेहेण य अद्धद्धा होंति उवरुवरिं ॥१६८॥

नारकी जीवोंके देहकी उत्कृष्ट अवगाहना—माघवी नामक सातवे नरकमें रहने वाले नारकियोंका शरीर ५०० धनुष ऊँचा है और फिर इस नरकसे ऊपर ऊपरके नरकोंमें शरीरकी ऊँचाई आधी-आधी होती जाती है, जैसे माघवी नामके ७वे नरकमें नारकी जीवोंकी ऊँचाई उत्कृष्ट ५०० धनुष है, तो माघवी नामक छठवे नरकके नारकियोंके शरीरकी ऊचाई उत्कृष्ट २५० धनुष है, आरिष्टा नामके ५वे नरकके नारकीके शरीरकी उत्कृष्ट ऊचाई १२५ धनुष है। अंजना नामके चौथे नरकके नारकीजीवोंके देहकी उत्कृष्ट ऊचाई साढे बासठ धनुष है, मेघा नामके तीसरे नरकके नारकी जीवके शरीरकी उत्कृष्ट ऊचाई सवा-इकत्तीस धनुष है। यहा यह जानना कि एक धनुष चार हाथका होता है और १ हाथ २४ अंगुलका होता है। तो अब इससे आधा करने पर लब्ध होता है १५ धनुष २ हाथ १२ अंगुल। इतनी उत्कृष्ट ऊंचाई वंशा नामके दूसरे नरकके नारकी जीवके शरीरकी होती है और पहिला जो धर्मा नामका नरक है उस नरकके नारकी जीवके शरीरकी उत्कृष्ट ऊचाई ७ धनुष तीन हाथ ६ अंगुल है।

प्रथम नरकके प्रत्येक पटलमे उत्कृष्ट अवगाहनाका कथन—इस प्रकरणमे यह जानना कि यह जो नरक बिल है, जिसमे नारकी निवास करते है यह नरकबिल कोई आसमानके मुखकी ओर नहीं है किन्तु मोटी पृथ्वी है और उस पृथ्वीके बीचोबीच ये पोल बनी हुई है जिनका मुख पृथ्वीके किसी भी भागकी ओर बाहर निकलता नहीं है, ऐसे बिल कई पटलोंमे पाये जाते है। जैसे कि इस पृथ्वीके तीन भाग है, जिनमें

नोचे के तीसरे भागमे पहिला नरक है। उस भागमें १३ पटल हैं अर्थात् उस जमीनके अन्दर ही अन्दर १३ मजिलोंमें नारकियोंके बिल (पोल) पाये जाते हैं। तो इन १३ पटलोंमें भिन्न-भिन्न पटलोंमे रहने वाले नारकियोंके शरीर की ऊँचाई यदि निरखना है तो उसकी ऊँचाई निकालनेका प्रकार यह है कि प्रथम नरक के अन्तिम पटलमे है यह उत्कृष्ट ऊचाई जो अभी बताई गई है, प्रथम नरकके १३वे पटलमें रहने वाले नारकी की उत्कृष्ट अवगाहना है ७ धनुष, ३ हाथ ६ अगुल और इससे दूनी है दूसरे नरकके अन्तिम पटल के नारकियोंके देहकी ऊचाई। तो प्रथम नरकके पटलोंकी ऊंचाई निकालना है तो प्रथम पटलके नारकियों के देहकी ऊचाई तीन हाथ है। अब पहिले पटलमें तीन हाथ ऊंचाई है और अन्तिम पटलमे ७ धनुष तीन हाथ ६ अगुल ऊंचाई है, तो बीचके पटलोंमें हानि वृद्धि जाननेके लिए यह गणितका प्रयोग है कि अन्तिम पटलकी ऊंचाईमें पहिले पटलकी ऊंचाई कम कर दी जाय। जो शेष रहे उसमें एक कम पटलोकी सख्या का भाग दिया जाय। जो लब्ध हो उतना-उतना बढ़ा बढ़ाकर उनकी ऊंचाई बना ली जाती है। जैसे १३वे पटलके देहकी ऊंचाई है ७ धनुष, ३ हाथ, ६ अंगुल। उसमे तीन हाथ घटा दिया, शेष रहे ७ धनुष ६ अंगुल। अब इससे १ कम १३, याने १२ का भाग देना, तो लब्ध होता है २ हाथ साढ़े आठ अंगुल तो इसका अर्थ यह हुआ कि दूसरे पटलके नारकियोका देह २ हाथ साडे आठ अंगुल और बढ गया। इस तरह इतना ही इतना बढता जाय तो १३वे पटलकी उत्कृष्ट अवगाहना ७ धनुष, ३ हाथ, ६ अंगुल बन जाती है। जैसे पहिले पटलमे उत्कृष्ट अवगाहना ३ हाथ, दूसरेमें ५ हाथ साड़े आठ अंगुल, तीसरे पटल मे ७ हाथ १७ अंगुल याने १ धनुष ३ हाथ १७ अंगुल, चौथे पटलमें २ धनुप २ हाथ १॥ अंगुल, पांचवे पटलमे ३ धनुष १० अंगुल, छटवे पटलमें ३ धनुष २ हाथ १८॥ अंगुल, सातवें पटलमें ४ धनुष १ हाथ ३ अंगुल, आठवे पटलमे ४ धनुष ३ हाथ ११॥ अंगुल, नवमे पटलमे ५ धनुप १ हाथ २० अंगुल, दसवें पटलमे ६ धनुष ४॥ अगुल, ग्यारहवे पटलमें ६ धनुष २ हाथ १३ अगुल, बारहवें पटलमें ७ धनुष २१॥ अंगुल, तेरहवे पटलमे ७ धनुष ३ हाथ ६ अगुल। इस प्रकार प्रथम नरकके १३ पटलोमें रहने वाले नारकियोंके देहकी उत्कृष्ट आवगाहना होती है।

द्वितीय नरकके प्रत्येक पटलोंमें देहावसान—अब दूसरे नरकके प्रत्येक पटलोके नारकियोंके देहकी अवगाहनाका प्रमाण देखिये—प्रथम नरकके अन्तिम पटलमे देहकी ऊंचाई है ७ धनुष ३ हाथ ६ अंगुल, इसे कम किया, द्वितीय नरकके अन्तिम पटलकी देहावगाहना १५ धनुष २ हाथ १२ अंगुलमें से। सो लब्ध हुआ ७ धनुष ३ हाथ ६ अंगुल, इसमे भाग दिया द्वितीय नरककी पटलसख्या ११ का, सो लब्ध हुआ दो हाथ बीस सही दो बटा ११ अगुल। अब प्रत्येक पटलमें इतना इतना बढ़ाते जाइये। द्वितीय नरकके पहिले पटलमे देहकी ऊंचाई है ८ धनुष २ हाथ २ सही २ बटा ११ अंगुल, दूसरे पटलमे ९ धनुष २२ सही ४ बटा ११ अगुल ऊचाई है। तीसरे पटलमे ऊंचाई ९ धनुष ३ हाथ १८ सही ६ बटा ११ अंगुल है। चौथे पटलमे ऊंचाई १० धनुष २ हाथ १४ सही ८ बटा ११ अगुल है। पाँचवें पटलमे ऊंचाई ११ धनुष १ हाथ १० सही दस बटा ११ अगुल है। छटवे पटलमे ऊंचाई १२ धनुष ७ सही १ बटा ११ अंगुल है। सातवें पटलमे ऊँचाई १२ धनुप ३ हाथ ३ सही ३ बटा ११ अंगुल है। आठवें पटलमें ऊंचाई १३ धनुष १ हाथ २३ सही ५ बटा ११ अंगुल है। नवमें पटलमे ऊंचाई १४ धनुध १९ सही ७ बटा ११ अंगुल है। दशवे पटलमें ऊंचाई १४ धनुष ३ हाथ १५ सही ९ बटा ११ अंगुल है। ग्यारहवे पटलमे ऊंचाई १५ धनष २ हाथ १२ अंगुल है।

तृतीय नरकके प्रत्येक पटलोमे देहावगाहना—अब तीसरे नरकके पटलोंमे ऊचाई देखिये—तीसरे नरकके अन्तिम पटलमें ऊचाई है ३१ धनुष १ हाथ है, उसमें से दूसरे नरकके अन्तिम पटलकी ऊंचाई १५ धनुष २ हाथ १२ अगुल कम करनेसे शेष रहे १५ ध० २ हाथ १२ अगुल। अब १५ धनुष २ हाथ

१२ अंगुलमें पटल संख्या ६ का भाग देने से १ धनुष २ हाथ २२ सही २ वटा ३ अंगुल आया। अब इतना इतना प्रत्येक पटलमे बढ़ाना। पहले पटलमें १७ धनुष १ हाथ १० सही २ वटा ३ अगुल ऊंचाई है। दूसरे पटलमे ऊंचाई १९ धनुष ९ सही १ वटा ३ अगुल है। तीसरे पटलमें ऊंचाई २० धनुष ३ हाथ ८ अगुल है। चौथे पटलमें ऊंचाई २२ धनुष २ हाथ ६ सही २ वटा ३ अगुल है। पाँचवें पटलमे ऊंचाई २४ धनुष १ हाथ ५ सही १ वटा ३ अगुल है। छटवें पटलमें २६ धनुष ४ अगुल है। सातवें पटलमें ऊंचाई २७ धनुष ३ हाथ, २ सही २ वटा ३ अंगुल है। आठवें पटलमे ऊंचाई २९ धनुष २ हाथ १ सही १ वटा ३ अगुल है। नवमें पटलमें ऊंचाई ३१ धनुष १ हाथ है।

चतुर्थ, पञ्चम व षष्ठ नरकके प्रत्येक पटलोंमे व सप्तम नरकमे देहावगाहना—अब चौथे नरकके पटलोंमें रहने वाले नारकियोंके देहकी अवगाहना सुनिये—चौथे नरकके अन्तिम पटलके नारकदेहकी ऊंचाई ६२ धनुष २ हाथ है, उसमेंसे तृतीय नरकके अन्तिम पटलके देहकी ऊंचाई ३१ धनुष १ हाथ घटानेसे शेष रहे ३१ धनुष १ हाथ। इसमें पटलसंख्या ७ का भाग देनेसे हानिवृद्धिका परिमाण आया ४ धनुष १ हाथ २० सही ४ वटा ७ अंगुल। अब इस वृद्धिको प्रत्येक पटलमें बढ़ाते जावें। सो पहिले पटलमें ऊंचाई हुई ३५ धनुष २ हाथ २० सही ४ वटा ७ अंगुल, दूसरे पटलमें ४० धनुष १७ सही १ वटा ७ अंगुल, तीसरे पटलमें ४४ धनुष २ हाथ १३ सही ५ वटा ७ अगुल, चौथे पटलमें ४९ धनुष १० सही २ वटा ७ अगुल, पांचवें पटलमें ५३ धनुष २ हाथ ६ सही ६ वटा ७ अगुल, छठवें पटलमें ५८ धनुष ३ सही ३ वटा ७ अगुल, सातवें पटलमें ६२ धनुष २ हाथकी देहावगाहना है। अब पाचवें नरकके पटलोंमें देहावगाहना सुनिये—पाचवें नरकके अन्तिम पटलमें देहावगाहना है १२५ धनुष उसमे चौथे नरकके अन्तिम पटलके देहावगाहना ६२॥ धनुष घटाये सो शेष रहा ६२ धनुष २ हाथ। इसमें पटल संख्या ५ का भाग देनेसे लब्ध हुआ वृद्धि हानि प्रमाण १२ धनुष २ हाथ ६व। प्रत्येक पटलमें यह वृद्धि बढ़ाते जाइये। सो पहिले पटलमें देहकी ऊंचाई हुई ७५ धनुष, दूसरे पटलमें ८७ धनुष २ हाथ, तीसरे पटलमें १०० धनुष, चौथे पटलमे ११२ धनुष २ हाथ व पाँचवे पटलमें १२५ धनुष देहावगाहना हुई। अब छठे नरकके पटलोंमें देहावगाहना निकालिये—छठे नरकके अन्तिम पटलमें देहावगाहना है २५० धनुष, उसमें पाचवें नरकके अन्तिम पटलवाली देहावगाहना १२५ धनुष कम किये सो शेष रहे १२५ धनुष। इसमें पटल संख्या ३ का भाग दीजिये सो वृद्धिहानिका प्रमाण निकला ४१ धनुष २ हाथ १६ अगुल। अब इस वृद्धिको प्रत्येक पटलमें बढाते जावें। सो पहिले पटलमें देहकी ऊंचाई हुई १६६ धनुष २ हाथ १६ अगुल, दूसरे पटलमें २०८ धनुष १ हाथ ८ अंगुल, तीसरे पटलमें देहावगाहना हुई २५० धनुष। सातवें नरकमें एक ही पटल है सो २५० का दुगुना ५०० धनुष प्रमाण देहावगाहना है अर्थात् वहाँके नारकियोंके देहकी ऊंचाई है। इन नरक पृथ्वियोंमे प्रत्येक पटलमें इस प्रकार रचना है कि सातवे नरकमे १ बीचका इन्द्रकबिल व चार दिशाओंमे एक एक बिल कुल ५ बिल हैं। छठे नरकके अन्तिम पटलमे बीचमे १ इन्दुक बिल, दिशावोंमें दो दो व विदिशावोंमें एक एक व यत्र तत्र अनेक इससे ऊपरके पटलमें बीचमें एक इन्द्रक बिल, दिशाओंमें ३-३, विदिशाओंमें दो दो व यत्र यत्र अनेक। इस तरह ऊपर ऊपरके पटलोंमें व ऊपरकी समस्त पृथ्वियोंके पटलोंमें क्रमशः दिशा विदिशामें एक एक बढाते जावें और सर्वत्र यत्र तत्र अनेक बिल भी बताते जावें। ऐसे इन बिलोंमे ये नारकी बड़ी आयु पर्यन्त महादुःखसहित निवास करते हैं।

असुराण पणवीस सेसं-णव-भावणा य दह-दंड।
विंतर-देवाण तहा जोइसिया सत्त-धणु-देहा ॥१६६॥

भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिष्क देवोके देहकी अवगाहना—इस गाथामे भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके देहकी अवगाहना बतायी जा रही है। असुरकुमारके देहकी ऊंचाई २५ धनुष है और

शेष जो ६ भेद है, उन ६ कुमारोंके देहकी ऊँचाई १० धनुष है। व्यन्तर देवोंके शरीरकी ऊँचाई भी १० धनुष है और ज्योतिषी देवोंके शरीरकी ऊँचाई ७ धनुष है। भवनवासियोंके जो शेष ६ भेद हैं उनके नाम हैं नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीप कुमार व दिक्ककुमार। इन ९ प्रकारके भवनवासी देवोके शरीरकी ऊँचाई १० धनुष कही गई है और जो व्यन्तर देवोंमे १० धनुषकी ऊँचाई कही गई है वह सभी प्रकारके व्यन्तर देवोंके शरीरकी ऊँचाई है। व्यन्तर देव ८ प्रकारके होते हैं--किन्नर, किम्पुरुष, महोरग गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत व पिशाच। ज्योतिषीदेवोमे जो शरीरकी ऊँचाई ७ धनुष कही गई है वह पाँचों प्रकारके ज्योतिषियोंमें सम्भव है। ज्योतिषी देव ५ प्रकारके ये हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे। इस प्रकार भवनत्रिक देवोंके शरीर की ऊँचाई बतायी है। अब स्वर्गवासी और ग्रैवेयक आदिक देवोंके शरीरकी ऊँचाई बतलाते हैं।

दुग-दुग-चदु-चदु-दुग-दुग-कप्प-सुराणं सरीर-परिमाणं।
सत्तच्छ-पंच-हत्था चउरो अद्धद्ध-हीणा य ॥१७०॥

वैमानिक देवोके देहकी अवगाहना—दो, दो, चार, चार, दो, दो कल्पोंमें रहने वाले देवोंके शरीरकी ऊँचाई क्रमसे ७, ६, ५, ४ और ३॥ व ३ हाथ की है। इसके ऊपर भी यथासम्भव आधा आधा हाथ कम होती गई है। इसका विवरण इस प्रकार है कि पहिले दूसरे स्वर्गोंमे रहने वाले देवोंका शरीर ७ हाथ ऊँचा है। तीसरे और चौथे स्वर्गके देवोंका शरीर ६ हाथ ऊँचा है। ५वे, छठे, ७वें, ८वें स्वर्गके देवोके शरीरकी ऊँचाई ५ हाथ है। ९वे, १०वें, ११वे, १२ वे स्वर्गके देवोंका शरीर ४ हाथ ऊँचा है। १३वे १४वें स्वर्गमे देवोके शरीरकीऊँचाई ३॥ हाथ और १५वे, १६वे स्वर्गके देवोके शरीरकी ऊँचाई ३ हाथ है। यहां तक तो कल्पवासी देवोंके शरीरकी अवगाहन कही गई है। अब ग्रैवेयकमे देखें तो प्रथम तीन ग्रैवेयको के शरीरकी ऊँचाई २॥ हाथ हैं, दूसरे तीन ग्रैवेयकोके देवोके शरीरकी ऊँचाई २ हाथ है और अन्तिम तीन ग्रैवेयकके देवोके शरीरकी ऊँचाई १॥ हाथ है और ९ अनुदिश एवं ५ अनुत्तर विमानोमें रहने वाले देवोका शरीर १ हाथ ऊँचा है। इस प्रकार समस्त वैमानिक देवोमे शरीरकी ऊँचाई हुई।

हिट्ठिम-मज्झिम-उवरिम-गेवज्जे तह विमाण-चउदसए।
अद्ध-जुदा वे हत्था हीण अद्धद्धय उवरिं ॥१७१॥

कल्पातीत वैमानिक देवोंके देहकी अवगाहना—इस गाथामें कल्पोत्तर विमानवासी अहिमिन्द्रोंके देह की ऊँचाई बतायी गई है जो कि सामान्यरूपसे इसके पहिलेकी गाथाके अन्तमें कुछ दिखाया गया है। ग्रैवेयक होते हैं ९ पटलोंमें, जिनमें पहिलेके तीन पटल कहलाते हैं अधोग्रैवेयक। इसके बादके तीन पटल कहलाते हैं मध्यमग्रैवेयक और इसके अन्तिम तीन पटल कहलाते हैं उपरियग्रैवेयक। इनके शरीर को ऊँचाई क्रमसे २॥ हाथ, २ हाथ और १॥ हाथ है। इन ग्रैवेयकोके ऊपर कुल १४ विमान हैं— ९ अनुदिशमे जहाँ कि एक पटलमे बीचमे एक विमान और चारदिशाये, चार विदिशाओमे एक-एक विमान है। इसके ऊपर १ पटल है अनुत्तरका जिसमें बीचमें १ विमान और चार दिशाओमे चार विमान हैं। इस तरह इन १४ विमानोमे रहने वा देवोके शरोरकी ऊँचाई एक हाथ है। यहाँ तक नरकगति और देवगतिमें रहने वाले देवोके देहकी अवगाहना बता दी गई है। अब मनुष्यगतिके जीवोंके देहोकी अवगाहना बतावेगे।

अवसप्पिणीए पढमे काले मणुया ति-कोस-उच्छेहा।
छट्ठस्स वि अवसाणे हत्थ-पमाणा विवत्था य ॥१७२॥

भरत ऐरावत क्षेत्रके पर्याप्त मनुष्योके देहकी अवगाहना—मनुष्योंकी अवगाहना बतानेके प्रसंगमे सर्वप्रथम भरत और ऐरावत क्षेत्रमें उत्पन्न होने वाले मनुष्योकी अवगाहना बता रहे हैं। इन दो क्षेत्रोमें काल

का परिवर्तन होता रहता है। एक समान काल नहीं रहता। और एक कल्पकालमें अवसर्पिणी और एक उत्सर्पिणीकाल होता है। अवसर्पिणीकालमें तो मनुष्योंका देह, आयु, बल, आदिक सब ह्रासको प्राप्त होते हैं और उत्सर्पिणीकालमें देह बल आदिक उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होते हैं। अवसर्पिणीकालमें ६ प्रकारके समय आते हैं, जिन्हें ६ कालके नामोंसे कहते हैं— पहिले कालमें जिनका कि नाम सुषमसुषमा है उस अवसर्पिणीके पहिले कालमें मनुष्य तीन कोशकी ऊँचाईके शरीर वाले होते हैं, इस प्रथम कालके अन्तमें अर्थात् द्वितीयकालकी आदिमें याने सुषमाकालमें २ कोशके शरीरकी ऊँचाई वाले मनुष्य होते हैं। उस द्वितीय कालके अन्तमें और तृतीयकालकी आदिमें सुषमादुषमाके आदिमें १ कोशकी ऊँचाईके देह वाले होते हैं। तृतीयकालके अन्तमें और दुषमासुषमानामक चतुर्थकालके आदिमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष है और चतुर्थकालके अन्तमें तथा दुषमानामक पंचमकालकी आदिमें ७ हाथकी ऊँचाई वाले मनुष्य होते हैं। महावीर भगवानका समय चतुर्थकालके अन्तका था और तब पंचमकालकी आदि होने वाली थी। उस समय मनुष्योंके देहकी अवगाहना ७ हाथ ऊँची होती थी। अब घटते घटते दुषमादुषमानामक छठे कालके अन्तमें १ हाथकी ऊँचाईके मनुष्य होंगे। और ये छठे कालके मनुष्य वस्त्र रहित होंगे, भूषण गहने आदिक भी उनके न होंगे। यों समझिये कि पशुओंकी भाँति मांसाहारी और यों ही स्वच्छन्द बुद्धिहीन होंगे। छठे कालके अन्तमें भरत ऐरावत क्षेत्रमें आर्यखण्डमें प्रलय होती है। उस प्रलयके बाद फिर उत्सर्पिणीका छठा काल आयगा वहाँसे उत्सर्पिणीकाल शुरू होगा। और जैसे-जैसे काल बढ़ेगा मनुष्योंके देह बल आदिक भी वृद्धिको प्राप्त होंगे और तब यहाँके छठे, ५वें चौथे, तीसरे, दूसरे पहिले कालकी भांति वहा भी छठे, ५वे, चौथे, तीसरे दूसरे, पहिले कालके मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई होती है। अब सामान्यतया सभी जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना बताकर जघन्य अवगाहना कहते हैं।

सव्व-जहण्णो देहो लद्धि-अपुण्णाण सव्व-जीवाणं।
अंगुल-असंख-भागो अणेय-भेओ हवे सो वि ॥१७३॥

लब्ध्यपर्याप्तकोंके सर्वजघन्य देहका परिमाण—लब्ध्यपर्याप्तक सभी जीवोंका सबसे जघन्य शरीर होता है, वह घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। और उस घनांगुलके असंख्यातवें भागके भी अनेक भेद हैं। लब्ध्यपर्याप्तक जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय, असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय और संज्ञीपञ्चेन्द्रियमें पाये जाते हैं। उन सब लब्ध्यपर्याप्तकोंका शरीर सबसे जघन्य शरीर होता है, उसकी अवगाहना घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण कही गई है। घनांगुल कहते हैं—एक अंगुल लम्बा, एक अंगुल चौड़ा और एक अंगुल मोटा जो क्षेत्र है उसको। उसके असंख्याते भाग किए जायें, उनमेंसे एक भाग प्रमाण इन जीवोंके देहकी अवगाहना होती है। इन लब्धपर्याप्तकोंकी अवगाहनाके भी परस्पर अनेक भेद हैं। अब दो इन्द्रिय आदिक जीवोंकी जघन्य अवगाहना दो गाथाओंमें बतावेंगे।

बि-ति-चउ-पंचक्खाण जहण्ण-देहो हवेइ पुण्णाण।
अंगुल-असंख-भागो संख-गुणो सो वि उवरुवरिं ॥१७४॥

द्वीन्द्रियादि जीवोंकी जघन्य देहावगाहना—दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंकी जघन्य अवगाहना अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। सो देखिये—अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण अवगाहना लब्ध्यपर्याप्तकोंके भी बताया है, और दोइन्द्रिय आदिक पर्याप्त जीवोंकी भी जघन्य अवगाहना अंगुलके असंख्यातवें भाग कही है। फिर भी उससे यह अवगाहना कुछ अधिक है और इसमें भी ऊपर ऊपर संख्यातगुणी अवगाहना है अर्थात् दो इन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना घनांगुलके असंख्यातवें भाग है। उससे संख्यातगुनी तीनइन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंके शरीरकी अवगाहना है, फिर भी है घनांगुलके असंख्यातवें भाग। इससे चौइन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंकी

अवगाहना संख्यातगुनी है। चौइन्द्रिय जीवोंके देहकी अवगाहनासे संख्यातगुनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकके देहकी अवगाहना है, फिर भी ये समस्त जघन्य अवगाहनाये अंगुलके असख्यातवे भाग प्रमाण हैं। पर्याप्तक दो इन्द्रिय आदिकके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना जघन्य अवगाहनासे कुछ अधिक जानना चाहिए। इस प्रकार दो इन्द्रिय आदि जीवोंके देहकी अवगाहना कहा। लेकिन इन जघन्य अवगाहनाओके स्वामी कौन कौन होते है? यह एक प्रश्न रह जाता है। उसका उत्तर अगली गाथामे बतलाते है।

अणुद्धरीय कुथो मच्छी काणा य सालिसित्थो य।
पज्जत्ताण तसाण जहण्णदेहो विणिद्दिट्ठो ॥१७५॥

त्रस जीवोमें जघन्य अवगाहनाके स्वामी प्राणियोका कथन--पर्याप्त द्वीन्द्रियमे जघन्य अवगाहनाका अणुंधरी जन्तुविशेष है इसके अवरुद्ध क्षेत्रके प्रदेशोकापरिमाण उतना है जितना कि घनागुलमे चार बार संख्यातका भाग देनेसे लब्ध होता है। त्रीन्द्रियमे जघन्य अवगाहनाका धारी कुन्थु जन्तुविशेष है। घनागुलमे तीन बार संख्यातका भाग देनेसे लब्ध हुए प्रदेशों परिमाण इसके देह द्वारा अवरुद्ध क्षेत्र हैं। चतुरिन्द्रियमें जघन्य अवगाहनाका धारी काणमक्षिका नामका जन्तुविशेष है। घनांगुलमे दो बार सख्यातका भाग देनेसे लब्ध हुए प्रदेशों परिमाण इसके देह द्वारा अवरुद्धक्षेत्र है। पचेन्द्रिय जीवमे जघन्य अवगाहनाका धारी सालिसिक्थ (सन्दुल मत्स्य) नामका मत्स्य है। घनागुलमे एक बार संख्यातका भाग देनेसे लब्ध हुए प्रदेशो प्रमाण इस सालिसिक्थ मत्स्यके शरीर द्वारा क्षेत्र अवरुद्ध है। शरीरकी अवगाहना का मतलब ही यह दिखाना है कि उस शरीरने कितना क्षेत्र रोका? सो यद्यपि इन द्वीन्द्रियादि जीवोंकी जघन्य अवगाहना अंगुलके असंख्यातवे भाग कही है सामान्यतया, फिर भी यह विशेष समझना कि द्वीन्द्रियसे त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रियसे पञ्चेन्द्रिय जीवके देहकी जघन्य अवगाहना क्रमसे सख्यात संख्यातगुणी हैं। अब सामान्यतया विचार करें तो सर्वजीवोंमे अतिजघन्य अवगाहना ऋजुगतिसे उत्पन्न हुए सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तके तृतीय समयमे है वह भी घनांगुलके असंख्यातवे भाग प्रमाण है। सर्वोत्कृष्ट अवगाहना स्वयभूरमण समुद्रके मध्यमे रहने वाले महामत्स्यकी है। इस प्रकार देह की अवगाहनाके प्रमाणका कथन सपूर्ण हुआ।

लोय-पमाणो जीवो देह-पमाणो वि अच्छदे खेत्ते।
उग्गाहण-सत्तीदो संहरण-विसप्प-धम्मादो ॥१७६॥

जीवका स्वक्षेत्रपरिमाण--उक्त गाथावोंमे जीवोके शरीरकी अवगाहना बतायी है कि किस जीवके शरीरकी कितनी-कितनी बड़ी ऊँचाई चौड़ाई आदिक होती है? इस प्रकरणको सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि जीव आखिर है स्वयं कितना बड़ा? क्या जीव शरीरके बराबर ही है, अथवा यह जीव सारे संसारमें व्याप जाय इतना बड़ा है। इस सम्बन्धमे यह बताया गया है कि जीव कथंचित् लोक-प्रमाण है और कथचित् शरीरप्रमाण है। कभी यह जीव अपने प्रदेशसे बढ़े तो सारे लोकको व्यापकर ठहर जायेगा और यह सिकुड़े तो जितने जितने शरीर हैं उतने शरीर प्रमाण यह रहता है। किसी भी स्थितिमें यह जीव अपने शरीरसे कम नहीं रहता। यदि मरण भी हो जाय, विग्रहगतिमें गमन करे तो जिस शरीरको इसने पहिले छोड़ा था उस शरीर प्रमाण आत्मा रहेगा। जब कभी यह जीव कर्मोंसे छूट जाता है, जहां शरीर नहीं रहता ऐसे सिद्ध भगवन्तोंमें अन्तिम शरीर प्रमाण उनका आत्मा रहता है। कुछ कम बताया गया है तो जिसके नख और केश यहा हम आपके बढ़े हुए हैं उनमें जीव नहीं है लेकिन ये अभी अंग कहलाते हैं। सो वहां अग तो रहे ही नहीं, उतनाका ही उतना रहता है। कुछ ऐसे भी मंतव्य हैं कि भीतर जो कुछ थोड़ी पोल या निष्प्रदेश आकाश रहता था वह भी भर जाता है सो इससे कुछ कम हो जाता है। तो वह कुछ गणनामे नहीं है। तो यह जीव लोकप्रमाण है, निश्चयसे लोकप्रमाण

है और व्यवहारसे भी लोक प्रमाण है तथा देहप्रमाण है। इस आत्मामें इतने प्रदेश हैं कि एक एक प्रदेश यदि फैल जाय सारे लोकमें तो सारे लोकके एक एक प्रदेशपर इस जीवका एक-एक प्रदेश होगा। यों असख्यात प्रदेश हैं। तो इतने असख्याते प्रदेश जीवमें सदा रहते हैं, पर संकोच और विस्तार होता है। जैसे दीपक यदि किसी घडा वगैरह बर्तनमें रखा हो तो उतना ही उजेला देगा जितना कि वह वर्तन है और उस दीपकको यदि कमरेमे रख दिया जाय तो सारे कमरेमे उसका उजेला फैल जायेगा ऐसी ही जीवके प्रदेशकी बात है। यह जीव चींटीके शरीरमें रह रहा है तो जितना उसका शरीर है उतने ही प्रमाण उसके प्रदेश हैं और यह जीव हाथीके शरीरमें पहुंच जाय तो जितना बड़ा वह शरीर है उतनेमें प्रदेश फैल जाते हैं। तो इसमें संकोच और विस्तारका स्वभाव है सो जैसा देह पाता है उस देह प्रमाण यह जीव फैल जाता है। पर निश्चयत' देखो तो इस जीवमें लोकाकाशके प्रदेशके बराबर परिमाणके प्रदेश हैं। कभी किसी कारणवश यह जीव फैलता है तो सारे लोकमें भी व्यापकर रहता है। केवल एक कारणवश हुआ, अत' उसे व्यवहारत' भी कह सकते हैं।

एक जीवकी समस्तलोकव्यापकताका अवसर—जब केवलीसमुद्घात होता है तो भगवानके आत्माके प्रदेश सारे लोकमें फैल जाते हैं। अरहत भगवान कहते हैं उन्हें जिनके चार घातियाकर्म नष्ट हो गए, जिनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्द यह चतुष्टय प्रकट हुआ है। अरहत भगवानसे चार घातियाकर्म तो हैं नहीं, किन्तु चार अघातियाकर्म हैं। घातियाकर्मका अर्थ है जो आत्मा के गुणोंका घात करे। जैसे ज्ञानावरण कर्म जीवके ज्ञानगुणका घात करता है। दर्शनावरणकर्म जीवके दर्शनगुणका घात करता है। मोहनीयकर्म जीवके सम्यक्त्व और चारित्र गुणका घात करता है। अन्तरायकर्म जीवकी शक्तिका घात करता है। तो जीवके गुणोंका घात करने वाले ये चार घातिया-कर्म तो नष्ट हो चुके। अब उनमें अघातियाकर्म रह गए। अघातियाकर्म उन्हें कहते हैं जो जीवके गुणोका घात तो न करें, किन्तु कुछ ऐसी बात मिला दें कि जो जीवके दु खके सहकारी कारण बनते हैं। जैसे इष्ट अनिष्ट संयोग मिलना, यह वेदनीयकर्मका काम है। शरीरमें जीवका बना रहना यह आयुकर्मका काम है। शरीरका नाना आकारोंमें निर्माण होना यह नामकर्मका काम है और ऊँच नीच कुलमे उत्पन्न होना यह गोत्रकर्मका काम है। तो इन चार अघातिया कर्मोंने कुछ ऊपरी बातेंकी हैं। ये चार अघातियाकर्म अरहंत भगवानके हैं। सो जब उनके मोक्ष जानेका समय होता है तब जिनके आयुकर्म तो रह गया हो अन्तर्मुहूर्त, मानो कि कुछ सेकेण्ड रह गया और बाकीके तीन अघातियाकर्म बड़ी स्थितिके हों, लाखों वर्षके हो, तो ऐसा न होगा कि आयु तो पहिले नष्ट हो जाय अर-हत भगवानकी और तीन अघातियाकर्म रह जायें? कहां रहेंगे। चारोंके चारों अघातियाकर्म एक साथ नष्ट होंगे। तो एक साथ नष्ट होनेके लिए यह आवश्यक है कि उन चार कर्मोंकी स्थिति एक समान हो जाय। तभी तो एक समयमे चारों कर्म एक साथ दूर होंगे। तो बाकीके वे तीन अघातियाकर्म आयुकर्मके बराबर बन जायें इसके लिए उनका समुद्घात होता है। समुद्घातका अर्थ है कि शरीरको न छोड़कर आत्मा के प्रदेश शरीरसे बाहर भी हो जायें, तो अरहत भगवान जैसे बैठे हुए हो तो शरीरकी जितनी मोटाई है उससे तिगुने प्रमाण मोटे रूपमें, क्योंकि पद्मासनसे बैठे हैं ना, तो घुटनेके अग भी लिए जायेंगे तो इतने मोटे परिमाणमें पहिले भगवानके आत्माके प्रदेश नीचेसे ऊपर तक फैल जाते हैं, तब समझिये कि एक दड जैसा आकार बन जाता है। नीचेसे ऊपर तक १४ राजू हैं। वातवलयको छोड़कर १४ राजू तक आत्म-प्रदेश फैल जाते हैं। इसके बाद दूसरे समयमें अगलबगलमें जीवके प्रदेश फैल जाते हैं। सो जहा तक वातवलय नहीं है वहा तक फैल जाते हैं इसे कहते हैं कपाटसमुद्घात। इसके बाद तीसरे समयमे आगे और पीछे आत्माके प्रदेश फैलते हैं, जहां तक वातवलय न हो वहा तक फैल जाते हैं, इसे कहते हैं प्रतर-

समुद्घात। इसके बाद वातवलयमें जो इस लोकको घेरे हुए तीन वायुका पुञ्ज है वहां भी फैल जाता है, इसे कहते हैं लोकपूरण समुद्घात। तो इस समुद्घातमें अब भगवान आत्माके प्रदेश सारे संसारमें फैल गए फिर इसके बाद सिकुड़ जायेंगे। तो चौथे समयमें प्रतरके समान बन गए। फिर ५ वें समयमें कपाट के समान बन गए, फिर दण्डके समान बन गए। फिर ८ वें समयमें शरीरमें प्रवेश हो जाते हैं। फिर जितना अरहंत भगवानका शरीर है उतने में ही उनके प्रदेश हो गए। इस समुद्घातकी घटनामें जो तीन अघातिया कर्म बहुत बड़ी स्थितिके थे उनकी स्थिति घट जाती है और आयुकर्मके बराबर हो जाते हैं। इसके बाद अन्तर्मुहूर्त बाद १४ वें गुणस्थानमें पहुंचते हैं और वहांसे उनका निर्वाण होता है। तो बताना यहाँ यह है कि केवली समुद्घातके समय इस जीवके प्रदेश सारे लोकमें फैल जाते हैं, बाकी कुछ अन्य और समुद्घात हैं जिनके प्रदेश शरीरसे बाहर रहते हैं। शेष समय शरीर प्रमाण यह जीव रहता है।

जीवकी लोकालोकव्यापकताकी दृष्टि—दूसरी बात इस तरह भी जीवका फैलना देख लीजिये कि जीव है केवल ज्ञानस्वरूप, ज्ञान ज्ञान ही जीव है तो जब हम ज्ञानस्वरूपको ही मात्र निरखते हैं तो यह देखना होगा कि भगवानका ज्ञान कहां तक फैला हुआ है? यद्यपि निश्चयनयसे ज्ञान बाहर फैलता नहीं है, ज्ञानका आधार है आत्मा, सो आत्माके प्रदेशोंमें ही ज्ञानका बना रहना होता है। लेकिन ज्ञानको निरखा जाता है एक जाननके रूपमें तो भगवानके ज्ञानमें कहां तककी वस्तुओंका प्रतिभास किया है, इस व्यवहारसे देखा जाय तो यह कहा जायेगा कि भगवानके ज्ञानने लोकको सबको जाना है और अलोकको भी जाना है। इस तरह प्रभुका ज्ञान लोक और अलोकमें सर्वत्र व्याप्त है तो यों लोकालोकव्यापक जीव हो गया, पर ज्ञानकी अपेक्षासे व्यवहारनयसे हुआ। प्रदेशकी अपेक्षासे तो यह अधिकसे अधिक व्यापक हो सकता है तो लोकमें व्यापक हो सकता है।

जीवकी देहप्रमाणता—अब देह प्रमाणकी बात देखिये—व्यवहारनयसे इस जीवके नामकर्मका उदय होनेसे यह देहके बराबर रहता है। देहके बराबर रहता है तो कमसे कम कितने देहमें और अधिक से अधिक कितने देहमें रहता है इसका परिमाण पहिले बताया ही गया है कि जघन्य तो घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्रको घेरे हुए शरीर रहता है। वह शरीर है सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तकका और अधिकसे अधिक देहकी अवगाहना होती है तो एक हजार योजन प्रमाण होती है। यह अवगाहना है स्वयंभूरमण समुद्रमें रहने वाले महामत्स्यकी। अब इतनी छोटी देहसे बढ़कर और उत्कृष्ट देहसे कम कम कितने भेद हैं? असंख्याते भेद हैं। यों असंख्याते प्रकारके शरीरोंमें जीव फैला हुआ रहता है। यह जीव देह प्रमाण ही है, यह बात आपको अपने अभ्याससे भी विदित हो सकती है। जैसे आपका आत्मा आपको स्वयं अनुभव हो रहा होगा कि इस शरीर भरमें ही व्यापक है। इस शरीरसे बाहर नहीं है। यह आत्मा भिन्न-भिन्न प्रकारके शरीरोंमें व्याप जाता है। अभी था चींटी तो दो चार सूत प्रमाण ही देह था और अब हो गया हाथी तो कितने-कितने परिमाणमें बढ गया। तो यह घटना बढना होता क्यों है? इसका कारण है कि इस आत्माके प्रदेशोंमें सिकुड़ने और फैलनेका स्वभाव पड़ा है, सो शरीर नामकर्मकी वजहसे यह आत्मा सिकुड़ता और फैलता भी है। जैसे दीपकका दृष्टान्त बताया गया था कि जितने पात्रमें दीपक हो उतने पात्रमें उसका प्रकाश फैले। जहां बड़े पात्रमें आया दीपक तो बड़ी जगहमें फैल जाता है, यों यह छोटे बड़े देहप्रमाण रहता है।

समुद्घातोंमें देह से बाहर भी आत्मप्रदेश हो जानेका विवरण—जो ७ प्रकारके समुद्घात हैं उन समुद्घातों में यह जीव देहसे बढ़कर भी फैल जाता है। ७ समुद्घातोंके नाम ये हैं—वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, विक्रियासमुद्घात, आहारकसमुद्घात, मरणान्तिक समुद्घात, तैजस समुद्घात और केवली समुद्घात। केवली समुद्घातमें ये आत्मप्रदेश समस्त लोकभरमें फैल जाते हैं, इसको अभी बताया ही था। अब अन्य

६ समुद्घातोंमें यह जीव कहां कहां फैलता है सो सुनो। वेदना समुद्घातमें जब इस जीवके देहमें तीव्र वेदना होती है तो उस कष्टका अनुभव होने से ये आत्मप्रदेश बाहर निकलने लगते हैं। सभी समुद्घातोंमें जीव मूल शरीरको छोड़ता नहीं है, इतना ध्यानमें रखना। तो वेदना होने पर आत्मप्रदेशका बाहर निकलना वेदनासमुद्घात है। कभी वेदनासमुद्घातमें ये जीवके प्रदेश औषधिका स्पर्श करले तो रोगीका रोग भी दूर हो जाय। कषाय जब तीव्र होती है तब भी इस जीवके प्रदेश शरीरसे बाहर निकल जाते हैं। लोग कहते भी हैं अत्यन्त क्रोधी मनुष्यको कि आप आपे से बाहर क्यों हो रहे हैं? विक्रिया समुद्घातमें जो देवादिक विक्रिया करते हैं उनके आत्माके प्रदेश जहाँ तक वह विक्रिया वाला शरीर जाता है वहां तक फैल जाते हैं। आहारक समुद्घातमें छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंके जब कोई तत्त्वमें शंका होती है तो अपनी शंका दूर करानेके लिए उनके मस्तकसे एक आहारक शरीर निकलता है, वह तीर्थंकरोंकी वंदना करके वापिस आ जाता है, उसे कहते हैं आहारक शरीर। तो आहारक समुद्घातके समय इस जीवके प्रदेश देहसे बाहर हो जाते हैं। तैजस समुद्घातमें जब मुनिको कोई दया हुई तो दाहिने कंधेसे तैजस शरीर निकलता है, जहाँ वह जायेगा वहां जीवोंका भला कर देगा और कभी क्रुद्ध हो जायें तो उनके बाँये कंधेसे तैजस शरीर निकलता है, तो उस शरीरमें इतनी प्रचण्डता होती है कि दूसरोंको भस्म कर देगा और खुद मुनिको भी भस्म कर देगा। यह अशुभ तैजस कहलाता है। तो तैजस शरीर समुद्घातमें भी जीवके प्रदेश देहसे बाहर हो गए। मरणान्तिक समुद्घातमें होता यह है कि जीवका जब मरण होता है, एक भवको छोड़ता है तो मरणसे पहिले उसके प्रदेश जन्मस्थानको छू आते हैं और वहाँसे वापिस आकर शरीरमें प्रवेश हो जाते हैं। फिर मरण होता है। ऐसा मारणान्तिक समुद्घात किसी किसी जीवके होता है। इस तरह ७ प्रकारके समुद्घातोंको छोड़कर जीवके शरीर अन्य समय देहसे बाहर नहीं होते। तो जीवका फैलाव देहप्रमाण है और लोकप्रमाण भी है और प्रदेशप्रमाणकी दृष्टिसे केवल लोकके प्रदेशके बराबर असख्यात प्रदेश वाला है। इस गाथामें यह प्रमाण बताने से जो दार्शनिक एकान्तको सर्वव्यापी मानते हैं उनका निराकरण होता है और जो दार्शनिक केवल वट बीजकी तरह अणुप्रमाण मानते हैं उनका भी निराकरण हो जाता है।

सव्वगओ जदि जीवो सव्वत्थवि दुःखसुक्खसपत्ती।
जाइज्ज ण सा दिट्ठी णियतणुमाणो तदो जीवो ॥१७७॥

जीवकी सर्वगतताका निषेध—कोई लोग जीवको सर्वव्यापक ही मानते हैं। उनके प्रति कहा जा रहा है कि यदि जीव सर्वगत है तो इसे सर्वत्र सुख दुःख होना चाहिये, किन्तु ऐसा कहाँ देखा जाता है? इससे सिद्ध है कि जीव अपने देहप्रमाण ही है। नैयायिकादिकोंके सिद्धान्तमें ऐसा कहा है कि एक ही जीव प्रत्येक शरीरमें रहता है। उन सबमें वह जीव एक ही है जैसे एक चन्द्रमा ही अनेक जलपात्रोंमें अनेक रूप दीखता है ऐसे ही एक जीव अनेक शरीरोंमें अनेकरूप दीखता है। इस सम्बन्धमें प्रथम तो बात यह है कि एक चन्द्रमा अनेक नहीं दीखता किन्तु एक चन्द्रका निमित्त पाकर अनेक पात्रस्थ जलपिण्ड भी चन्द्रबिम्बरूप हो गये सो, दृष्टान्त एक जीवको सर्वव्यापक सिद्ध नहीं करता है। दूसरी बात यह है कि यदि जीव सर्वगत होता तो सब जगह सब शरीरोंमें किसी भी एक जीवको सुख दुःखका अनुभव क्यों नहीं होता जैसे कि अपने शरीरमें सुख दुःखका अनुभव क्यों नहीं होता? जैसे कि अपने शरीरमें सुख दुःखका अनुभव होता है। यदि सर्वगत होता जीव तो इसे सर्वशरीरोंमें बीचमें पोलमें सर्वत्र दुःख व सुखका अनुभव होना चाहिये था किन्तु ऐसा है नहीं, न देखा जाता है। अपने-अपने शरीरमें इन सब जीवोंको सुख दुःखका वेदन होता है। इससे सिद्ध है कि जीव अपने देहप्रमाण है याने कर्मविपाकवश जिस देहका समागम हुआ है उस देह प्रमाण है।

जीवो णाणसहाओ जह अग्गी उण्हओ सहावेण ।
अत्थंतरभूदेण हि णाणेण ण सो हवे णाणी ।।१७८।।

अर्थान्तरभूत ज्ञानसे आत्माके ज्ञानित्वका निषेध तथा आत्माकी ज्ञानस्वभावताका प्रतिपादन—जीव और ज्ञानस्वरूपके सम्बंधमे कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि ज्ञान जुदी चीज है और जीव जुदी चीज है । और उस ज्ञानके मेलसे फिर जीव ज्ञानी कहलाता है । इस एकान्तका निराकरण करनेके लिए इस गाथामें यह बता रहे है कि जीव ज्ञानस्वभावी है । जैसे कि अग्नि स्वभावसे उष्ण है इसी प्रकार जीव भी स्वभावसे ज्ञानस्वभावी है । नैयायिक सिद्धान्तमें ऐसा माना है कि गुण जुदी चीज है और गुणी जुदी चीज है । गुण और गुणीको स्वतंत्र सत् माना है । इस प्रकार उस साख्यसिद्धान्तमे ज्ञानको आत्माका गुण ही नही स्वीकार किया, किन्तु ज्ञानको प्रकृतिका गुण माना है । प्रकृति और पुरुष दो मूलभूत पदार्थ हैं तो पुरुष तो केवल चेतनामात्र है । वह जानन आदिकका कुछ काम नहीं करता, और प्रकृतिसे ज्ञान बनता है फिर ज्ञानसे अहकारादिक बनते है । इस तरह सारी सृष्टि प्रकृतिसे बनती है अर्थात् प्रकृतिका गुण माना है ज्ञान । यो पुरुपसे याने जीवसे-ज्ञान बिल्कुल ही भिन्न माना गया है । मीमांसक सिद्धान्तमे ज्ञानको गुण नामका जुदा पदार्थ माना है और जीव आत्मा नामका जुदा पदार्थ माना है । और गुण गुणीके समवायसे आत्माको ज्ञानी माना गया है, किन्तु उसका यह समवाय शाश्वत अनादि है । इस तरह भिन्न-भिन्न-प्रकारोंसे कुछ लोग ज्ञानको जीवसे जुदा मानते है । किन्तु एक स्थल दृष्टिसे भी सोचा जाय कि यदि जीव का ज्ञान जुदा है तो जुदे ज्ञानसे यह जीव ज्ञानी कैसे कहलायेगा ? जैसे दुनियामें बहुतसे पदार्थ न्यारे न्यारे है । तो दूसरेके कारण कोई पदार्थ स्वभाववान तो नही बनता । तो इस तरह गुण गुणीको पृथक माननेसे जीव ज्ञानस्वभावी नहीं ठहरता । बात यह है कि ज्ञानगुणके और आत्मा गुणीके प्रदेश जुदे-जुदे नहीं हैं । जो गुणके प्रदेश है वे ही गुणीके प्रदेश है ? अथवा यों कहो कि एक आत्मद्रव्य है, उसका जैसा स्वरूप है वह वचनो द्वारा नहीं कहा जा सकता । उसको समझानेके लिए भेदकथन करना होगा अर्थात् एक ही अखण्ड द्रव्यको समझानेके लिए शक्तिभेद बताकर, परिणतिके भेद बताकर उन पर्यायोंके ढगसे द्रव्यको समझाया जा रहा है । जैसे कि कहा जायगा कि जो जाने सो जीव । तो यों भेद करके समझाया जाता है । तो जो भेद किया गया है वे ज्ञानादिकगुण कही जुदे पदार्थ नहीं होते । वे सब एक ही कहलाते है । तो जीवको ज्ञानस्वभावी मानने पर ही जीवकी सत्ता और ज्ञानादिककी व्यवस्था बनती है । अब सर्वथाज्ञानको भिन्न मानने वाले नैयायिकोंके प्रति कहा जा रहा है ।

जदि जीवादो भिण्णं सव्वपयारेण हवदि स णाणं ।
गुणगुणिभावो य तदा दूरेण पणस्सदे दोण्हं ।।१७९।।

ज्ञानको जीवसे सर्वथा भिन्न मानने पर गुणगुणिभावकी असभवता—यदि ज्ञान जीवसे सर्वथा ही भिन्न हो तब तो उनमें गुणगुणी भेद भी नहीं बन सकता । याने न इस तरह भी जीवका और ज्ञानका सम्बंध माना जाय कि जीव जनक है और ज्ञान जन्य है । जीव ज्ञानको उत्पन्न करता है इतना भी सम्बध नहीं माना जाय अथवा ज्ञान आत्माका स्वभाव है यह भी सम्बध नहीं माना जाय अथवा ज्ञान विभाव होगा, जीवका ही एक अग है इस तरह भी न माना जाय । किसी भी प्रकारसे सम्बंध न माना जाय तो फिर जीव और ज्ञानमें यह जीव गुणी है और यह ज्ञान गुण है यह बात दूरसे ही खतम हो जायगी । जीवमें कई बातें जन्य जनक भावसे देखी जाती हैं और कई तत्त्वस्वभावरूपसे देखी जाती है । और उसमें कोई तत्त्व स्वभाव और विभाव रूपसे देखा जाता है । जैसे जीव मति श्रुत आदिक भावोंको उत्पन्न करता है । मतिज्ञान श्रुतज्ञानादिक अनेक भेद है, उनका उत्पादक हैं जीव, यों भी देखा जाता है । ज्ञान आत्माका स्वभाव है, यो भी परखा जाता है । उन ज्ञानोंमे कोई ज्ञान स्वभावज्ञान है, कोई ज्ञान विभावज्ञान हैं, और

वहाँ ज्ञानस्वभाव एक स्वभाव है और जितनी भी उसकी व्यक्तियाँ हैं वे सब परिणतियां हैं। यों अनेक प्रकारसे जीवमें अभेदरूपसे गुण देखे जाते हैं, परिणतिरूपसे भी देखे जाते हैं, लेकिन जो गुण और गुणीको सर्वथा ही जुदा समझे उसने तो इतना कहनेका भी अवसर नहीं रखा कि ज्ञान गुण है और जीव गुणी है। देखिये—जो अत्यन्त भिन्न चीज है उसमें गुण गुणीका सम्बन्ध नहीं घटित होता। जैसे हिमालयपर्वत कहां पड़ा है और विन्ध्याचलपर्वत कहा पड़ा है? दूर दूर हैं, सैंकड़ों कोशोंका अन्तर है तो क्या वहा यह कहा जा सकता कि विन्ध्याचल तो है हिमालय या हिमालयका विन्ध्याचल या इनमें एक गुणी है एक गुण है, जो अत्यन्त भिन्न चीज है उसमें गुण गुणीकी बात नहीं देखी जाती। इसी तरह जब जीवको न्यारा माना और ज्ञानगुणको न्यारा माना तो उनमें भी गुण गुणी भेद सिद्ध नहीं होते। जैसे जो चीज हमे दिख रही है उसका जो निजी रूप है यह रूप क्या उससे जुदा है, नहीं, बल्कि तादात्म्यरूप से है। इसी तरह आत्माका स्वरूप ही और क्या? सिवाय ज्ञानके हम आत्माको भली प्रकार लक्ष्यमें ले सकते हैं तो ऐसा ही निरखकर कि यह मैं ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही हू। ज्ञानमयके सिवाय मैं आत्मा और कुछ नहीं हू। इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श ये कुछ भी नहीं पाये जाते, सिर्फ ज्ञान ज्ञान ही जीवमें है और ऐसा ज्ञानास्वरूपी आत्मद्रव्यका परिचय होनेपर ही जीवका उद्धार होना सम्भव है। यों ज्ञानको जीवस्वभावी सिद्ध किया। इस सिद्धिको सुनकर यदि कोई यह शका करे कि जब जीव ज्ञानस्वभाव है, ज्ञानमय है तो उसमें गुण और गुणीका भेद कैसे बनेगा? उत्तरमें कहते हैं कि—

जीवस्स वि णाणस्सवि गुणगुणिभावेण कीरए भेओ।
जं जाणदि तं णाणं एवं भेओ कहं होदि॥१८०॥

तीर्थप्रवृत्तिके लिये जीव और ज्ञानमे गुणगुणीभावके भेदके कथनकी समुचितता—जीव और ज्ञानमें गुण गुणी भावकी अपेक्षा भेद किया जाता है। यदि ऐसा न हो तो जो जानता है वह ज्ञान है, ऐसा भेद कैसे हो सकता है? याने जीव और ज्ञान है वस्तुत एक, पर वहां ज्ञानगुण है आत्मागुणी है ऐसा भेद किया जाता है, क्योंकि लक्षण जुदे जुदे विदित हो रहे हैं। ज्ञानका लक्षण है जानन गुण जीवका लक्षण है जो ज्ञानमय है और अनन्तधर्ममय है, तो जीव हुआ गुणी, ज्ञान वाला और ज्ञान हुआ गुण। गुणीका भिन्न लक्षण होनेसे लक्षणकी अपेक्षा जीव और ज्ञानको जुदी जुदी पद्धतिमें समझा जाता है याने गुणका लक्षण जुदा है और गुणीका लक्षण जुदा है। जैसे कहते हैं—इसान और इसानियत। तो इसानियत इंसानसे जुदी चीज तो नहीं है एक ही है लेकिन उसका जब अर्थ करेंगे कि इंसानियतका अर्थ क्या है और इसानका अर्थ क्या है तो शब्द जुदे जुदे कहने ही पड़ेंगे। जो भला अभिप्राय है उसका नाम है इसानियत और भला अभिप्राय रखने वाला जो पुरुष है उसका नाम है इसान तो लक्षणके भेदसे जैसे यहा भेद किया जाता है पर है बात एक ही। इसी प्रकार लक्षणके भेदसे आत्मा और ज्ञानमें भेद किया जाता है, पर वस्तुत· है वह एक ही। गुणी परिणामी है और गुण उसका परिणाम है। गुणी शक्तिमान है और गुण उसकी शक्ति है। शक्ति और शक्तिवाला ऐसा कहा जाता है ना। फिर भी शक्ति कुछ अलग पड़ी रहती हो और शक्ति वाला अलग बैठा रहता हो, ऐसे जुदे प्रदेश तो नहीं है। इसी तरह ज्ञान गुण है, शक्ति है और आत्मा गुणी है, शक्तिमान है, यह भेद है, किन्तु ये जुदे जुदे प्रदेशोंमें हों ऐसी बात नहीं हैं। गुणी कारण है और गुण कार्य है। गुण और गुण यह नाम भी निराला है, संख्याकी दृष्टिसे देखो तो गुण एक होता है और गुणी अनेक होते हैं। जैसे आत्मामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक अनेक गुण हैं, पर आत्मा तो एक है। इन सब गुणोंका तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाला जीव एक ही है। तो गुणी एक गुण अनेक। इस तरह संख्या, नाम, शक्ति, परिणाम आदिककी अपेक्षा इनमें भेद है।

जीव और अज्ञानमे अभेद और भेद समझानेवाली दृष्टियोका कथन—यद्यपि द्रव्य और पर्याय या गुण

एक ही वस्तु है, अभिन्न हैं लेकिन विवक्षावश इन दोनोंमे कथंचित भेद है, स्वभाव निराला है। आत्म-द्रव्य अनादि अनन्त होता है। द्रव्य एक स्वभावरूप है, पर्यायोंके अनेक स्वभाव है। द्रव्य शक्तिमान होता और पर्याय शक्तिकी व्यक्तियां हैं। द्रव्य संख्या एक है, अर्थात् किसी भी एक द्रव्यमें अनेक पर्यायें होती हैं। पर्यायोंकी संख्या अनेक हैं और द्रव्य एक है। लक्षण भी देखो तो द्रव्यका लक्षण किया गया है। जो गुण पर्यायवान हो सो द्रव्य। जिसमें त्रिकाल शक्ति हो और उन शक्तियोंकी अवस्थायें बनती रहती हों, उसका नाम द्रव्य है। गुणका लक्षण किया है कि जो द्रव्यके आश्रित हो किन्तु गुणरहित हो सो गुण है। पर्यायका लक्षण किया है कि पदार्थका जो होना है, जो क्षण क्षणकी परिणति है वह पर्याय है, तो देखिये लक्षणके भेदसे इनमें भेद हो गया किन्तु द्रव्यभेद नहीं है। जैसे अगुली और अंगुलीका रूप। तो अगुली और जगह रहती हो और रूप और जगह रहता हो ऐसा भेद है क्या? भेद नहीं है, लेकिन रूपका लक्षण जुदा है, अंगुलीका लक्षण जुदा है, अंगुलीमें रूप, रस, गंध, स्पर्श ये चार गुण हैं, पर रूपमें रूप ही है। रूप उसे कहते हैं जो चक्षुइन्द्रियके द्वारा जाना जाय। रूपको हम आँखोंसे ही तो परखते है। पर अगुली है वह तो स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु आदिक सबके द्वारा परखा जाता है। तो अगुली हुई एक पिण्डभूत चीज और रूप हुआ उसका धर्म। तो लक्षण के भेदसे उनमें भेद हो सकता है लेकिन रूप अलग हो और अंगुली अलग हो ऐसा नहीं है। तो जीवको भी अब निरखो। जब समझाने का प्रकरण हो तब तो इस आत्मामे भेद दृष्टि करके ज्ञानादिक गुणोंको भिन्न-भिन्न बताया जाता है और उससे ही परख करायी जासकती है। देखो जो जानता है ना वह आत्मा है, जो देखता है वह आत्मा है, जो श्रद्धान् करता है वह आत्मा है, जो कहीं रमण करता है वह आत्मा है। तो समझानेके लिए भेद है, किन्तु जब कोई एक अपने आत्माका अनुभव करने के लिए प्रयास करे तो उसे अभेदका ही आदर देना होगा। मैं एक हू, अखण्ड हूं, चैतन्यस्वरूपमात्र हू। इस एक आत्मामे गुणोंके भेदका भी दर्शन न करे तब वह अपने आत्माका अनुभव कर सकेगा। आत्माके अनुभवके लिए निर्विकल्पताकी आवश्यकता है और जहां भेद देखे जा रहे हों वहाँ निर्विल्प बन नहीं सकते। अतएव आत्मानुभूतिके लिए दोनोंको अभेद अखण्ड चिन्मात्रके रूपमें निरखना होता है। तो यह तो अपने उपकारके लिए अनुभूतिकी बात कही है। लेकिन तीर्थ प्रवृत्ति कैसे चले, लोगोंमे ज्ञानका प्रचार कैसे बने उसके लिए भेददृष्टिका सहारा लेना होता है। भिन्न-भिन्न विशेषण बता बता कर समझाया जायेगा। तो उनमें गुण और गुणीका भेद करना आवश्यक है। यों गुण गुणीका भेद विवक्षासे किया जाता है, तब यह समझना चाहिए कि ज्ञान आत्मासे कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है, अथवा यों कहो कि ज्ञान आत्मासे तत्त्वतः अभिन्न है और व्यवहारदृष्टिसे भिन्न है। उसका भाव यह है कि ज्ञान और आत्मामें क्षेत्रभेद नहीं, प्रदेशभेद नहीं, सत्ता भेद नहीं वे स्वतंत्र-स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। पदार्थ तो केवल एक आत्मा है, उसे भेददृष्टिसे गुणगुणीके भेदसे परखना है।

परमार्थप्राप्तिके लिये जीवकी ज्ञानस्वभावताका वर्णन--जीव ज्ञानस्वभावी है। जैसे कि अग्नि उष्णस्वभावी है। स्वभाव अभिन्न हुआ करता है। तब इन शब्दोंमें भी कह सकते हैं कि जीवके ज्ञान ज्ञानमात्र है। जो ज्ञानभाव है वही जीव है। इस तरह ज्ञानस्वभाव ज्ञानकी बात सुनकर नैयायिक सिद्धान्तके अनुयायी दार्शनिक प्रश्न करते हैं कि जीव ज्ञानस्वभाव कैसे होगा? ज्ञानगुण नामक पदार्थ है। जीव द्रव्य-नामक पदार्थ है, ये दोनों सर्वथा भिन्न हैं। इस तरह सर्वथाज्ञानको जीवसे भिन्न बताने वाले नैयायिकों के प्रति इस गाथामें उत्तर दिया जा रहा है। यदि जीव सर्व प्रकारसे ज्ञानसे भिन्न हो अथवा ज्ञान जीवसे भिन्न हो तब तो उनमें गुणगुणी भावकी बात भी नहीं कह सकते। जैसे हिमालय पर्वत बिल्कुल अलग

गह है, विन्ध्याचल बहुत दूर है, तो क्या विन्ध्याचल और हिमालयमे गुणगुणी भावका सम्वध बताया जा सकता है ? नहीं, क्योंकि सर्वथा भिन्न हैं। इसी तरह सर्वथा भिन्नमें विशेषण विशेष्य भाव भी नहीं बताया जा सकता कि विन्ध्याचलका विशेषण हिमालय है या हिमालयका विशेषण विन्ध्याचल है। और, न कार्य कारण भाव भी बताया जा सकता कि हिमालयका कार्य विन्ध्याचल है या विन्ध्याचल का कार्य हिमालय है। और न इसमें स्वभाव विभावकी बात चल सकती है दो पर्वतोंमें स्वभाव क्या है और विभाव परिणमन क्या है ? सर्वथा भिन्न पदार्थोंमें यह बात घटित नहीं होती। तो यों ही यदि ज्ञानको जीवसे भिन्न मान लिया जाय तो बतलाइये ज्ञान गुण है, जीव गुणी है, ऐसा तो नैयायिक भी कहते हैं। तो यह सम्बंध कैसे बना ? कोई यों ही कह बैठे कि ज्ञान गुणी है, जीव गुण है, तो कहनेमात्रसे क्या होना। यो ही जीव व ज्ञानका जब भेदसिद्धान्त बना दिया तब जीवका और ज्ञानका कोई गुणगुणी सम्बंध ही नहीं घटित हो सकना। जैसे घट और पट। ये आपसमें कौन गुणी है कौन गुण है ? कोई भी नहीं। इसी तरह जीवको और ज्ञानको सर्वथा भिन्न मान लेनेपर इनमे गुणगुणी सम्बध नहीं रहता। और, फिर जन्य जनक भाव भी न बनेगा कि जीव तो जनक है और ज्ञान जन्य है। यहा ज्ञानस्वभावकी बात नह कहीं रहे हैं। क्योंकि परिणमनेमे जो ज्ञान आता है उसकी बात है। मतिज्ञान, श्रतज्ञान, अवधिज्ञान आदिक ये तो जन्य हैं ना। तो भेद मान लेनेपर जन्य जनक भाव भी नहीं बनता। स्वभाव विभाव भी क्या ? जैसे ज्ञानस्वभाव स्वभाव है, ज्ञानकी परिणतिया विभाव है। अथवा विभाव परिणतिया विभाव हैं, स्वभाव परिणतिया स्वभाव है, यह भेद भी घटित न होगा। जब कि ज्ञानको जीवसे भिन्न मान लिया तो यह कोई सम्बंध नहीं बन सकता है। अतः मानना होगा कि जीव और ज्ञान घट पट आदिक पदार्थ नहीं हैं, किन्तु जीव ज्ञानस्वभाव है, और उस ज्ञानस्वभाव जीवके परिणमन निरन्तर चलते हैं। उन परिणमनोमे प्रत्येक ज्ञानपरिणमन यह क्षणिक है और जीव ज्ञानस्वभाव यह ध्रुव है। तो द्रव्य और पर्यायों के भेदकी अपेक्षा इसमें भेद डाला जा सकता है। पर सर्वथा ये भिन्न नहीं हैं।

जीवप्रतिबोधके लिये गुणगुणीके भेदका कथन—अब कोई यहा यह प्रश्न कर सकता था कि तब फिर जीव और ज्ञान जब अभिन्न हैं, ज्ञानस्वभाव ही जीव है तो गुणगुणीका भी भेद मत करिये। उसके उत्तरमें कहा है कि गुणगुणी जीवोकी अपेक्षा जीव और ज्ञानमे भेद किया जाता है। यदि जीव और ज्ञानसर्वथा एक ही अभिन्न हुए किसी भी प्रकार उनमें भेदकी समझ न बनायी जा सकती हो तो यह भी वचन कैसे कहा जा सकेगा कि जो जानता है सो जीव है। ऐसा लोग कहते ही हैं, समझाना ही पडता है कि जीव किसे कहते हैं। जो जाने सो जीव। अब इतना कहने मे ही यह भेद आ गया कि जान कुछ और चीज है, ज्ञान कुछ और स्वरूप रखता है, यहा इस भिन्न स्वरूपके सर्वथा भिन्न नहीं किन्तु जीव द्रव्यरूप है, ज्ञान पर्यायरूप है, जीव एक धर्मी है, ज्ञान धर्म है, ज्ञान दर्शन आदिक अनन्त धर्म हैं जीवमे उनमेंसे एक ज्ञानधर्म है। आदिक अनेक भेदोंसे उनमें भिन्न लक्षणता कही गई है। जीव शक्तिवान है। ज्ञान एक शक्ति है। जीवका नाम और है, ज्ञानका नाम और है। जीव कारणभूत है, ज्ञान कार्यभूत है। जो जो भी ज्ञान परिणमन चल रहे हैं वे एक इस जीवपदार्थका उपादान करके ही तो चला करते है। इस कारणसे जीवमे और ज्ञानमे समझनेके लिए, तीर्थ प्रवृत्ति चलानेके लिए तो भेद है और परमार्थतः ये भिन्न प्रदेश नहीं है अतएव ये परस्पर एक है। अब जीव और ज्ञानकी चर्चा सुनकर चार्वाक प्रश्न करते हैं कि जीव नामका कोई पदार्थ किसीने देखा है क्या ? अगर हो तो कोई हमे दिखाकर बताओ। ये तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके विकार है। जहां ये चार भूत जुड़ गए वहा एक ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार जीवके स्वरूपका ही अभाव करने वाले चार्वाकोंके प्रति कह रहे है।

णाणं भूय-वियारं जो मण्णदि सो वि भूद-गहिदव्वो।
जीवेण विणा णाणं किं केण वि दीसदे कत्थ ॥१८१॥

चैतन्यस्वरूप जीवमे भूतविकारत्वका निषेध—जो लोग ऐसा कहते हैं कि ज्ञान अर्थात् जीवभूतका विकार है सो मालूम होता है कि उन्हे भूतोंने पकड़ रखा है तभी तो यो अटपट बात कर रहे हैं। भला जीवके बिना ज्ञान कहीं भी प्राप्त हो सकता है? जहां ज्ञान है वह जीव है। यहां ज्ञानस्वभाव कह कर भी अर्थ लेना जीवका, क्योंकि ज्ञान और जीवमे भेद है। तो गुणगुणीकी अपेक्षासे भेद है, किन्तु वस्तु एक है, चाहे ज्ञानतत्त्व कह लीजिए, चाहे जीवतत्त्व कह लीजिए, इस जीवको चार्वाक मत वाले पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका विकार मानते है। सो भला बतलावो कि किसी भी जगह बिना आत्माके ज्ञान देखा है। चारो चीजे हर एक जगह मौजूद है। किस जगह ये चारो नहीं है? कहीं सूक्ष्म है, कहीं स्थूल। प्रत्येक जगह चार चीजें भरी हैं। जो यह आंगन है इसके आकाशके पोलमें दिखता तो कुछ नही है पर इसमे भी ये चारों चीजे हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये सर्वत्र भरे पडे है। और अनेक जगह ये चारों चीजें इकट्ठी मिलती हैं लेकिन जीव तो उत्पन्न होते दिख नहीं रहे। अगर इन भूतोंसे जीव उत्पन्न हों तो किसी भी जगह सारे जीव क्यों नहीं उत्पन्न हो जाते? जहाँ चाहे जिस चाहेसे हर एक शरीर क्यों नहीं बन जाता? अथवा जब जैसे चूल्हे पर कोई खिचड़ी पकायी जा रही है—मान लो मिट्टीके बर्तनमें—बर्तन सभी पृथ्वी है; मिट्टीका बर्तन जरा स्पष्ट रूपसे समझमे आता है कि यह पृथ्वीकी चीज है, वैसे पीतल, तावा आदिक सभी पृथ्वी है तो वहा पृथ्वी भी मौजूद हैं, जल भी मौजूद है, गर्मी भी स्पष्ट है, अग्नि मौजूद है और हवा भी है। उस भापके द्वारा ढक्कन गिर जाता है, तो वहां चारो चीजे एक साथ हैं तो वहां क्यों नहीं मनुष्य, सिंह, हाथी आदिक सभी जीव एकदम निकल भागते हैं? तो मालूम होता है कि इन चार भूतोंके समुदायको ज्ञान नहीं कहते। ज्ञान जीव एक अलग पदार्थ है और वह जिस पुद्गल शरीर पर आता है तो जीवके निमित्तसे वह धीरे-धीरे शरीररूप बढता रहता है, बनता रहता है। तो चारभूतोंके विकारका नाम जीव नहीं है। ज्ञान और अज्ञान, जड़ता और चेतना, ये दोनों जब भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं तो जड़ताका जो आधार है वह जड़ है और चेतनाका जो आधार है वह चेतन है। यदि भूत-विकारका नाम ही ज्ञान हो तो मुर्दा शरीरमे तो चारों चीजें मौजूद है, वे अभी बिखरी तो नहीं हैं, वहां क्यों नहीं ज्ञान उत्पन्न हो जाता? इसलिए जानना चाहिए कि जीव नामक पदार्थ वास्तविक है।

आत्मसहजस्वरूपके आश्रय बिना सकटोसे छुटकारा मिलनेकी असभवता—भैया! हम आपमे सुख दुःख आदिक अनेक बाते होती रहती हैं और ये सब इस जीवको अनिष्ट है। यह सुख भी न हो, यह दुःख भी न हो, केवल चेतना ही रहे, केवल जाननहार स्थिति रहे वह तो इस जीवकी पवित्र दशा है, इस जीवके कल्याणरूप है, पर केवल चेतनेमात्रकी स्थिति नहीं है, सुख दुःख आदिक अनेक विकार उत्पन्न होते है, ये अकल्याण हैं। फल क्या होता है कि यह जीव जन्म मरण करता ही रहता है। तो अपने आपपर हमे दया करनी है और अपने आपके सम्बधमे चिन्तन करना है कि यह जन्ममरणका सकट मेरा टले। जन्ममरणका सकट न टल सकेगा तो इस जीवका कुछ भी भला नहीं है। संसारमे रुलनेमें इस जीवका क्या कल्याण है? थोडे दिनके लिए कूपमंडूककी तरह कुछ चीजें मिलीं तो उन्हें सर्वस्व समझ लेते हैं। जैसे कि मेढक कुवेमें ही रहा, वहां कुवेके तटपर एक हस बैठा था। तो मेढक पूछता है कि भाई तुम कहां रहते हो? तो हंस कहता है कि हम मानसरोवरमें रहते है? ... वह कितना बड़ा है? ... वह तो बहुत बड़ा है। एक पैर फैलाकर पूछता है— क्या इतना बड़ा है? ... नहीं, इससे भी बड़ा, दूसरा पैर फैलाकर पूछा— क्या इतना बड़ा? ... इससे भी बड़ा। फिर तीसरा और चौथा पैर फैलाकर पूछा— क्या इतना बड़ा? ... इससे भी बड़ा। फिर मेढकने पेट फुलाकर पूछा, क्या इतना बड़ा? .. इससे भी

बड़ा, फिर कुवेंके एक तटसे दूसरे तट तक उछलकर पूछा— क्या इतना बड़ा ? अरे इससे भी बड़ा। तो मेंढक कहता है कि तब तो आपकी बात बिल्कुल झूठ है। इससे बड़ी तो दुनिया ही नहीं है। तो जैसे कूपमंडूककी समझमें उस कुवेंसे अधिक विस्तारकी दुनिया नहीं है उसी तरह इस मिथ्यादृष्टि जीव को जब जब जो समागम मिले हैं, जब जो गति मिली है उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, ऐसा इसकी दृष्टिमें बसा हुआ है। पर अनादि अनन्त कालके सामने ये १०-५० वर्ष कुछ गिनती रखते हैं क्या ? इनकी कोई गिनती नहीं है। इतने समयमें मोह न रहे, ज्ञान चेता हुआ रहे तो जीवके कल्याण होनेमें फिर कोई सन्देह नहीं है। लेकिन इस मिथ्यात्व दशामें जीवकी यह आदत बनी है कि जहां गया उसीको ही अपना मानता है। राजा मरकर विष्टाका कीड़ा भी बने तो वह कीड़ा अपने शरीरसे मोह रखता है और उस ही गंदी चीजमें रहकर राजी रहता है। वहां भी मरना नहीं चाहता। तो सत्य बात ज्ञानमे आये इससे बढ़कर हम आपके लिए सम्पत्ति और कुछ हो ही नहीं सकती। शान्तिका आधार सम्यग्ज्ञान है, न कि बाहरी पदार्थोंका संयोग है। ऐसा यह ज्ञानस्वरूप जीव है इसकी दृष्टि रखने पर इस जीवके जन्म मरणके संकट दूर हो सकेंगे। अब केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण मानने वाले चार्वाक जो जीवका अभाव बताते हैं उन चार्वाकोंके प्रति कहते हैं—

सञ्चेयण-पच्चक्खं जो जीवं णेव मण्णदे मूढो।
सो जीवं ण मुणंतो जीवाभावं कहं कुणदि ॥१८२॥

जीवतत्त्वके अभावमे जीवके अभावका ज्ञान किये जानेकी अशक्यता—यह जीव चेतन है, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान भी चेतनात्मक है, ऐसे सचेतन जीवको जो न माने वह जीवका अभाव भी कैसे कहेगा ? कोई कहे कि जीव नहीं है। तो उससे पूछें कि क्या आपने अच्छी तरह समझ लिया कि जीव नहीं है ? हाँ हाँ समझ लिया। किसने समझ लिया ? मैंने समझ लिया। अरे वही मैं समझने वाला हू कोई, यही तो बात कही जा रही है। चाहे जीवके अभावकी ही बात समझी हो मगर समझी तो। और किसीने समझा तो जिसने समझा वह जीव है। जो समझ बनी वह ज्ञान है। लोकमें जीव कहीं नहीं है इस प्रकारका भी एक ज्ञान बनाया है। किसने बनाया है ? जीवने ही तो बनाया है। जो मोही जीव इस जीवको नहीं मानते। जो कि स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है, सबका अपने आपमें अनुभव बना हुआ है और फिर भी कहे कि जीव नहीं है, तो जीवको बिना जाने ये चार्वाक कैसे कह रहे कि जीव नहीं है ? दूसरी बात यह है कि कोई मनुष्य किसी कमरेमें जाकर कहे कि यहाँ तो पुस्तक नहीं है, तो उसने पुस्तकको जाना, समझा, तभी तो वहां उसका अभाव कहेगा कि यहां पुस्तक नहीं है। तो जिसने जीवको जाना ही नहीं कभी तो जीवके अभावकी बात कैसे कह सकता है ? जो जिसको नहीं जानता वह उसका अभाव भी नहीं कह सकता। चार्वाकसिद्धान्तमे केवल एक इन्द्रिय प्रत्यक्षको प्रमाण माना है। जो दीखा सो है। नरक, स्वर्ग, परमात्मा, ज्ञान, परमाणु आदिक जो चीजें आखों नहीं दिख सकतीं, किसी इन्द्रियके द्वारा जाननेमें नहीं आ सकतीं, वह कुछ भी नहीं है, ऐसा सिद्धान्त इन चार्वाकोंका है। उनकी मान्यता में भी जीवका सद्भाव ही सिद्ध होता है। प्रत्येक व्यक्तिको 'मै हू' इस प्रकारका अनुभव होता है। मैं हूं, यह बात झूठ तो नहीं है, न इसमे कोई सन्देह है। कोई यह कहे कि 'मैं हू' ऐसा अनुभव तो होता है लेकिन इस अनुभवका आधार शरीर है। शरीरमें मैं हूं यह अनुभव होता है। शरीर ही 'मैं हू' ऐसा अनुभव करता। तो मैं हू इसका आलम्बन शरीर है, यह ठीक नहीं है। मै हू यह अनुभव तो बिना बाहरी इन्द्रियोंकी सहायताके हो जाता है। आखोंसे देखे नहीं, कानोंसे सुने नहीं, किसी इन्द्रियका ग्रहण करे नहीं तो भी यह व्यक्ति अपने भीतर यह अनुभव कर लेता है कि मैं हू। शरीर तो बाह्यइन्द्रियसे जाना जायेगा और बाह्य इन्द्रियसे न जानकर जो जाना जा रहा है उसकी सत्ता शरीरसे न्यारी है, ऐसा ही

जान लो। तो मैं हूं इस प्रकारके ज्ञानका आलम्बन शरीरसे भिन्न ज्ञानवान् पदार्थमें ही होता है। अतः चार्वाकका यह कहना ठीक नही है कि जीव नामका कोई पदार्थ नहीं है। क्योंकि—

जदि ण य हवेदि जीवो ता को वेदेदि सुक्ख-दुक्खाणि।
इंदिय-विसया सव्वे को वा जाणदि विसेसेण ॥१८३॥

जीवतत्त्वके अभावमे सुखदु:खानुभवनकी असभवता—यदि जीव नही है तो सुखादिकको कौन जानता है? और विशेपरूपसे इन्द्रियके विपयोंको कौन जानता है? स्पर्श ८ होते हैं, रस ५ हैं, गंध २ है, रूप ५ हैं, शब्द ७ प्रकारके हैं, इन सब विषयोको बडे विश्लेषणके साथ अपनी भावनाके अनुसार जो जानना बन रहा है वह कौन जानेगा? आत्मा यदि नहीं है तो प्रत्यक्ष प्रमाण मानने वाले चार्वाकका इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कैसे बन सकता है? इन सब विषयोंका जाननहार होनेसे भी सिद्ध होता है कि जीव नामक कोई पदार्थ है और प्रत्येक जीवमे जो भिन्न-भिन्न प्रकारसे ज्ञानका सद्भाव जाना जा रहा है—कोई बालक कम ज्ञानी, कोई बालक विशेष बुद्धि वाला, किसीको एक बार पढानेसे ही पाठ याद होता, कोई बहुत-बहुत रटता रहता फिर भी याद नहीं होता। यह सब जीवके ज्ञानावरण हटने की विशेषता है। ज्ञानस्वभावी जीवपर जो आवरण छाया है वह आवरण जिसका जितना हटा उसके उतना ज्ञान प्रकट हो जाता है। जीव ज्ञानमय है और अपने ज्ञानस्वभावको ही जानता है। यह ज्ञानस्वभाव यदि ज्ञानमात्र ही रह जाय, रागद्वेष न करे, ऐसा ज्ञान करे, ऐसा ही होनेका यत्न करे तो इस जीवका कल्याण है।

संकप्प-ओ जीवो सुह-दुक्खमयं हवेइ सकप्पो।
त चिय वेददि जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ ॥१८४॥

सुखदु:ख संकल्पानुभवसे जीवकी सत्ताका प्रदर्शन—बारह भावनाओंमे आत्मकल्याणका उपाय निहित है और इन सब उपायोंकी आधारशिला है जीवके स्वरूपको यथार्थ मान लेना। यहां लोकभावना चल रही है। लोकमे कैसे-कैसे पदार्थ हैं, कितना बड़ा लोक है, यह जीव लोकके समस्त प्रदेशोंपर अज्ञानता के कारण अनन्त बार जन्म मरण कर चुका। वह जीव क्या है, उसका सही स्वरूप जानने पर यह लोक का भ्रमण दूर हो जायेगा। कितने ही जीव हैं ऐसे, अनेक जीव हैं ऐसे जो जीवका सद्भाव ही नहीं मानते। जीवकी सत्ताका निषेध करते हुए, जीव नहीं है इस प्रकारकी जानकारी करते हुए भी जानकारी जिसमे हो रही है उसे नहीं मानते। इन कथनोंमें आत्माका सद्भाव सिद्ध करनेका स्थूल रूपसे वर्णन करेंगे। इतना तो सबको मानना होगा, जो जीवकी सत्ताका निषेध करते हैं ऐसे चार्वाकको भी मानना होगा कि संकल्प विकल्पमय है तो कुछ, जिसमे सुख दुःख विचार विकल्प उठा करते हैं ऐसा है ना कुछ। भाव तो है। तो जब संकल्पमय कुछ है और संकल्प कहलाता है सुख दुःख। सुख दुःखमय संकल्प जब है तो संकल्पवान ही तो जीव कहलाता है। वह संकल्पको जानता है, यह बात सब जगह विदित हो रही है। इस देहमे मिला हुआ यह जीव सुख दुःखको भोग रहा है। इस समय चार्वाक जब जीवकी सत्ताका सर्वथा निषेध कर रहे हैं तो उनको जीवकी सत्ता बताने के लिए स्थूल रूपसे वर्णन कर रहे हैं। अध्यात्म-दृष्टिसे तो जीव मात्र चैतन्यस्वरूप है, संकल्प विकल्प भी जीव नहीं हैं, सुख दुःख भी जीव नहीं है, यह जीवके विभावोंका क्षणिक परिणमन है। जीव शाश्वत है लेकिन जो लोग जीवको मानते ही नहीं उनके प्रतिबोधव्यवसायको कैसे शुरू किया जाय? उनको मोटे रूपसे ही बताना होगा कि देखो संकल्प तो तुम भी मानते हो और संकल्प होता है सुख दुःखमय तो जिसमें सुख दुःख है, जिसमे संकल्प है वही तो जीव कहलाया। सो सर्वपर्यायोंमें यह जीव देहमे मिश्रीभूत होकर सुख दुःखको जानता है। तो इस सूक्ष्म चैतन्यस्वरूपको न जानकर और देहमे ही सारी बात निरखकर क्रिया भी करता तो देह कर रहा

है, कुछ अनुभव कर रहा तो देह कर रहा है, ऐसा समझकर जीवका कोई निषेध करता है, लेकिन भले ही आप यह देहमें मिला हुआ जीव है। जहा देह है वहीं जीवप्रदेश हैं और यह सुख दु:ख भी भोग रहा है लेकिन देह नहीं भोगता, देह नहीं करता, इन सब परिणामोंका करने वाला जीव ही है।

देह-मिलिदो वि जीवो सव्व-कम्मणि कुव्वदे जम्हा।
तम्हा पवट्टमाणो एयत्तं बुज्झदे दोण्हं ॥१८५॥

मोह व अज्ञानसे जीवकी देहात्मबुद्धि—यह जीव देहमे मिला हुआ ही सर्वकर्मोंको कर रहा है। इसलिए यह प्रवर्तमान जीव और देहमे एकत्वको समझ रहा है। वस्तुतः ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। एक मोटे रूप में इतना भी जान लें। थोड़ी श्रद्धा तो है ही कि इस मनुष्यका मरण होगा। और मरण होनेके बाद यह जीव चूँकि सत् है अतः नष्ट तो होगा नहीं। यह किसी अन्य देहमें जायगा। तो देहसे अन्य देह बदलता हुआ यह जीव चला आ रहा है। तब किसी देहके सुखका उठता क्या है? वह तो एक भ्रम था, थोडे समयका था, मिट गया। मरण हो गया। अब यह जीव जन्ममरणकी परम्परा बनाये हुए है, सो कभी कैसे में जन्म मिला, कभी कीट पतिगाके रूपमे जन्म मिला, कभी निगोद स्थावर आदिमें। ऐसे जन्मोंकी परम्परा चल रही है। तो जरा अपने आपपर दयाकी दृष्टि करके सोचिये— क्या इस तरहके जन्ममरण की परम्परामें ही उलझे रहना मजूर है? यह थोडे वर्षोंका मोह राग बुद्धि ये सब खत्म हो जायेंगे। पर मोह रागसे जो कर्म बाधा, सस्कार बाँधा वे आगे दु.ख देंगे। तो आत्मदया करके भी इतनी बात तो निरखना चाहिए कि इस पाये हुए समागममें मोह करना व्यर्थ है। जिस कालमें मोह कर रहे हैं तब भी शान्ति नहीं है। तब मोह मोह बिलकुल व्यर्थकी चीज है, इससे हटकर हम अपने आत्माके सत्यस्वरूपका प्रकाश पायें और अपना जन्म सफल कर लें।

देहमिलित जीवमें कर्तृत्व बताकर जीवसत्ताकी सिद्धिका समर्थन—जो लोग इस जीवकी सत्ता ही नहीं मानते उनको इस स्थूल कथनसे समझाया जा रहा है। देखिये भाई जो कुछ भी ये कार्य किए जा रहे हैं—दूकान, मकान आदि बनाना, घड़ा कपड़ा आदि बनाना, उपदेश करना, सुनना, लिखना पढ़ना आदिक, यह सब इस देहसे मिला हुआ जीव ही तो कर रहा है। अध्यात्मदृष्टिसे सोचा जाय तो देहकी चेष्टा देह में है, जीवकी चेष्टा जीवमें है। वर्तमानमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध पाकर यह सब हो रहा है, किन्तु तो यह जीवकी सत्ता ही न मानने वाले और इस इन्द्रियसे जो कुछ ज्ञानमें आ रहा है वही सब कुछ मानने वालोको प्रतिबुद्ध किया जा रहा है। तब इस स्थूल कथनसे समझाया जा रहा है कि कौन करता है ये सारे काम? देहमें मिला हुआ यह जीव कर रहा है। शरीर सहित जीव, विग्रहगतिमे मोटा शरीर नहीं है तो सूक्ष्म शरीर सहित जीव पुण्यपाप कर्मोंको कर रहा है। जैसे घर बनाना, कोई गाड़ी, कपड़ा, लकड़ी, घड़ा आदि बनाना, असी मसी कृषि आदिक आजीविकाके कार्य करना देहमिलितजीव ही तो कर रहा है वैसे ही देह सहित जीव ज्ञानावरण आदिक पुण्य पापकर्मको भी कर रहा है। देखो यह देहसे मिला हुआ जीव ही तो कर रहा है, देह न हो, सूक्ष्म स्थूल किसी भी प्रकारका देह न रहनेपर केवल चैतन्यमात्र यह जीव इन सब कर्मोंको नहीं करता। तो यहा जो यह भ्रम हो गया है कि यह देह करता है और यह मैं हू। मै देहसे निराला और कुछ नहीं हू। करने वाला यह ही है जो दिख रहा है। यह ही जीव है। उनको समझाया जा रहा है कि ये निमित्तनैमित्तिक भावसे सब काम बन रहे हैं पर इनमें करने वाला कौन है? तो मोटे रूपसे समझ लो— देहमे मिला हुआ जीव। यह एक स्थूल बोध है! अच्छा अभी इतना ही समझाया गया है कि जीव इस देहमें है और उसके कारण ये सब कार्य देह द्वारा किए जा रहे हैं। अब वस्तुत: देखो तो देह और जीव अत्यन्त विपरीत भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। लेकिन जब देहमे मिला हुआ जीव इन सब कामोंको कर रहा है, ऐसा विदित हो रहा तब यह जीव मानता है कि देह और जीवमे भेद

नही हैं, किन्तु वास्तवमें ऐसा तो नहीं है। जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है। जीवमे सुख दुःख ज्ञान विचार विकल्प उत्पन्न होते हैं। मूर्त पदार्थमे पिण्ड वाले पुद्गल देहमे विचार विकल्प उठ सकेंगे ? वे तो रूप रस आदिकमान है। वहाँ जाननधर्म पाया ही नहीं जाता, इसलिए जीव और पुद्गल ये दोनो बिल्कुल विपरीत पदार्थ है।

देह मिलिदो वि पिच्छदि देह-मिलिदो वि णिसुण्णदे सद्दं।
देह-मिलिदो वि भुंजदि देह-मिलिदो वि गच्छेदि ॥१८६॥

देहमिलित जीवके दर्शकत्वसे जीवके अस्तित्वकी सिद्धि--यह जीव देहसे मिला हुआ है तब वह देखता है, सुनता है, भोगता है, जाता है। शरीरसे मिला हुआ होने पर भी ये सब क्रियायें हो रही हैं। इससे पहिली गाथामें मोटे कामकी बात कही गई थी। अब इस गाथामें जरा कुछ और भीतरकी बात कही जा रही है। जो सहज बिना अंतरतत्त्वका कार्य तो नही है लेकिन कुछ साधनोंसे ऐसा ही बन रहा है। यह जीव देखता है आँखोंसे काला, पीला, नीला आदिक रूप। तो देहमें मिला हुआ होने पर इस तरह दिख रहा है। दिख तो रहा, पर जानने वाला जीव है। और देहकी जो यह चक्षुरिन्द्रिय है यह एक साधनमात्र है। जैसे किसी मकानकी खिड़किया है। कोई मनुष्य बाहरकी बात देखना चाहता है तो इन खिड़कियों से देखेगा। खिडकियाँ देखने वाली नहीं है, पर इस वद मकानमें देखनेका साधन वहीं है। इसी तरह यह जीव इस देहमे बद्ध है। पर बाहरी चीजोंको देखता है तो इन इन्द्रियो द्वारा देख पाता है। इसका साधन भी यहीं है और अन्तरतत्त्वकी बात देखिये—जैसे उस मकानमें बैठा मनुष्य बाहरकी बातें न देखना चाहे, अपने आपको ही देखना चाहे तो उसे खिड़कियोंका सहारा लेनेकी जरूरत भी नहीं, वह तो अपने आपको देख लेगा, इसी प्रकार इस देह मकानमे कैद हुआ यह जीव कभी सुभवितव्यसे इस ज्ञानज्योतिका प्रकाश होने से जब कोई अपने आपके स्वरूपको निरखना चाहता है तो वहां इसको आंख आदिकका सहारा लेनेकी जरूरत नहीं। तो यों देहमे मिला हुआ जीव ही तो देखता है। इससे जीवका अस्तितत्त्व स्पष्ट सिद्ध है।

देहमिलित जीवके श्रोतापनसे जीवकी सत्ताकी सिद्धि--देहमिलित जीव ही तो बाहरकी बात इन्द्रियसे निरखता है और कानोंमे शब्दोको सुनता है। स्वर बताये गये है ७, जिन स्वरोके नाम आजकल संगीत मे एक-एक अक्षर प्रचलित है— उन ७ स्वरोंके नाम— स रे ग म प ध नि स। स का अर्थ है षड्ज, रे का अर्थ है ऋषभ, ग के मायने गान्धार, म का अर्थ है मध्यम, प का अर्थ है पंचम, ध का अर्थ है ध्वैत, नि का अर्थ है निषाद। इन स्वरोंकाका विश्लेषण किया जाय तो यों किया जाय कि जो स्वर कठदेश में स्थिति है उसे षड्ज कहते है। जब सरगमका अभ्यास करते है तो एक स का तो बिल्कुल मन्द स्वरोंमे मोटा स्वर और अंतिम स बिल्कुल अंतिम स्वर है। और दोनों स्वरोंमे कठ पर जोर है। वह स्वर कंठमे स्थित है। जो स्वर शिरोदेशमे है उसे ऋषभ कहते हैं, जो स्वर नासिकादेशमें स्थित होता है उसे गान्धार कहते है। जो स्वर हृदयदेशमे स्थित होता है उसे मध्यम कहते है। मुखदेशमे स्थित स्वरको पञ्चम कहते हैं। यह संगीत प्रक्रियासे स्वरोका वर्णन है। ये ७ स्वर इन कामोके द्वारा जाने जाते है। संगीतमें ही ये ७ स्वर नही हैं, सर्वत्र है। संगीतमे इनका उपयोग क्रम परिपाटीसे होता है। वैसे यदि इनकी तुलना करना चाहे तो जो हाथीका स्वर है वह निषाद है, गौका स्वर वृषभ है, बकरीका स्वर गान्धार है और गरुड़का स्वर षड्ज है, क्रौञ्च पक्षीका शब्द मध्यम है। अश्वका स्वर ध्वैत है, और बसन्तऋतुमे कोयल जिस स्वरसे कूजती है वह पञ्चम है। नासिका, कण्ठ, उर, तालु, जीभ और दांत-इन ६ के स्पर्शसे षड्ज स्वर उत्पन्न होता है इसीसे उसे षड्ज कहते हैं। सब स्वरोके तीन प्रकार हैं। मनुष्योंके उर प्रदेशसे जो २२ प्रकारकी ध्वनि उच्चरित होती है वह मन्द स्वर है, वही जब कठ देशसे उच्चरित होती है तो

मध्यम है और जब शिरोदेशसे गाई जाती है तब तार है। बाह्यस्वर चार प्रकारसे उत्पन्न होते हैं कांसे के बाजोंके शब्दको घन कहते हैं। बासुरी वगैरहके शब्दको सुषिर कहते हैं। वीणा वगैरह वाद्योंके शब्दको तत कहते हैं और ढोल वगैरहके शब्दको वितत कहते हैं। तो ये सर्वप्रकारके शब्द कानों द्वारा सुननेमे आते हैं तो कौन सुनता है? यह जीव।

देहमिलित जीवका जाने व भोगनेका व्यापार, जीवकी सत्ताका निर्देशक—देहमें मिला हुआ होने पर जाने वाला. भोगने वाला यह जीव ही तो है। यह जीव शरीरका ग्रहण करता है और भोगता है, देह मे मिला हुआ होता है। यदि देहसे निराला हो जाय तो यह जीव मुक्त कहलायेगा। देहमें मिला हुआ होकर यह जीव जो भोग रहा है सो वस्तुतः इच्छाओं और विकल्पोंको ही भोगता है, किन्तु व्यवहार दृष्टि से यह जीव देहमिलित स्थितिमें भोजन पान आदिको भी भोगता है। देहमे मिला हुआ जीव यह चलता है, देखिए एक जगहसे दूसरी जगह पहुंचनेकी प्रकृति जीवमे भी है और पुद्गलमें भी है। सकलपरमात्मा जब मुक्त होते हैं तो यही वह शरीर कपूरवत् उड़ जाता है, रह जाता है केवल जीव, सो वह भी लोकके अन्तमे चला जाता है, उसका स्वभाव है ऊर्द्ध्वगमन। लोकके बाहर गमनका सहायक धर्मद्रव्य है नहीं, अतएव लोकके बाहर नहीं जाता, पर स्वभाव ऊर्द्ध्वगमनका सदा रहता है। पुद्गल एक देशसे दूसरे देशमें पहुंच जाता है यह भी दिख रहा है। पुद्गल परमाणु तो बिना दूसरेके सहारे ही एक समयमें १४ राजू तक गमन करता है। तो यह जीव देहमे मिला हुआ जा रहा है। मोटेरूपसे देखो तो जब मुर्दा रहता है तब तो यह नहीं जा पाता इस समय जा रहा है, इससे ही सिद्ध है कि देहमे जीव है और यह देहसे कोई जुदा ही पदार्थ है।

राओ ह भिच्चो हं सिट्ठी हं चेव दुव्वलो बलिओ।
इदि एयत्ताविट्ठो दोण्हं भेयं ण बुज्झेदि ॥१८७॥

देहात्मैकत्वबुद्धिमे जीवकी मिथ्या मान्यतायें—यह मिथ्यादृष्टि जीव देहको ही आत्मा समझने वाला देहसे ही अपना बड़प्पन सुख मानने वाला ऐसा जाना करता है कि मैं राजा हू, नौकर हू, सेठ हू, दुर्बल हू, बलवान हू, इस तरह शरीर और आत्माके एकत्वको मानने वाला जीव इन दो पदार्थोंमें भेद नहीं मानता, ऐसा मानने वाले तो प्राय सभी मनुष्य हैं। कुछ विरले ज्ञानियोंको छोड़कर शेष सभी लोग मानते हैं कि मैं दुर्बल हो गया, बलिष्ट हो गया, पर आत्मा तो केवल ज्ञानस्वरूप है। उस ज्ञानमात्र आत्मामें क्या है? क्या दुर्बलता और क्या बलिष्टता? मिथ्यादृष्टि जीव ही इनमे भेद नहीं समझते। जितने भी ये विकल्प हैं ये सब शरीरपरक हैं, शरीरमें लगाये हुए हैं, क्योंकि आत्मा न राजा है, न नौकर है, न सेठ है, न गरीब है, न दुर्बल है, केवल बाह्यदृष्टि वाला जीव ही अपने आपको ऐसा मानता है। देखिये दुःख इसी बुद्धिमे लगा है। लोग सम्मान अपमान क्यों महसूस करते हैं? उन्होंने देहको माना कि यह मैं जीव हू और इसको देखने वाले ये बहुतसे लोग हैं। ये लोग क्या सोचते होंगे कि इस का इन्होंने यो तिरस्कार किया, ऐसा ख्याल करके उसे क्रोध आ जाता है। सम्मानकी बात मनमें आ जाती है। किन्तु जो यह जानेगा कि मै तो इस देहसे निराला ज्ञानमात्र तत्त्व हूं, इसका परखने वाला कोई नहीं, यह तो सबमे साधारणस्वरूप है, इस तरह अपने जीवमे ही जीवकी बुद्धि रखने वाले दुःखी नहीं होते। मोहवश देहको जब मान लिया कि यह मैं हू तो सारे उपद्रव उस पर टूट पड़ते हैं और यही मिथ्याभाव इसके दुःखका कारण है। जिन्हें दुःख न चाहिए उन्हें भेदविज्ञानका यत्न करना होगा। यह पूर्ण निर्णय रखिये कि बाह्य समागमोंसे कभी भी शान्ति नहीं मिल सकती।

जीवो हवेइ कत्ता सव्वं कम्माणि कुव्वदे जम्हा।
कालाऽऽमद्धिजुत्तो ससार कुणइ मोक्खं च ॥१८८॥

जीवके कर्तृत्व धर्म द्वारा जीवके अस्तित्वका ज्ञापन—जो लोग जीवकी सत्ता नहीं मानते हैं उनके प्रति ही बहुत स्थूल रूपसे जीवका अस्तित्व बताकर क्रमशः उस जीवके सम्बन्धमे सूक्ष्म-सूक्ष्म बातोंका प्रतिपादन किया जा रहा है। प्रसंग यह चल रहा था कि देखिये—इन सब कामोंको जीव ही तो कर रहा है। सुनता है, देखता है, जाता है, भोगता है, देहमे मिला हुआ जीव ही तो ये सब कर पाता है। यदि देह ही देह हो, इसमें जीव न हो तो मृतक देह तो कुछ नहीं कर पाते, इसी प्रकार जैसे इन बाह्य पदार्थोंसे, घट पट आदिक वस्तुओंसे मिला हुआ जीव कर रहा है तो अन्तः भी देखिये कि यह ही जीव तो सर्व प्रकारके कर्मोंको करता है। पुण्य पाप कर्मोंकी रचना, संसारमें नाना विकल्प करना आदि इन सब बातोंको क्या कोई अजीव कर रहा है? जीव ही इन समस्त कर्मोंको कर रहा है। और यह जीव ही जब कालादिककी लब्धि प्राप्त हो तो मोक्षको भी करता है। जीव ही संसारको बना रहा और मोक्षको करता है, जीवके अस्तित्वका कैसे निषेध कर रहे हो? यद्यपि शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव आदि मध्य अन्तसे रहित अपने और परका प्रकाश करने वाला अविनाशी उपाधिरहित चैतन्यस्वरूपसे ही जीता है। लेकिन जब अशुद्धनयसे देखते हैं तो यहां अनादि कालसे कर्मबन्ध पड़ा हुआ है। इस कारण मन, वचन, कायका बल, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और आयु इन द्रव्यप्राणोंसे और संकल्पविकल्पादिक इन विभावपरिणमनोंमें रहने पर भावप्राणोंसे यह जी रहा है ऐसा भी कहते हैं। मुक्तदशामें यह जीव शुद्ध चैतन्य प्राणसे है। इसलिए यह भी समझ लेना चाहिए कि जीव शुभ अशुभ कर्मोंका करने वाला है। कुछ बातें उपचारसे हैं, कुछ कर्तृत्व व्यवहारसे हैं, कुछ कर्तृत्व अशुद्ध निश्चयनयसे हैं लेकिन सबका साराश यह है कि जीवका अस्तित्व हुए बिना ये सब बाते नहीं बन सकतीं। तो मानना चाहिए कि जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक भूतोंसे भिन्न स्वतंत्र चैतन्यपदार्थ है। शरीरकी पर्याप्तियोंको भी यह जीव करता है। यद्यपि भूतार्थनयसे, स्वकीय स्वकीय द्रव्यकी ही दृष्टि रखने वाले नयसे सबका परिणमन खुद खुदमें हो रहा है, परव्यवहारसे, निमित्त दृष्टिसे देखिये कि शरीरका ऐसा बनना क्या जीवके अस्तित्वके बिना हो सकता था? हो गया वृद्धिपरिणमन शरीरका शरीरमें लेकिन जीवके सम्बन्ध बिना नहीं हो पा सकता। तब प्रसंगमें यही निश्चय करा ना कि जीव कुछ है। यहां तो चार्वाक सिद्धान्तानुयायी यह कह रहे हैं कि जीव है ही नहीं, भूतोंका विकार है। देख लिया ना कि यह जीव है और इतनी बातोंको करने वाला है। यद्यपि निश्चयनयसे यह जीव केवल ज्ञानस्वभाव है और यह अपने अनन्तचतुष्टयको ही निश्चयसे करने वाला है। लेकिन व्यवहार दृष्टिसे निरखिये वर्तमानमें क्या परिणमन हो रहा है, इस दृष्टिसे देखिये तो यह ससारका करने वाला है और यही कर्मोंसे बंधा हुआ जीव जब अर्द्धपुद्गल परिवर्तनकाल शेष रह जाता है ससारका वहां इसमे योग्यता आती है कि इसके सम्यक्त्व उत्पन्न हो। तब काललब्धि पाने पर यह सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है और जो जो योग्य निमित्त चाहिए वे सब प्राप्त होते हैं और यह जीव अपनी अन्तर्भावनाके बलसे इस संसारको, जन्म मरणको भी समाप्त कर देता है। तो ये सब कार्य इस जीवके बिना तो नहीं हो सकते है। इससे मानो कि जीव है, मैं हूं। तो इस तरह यह संसार, मोक्ष विधियोंका करने वाला जीव है यह विदित हो रहा है। जीवतत्त्वका निषेध किसी भी प्रकार किया नहीं जा सकता।

जीवो वि हवइ भुत्ता कम्मफलं सो वि भुंजदे जम्हा।
कम्मविवायं विविहं सो वि य भुंजेदि संसारे ॥१८६॥

कर्मफलभोक्तृत्व बताकर जीवके अस्तित्वका ज्ञापन—जीव कर्मफलको भोग रहा है इस विधिसे भी जीवका अस्तित्व समझ लीजिए। यहां जो जीवका अभाव ही मानने पर जो उतारू हैं उनको समझाया जा रहा है। निश्चयनयसे जीवका क्या स्वरूप है? इस प्रकरणका यह प्रसंग नहीं है, किन्तु जीव है, पृथ्वी

आदिक भूतोंके समुदायका नाम जीव है, यह कथन गलत है, ऐसा अज्ञान रखने वालोंको जीवका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिए कह रहे हैं कि देखो ना—यह जीव कर्मफलको भोगता है इसलिए यह जीव भोक्ता भी है। नाना प्रकारके कर्मोंके भोगनेसे जीवका अस्तित्व निश्चित होता है। भोगनेके बाद यद्यपि यह व्यवहारनयसे है कि शुभ अशुभ कर्मोंके उदयसे जो सुख दुःख उत्पन्न होते हैं उनको जीव भोगता है, यद्यपि कर्ममे जो बात बन रही है उसका भवन कर्ममें ही है और कर्मके निमित्तसे जो बात हो रही है जीव मे उसका भवन जीवमें है। निश्चयनयसे शुद्ध स्वभावदृष्टिसे यह किसी का भी भोगने वाला नहीं है। लेकिन व्यवहारदृष्टिसे अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे यह कर्मफलका भोक्ता भी कहलाता है। भोक्तृत्व बताकर यहां यह समझना है कि जीव है। जीव न हो तो यह संसारभ्रमण कैसे बन जाता है, यह जीव सुख दुःख परिणामोंको कैसे भोगता है? व्यवहारसे इष्ट अनिष्ट पदार्थोंको भोगता है। तो जहा ऐसा भोगनेका गुण पड़ा हुआ है तो जीव है, जीवका अभाव कैसे कहा जा सकता है?

जीवो वि हवे पाव अइतिव्वकसायपरिणदो णिच्चं।
जीवो वि हवइ पुण्णं उवसमभावेण सजुत्तो ॥१९०॥

जीवकी पुण्यपापरूपताका वर्णन—जब यह जीव अत्यन्त तीव्रकषायसे परिणत होता है तो यह ही पाप कहलाता है और जब यह कषायोंके उपशमनरूपसे परिणमत है तब यह जीव पुण्य कहलाता है। तीव्रपरिणाम हैं अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्वभाव। ये तीव्रपरिणाम कहलाते हैं। इनमें जो जीव है वह पापी है। भैया! अपने आपके सुरक्षित रहनेका निर्णय बाह्यसामग्रीसे करना बिल्कुल भूल है। अपने अन्तरङ्गपरिणामोंसे अपनी रक्षाका निर्णय करिये। यदि मोहरूप परिणाम है तो भले ही वह आज बड़ा सस्ता लग रहा हैं, पुण्यका उदय है, ठाठबाट सामने हैं, खूब मोह करना, राग करना बड़ा आसान लग रहा है, लेकिन अज्ञान और मोहसे जो महापाप संचित किया जा रहा है उससे क्या आत्मरक्षाकी आशा की जा सकती है? कुछ समयकी बात है, अन्तमें इसको महाक्लेश भोगना होगा। कोई पुरुष धनी हो अथवा निर्धन— अपने आपकी रक्षाका निर्णय अपने शुद्ध परिणामोंके बलसे कर रहा है तो उसकी रक्षा है, और पापपरिणाम किया है, कर्मोंकी प्रेरणामें ज्ञानका तिरस्कार किया है तो अब भविष्यमें आत्मरक्षा नहीं है। हाँ उस समय यदि थोड़ा आन्तरिक बल उत्पन्न करके उन पापपरिणामोंको हटा दिया जाय तो वे पापपरिणाम हटने तो थे ही, क्योंकि वे क्षणिकभाव हैं, अब विवेक द्वारा हटाये तो फल यह होगा कि उन पापपरिणामोंकी संतान न बन पायेगी और जीवकी रक्षा हो जायेगी। यह मानवजीवन बड़ा दुर्लभ जीवन है। अब तक परवस्तुके लगावकी धुनमें बहुत-बहुत विकल्प रच डाले, लेकिन अपने आपकी दयाके भावसे सोचना चाहिए कि मुझ जीवका आगे क्या हाल होगा? मुझे किस तरह रहना चाहिए, मेरा भविष्य कैसे सुधरे? मैं आगे शान्त रहूं और पवित्र होऊँ, सकटोंसे छूट जाऊँ, यह उपाय कर लेनेका यह सुन्दर अवसर है। उसकी ओर तो हो उपेक्षा और पौद्गलिक ढेला पत्थरकी ओर लगाव हो तो न यह परिवार आपके काम आयगा, न आपका कोई यहां वैभव काम आयगा। आपका जिस प्रकारके परिणामोंमें जीवन गया है उसके अनुसार फल भोगना होगा।

दुर्लभ अवसरके लाभके सदुपयोगका अनुरोध—भैया! एक यह दुर्लभ मौका ऐसा मिला है, जैनशासनकी प्राप्ति, उच्चकुलकी प्राप्ति, बुद्धिकी प्राप्ति, और निर्विघ्न जिन्दा रह सके ऐसी सुविधाकी प्राप्ति, ये सब सुन्दर अवसर मिले हैं, इनमें तो यह करना चाहिए कि इस जन्ममरणमय संसारके गहनवनसे निकल जाये और जैसे सिद्धप्रभु अपने आपमें अनन्तज्ञान, अनन्तआनन्दमय विराजमान है उस तरहकी पवित्रता पा ले, इसका उपाय बना ले और संसारमे रुलनेका उपाय तो बनाते आये ही है। उसमें तो कुछ कठिनाई जँच ही नहीं रही है। वह उपाय भी बना सकते हैं, पर कुछ विवेक करना चाहिए। इस बुद्धिकी

॥ चाहिए कि परिवारमें जो ये ४-६ जीव हैं ये ही मेरे सर्वस्व हैं। उनका भी वही स्थान है जो जगतके अनन्तानन्त जीवोंका है आपके लिए। बिल्कुल स्वतंत्र पदार्थ हैं, उनसे आपमें कोई परिणति ाती। वे आपका सुधार नहीं कर सकते, शान्ति सुख नहीं दे सकते। उनकी ओरसे इस लगावको रें। घरमें रहते हैं रहें, मगर सच्चा ज्ञानप्रकाश बनाये रहें। मैं मैं ही हूं, मेरा मेरे स्वरूपसे बाहर कुछ नहीं है, ऐसा ज्ञानप्रकाश बनाकर परिजनोंसे मोह दूर कीजिए। न दूर करोगे मोह तो उसका ोगनेको परिजन तैयार नहीं हैं, कोई तैयार नहीं है। सब लोग सोचते हैं अपने मनमें कि हम अपने कि हम अपने घरके बादशाह हैं। मेरे ठाठबाठ है। मै चाहे थोड़ा ही धनी हूं अथवा गरीब हू ा हूं तो घरका बादशाह। जो कुछ साधन मिला है स्वच्छन्दतापूर्वक उसका सदुपयोग कर लें। । बादशाही इसमें नहीं है। अपने आपके आत्माका सत्यस्वरूप दृष्टिमें आये तो आप अपने बाद- हैं अन्यथा जैसे अनन्तानन्तजीव मिथ्यादृष्टि गरीब हैं, राजा महाराज जैसे बनकर भी गरीब हैं ो आत्मज्ञानका लाभ नहीं है। तो यह जीव एक सम्यक्त्वलाभ बिना, आत्मज्ञानके लाभ बिना तीव्र ामोंसे परिणत होकर [पापी हो रहा है। और जब यह जीव कषायोके उपशमनमे आता है, सम्यक्त्व त्ररूप परिणामोंसे युक्त होता है तो यही जीव सकल कर्ममलसे रहित होता है तो पूर्ण पुण्यमय है। त् पवित्र परमात्मा होता है, अरहंत सिद्ध होता है। गुणस्थानके हिसाबसे देखा जाय तो जहां अन- ंबंधीकषाय है, मिथ्यात्वभाव है वह अति पापी जीव है। पहिले और दूसरे गुणस्थानके जीव पापमय तीसरे गुणस्थानके जीव मिश्र कहलाते हैं। चतुर्थ गुणस्थान और इससे ऊपरके जीव पुण्यमय जीव अब तत्परमता हर एक बात सब जगह घटा लेना चाहिए, पर एक प्रधानतासे यह बात कही जा रही यद्यपि पुण्य पापके भेद अजीव कर्ममे हैं, पर यह जीवकी बात कही जा रही है कि यह जीव पापी कब ार पुण्यमय कब है? तो अपनी सुरक्षाका निर्णय इस पाप और पुण्यभावसे कीजिए और जब स्व- की बात समझमें आये उससे सन्तोष कीजिए। बाह्य जड़ वैभवोंसे कोई रक्षा नहीं है।

रयणत्तयसंजुत्तो जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं।
संसारं तरइ जदो रयणत्तयदिव्वणावाए ॥१६१॥

रत्नत्रयरूप दिव्य नौका द्वारा संसारसे तिर सकनेका सामर्थ्य—जीवका अस्तित्व न मानने वालोंको स्थूल- ंसे जीवकी सत्ता समझाते हुए अन्तमें यह कह रहे हैं कि देखो यही जीव रत्नत्रयसे सहित होता है वह उत्तम तीर्थ कहलाता है। तीर्थजीवो, तीर्थकी वन्दना करो—इसका सीधा अर्थ यह है कि इस आत्मा जो विशुद्ध स्वरूप हैं, उसकी और उस विशुद्ध स्वरूपकी उपासनामें जो लगे हुए रत्नत्रयधारी पुण्या- हैं उनके स्वरूपको उपासनामे ज्ञानको ले जावो। यही उत्तम तीर्थ है। ऐसा पुरुष क्यों तीर्थ है कि वह ात्रयरूपी अलौकिक नौकासे ससारको पार कर लेता है। तीर्थ उसे कहते हैं जिसके द्वारा ससारको तिरा ा। सो व्यवहाररत्नत्रय और निश्चयरत्नत्रय सहित आत्मा यह ही तीर्थोंमें उत्कृष्ट तीर्थ है। यह जीव ानी प्रतीति करके उस रूप रहकर परिणमकर यह जीव संसारसे तिर लेता है। यह रत्नत्रय आत्माका धर्म है इसलिए इस आत्माको ही तीर्थ कहते है। तीर्थ यह आत्मा इसलिए भी है कि स्वयं भी संसार तिर जाता है और दूसरोंको संसारसे तिरानेमें निमित्त होता है। परमात्मा अरहंतका उपदेश यदि ज इस परम्परामे न मिलता तो हम आप आत्माके रहस्यको कैसे जानते? तो देखिये— उन प्रभु र्थंकरोंमे हम लोगोके तिरानेका भी साधन बना दिया ना। तो ऐसे पुण्यवान जीव स्वयं भी ससारसे तिर ते है, दूसरोंको तिरानेमे कारण भी होते है। पुण्यवानके मायने यहां समझिये पवित्र स्वभावमें रहने ले, पवित्र आत्मा। यही एक उत्कृष्ट तीर्थ है जहां पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सकती है। जो शान्तिका उपाय ना सकता है उस जीवका निषेध ये चार्वाक लोग कह रहे है। तो जो जीवके रहस्यको ही नहीं जानता

यह अपना कल्याण कैसे कर सकता है ? जीव है और उसे अपने आपके सत्य स्वरूपमें अनुभविये, इससे ही संसारके सारे संकट दूर हो सकते हैं।

❀ अनुप्रेक्षा प्रवचन तृतीय भाग समाप्त ❀

आत्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

❀ शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ❀

यस्मिन् सुधाम्निनिरता गतभेदभावा, प्रापुर्लभन्त अचल सहजं सुशर्म।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥१॥
शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमंत्रं, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम्।
यत्र प्रयाति विलयं विपदो विकल्पा, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम्।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥३॥
ज्योतिः परं स्वरसकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम्।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम्।
सद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥
आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम्।
आनंदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमि, नित्यं निरावरणमञ्जन...
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेज, शुद्ध चिदस्मिसहजं परमात्मतत्त्वम् ॥७॥
ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः।
यद्दर्शनात्प्रभवतिप्रभुमोक्षमार्गः, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः।
सहजानन्दसुवन्द्य स्वभावमनुपर्यय याति ॥